नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर-गुरुभ्यो नमः

भाग

२

# सचूर्णिक-आगम-सुत्ताणि



## आगम - ०२

## 'सूत्रकृत्' चूर्णिः


मूल संशोधक :- पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

अभिनव-संकलनकर्ता :- आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

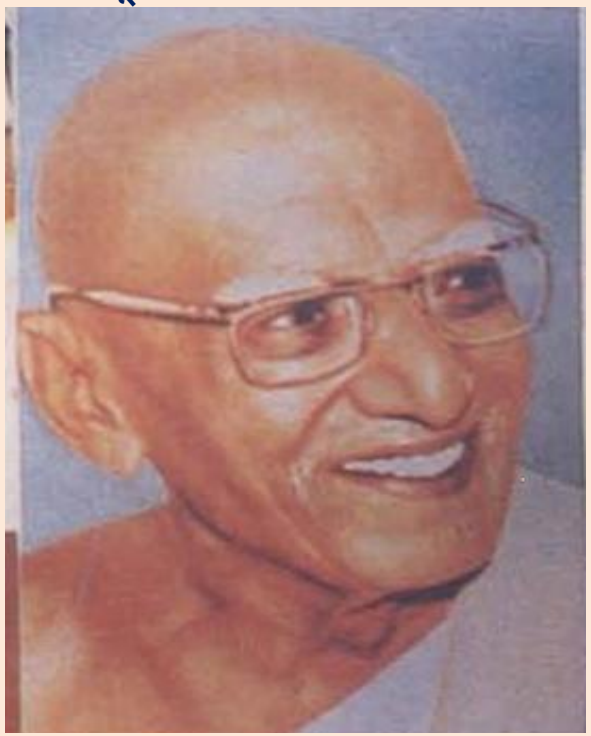


पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से

श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ, पालडी, अमदावाद

# ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता

सच्चारित्र चूडामणि स्वर्गस्थ पूज्यपाद
गच्छाधिपति आचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागर
सूरीश्वरजी महाराज साहेब



## श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ

वीतराग सोसायटी, प्रभूदास ठक्कर कोलेज रोड, पालडी, अमदावाद

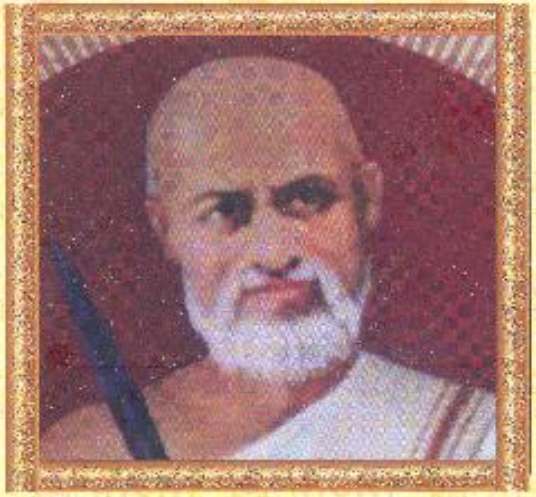
करीब पचास साल पहेले परम पूज्य स्वर्गस्थ गच्छाधिपति आचार्य देव श्रीमद् देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब द्वारा संस्थापित इस संघमें श्री शीतलनाथ भगवंत का जिनालय भी है, जिन के प्रतिष्ठाचार्य भी पूज्य देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी म० ही है |

इस संघमें पूज्य साधू-भगवंत एवं साध्वी-महाराज के लिए उपाश्रय भी है, जहां हर-साल चातुर्मास करवा के श्रावक-श्राविकाओ को धर्म-आराधन से लाभान्वित करवाया जाता है | इस संघमें आयंबिलभवन, उबाला हुआ पानी, ज्ञान-भण्डार एवं पाठशाला की भी बहोत अच्छी सुविधा प्रदान हो रही है | ऐसे सम्यग्-मार्गी संघ की सद्भावना और प्रभावक आचार्य पूज्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से इस शास्त्र के लिए अनुदान प्राप्त हुआ है |

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

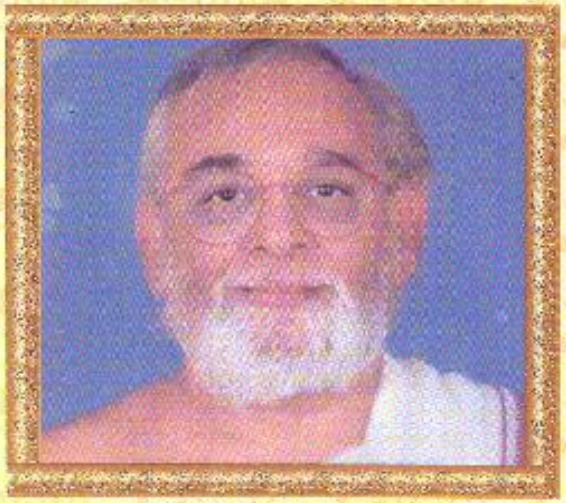
# सचूर्णिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक



पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता



आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदावाद Mo 9825598855 / 9825306275



# आगम

## वाचना शताब्दी वर्ष

# भाग-2 [०२] श्री सूत्रकृताङ्ग-चूर्णि:

**नमो नमो निम्मलदंसणस्स**

पूज्य श्रीआनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नम:

## “सूत्रकृत” चूर्णि:

**[बहुश्रुतकिंवदन्त्या: जिनदासगणिवर्य विहिता**

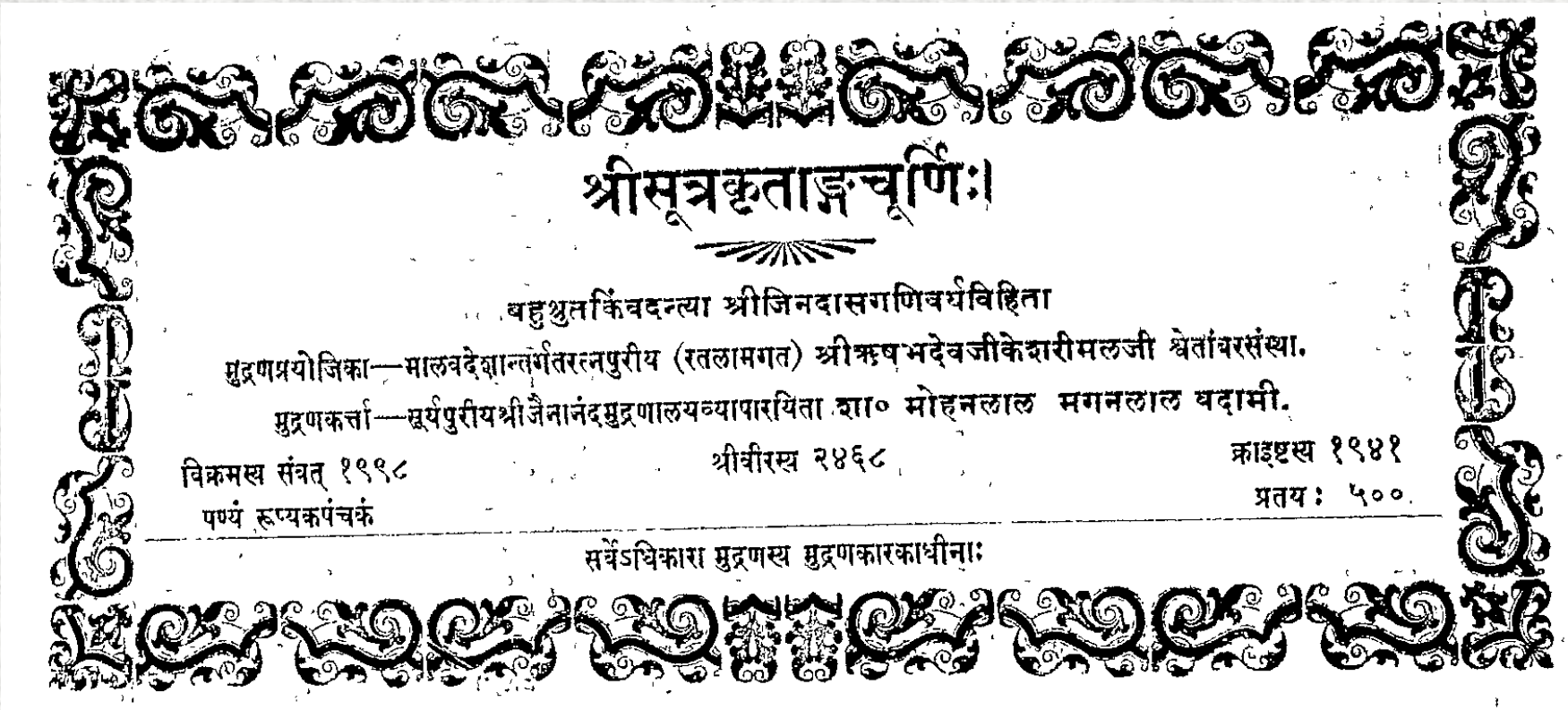
[आद्य संपादक: - पूज्य आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागर सूरीश्वरजी म॰ सा॰ ]

(किञ्चित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

पुन: संकलनकर्ता→ मुनि दीपरत्नसागर **(M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि)**

**01/02/2017, बुधवार, २०७३ महा शुक्ल ५**

**‘सचूर्णिक-आगम-सुत्ताणि’ श्रेणि भाग-२**



श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः।

बहुश्रुतकिंवदन्त्या श्रीजिनदासगणिवर्यविहिता

मुद्रणप्रयोजिका—मालवदेशान्तर्गतरत्नपुरीय (रतलामगत) श्रीऋषभदेवजीकेशरीमलजी श्वेतांबरसंस्था.

मुद्रणकर्त्ता—सूर्यपुरीयश्रीजैनानंदमुद्रणालयव्यापारयिता शा० मोहनलाल मगनलाल बदामी.

विक्रमस्य संवत् १९९८ श्रीवीरस्य २४६८ क्राइष्टस्य १९४१

पण्यं रूप्यकपंचकं प्रतयः ५००.

सर्वेऽधिकारा मुद्रणस्य मुद्रणकारकाधीनाः

*** सूत्रकृताङ्गसूत्रस्य मूल “टाइटल पेज”

**सामाचारी-संरक्षक, ज्ञानधनी, आगम-संशोधक, तीव्र-मेधावी, समाधिमृत्यु-प्राप्त, बहुमुखीप्रतिभाधारक**

# पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

◆ जिन्होने शुद्ध-श्रद्धा, सम्यक्-श्रुत आराधना, यथाख्यातचारित्र के प्रति गति और अंत समय देह-ममत्व के त्याग के द्वारा कायोत्सर्ग नामक अभ्यंतर-तप कि मिशाल कायम कि है ऐसे बहुश्रुत आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज का परिचय कराना मेरे लिए नामुमकिन है, फ़िर भी गुरुभक्ति बुद्धि से श्रद्धांजली स्वरुप एक मामुली सी झलक पैस करने का यह प्रयास मात्र है |

◆ चारित्र-ग्रहण के बाद अल्प कालमे जो अपने गुरुदेव की छत्रछाया से दूर हो गये, तो भी गुरुदेव के स्वर्ग-गमन को सिर्फ़ कर्मो का प्रभाव मानकर अपने संयम के लक्ष्य प्रति स्थिर रहते हुए अकेले ज्ञान-मार्ग कि साधना के पथ पर चले | पढाई के लिए ही कितने महिनो तक रोज एकासणा तप के साथ बारह किल्लोमिटर पैदल विहार भी किया | लेकिन अपने मंझिल पे डटे रहे, और परिणाम स्वरुप संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का, प्राचीन लिपिओ का, व्याकरण-न्याय-साहित्य आदि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया | जैन आगमशास्त्रो के समुद्र को भी पार कर गए|

◆ एक अकेला आदमी भी क्या नहीं कर शकता? इस प्रश्न का उत्तर हमें इस महापुरुष के जीवन और कवन से मिल गया, जब वे चल पड़े देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्थापित पथ पर. बिना किसी सहाय लिए हुए सिर्फ अकेले ही "जैन-आगम-शास्त्रो" को दीर्घजीवी बनाने के लिए अनेक हस्तप्रतो से शुद्ध-पाठ तैयार किये | दो वैकल्पिक आगम, कल्पसूत्र और निर्युक्तिओ को जोड़कर ४५ आगम-शास्त्रो को संशोधित कर के संपादित किया | फिर पालीताणामें आगम मंदिर बनवाकर आरस-पत्थर के ऊपर ये सभी आगम-साहित्य को कंडारा, सूरतमें ताम्रपत्र पर भी अंकित करवाए और "आगम मंजूषा" नाम से मुद्रण भी करवा के बड़ी बड़ी पेटीमें रखवा के गाँव गाँव भेज दिए | वर्तमानकालमे सर्व प्रथमबार ऐसा कार्य हुआ |

◆ सिर्फ मूल आगम के कार्य से ही उन के कदम रुके नही थे, उन्होंने आगमो की वृत्ति, चूर्णि, निर्युक्ति, अव चूरी, संस्कृत-छाया आदि का भी संशोधन-सम्पादन किया | उपयोगी विषयो के लिए उन्होंने एक लाख श्लोक प्रमाण संस्कृत-प्राकृत नए ग्रंथो की रचना भी की | कितने ही ग्रंथो की प्रस्तावना भी लिखी | ये सम्यक्-श्रुत मुद्रित करवाने के लिए आगमोदय समिति, देवचंद लालभाई इत्यादि विभिन्न संस्था की स्थापना भी की |

◆ ज्ञानमार्ग के अलावा सम्मेतशिखर, अंतरीक्षजी, केशरियाजी आदि तीर्थरक्षा कर के सम्यक-दर्शन-आराधना का परिचय भी दिया | राजाओं को प्रतिबोध कर के और वाचनाओ द्वारा अपनी प्रवचन-प्रभावकता भी उजागर करवाई | बालदिक्षा, देवद्रव्य-संरक्षण, तिथि-प्रश्न इत्यादि विषयोमे सत्य-पक्षमें अंत तक दृढ़ रहे | जैनशासन के लिए जब जरुरत पड़ी तब अदालती कारवाईंओ का सामना भी बड़ी निडरता से किया था |

◆ सागरानंदजी के नाम से मशहूर हो चुके पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजीने अपने परिवार स्वरुप ७०० साधू-साध्वीजी भी शासन को भेट किये |

**...ये थे हमारे गुरुदेव "सागरजी"...** ***.....मुनि दीपरत्नसागर...***

**संयमैकलक्षी, उपधान-तप-प्रेरक, चारित्र-मार्ग-रागी, प्रवचन-पटु, सुपरिवार-युक्त**

# पूज्य गच्छाधिपतिआचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

*** परमपूज्य आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी के पाट-परंपरामे हुए तिसरे गच्छाधिपति थे पूज्य आचार्य श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी, जो एक पून्यवान् आत्मा थे, दीक्षा ग्रहण के बाद अल्पकालमे ही एक शिष्य के गुरु बन गये | फ़िर क्या ! शिष्यो कि संख्या बढती चली, बढ़ते हुए पुन्य के साथ-साथ वे आखिर 'गच्छाधिपति' पद पे आरूढ़ हो गए | इस महात्मा का पुन्य सिर्फ शिष्यों तक सिमित नही था, वे जहा कहीं भी 'उपधान-तप' की प्रेरणा करते थे, तुरंत ही वहां 'उपधान' हो जाते थे | प्रवचनपटुता एवं पर्षदापुन्य के कारण उन के उपदेश-प्राप्त बहोत आत्माओने संयम-मार्ग का स्वीकार किया | खुद भी संयमैकलक्षी होने के कारण चारित्रमार्ग के रागी तो थे ही, साथसाथ ज्ञानमार्ग का स्पर्श भी उन का निरंतर रहेता था | आप कभी भी दुपहर को चले जाइए, वे खुद अकेले या शिष्य-परिवार के साथ कोई भी ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापनमें रत दिखाई देंगे |

*** ये तो हमने उनके जीवन के दो-तीन पहेलु दिखाए | एक और भी अनुसरणीय बात उन के जीवनमें देखने को मिली थी- 'आराधना-प्रेम'. कैसी भी शारीरिक स्थिति हो, मगर उन्होंने दोनों शाश्वती ओलीजी, [पोष}दशमी, शुक्ल पंचमी, त्रिकाल देववंदन, पर्व या पर्वतिथि के देववंदन आदि आराधना कभी नहीं छोड़ी | आखरी सालोमें जब उन को एहसास हो गया की अब 'अंतिम-आराधना' का अवसर नजदीक है, तब उन के मुहमें एक ही रटण बारबार चालु हो गया- "*अरिहंतनुं शरण, सिद्धनुं शरण, साधुनुं शरण, केवली भगवंते भाखेला धर्मनुं शरण* " इसी चार शरणो के रटण के साथ ही वे समाधि-मृत्यु-रूप सम्यक् निद्रा को प्राप्त हुए थे | ऐसे महान् सूरिवर को भावबरी वंदना |

*** मुनि दीपरत्नसागर...

~~~
~~~

'सागर-समुदाय-एकता-संरक्षक, तीर्थ-उद्धार-कार्य-प्रवृत्त, गुणानुरागी'

इस "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' श्रेणि भाग १ से ४० के संपूर्ण अनुदान के प्रेरणादाता

# पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी महाराज साहेब

पूज्यपाद स्व॰ गच्छाधिपति देवेन्द्रसागर-सूरीश्वरजी के विनयी शिष्य एवं दो गच्छाधिपतिओ के मुख्य सहायक के रुपमे 'सागर समुदाय' के सुचारु संचालक पूज्य हर्षसागरसूरिजी, जिन की प्रेरणा से ये "स चूर्णिक-आगम-सुत्ताणि" के मुद्रण के लिए संपूर्ण द्रव्यराशि प्राप्त हुई , उनका अत्यल्प परिचय यहां करेंगे | समुदाय-एकता के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हुए ये महात्मा *समुदाय के साधु-साध्वीजी* की आवश्यकताओकी पूर्ती के लिए भी प्रवृत्त रहेते है, प्राचीन-अर्वाचीन तीर्थो के जीर्णोद्धार एवं विकाश के लिए भी उत्साहित रहेते है, ज्ञान-क्षेत्र अछूता न रहे इसीलिए अनुमोदना, अनुदान एवं समय मिलने पर शास्त्र-वांचनमें भी रूचि रखते है | समुदाय के जरूरतमंद साध्वीजी भगवंतो के आवास का विषय हो या साध्वीजी के विहारमें मजदूर का वेतन चुकाना हो, ऐसे छोटे-छोटे कार्यो के प्रति भी उन का लक्ष्य रहेता है | दर्शन-शुद्धि के लिए जब उन्होंने समग्र भारतवर्ष के १०० साल तक के पुराने जिनालयो में १८ अभिषेक की प्रेरणा की, उस वक्त लगभग सभी अभिषेक-सामग्री की द्रव्य-शुद्धि का ख़याल रखते हुए अपनी मेधावी बुद्धि का परिचय दिया था, साथमे अनुकंपा भाव से पुजारी या विधि करानेवाले को यत्किंचित् बहुमान प्रगट करते हुए कुछ धन-राशि प्रदान करवाई |

ऐसे बहुगुण-संपन्न महात्मा पूज्य आचार्यश्री हर्षसागर-सूरिजी को हम भावभरी वंदना करते हुए इस श्रुतकार्य का प्रारंभ करने जा रहे है |

**** मुनि दीपरत्नसागर*

[कात्रेज]पूना, शंखेश्वर, कपडवंज, प्रभासपाटण आदि स्थानोमे आगममंदिर के प्रेरक, कर्मग्रंथ अभ्यासु, निस्पृह महात्मा

## पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्य श्री दौलतसागर-सूरीश्वरजी महाराज साहेब

(एवं) अजातशत्रु, स्वाध्याय-रसिक, प्रशांतमूर्ती और अपने गुरु के प्रीतिपात्र

## परम पूज्य आचार्य श्री नंदीवर्धनसागर-सूरिजी महाराज साहेब

इस पवित्र श्रुत-कार्यमे दोनो सूरिवरो का स्मरण करते हुए कोटि कोटि वंदना के साथ

| मूलांक: | विषय: | पृष्ठांक | मूलांक: | विषय: | पृष्ठांक | मूलांक: | विषय: | पृष्ठांक |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| --- | श्रुतस्कंध- १ | ०१४ | ❁-❁ | अध्ययनं ३ उपसर्ग: | १११ | ❁-❁ | अध्ययनं ९ धर्मं | २२९ |
| ❁-❁ | अध्ययनं १ समयं | ०१४ | १६५ | उद्देशक:-१- प्रतिकुल उपसर्ग: | १११ | ४३७ | -धर्म स्वरूपं, हिंसादिपंचकस्य- | |
| ००१ | उद्देशक:-१- पञ्च महाभूत:, | ०१४ | १८२ | उद्देशक:-२- अनुकूल उपसर्ग: | ११८ | | त्यागस्य उपदेश:, अनाचार- | |
| | -आत्माद्वैत, देहात्म, | | २०४ | उद्देशक:-३- परवादी वचनात् | १२३ | | त्याग:, प्रव्रज्याविधानं | |
| | -आत्माषष्ठ एवं अफालवाद: | | | आत्मिकदुखं | | ❁-❁ | अध्ययनं १० समाधि: | २४१ |
| ०२८ | उद्देशक:-२- नियति, अज्ञान, | ०५४ | २२५ | उद्देशक:-४- यथावस्थित अर्थ- | १३२ | ४७३ | -प्राणातिपात आदि विरमणम्, | |
| | -ज्ञान एवं क्रिया - वाद: | | | प्ररूपणं | | | -आधाकर्माहार-स्त्री संगति: एवं | |
| ०६० | उद्देशक:-३- जगत्कर्तृत्व, | ०६४ | ❁-❁ | अध्ययनं ४ स्त्रीपरिज्ञा | १३९ | | निदानादे: निषेध:, | |
| | -त्रैराशिक एवं अनुष्ठानवाद: | | २४७ | उद्देशक:-१.२ स्त्री परिषह: | १४० | | -एकत्व आदि भावनास्वरूपं | |
| ०७६ | उद्देशक:-४- लोकवाद: | ०७० | ❁-❁ | अध्ययनं ५ नरकविभक्ति: | १६५ | ❁-❁ | अध्ययनं ११ मार्ग: | २५२ |
| | -असर्वज्ञवाद:, अहिंसा, चर्यादि | | ३०० | उद्देशक:-१- नरकवेदना | १६५ | ४९७ | -मोक्षमार्ग:, विरतिउपदेश:, | |
| ❁-❁ | अध्ययनं २ वैतालियं | ०७७ | ३२७ | उद्देशक:-२-चतुर्गतिभ्रमणं | १७९ | | -भावसमाधि: | |
| ०८९ | उद्देशक:-१- मनुष्यभवस्य- | ०७७ | ❁-❁ | अध्ययनं ६ वीरस्तुति: | १८८ | ❁-❁ | अध्ययनं १२ समवसरणं | २६५ |
| | दुर्लभत्वं, -मोहादि-निर्वृति:. | | ३५२ | -महावीरप्रभो: गुणवर्णनं | १९० | ५३५ | -अज्ञानादि-वादं,भवभ्रमण हेतु: | |
| | -प्रथमं महाव्रतं आदि: | | ❁-❁ | अध्ययनं ७ कुशील परिभाषा | २०१ | | -अनासक्ति उपदेश: | |
| १११ | उद्देशक:-२-परिसह-कषाय-जय | ०८८ | ३८१ | -हिंसा एवं तत् कर्मफलं, | २०१ | ❁-❁ | अध्ययनं १३ यथातथ्यं | २८४ |
| | -परिग्रह-परिचयादी-निषेध: | | | -बोधि दुर्लभत्वं, | | ५५७ | -मोक्ष एवं बंधस्वरूपं, | |
| | -समितिवर्णनम् | | | -स्वसमय-परसमय वर्णनं, | | | -मद त्याग उपदेश: | |
| १४३ | उद्देशक:-३- मुक्तिहेतु:,महाव्रत- | १०१ | | -आहार विधि-निषेध: | | ❁-❁ | अध्ययनं १४ ग्रन्थ: | २९६ |
| | माहात्म्यं, कर्म फल-संवर एवं | | ❁-❁ | अध्ययनं ८ वीर्यं | २१६ | ५८० | -अपरिग्रह-ब्रह्मचर्य उपदेश:, | |
| | निर्जरादि: | | ४११ | -वीर्यस्य भेदवर्णनं, बाल एवं | २१६ | | -प्रश्नोत्तरविधि:, भाषाविवेक:, | |
| | | | | पंडित वीर्यम् | | | -सूत्रोच्चारणं व अर्थप्रतिपादनं | |

| मूलाङ्का: ८०६ | | | सूत्रकृताङ्ग सूत्रस्य विषयानुक्रम | | | निर्युक्ति गाथा: २०५ | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मूलांक: | विषय: | पृष्ठांक: | मूलांक | विषय: | पृष्ठांक: | मूलांक: | विषय: | पृष्ठांक: |
| ❁-❁ | अध्ययनं १५ आदानं | ३१४ | ❁-❁ | अध्ययनं २ क्रियास्थानं | ३५५ | ❁-❁ | अध्ययनं ५ आचारश्रुतं | ४२१ |
| ६०७ | -मोक्षस्य उपाया:, | | ६४८ | -त्रयोदश क्रियास्थानानि | | ७०५ | -अनेकान्त वचनप्रयोगकरणं | |
| | -भवभ्रमणनिषेध हेतु: | | ❁-❁ | अध्ययनं ३ आहारपरिज्ञा | ३९४ | | -जीव अजीव आदि तत्त्वस्य | |
| ❁-❁ | अध्ययनं १६ गाथा | ३२० | ६७५ | -विविध वनस्पतिकायस्य | | | अस्तित्व-स्वीकार: | |
| ६३२ | -अनगार स्वरूपं | | | उत्पति, तस्य आहारविधि: | | ❁-❁ | अध्ययनं ६ आर्द्रकीयं | ४३२ |
| --- | श्रुतस्कंध- २ | ३२६ | | -जीवोत्पत्ति: तस्य आहार एवं | | ७३८ | -गोशालक एवं आर्द्रकुमारस्य | |
| ❁-❁ | अध्ययनं १ पुण्डरिकं | ३२७ | | शरीर वर्णनं | | | परस्पर वार्ता, शाक्य भिक्षु- | |
| ६३३ | -पुण्डरिक-उद्धरणं दृष्टांत एवं | | ❁-❁ | अध्ययनं ४ प्रत्याख्यानं | ४०८ | | सार्धं आर्द्रकुमारस्य संवाद: | |
| | तद् भावस्य कथनं, | | ७०० | -अप्रत्याख्यान स्वरूपं, | | ❁-❁ | अध्ययनं ७ नालंदीयं | ४६७ |
| | देहात्मपञ्चमहाभूत-कारणिक | | | -प्रत्याख्यान हेतु:, षड् जीव- | | ७९३ | -पेढालपुत्र एवं गौतमस्य | |
| | आदि वाद कथनं | | | निकाय हिंसा विरमणं | | | परस्पर वार्ता | |

**[सूत्रकृत-चूर्णि] इस प्रकाशन की विकास-गाथा**

यह प्रत सबसे पहले " सूत्रकृताङ्गसूत्र" के नामसे सन १९४१ (विक्रम संवत १९९८) में रुषभदेवजी केशरमलजी श्वेताम्बर संस्था द्वारा प्रकाशित हुई, इस के संपादक-महोदय थे पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी (सागरानंदसूरिजी) महाराज साहेब |

वृत्ति की तरह चूर्णी के भी दुसरे प्रकाशनों की बात सुनी है, जिसमे ऑफसेट-प्रिंट और स्वतंत्र प्रकाशन दोनों की बात सामने आयी है, मगर मैंने अभी तक कोई प्रत देखी नहीं है |

✣ - हमारा ये प्रयास क्यों? -✣ आगम की सेवा करने के हमें तो बहोत अवसर मिले, ४५-आगम सटीक भी हमने ३० भागोमे १२५०० से ज्यादा पृष्ठोमें प्रकाशित करवाए है, किन्तु लोगो की पूज्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी के प्रति श्रद्धा तथा प्रत स्वरुप प्राचीन प्रथा का आदर देखकर हमने उन सभी प्रतो को स्केन करवाई, उसके बाद एक स्पेशियल फोरमेट बनवाया, जिसके बीचमे पूज्यश्री संपादित प्रत ज्यों की त्यों रख दी, ऊपर शीर्षस्थानमे आगम का नाम, फिर श्रुतस्कंध-अध्ययन-उद्देशक-मूलसूत्र-निर्युक्ति आदि के नंबर लिख दिए, ताकिँ पढ़नेवाले को प्रत्येक पेज पर कौनसा अध्ययन, उद्देशक आदि चल रहे है उसका सरलतासे ज्ञान हो शके, बायीं तरफ आगम का क्रम और इसी प्रत का सूत्रक्रम दिया है, उसके साथ वहाँ 'दीप अनुक्रम' भी दिया है, जिससे हमारे प्राकृत, संस्कृत, हिंदी गुजराती, इंग्लिश आदि सभी आगम प्रकाशनोमें प्रवेश कर शके| हमारे अनुक्रम तो प्रत्येक प्रकाशनोमें एक सामान और क्रमशः आगे बढते हुए ही है, इसीलिए सिर्फ क्रम नंबर दिए है, मगर प्रत में गाथा और सूत्रों के नंबर अलग-अलग होने से हमने जहां सूत्र है वहाँ कौंस [-] दिए है और जहां गाथा है वहाँ ||-|| ऐसी दो लाइन खींची है|

इस आगम चूर्णि के प्रकाशनोमें भी हमने उपरोक्त प्रकाशनवाली पद्धत्ति ही स्वीकार करने का विचार किया था, परंतु चूर्णि और वृत्ति की संकलन पद्धत्ति एक-समान नही है, चूर्णिमे मुख्यतया सूत्रों या गाथाओ के अपूर्ण अंश दे कर ही सूत्रो या गाथाओ को सूचित कर के पूरी चूर्णि तैयार हुई है, कहीं-कहीं निर्युक्ति एवं सूत्र या गाथा की चूर्णि है ही नहि, इसीलिए हमें यहाँ सम्पादन पद्धत्ति बदलनी पड़ी है | हमने यहाँ उद्देशक आदि के सूत्रो या गाथाओ का क्रम, [१-१४, १५-२४] इस तरह साथमे दिया है और बायीं तरफ़ उपर आगम-क्रम और नीचे इस चूर्णि के सूत्रक्रम और दीप-अनुक्रम दिए है, जिससे आप हमारे आगम प्रकाशनोंमे प्रवेश कर शकते है|

शासनप्रभावक पूज्य आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी म०सा० की प्रेरणासे और श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैनसंघ, पालडी, अमदावाद की संपूर्ण द्रव्य सहाय से ये 'सचूर्णिक-आगम-सुत्ताणि' भाग-२ का मुद्रण हुआ है, हम उन के प्रति हमारा आभार व्यक्त करते है |

**.....मुनि दीपरत्नसागर.**

# सूत्रकृत् चूर्णिः

## [श्रुतस्कन्ध-१]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता.....आगमसूत्र-[०२], अंग सूत्र-[०२] "सूत्रकृत" जिनदासगणि विहिता चूर्णि:

प्रत सूत्रांक [ ]

दीप अनुक्रम [ ]

# श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः।

मंगलचर्चा

ॐ नमः सिद्धेभ्यः। णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं, मंगलादीणि सत्थाणि मंगलमज्झाणि मंगलअवसाणाणि, मंगलपरिग्गहिआ सिस्सा अवग्गहेहावायधारणासमत्था सत्थाण पारगा भवंति, ताणि य सत्थाणि लोगे विरायंति वित्थारं च गच्छंति, तन्थादिमंगलेण सिस्सा आरंभप्पभिति णिव्विसाया सत्थं पडिवज्जिऊणं अविग्घेण सत्थस्स पारं गच्छंति, मज्झमंगलेण तदेव सत्थं परिजितं भवति, अवसाणमंगलेण सिस्सपसिस्ससंताणे पडिवाएन्ति, आह– आचार्यः! मंगलकरणाच्छास्त्रं न मङ्गलमापद्यते, अथवेह मङ्गलात्मकस्यापि शास्त्रस्यान्यन्मङ्गलमुच्यते अतस्तस्याप्यन्यत् तस्यान्यन्मङ्गलमादेयमित्यतोऽनवस्था, न चेदनवस्था प्रतिपद्यते ततो यथा मङ्गलमपि शास्त्रं अन्यमङ्गलशून्यत्वात् न मङ्गलं तथा मङ्गलमपि अन्यमङ्गलशून्यत्वादमङ्गलमिति मङ्गलाभावः, उच्यते, यस्य शास्त्रादर्थान्तरभूतं मङ्गलं तं प्रत्येषा कल्पना भवेत्, इह त्वस्माकं

*** उपोद्घात् निर्युक्ति:, आदि-मध्य-अंत्य मंगलस्य निर्देश:

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता.....आगमसूत्र-[०२], अंग सूत्र-[०२] "सूत्रकृत" जिनदासगणि विहिता चूर्णि:

प्रत सूत्रांक [ ]

दीप अनुक्रम [ ]

सूत्रकृ-चूर्णिः २ ॥

शास्त्रमेव मङ्गलं ? यन्मङ्गलमुपादीयते किमत्रामङ्गलं?का वाऽनवस्थेति ?, नायमस्मत्पक्षः,किन्तु यस्यापि शास्त्रादर्थान्तरभूतं तस्यापि नामंगलप्रसंगो न वाऽनवस्था, कुतः ?, स्वपरानुग्रहकारित्वान्मङ्गलस्य प्रदीपवत् लवणादिवद्वा, आह-मङ्गलत्रयान्तरालद्वयं न मङ्गलमापद्यतेऽर्थापत्तितः, यदिवेह सर्वमेव शास्त्रं मङ्गलमिति प्रतिपद्यते मङ्गलत्रयग्रहणमनर्थकं ?, उच्यते, समस्तमेव शास्त्रं त्रिधा विभज्यते, कुतोऽन्तरालद्वयपरिकल्पनं यदमङ्गलं भवेत् ?, कथं पुनः सर्वमेव शास्त्रं मङ्गलमिति चेत् ?, उच्यते, निर्जरार्थत्वात् तपोवत्, आह–यदि स्वयमेव शास्त्रं मङ्गलमित्यतः किमिह मङ्गलग्रहणं क्रियते ?, उच्यते, ननूक्तं नैवेह शास्त्रादर्थान्तरभूतं मङ्गलमुपादीयते, किन्तु मङ्गलमिदं शास्त्रमिति केवलमुच्चार्यते, आह–तदुच्चारणं किंफलं ?, यदि मङ्गलमिति न संबध्यते किं तद् ?. मङ्गलं भवति, शिष्यमतिमङ्गलपरिग्रहार्थं तदभिधानं, इह शिष्यः कथं शास्त्रं मङ्गलमित्येव मंगलबुद्ध्या परिगृह्णीयादिति, यस्मादिह मङ्गलमपि मङ्गलबुद्ध्या परिगृह्यमाणं मङ्गलं भवति, साधुवत्, आह–ततः सर्वमेवेदं मङ्गलमित्येतावदस्तु नार्थो मङ्गलत्रयबुद्धिग्रहेण, उच्यते, ननु तत्रापि कारणमुक्तं–यथैव हि शास्त्रं मङ्गलमपि सत् न मङ्गलबुद्धिपरिग्रहमन्तरेण मङ्गलं भवति साधुवत्, तथा मङ्गलत्रयकारणमपि अविघ्नपारगमनादि न मङ्गलत्रयबुद्ध्या विना सिध्यतीत्यतस्तदभिधानमिति, मगेर्गत्यर्थस्य अलप्रत्ययान्तस्य मङ्गलमिति रूपं भवति, मंग्यतेऽनेन हितमिति मङ्गलं, मंग्यते साध्यत इतियावत्, अथवा मंगो–धर्म्मः, 'ला आदाने' मङ्गं लातीति मङ्गलं, धर्म्मोपादाने हेतुरित्यर्थः, अथवा निपातनादिष्टार्थप्रकृतिप्रत्ययोपादान्मङ्गलं, इष्टार्थाश्च प्रकृतयः–मकि मण्डने, मन ज्ञाने, मदी हर्षे, मदि मोदस्वप्नगतिषु, मह पूजायामित्येवमादीनामलप्रत्ययान्तानां मङ्गलमेनन्निपात्यते, मंक्यते अनेन मन्यते वाऽनेनेति मङ्गलमित्यादि लक्षणशास्त्रीययाऽनुवृत्त्या योजनीयमिति, अथवा मं गालयति भवादिति मङ्गलं, संसारादपनयतीत्यर्थः, अथवा

मंगलचर्चाः

॥ २ ॥

'मंगल' संबंधि विवेचनं

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ ३ ॥

शास्त्रस्य मा गलो भूदिति मङ्गलं, गलो–विघ्नं, मा गालो वा भूदिति मङ्गलं, गलनं गालो, नाश इत्यर्थः, सम्यग्दर्शनादिमार्ग-लयनाद्वा मङ्गलमित्यादि नैरुक्ता भाषंत इति। तं च नामादि चतुर्विधमपि जहा आवस्सए तथा परूवेयव्वं जाव जाणगसरीर-भवियसरीरवइरित्तं दव्वमंगलं दध्यक्षतसुवर्णसिद्धार्थकादि, भावमंगलंपि तहेव, अथवा भावमंगलं णिज्जुत्तिकारेणं चेव वुत्तं 'तित्थगरे य जिणवरे सुत्तकरे गणधरे व णमिऊणं। सुत्तकडस्स भगवतो णिज्जुत्तिं कित्तइस्सामि ॥ १ ॥ इह तीर्थकरणात्तीर्थकरा वक्ष्यन्ते, तत्र तॄ प्लवनतरणयोरित्यस्य तीर्थमिति, तं च नामादि चतुर्विधं, तत्थ दव्वतित्थं मागहादि, अहवा सरिआदीणं जो अवगासो समो णिरपायो य, तिञ्जति जं तेण, तहिं वा तरिञ्जइत्ति तित्थं, एवं दव्वतित्थे पसिद्धे तरिता तरणं तरियव्वं च पसिद्धाणि चेव, तत्थ तारओ पुरिसो तरणं वाहोडुवादि तरियव्वं णदी समुद्दो वा, तं च देहादितरितव्वतारणतो दाहोवसमणत्तो तण्हाछेदणओ वज्झमलपवाहणतो अणेगंतियं फलतो य, स्वयं च द्रव्यात्मकत्वात् द्रव्यतीर्थमुच्यते, अपिच-दाहोवसमं तण्हाए छेदणं मलपवाहणं चेव। तिसु अत्थेसु णियत्तं तम्हा तं दव्वतो तित्थं ॥ १ ॥ भावतित्थं चाउव्वण्णो संघो, जओ सुत्ते भणियं ?–"तित्थं भंते! तित्थं तित्थकरे तित्थं ?, गोतमा! अरहा ताव णियमा तित्थकरे, तित्थं पुण चाउव्वण्णा-इण्णो संघो, तम्मि य पसिद्धे तरिता तरणं तरियव्वं च पसिद्धाणि चेव, तत्थ तरिता साधू तरणं सम्मदंसणणाणचरित्ताणि, तरितव्वं भवसमुद्दो, जतो णाणादिभावतो मिच्छत्तऽण्णाणऽविरतिभवभावेहिंतो तारयंति तेण भावतित्थंति, अथवा कोहलोभकम्म-मयदाहतण्हाछेदकम्ममलादवणयणमेगन्तिअमच्चंतियं च तेण कज्जतित्ति अतो भावतित्थं, अपिच–कोहंमि उ णिग्गहिते अतु-लोवसमो भवे मणूसाणं। लोभम्मि उ णिग्गहिते तण्हावोच्छेदणं होंति ॥ १ ॥ अट्ठविहो कम्मरओ बहुएहिं भवेहिं संचितो

तीर्थसिद्धिः ॥ ३ ॥

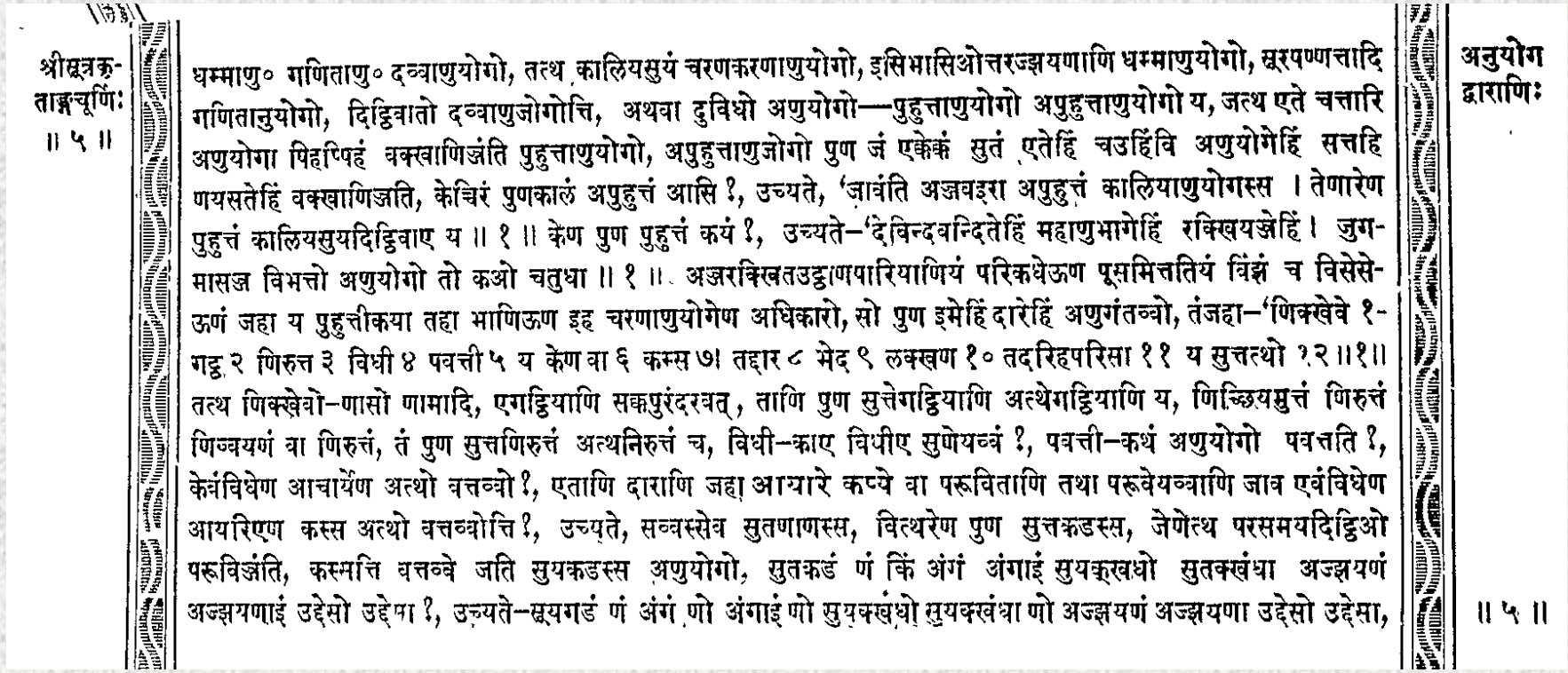
मंगल' एवं तीर्थ संबंधि विवेचनं,

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ ४ ॥

जम्हा । तवसंजमेण वोच्छिज्जति तम्हा तं भावतो तित्थं ॥ २ ॥ अथवा- दंसणणाणचरित्ते(हिं)णिउत्तं जिणवरेहिं सव्वेहिं । तिहि अत्थेहिं णिउत्तं तम्हा तं भावतो तित्थं ॥ ३ ॥ तं भावतित्थं जेहिं कयं ते तित्थकरे, तित्थगरग्रहणेन अतीताणागतवट्टमाणा सव्वतित्थकरा गहिया, 'जिणे'त्ति दव्वजिणा भावजिणा य, दव्वजिणा जेण जं दव्वं जियं, यथा जितमनेनौषधमिति, संग्रामे वा शत्रुजयात् द्रव्यजिना भवन्ति, भावजिणा जेहिं कोहमाणमायालोभा जिता, जिणगहणेण उवसामगखवगसजोगिजिणा तिण्णिवि गहिता, तदणंतरं सुत्तं-सुत्तकयं ते गणधरा एक्कारसवि, अविग्रहणेण सेसगणधरवंसोवि, सूयकडस्सत्ति उवरिं भण्णिहिति, अत्थजसधम्मलच्छीपयत्तविभवाण छण्हमेतेसिं 'भग' इति सण्णा, सो जस्स अत्थि सो भण्णति भगवं, अतो सूयकडस्स भगवतो, 'णिज्जुत्ति'ति निश्चयेन वा आधिक्येन साऽर्थादितो वा युक्ता निर्युक्ताः-सम्यगवस्थिताः श्रुताभिधेयविशेषा जीवादयः, तथाहि-सूत्रे त एव निर्युक्ताः यत्पुनरनयोपनिद्धास्तेनेयं निर्युक्तानां युक्तिः निर्युक्तयुक्तिः, युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिः, आह-यदि सूत्र एव निर्युक्ताः सम्यगवस्थानात् सुखबोधा एव ते अर्थाः, किमिह तेऽर्था निर्युक्ताः ?, उच्यते, निर्युक्ता अपि सन्तः सूत्रेऽर्थाः निर्युक्त्या पुनरव्याख्यानात् न सर्वेऽवबुद्ध्यन्ते अतो णिज्जुत्तिं कित्तइस्सामि । अथवा भावमंगलं णंदी, सावि णामादि चतुर्विधा, दव्वे संखबारसगतूरसंघातो, भावणंदी पंचविधं णाणं, 'णादंसणिस्स णाण'मितिकाऊणं दंसणमवि तदन्तर्गतं चेव, दंसणपुव्वगं च चरित्तमवि गहितं; णंदिं वण्णेऊणं सुतणाणेण अहिगारो, उक्तं च-एत्थं पुण अधिकारो सुतणाणेणं जओ सुतेणं तु । सेसाणमप्पणोऽविय अणुओग पदीवदिट्ठंतो ॥ १ ॥ जतो य सुतणाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुयोगो य पव्वत्तति, तत्थवि उद्देससमुद्देसअणुण्णाओ गताओ, इह तु अणुयोगेण अहियारो, सो चतुर्विधो, तंजहा-चरणकरणाणुयोगो

निर्युक्तिमंगलं ॥ ४ ॥

तीर्थ, जिन, भग, निर्युक्ति एवं नन्दी शब्दस्य व्याख्या



श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ ५ ॥

धम्माणु० गणिताणु० दव्वाणुयोगो, तत्थ कालियसुयं चरणकरणाणुयोगो, इसिभासिओत्तरज्झयणाणि धम्माणुयोगो, सूरपण्णत्तादि गणितानुयोगो, दिट्ठिवातो दव्वाणुजोगोत्ति, अथवा दुविधो अणुयोगो—पुहुत्ताणुयोगो अपुहुत्ताणुयोगो य, जत्थ एते चत्तारि अणुयोगा पिहप्पिहं वक्खाणिज्जंति पुहुत्ताणुयोगो, अपुहुत्ताणुजोगो पुण जं एक्केक्कं सुतं एतेहिं चउहिंवि अणुयोगेहिं सत्तहि णयसतेहिं वक्खाणिज्जति, केचिरं पुणकालं अपुहुत्तं आसि ?, उच्यते, 'जावंति अज्जवइरा अपुहुत्तं कालियाणुयोगस्स । तेणारेण पुहुत्तं कालियसुयदिट्ठिवाए य ॥ १ ॥ केण पुण पुहुत्तं कयं ?, उच्यते–'देविन्दवन्दितेहिं महाणुभागेहिं रक्खियज्जेहिं। जुगमासज्ज विभत्तो अणुयोगो तो कओ चतुधा ॥ १ ॥ अज्जरक्खितउद्दाणपारियाणियं परिकधेऊण पूसमित्ततियं विंझं च विसेसेऊणं जहा य पुहुत्तीकया तहा भाणिऊण इह चरणाणुयोगेण अधिकारो, सो पुण इमेहिं दारेहिं अणुगंतव्वो, तंजहा–'णिक्खेवे १-गट्ठ २ णिरुत्त ३ विधी ४ पवत्ती ५ य केण वा ६ कम्स ७। तद्दार ८ भेद ९ लक्खण १० तदरिहपरिसा ११ य सुत्तत्थो १२ ॥१॥ तत्थ णिक्खेवो–णासो णामादि, एगट्ठियाणि सक्कपुरंदरवत्, ताणि पुण सुत्तेगट्ठियाणि अत्थेगट्ठियाणि य, णिच्छियमुत्तं णिरुत्तं णिव्वयणं वा णिरुत्तं, तं पुण सुत्तणिरुत्तं अत्थनिरुत्तं च, विधी–काए विधीए सुणेयव्वं ?, पवत्ती–कथं अणुयोगो पवत्तति ?, केवंविधेण आचार्येण अत्थो वत्तव्वो ?, एताणि दाराणि जहा आयारे कप्पे वा परूवियाणि तथा परूवेयव्वाणि जाव एवंविधेण आयरिएण कस्स अत्थो वत्तव्वोत्ति ?, उच्यते, सव्वस्सेव सुतणाणस्स, वित्थरेण पुण सुत्तकडस्स, जेणेत्थ परसमयदिट्ठिओ परूविज्जंति, कस्मत्ति वत्तव्वे जति सुयकडस्स अणुयोगो, सुतकडं णं किं अंगं अंगाइं सुयक्खधो सुतक्खंधा अज्झयणं अज्झयणाइं उद्देसो उद्देसा ?, उच्यते–सूयगडं णं अंगं णो अंगाइं णो सुयक्खंधो सुयक्खंधा णो अज्झयणं अज्झयणा उद्देसो उद्देसा,

अनुयोग द्वाराणिः ॥ ५ ॥

चतुर अनुयोगस्य विवरणं, 'सूयगड़' शब्दस्य पर्याया:,

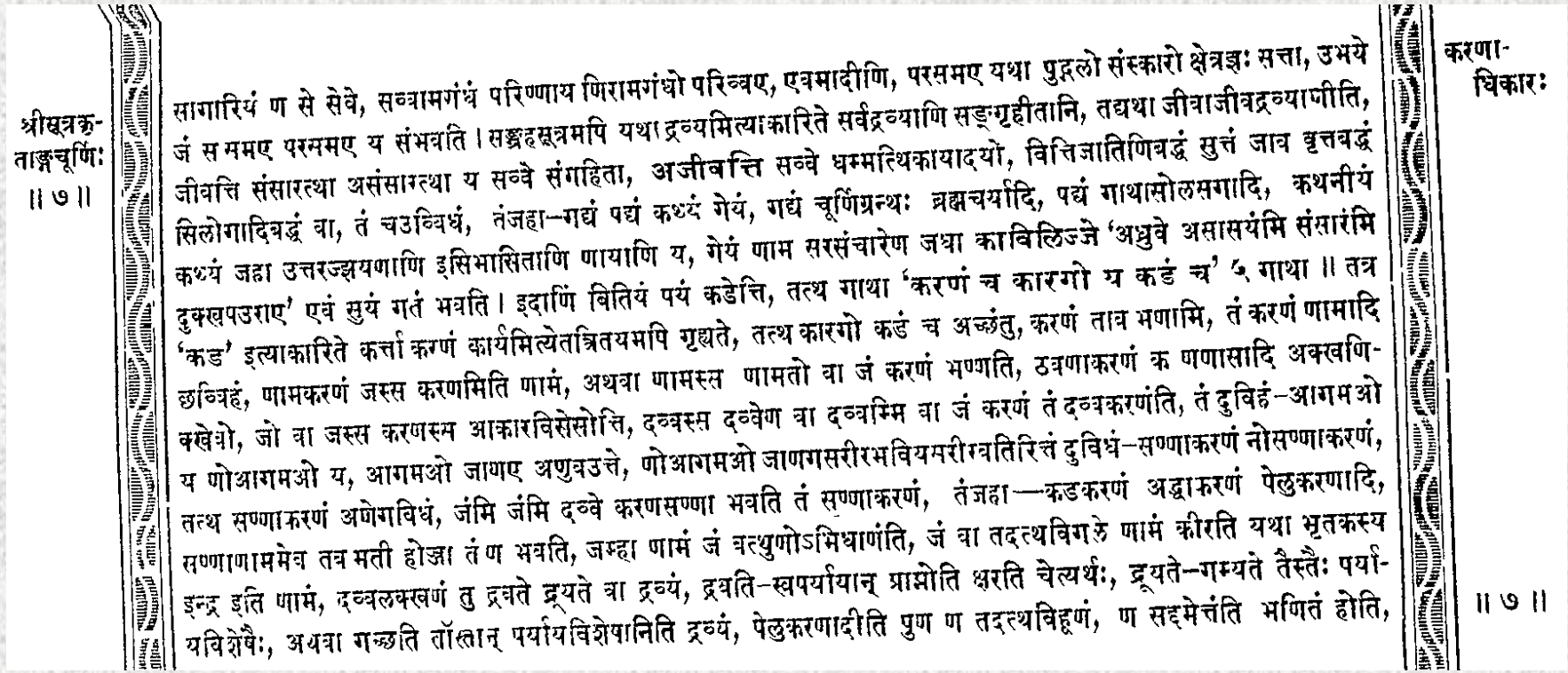
श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ ६ ॥

तम्हा सुत्तं णिक्खिविस्सामि कडं णिक्खिविस्सामि सुतं णिक्खिविस्सामि खंधं णिक्खिविस्सामि अज्झयणं णिक्खिविस्सामि उद्देसं णिक्खिविस्सामि, 'सुत्तकडं अंगाणं बितियं तस्स य इमाणि णामाणि। सुत्तकडं सूतकडं सूयकडं चेव गोण्णाइं ॥२॥' सुअपुरुसस्स बारसंगाणि मूलत्थाणीयाणि, सेससुतक्खंधा उवंगाणि कलाच्चंगुट्ठादिवत्, तेसिं बारसण्हं अंगाणं एतं बितियं अंगं, णामाणि एगट्ठियाणि इंदसक्कपुरन्दरवत्, तंजहा–सुत्तकडंति वा सुतकडंति वा सूयकडंति वा, णामं पुण दुविधं–गोण्णं इयरं च, गुणेभ्यो जायं गौणं, जधा तवतीति तवणो जलतीति जलणो एवमादि, तत्थेताणि एगट्ठियणामाणि गोण्णाति, तत्थ सुतकडं 'षूङ् प्राणिप्रसवे' सो पसवो दुविधो–दव्वे भावे य, द्रव्यप्रसवो स्त्रीगर्भप्रसववत्, भावप्रसवो गणधरेभ्य इदं प्रसूतं, अथवा 'अत्थं भासति अरहा' ततः सूत्रं प्रसवति, 'सुत्तकड'त्ति यथा गृहं वास्तुसूत्रवत् तदनुसारेण कुड्डं क्रियते कट्ठं वा सुत्तानुसारेण कज्जति, भावसूत्रेण तु सूत्राणुसारेण निर्वाणपथं गम्यते। सूतकडं णामादि चतुर्विधं, वइरित्ता दव्वसूयणा जहा लोयसूयगा णलगवसूवगा लोहसूयगादि वा दव्वसूयगा, भावे इमं चेव, खयोवसमिए भावे ससमयपरसमयसूयणामेत्तं, अहवा सुत्तं णामादि चतुर्विधं, दव्वसुत्ते इमाणि 'जइ अद्धा गाथा'॥३॥ दव्वं तु बोंडगादी भावे सुत्तमह सूयगं णाणं।' दव्वसुतं अंडजं बोंडजं कीडजं वागजं वालजं ॥ से किं तं अंडजं ?, हंसगब्भादि, बोंडजं कप्पासादी, कीडजं कोसियादि, वागजं सणअयसिमाती, वालजं उट्टियादि, भावे इमं चेव भवति, सूयगं णाम णाणं, णाणं णाणेण चेव सूइज्जइ, अथवा इमेण णाणेणं णाणाणि य अण्णाणाणि य सूइज्जंति, तं पुण जधा 'वुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जइ' तं सूत्रं चतुर्विधं–'सण्णासंगहवित्तेजातिणिबंधे य कत्थादि ॥४॥' तत्थ सण्णासुत्तं तिविधं–ससमए परसमए उभयेत्ति, ससमए ताव विगती, पढमि(मालि)या, जे छेदे

एकार्थानि सूत्रं च

॥ ६ ॥

सूत्र-कृत् पदयो: निक्षेपा:,



श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥ ७ ॥

सागारियं ण से सेवे, सव्वामगंधं परिण्णाय णिरामगंधो परिव्वए, एवमादीणि, परसमए यथा पुद्गलो संस्कारो क्षेत्रज्ञः सत्ता, उभये जं स समए परसमए य संभवति। सङ्ग्रहसूत्रमपि यथा द्रव्यमित्याकारिते सर्वद्रव्याणि सङ्गृहीतानि, तद्यथा जीवाजीवद्रव्याणीति, जीवत्ति संसारत्था असंसारत्था य सव्वे संगहिता, अजीवत्ति सव्वे धम्मत्थिकायादयो, वित्तिजातिणिबद्धं सुत्तं जाव वृत्तबद्धं सिलोगादिबद्धं वा, तं चउव्विधं, तंजहा—गद्यं पद्यं कथ्यं गेयं, गद्यं चूर्णिग्रन्थः ब्रह्मचर्यादि, पद्यं गाथाषोडसगादि, कथनीयं कथ्यं जहा उत्तरज्झयणाणि इसिभासितानि णायाणि य, गेयं णाम सरसंचारेण जधा काविलिज्जे 'अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए' एवं सुयं गतं भवति। इदाणिं बितियं पयं कडेत्ति, तत्थ गाथा 'करणं च कारगो य कडं च' ५ गाथा ॥ तत्र 'कड' इत्याकारिते कर्त्ता करणं कार्यमित्येतत्त्रितयमपि गृह्यते, तत्थ कारगो कडं च अच्छंतु, करणं ताव भणामि, तं करणं णामादि छव्विहं, णामकरणं जस्स करणमिति णामं, अथवा णामस्स णामतो वा जं करणं भण्णति, ठवणाकरणं क णणासादि अक्खणि-क्खेवो, जो वा जस्स करणस्स आकारविसेसोत्ति, दव्वस्स दव्वेण वा दव्वम्मि वा जं करणं तं दव्वकरणंति, तं दुविहं—आगमओ य णोआगमओ य, आगमओ जाणए अणुवउत्ते, णोआगमओ जाणगसरीरभवियसरीरवतिरित्तं दुविधं—सण्णाकरणं नोसण्णाकरणं, तत्थ सण्णाकरणं अणेगविधं, जंमि जंमि दव्वे करणसण्णा भवति तं सण्णाकरणं, तंजहा—कडकरणं अद्धाकरणं पेलुकरणादि, सण्णाणाममेव तव्वमती होज्जा तं ण भवति, जम्हा णामं जं वत्थुणोऽभिधाणंति, जं वा तदत्थविगले णामं कीरति यथा भृतकस्य इन्द्र इति णामं, दव्वलक्खणं तु द्रवते द्रूयते वा द्रव्यं, द्रवति—स्वपर्यायान् प्राप्नोति क्षरति चेत्यर्थः, द्रूयते—गम्यते तैस्तैः पर्यायविशेषैः, अथवा गच्छति तॉंस्तान् पर्यायविशेषानिति द्रव्यं, पेलुकरणादीति पुण ण तदत्थविहूणं, ण सद्दमेत्तंति भणितं होति,

करणाधिकारः

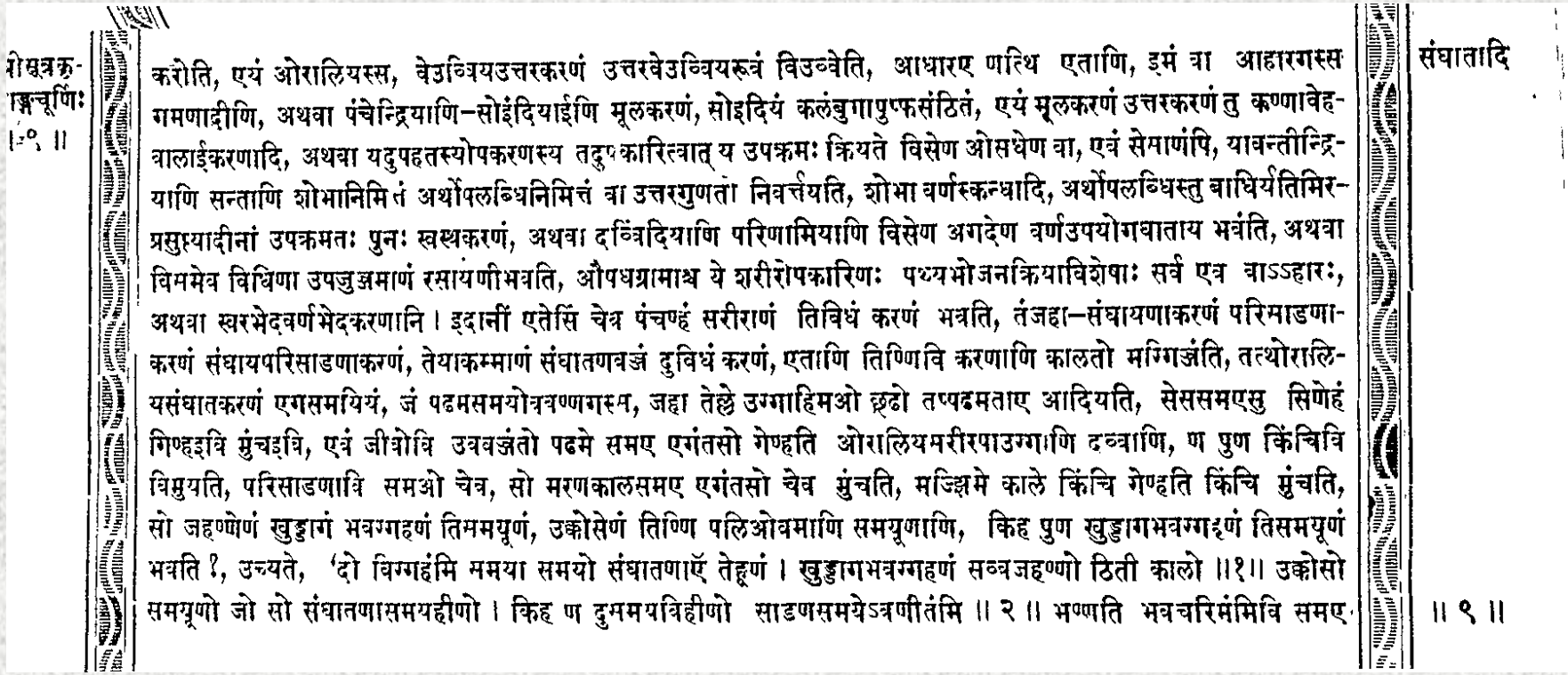
॥ ७ ॥

'करण' शब्दस्य निक्षेपाः, भेदाः

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ ८ ॥

आह–जइ ण तदत्थविहीणं तो किं दव्वकरणं?, जतो तेण दव्वं कीरति, सण्णाकरणंति य करणं रूढीतो, आह-जति तदत्थविरहितं ण भवति तो किं दव्वकरणं भवति?, भावकरणमेव भवतु?, उच्यते, जतो तेण दव्वं कीरति, जहा पेल्लीओ णाणियाओ?, ताओ कीरंति एवमादि, सण्णाकरणंतिय रूढीतो। इदाणिं णोसण्णाकरणं, तत्थ णिज्जुत्तिगाथा 'दव्वे पओगवीससस पयोगसा मूलउत्तरे चेव। उत्तरकरणं वंजण अत्थे उ उवक्खरो सव्वो ॥ ५ ॥ णोसण्णादव्वकरणं दुविधं–पयोगकरणं विस्ससाकरणं च, पयोगकरणं दुविहं–जीवपओगकरणं अजीवपयोगकरणं च, होति पयोगो जीववावारो, तेण जं विणिम्माणं सजीवमजीवं वा पयोगकरणं तयं च दुहा, तत्थ जीवपयोगकरणं दुविधं-मूलप्पयोगकरणं उत्तरप्पयोगकरणं च, मूले करणं मूलकरणं, आद्यमित्यर्थः, उत्तरओ करणं उत्तरकरणं, संस्करणादित्यर्थः, अथवा उत्तरकरणस्स अत्थो णिज्जुत्तिगाथाचतुत्थपदेण भण्णति, अत्थो उ उव्वक्खरो सव्वो, उवकारीत्यर्थः, येन वा कृतेन तन्मूलकरणं अभिव्यज्यते–उवकारसमर्थं भवतीत्यर्थः, यथा हस्त इति, कलाचिअङ्गुष्ठतलोपतलसमुदयः, तस्य उक्खेवणादि उत्तरकरणं, अथवा संडासयं करेति मुट्ठिं वा, अथवा शरीर एव गर्भता मूलकारणं, उत्तरकारणं तु चंक्रमणादि, अथवा मूलकरणं शरीराणि पंच, गाथा ॥६॥ उरालियादीणि पंच शरीराणि मूलकरणं, उत्तरकरणं जं णिप्फण्णाओ णिप्फज्जति, तं च एतेसिं चेव ओरालियवेउव्वियाहारयाणं तिण्हं उत्तरकरणं, सेसाणं णत्थि, ओरालियादीणं तिण्हं मूलकरणं, अट्ठंगाणि अंगोवंगाणि उत्तरकरणं, ताणि य तंजहा–सीसं उरो य उदरं पट्ठी बाहा य दो य उरूओ। एते अट्ठंगा खलु सेसाणि भवे उवंगाणि ॥ १ ॥ होंति उवंगा अंगुलिकण्णाणासापवड्ढणं चेव। णहकेसदंतमंसू अंगोवंगेवमादीणि ॥ २ ॥ अथवा उरालियस्सेवेगस्स इमं उत्तरकरणं–दंतरागो कण्णवद्धणं णहकेसरागो खंधं वायामादीहिं पीणितं

करणाधिकारः ॥ ८ ॥



सूत्रकृ-
ङ्गचूर्णिः
१-० ॥

करोति, एयं ओरालियस्स, वेउव्वियउत्तरकरणं उत्तरवेउव्वियरूवं विउव्वेति, आधारए णत्थि एताणि, इमं वा आहारगस्स गमणादीणि, अथवा पंचेन्द्रियाणि–सोइंदियाईणि मूलकरणं, सोइंदियं कलंबुगापुप्फसंठितं, एयं मूलकरणं उत्तरकरणं तु कण्णावेह-वालाईकरणादि, अथवा यदुपहतस्योपकरणस्य तदुपकारित्वात् य उपक्रमः क्रियते विसेण ओसधेण वा, एवं सेसाणंपि, यावन्तीन्द्रि-याणि सन्ताणि शोभानिमित्तं अर्थोपलब्धिनिमित्तं वा उत्तरगुणतो निवर्त्तयति, शोभा वर्णस्कन्धादि, अर्थोपलब्धिस्तु बाधिर्यतिमिर-प्रसुप्त्यादीनां उपक्रमतः पुनः स्वस्थकरणं, अथवा दव्विंदियाणि परिणामियाणि विसेण अगदेण वर्णउपयोगघाताय भवंति, अथवा विसमेव विधिणा उपजुज्जमाणं रसायणीभवति, औपधग्रामाश्च ये शरीरोपकारिणः पथ्यभोजनक्रियाविशेषाः सर्व एव चाऽऽहारः, अथवा स्वरभेदवर्णभेदकरणानि। इदानीं एतेसिं चेव पंचण्हं सरीराणं तिविधं करणं भवति, तंजहा–संघायणाकरणं परिमाडणा-करणं संघायपरिसाडणाकरणं, तेयाकम्माणं संघातणवज्जं दुविधं करणं, एताणि तिण्णिवि करणाणि कालतो मग्गिज्जंति, तत्थोरालि-यसंघातकरणं एगसमयियं, जं पढमसमयोववण्णगस्स, जहा तेल्ले उग्गाहिमओ छूढो तप्पढमताए आदियति, सेससमएसु सिणेहं गिण्हइवि मुंचइवि, एवं जीवोवि उववज्जंतो पढमे समए एगंतसो गेण्हति ओरालियसरीरपाउग्गाणि दव्वाणि, ण पुण किंचिवि विमुयति, परिसाडणावि समओ चेव, सो मरणकालसमए एगंतसो चेव मुंचति, मज्झिमे काले किंचि गेण्हति किंचि मुंचति, सो जहण्णेणं खुड्डागं भवग्गहणं तिसमयूणं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाणि समयूणाणि, किह पुण खुड्डागभवग्गहणं तिसमयूणं भवति ?, उच्यते, 'दो विग्गहंमि समया समयो संघातणाएँ तेहूणं। खुड्डागभवग्गहणं सव्वजहण्णो ठिती कालो ॥१॥ उक्कोसो समयूणो जो सो संघातणासमयहीणो। किह ण दुसमयविहीणो साडणसमयेऽवणीतंमि ॥ २ ॥ भण्णति भवचरिमंमिवि समए

संघातादि

॥ ९ ॥

**क्षुद्र भवग्रहणस्य समय-गणना**

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ १० ॥

संघायसाडणा चेव। परभवपढमे साडणमतो तदूणो ण कालोत्ति ॥ ३ ॥ जइ परपढमे साडो णिव्विग्गहतो य तंमि संघातो। णणु सव्वसाडसंघातणाओ समए विरुद्धाओ ॥ ४ ॥ १, उच्यते, जम्हा विगच्छमाणं विगतं उप्पज्जमाणमुप्पण्णं। तो परभवादिसमए मोक्खादाणाण ण विरोधो ॥ ५ ॥ चुतिसमए णेहभवो इहदेहविमोक्खतो जहाऽतीते। जइ ण परभवोऽवि तहिं तो सो को होउ संसारी ? ॥६॥ णणु जह विग्गहकाले देहाभावेऽवि परभवग्गहणं। तह देहाभावम्मिवि होज्जेहभवोऽवि को दोसो? ॥७॥ जं चिय विग्गहकाले देहाभावेऽवि तो परभवो सो। चुइसमए उ ण देहो ण विग्गहो जइ स को भोतु ? ॥८॥ इदाणिं अंतरं—संघातंतरकालो जहण्णओ खुड्डयं तिसमयूणं। दो विग्गहम्मि समया ततिओ संघायणासमयो ॥ १ ॥ तेहूणं खुड्डभवं धरित्तु परभवमविग्गहेणेव। गंतूण पढमसमए संघाययओ स विण्णेयो ॥ २ ॥ उक्कोसो तेत्तीसं समयाहियपुव्वकोडिअहियाइं। सो सागरोवमाइं अविग्गहेणेव संघातं ॥ ३ ॥ काऊण पुव्वकोडिं धरिउं सुरजेट्ठमायुगं तत्तो। भोत्तूण इह ततीए समए संघातयंतस्स ॥ ४ ॥ इदाणिं वेउव्वियस्स—वेउव्वियसंघायो समओ सो पुण विउव्वणादीए। ओरालियाणमथवा देवादीणादिगहणंमि ॥ १ ॥ उक्कोसो समयदुगं जो समय विउव्विउं मतो वितिए। समए सुरेसु वच्चति निविग्गहतो य तं तस्स ॥२॥ उभयं जहण्ण समयो सो पुण दुसमयविउव्वियमतस्स। परमतराइं संघातसमयहीणाइं तेत्तीसं ॥ ३ ॥ वेउव्वियपरिसाडणकालोऽवि समय एव। इदाणिं अंतरं, वेउव्वियसरीरसंघातंतरं जहण्णेणं एगसमयं, सो पढमसमयविउवियमयस्स विग्गहेण ततियए समए वेउव्विएसु देवेसु संघातेंतस्स भवति, अथवा ततियसमयवेउव्वियमतस्स अविग्गहेणं देवेसु संघातपरिसाडणंतरं जहण्णेणं समय एव, सो पुण चिरविउव्वितस्स देवेसु अविग्गहेणं संघातेंतस्स भवति, साडस्स अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, तिण्हवि एतेसिं अंतरं उक्कोसेणं अणंतकालं वणस्सतिकालो।

संघातादि

॥ १० ॥

इदाणिं आहारगस्स–आहारे संघातो परिसाडणा य समयं समं होति। उभयं जहण्णमुक्कोसय च अंतोमुहुत्तस्स ॥ १ ॥ बंधण-साडुभयाणं जहण्णमंतोमुहुत्तमंतरण। उक्कोसेण अवड्ढं पोग्गलपरियट्ट देसूणं ॥ २ ॥ तेयाकम्माणं पुण संताणाणादितो ण संघातो। भव्वाण होज्ज साडो सेलेसीचरिमसमयंमि ॥ ३ ॥ इदाणिं जीवउत्तरप्पयोगकरणं, तत्थ गाथा **'संघातणा य परिसाडणा य मीसे तहेव पडिसेहो। पडसंग्वसगडथूणाउड्डतिरिच्छाणु(इ)करणं तु॥ १ ॥** तत्थ संघायणकरणं जहा पडो तंतुसंघातेण णिव्वित्तिज्जति, परिसाडणाकरणं जहा संखगं परिसाडणाए णिव्वत्तिज्जति, संघातपरिसाडणाकरणं जहा सगडं संघातणाए पडिसाडणाए य णिव्वित्तिज्जति, णेव संघातो णेव परिसाडो जथा थूणा उड्ढा तिरिच्छा वा कीरति, जीवउत्तरकरणं गतं। जीवपयोगकरणं सम्मत्तं ॥ इदाणिमजीवप्पयोगकरणं जं जं णिज्जीवाणं कीरति जीवप्पयोगतो तं तं। वण्णाति रूवकम्मादि वावि तमजीवकरणंति ॥ १ ॥ वण्णकरणादि जहा वत्थाणं कुसुंभरागादि कज्जति, रूवकम्माति वत्ति कट्ठकम्मादिरूवा कज्जंति, अजीवप्पयोगकरणं गतं, पयोगकरणं परिसमाप्तं ॥ इदाणिं विस्ससाकरणं–विस्ससेति कोऽर्थः?, विति विपर्यये अन्यथाभाव इत्यर्थः, अथवा सृ गतौ, विविधा गतिर्विश्रसा, एत्थ णिज्जुत्तिगाथा **'खंधेसु अ दुपदेसादिएसु अब्भेसु विज्जुमाईसु। णिप्फावगाणि दव्वाणि तं जाणसु वीससाकरणं'** ॥ ॥ तं विस्ससाकरणं दुविधं–सादीयं अणादीयं च, अणादीयं जधा धम्माधम्मागासाणं अण्णोण्णसमाहाणंति, णणु करणमणादीयं च विरुद्धं, भण्णती ण दोसोऽयं, अण्णोण्णसमाधाणं जमित्थं करणं, ण णिव्वत्ती, अथवा परपच्चयादुपचारमात्रं करणं यथा गृहमाकाशीकृतं, उत्पन्नमाकाशं विनष्टं गृहं, गृहे उत्पन्ने विनष्टमाकाशं। इदाणिं सादीयं विस्ससाकरणं, तं दुविधं-चक्खुफासियं अचक्खुफासियं च, जं चक्खुमा दीसति तं चक्खुफासियं, तं अब्भा अब्भरुक्खा एवमादि, चक्खुसा जं ण दीसंति

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ १२ ॥

तं अचक्खुफासियं जहा दुपदेसियाणं परमाणुपोग्गलाणं एवमादीणं जं संघातेणं भेदेन वा करणं उप्पज्जति तं ण दीसति छउमत्थेणंति तेण अचक्खुफासियं, बादरपरिणतस्स अणंतपदेसियस्स चक्खुफासियं भवति, तेसिं दसविधो परिणामो, तंजहा–बंधणगतिसंठाणे भेदे गंधरसवण्णफासे य। अगुरुअलहुपरिणामे दसमेऽविय सद्दपरीणामे ॥ १ ॥ बंधणपरिणामे दुविधे पण्णत्ते–णिद्धबंधणपरिणामे य लुक्खबंधणपरिणामे य, 'निद्धस्स निद्धेण दुआहिएणं, लुक्खस्स लुक्खेण दुआहिएणं। णिद्धस्स लुक्खेण उवेति बंधो, जहण्णवज्जो विसमो समो वा ॥ १ ॥ समणिद्धताएँ बंधो ण होति समलुक्खिताएवि ण होइ। वेमायणिद्धलुक्खत्तणेण बंधो तु खंधाणं ॥ २ ॥ गतिपरिणामो तिविधो उक्कोसजहण्णमज्झिमो चेव। लोगंता लोगंतं गमणं एगेण समयेणं ॥ ३ ॥ तहय पदेसि पदेमा जहण्णसमएण होति संकंती। अजहण्णमणुक्कोसो तेण परं खेत्तकाले य ॥ ४ ॥ एमेव य गंधाणं गतिपरिणामो जहण्णमुक्कोसो। कालो जहण्णतुल्लो उक्कोसेणं असंखेज्जो ॥ ५ ॥ समयादी संखेज्जो कालो उक्कोसएण उ असंखो। परमाणूखंधाण य ठितीय एवं परीणामो ॥ ६ ॥ परिमंडले य वट्टे तंसे चउरंस आयते चेव। संठाणे परिणामो सहऽणित्थत्थेण छन्मेया ॥ ७ ॥ पयरघणा सव्वेसिं सेढी सूदी य आयत विसेसो। सव्वे ते दुविहा (जुम्मओज) पदेसुक्कमगजहण्णा ॥ ८ ॥ माणु परिमंडलस्स उ सव्वेसि जहण्णमोयजुम्मगमा। उक्कोस जहण्णं पुण पदेस उग्गाहणकमेणं ॥ ९ ॥ णंतपदेसुक्कोसं तह यमसंखप्पदेसमोगाढं। वीया चत्तालीया परिमंडलि दो जहण्णगया ॥ १० ॥ पंचग बारसगं खलु सत्त य बत्तीसगं च वट्टंमि। तिय छक्कग पणतीसा चत्तारि य होइ तंसंमि ॥ ११ ॥ णव चेव तहा चउरो सत्तावीसा य अट्ठ चउरंसे। तिगदुगपणरस छक्कं पणयाला वा चरिमयस्स ॥१२॥ एसो संठाणगमो पएसओगहणापडिदिट्ठो। दुगमादीसंयोगो हवति अणित्थत्थसंठाणं

बन्धनादि परिणामाः

॥ १२ ॥

बंधन-परिणामस्य भेदा:

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ १३ ॥

॥ १३ ॥ भेदस्स तु परिणामो संघातविहूयणेण दव्वाणं । संघातेणं बंधो होइ वियोगेण भेदोत्ति ॥ १४ ॥ भेदेण सुहुमखंधो संघातेणं च बादरो खंधो । सुहुमपरिणाममीसक्कमेण भेदेण परमाणू ॥ १५ ॥ अह बायरो उ खंधो चक्खुद्देसे य णंतगप-देसो । संघातभेदमीसग पडसंखयसगडमाधम्मा ॥ १६ ॥ खंडगपयरगचुण्णियअणुतडिओक्कारियाए तह चेव । भेदपरिणामो पंचह णायव्वो सव्वखंधाणं ॥१७॥ खंडेहिं खंडभेदं पयरसभेदं जहऽब्भपडलस्स । चुण्णं चुण्णियभेदं अणुतडितं बंधसकलं तं ॥१८॥ बुंदंसि समारोहे भेदे उक्केरियाए उक्केरं । बीससपयोगमीसग संघातवियोग विविधगमो ॥ १९॥ जति कालगमेगगुणं सुक्किलयंपि य हवेज्ज बहुयगुणं । परिणामिज्जति कालं सुक्केण गुणाहियगुणेणं ॥२०॥ जति सुक्किलमेगगुणं कालगदव्वं तु बहुगुणं जति य । परिणामिज्जति सुक्कं कालेण गुणाहियगुणेणं ॥ २१ ॥ जति सुक्कं एगगुणं कालयदव्वंपि एगगुणमेव । कावोयं परिणामो तुल्ल-गुणत्तेण संभवति ॥ २२ ॥ एवं पंचवि वण्णा संजोएणं तु वण्णपरिणामो । एगत्तीसं भंगा सव्वेऽवि य वण्णपरिणामे ॥ २३ ॥ एमेव य परिणामो गंधाण रसाण तह य फासाणं । संठाणाण य भणिओ संजोएण बहुविहविकप्पो ॥ २४ ॥ अगुरूलहुपरिणामो परमाणूओ आरब्भ जाव असंखेज्जपदेसिया खंधा सुहुमपरिणयावि खंधा अगुरूलहुगा चेव । तत वितते घणझुसिरे भासाए मंदघोर-मिस्सा य । भेदस्सवि परिणामा एवमणेगा मुणेयव्वा ॥ २५ ॥ छाया य आतवे या उज्जोतो तह य अंधगारो य । एसोऽवि पोग्गलाणं परिणामो फंदणा जा य ॥ २६ ॥ सीया णादिपगासा छाया णाइच्चिया बहुविकप्पा । उण्हो पुणप्पगासो णायव्वो आयवो णाम ॥ २७॥ णवि सीतो णवि उण्हो समो पगासो य होति उज्जोओ । कालमइलं तमंपिय वियाण तं अंधयारंति ॥२८॥ दव्वस्स चलणप्फंदणा उ सा पुण गतित्ति णिद्दिट्ठा । बीससपयोगमीसग अत्तपरेणं उभयतोऽवि ॥ २९ ॥ अभ्रेन्द्रधन्वादीनां च

भेदादि-परिणामाः

॥ १३ ॥

परिणामकरणं, दव्वकरणं गतं । इदाणिं खेत्तकरणं–'ण विणा आगासेणं' गाथा।१। यत्किंचिदिति उत्क्षेपणापक्षेपणादि घटादिकरणादि वा न क्षेत्रमंतरेण क्रियते, क्षेत्रं–आकाशं, तस्स करणं नत्थि, तहावि वंजणपरियावण्णं उच्छुकरणं, सालिकरणं जहा वा साधूहि अच्छमाणेहिं खेत्तीकतो गामो णगरं वा, जंमि वा खेत्ते करणं कीरति भणिज्जति वा, कालकरणंति 'कालो जो जावतियो' गाथा।१०। जावता कालेणं क्रियते, यस्मि वा काले क्रियते, एवं ओहेण, णामओ पुण इमे इक्कारस करणे (१०-११-१२) 'बवं च बालवं चेव, कोलवं थीविलोयणं । गराइ वणियं विट्ठी, सुद्धपडिवए णिसादीया। पक्खतिधयो दुगुणिआ जोण्हादौ सोधये ण पुण काले । सत्तहिए देवसियं तं चिय रूवाहियं रत्तिं ॥१॥'सुचराष्टदिवैकरपूर्णदिवाकृतिरामदिवादरभूतदिवा' एसु विट्ठी, सुद्धी पडिवयरत्तिं दिवसस्स य पंचमट्ठमी रत्तिं। दिवसस्स बारिसी पोण्णिमाए रत्तिं बवं होंति ॥१॥ बहुलचउत्थीएँ दिवा बहुलस्स य सत्तमी हवति रत्तिं । एक्कारसिं च बहुले दिवा बवं होति करणं तु ॥ २ ॥ सउणि चतुप्पय णागं किंत्थुगं च चतुरो धुवा करणा । किण्हचउद्दसिरत्तिं सउणी सेसं तियं कमसो ॥ ३ ॥ कालकरणं गतं । इदाणिं भावकरणं–भावस्स भावेण भावे वा करणं, तत्थ निज्जुत्तिगाथा-भावे पयोगवीससस पयोगसा मूल उत्तरं चेव । उत्तरकम्मसुतजोव्वणवण्णादी भोयणादीसु ॥१॥ भावकरणं दुविधं–पयोगसा वीससा य, पयोगकरणं दुविधं–मूलपयोगकरणं उत्तरपयोगकरणं च, मूलपयोगकरणं पंच शरीराणि, ताणि पुण उदइयभावणिप्फण्णाणि, का तर्हि भावणा ?, उदइयो हि भावो दुविधो–जीवोदइओ अजीवोदइओ य, तत्थ जीवोदइओ पंचण्हं सरीराणं अण्णतरेणोदितो जीवः स तथाभूत इति जीवोदयभावो, अथ पुण जीवोदयोदितानि शरीरारंभकाणि द्रव्याणि तथा समुदितानि तत्थ शरीरे भवन्तीत्यर्थः, अजीवोदयिको भावः, यथा च तत्र द्रव्यकरणोपदिष्टं दव्वेंदियाइं विसओसधादीहिं तथेहापि तेषु

परिणमत्सु भावोऽभिसंबध्यते, तानि हि द्रव्येंद्रियाणि विसओपधादिद्रव्यविशेषैः परिणम्यमानानि औदयिकमेव भावं परिणमंति, तेसु सरीरेसु इंदिएसु वा किं मूलकरणं ?, उच्यते, सरीरपज्जत्ती मूलकरणं, सेसं तु मूलकरणस्सेव उत्तरकरणं भवति, जहा उत्तरकमसुतजोवणवण्णादी भोयणादीसु, गब्भवक्कंतिएसु ओरालिएसु ताव जोणीजम्मणणिक्खंतस्स कलपकोमारयोवनमध्यमस्थावरादिवयाणि क्रमशः प्रजायंते, निषेकादिक्रमो वा यथा भवति, तथा वृक्षेष्वपि अंकुरपत्रकंदनालगर्भतुषशूककणपाकक्रमाः क्रमशो निष्पद्यंते, सुत्तेति कलाधिगमो व्याकरणादिभाषापाटवं वा सौस्वर्यं वा यतो भवति, तिर्यग्योनिजातीनामपि शुकादीनां भवति, उक्तं च–"तेण परं सिक्खापुव्वगं वा उत्तरगुणलद्धिं वा पडुच्च भासाविसेसो भवति", 'जोव्वणे'त्ति पुनर्नवं यौवनं भवति औषधादिभिः, कस्यचित् वर्णकरणं च भोजनादिभिः क्रियते, यथा स्नेहं पिबतो वर्णप्रसादो भवति, आदिग्रहणात् अभ्यङ्गोद्वर्त्तनादिभिर्वा वर्णविशेषो भवति १, वेउव्वियं रूवं विउव्वतित्ति, वुत्तं पयोगभावकरणं । इदाणिं विस्ससाभावकरणं तत्थ गाथा– 'वण्णादिगा य वण्णादिगेसु' गाथा ॥ १५ ॥ वण्णादिगो णाम वण्णगंधरसफासा, द्वितीयवण्णादिग्रहणं वर्णादिगेसु दव्वेसु यथा परमाणुद्रव्यस्य कृष्णादिभिर्वर्णविशेषैः परिणामतः यः परिणामविश्रसाभावः, गंधरसफरिसेसुवि, विश्रसामेलो णाम पंचण्हं वा वण्णाणं संयोगविसेसेणं उप्पज्जति जहा अब्भाणं अब्भरुक्खाणं संज्झाणं गंधव्वणगराईणं एक्कं समयं उक्कोसेणं जच्चिरं कालं, अथिरा उत्पद्यनंतरविनाशिनः, कालान्तरावस्थायिनश्च संध्यारागादयः, थे तु परमाण्वादिषु स्थिराः ते असंख्येयमपि कालं भवंति, तथा च छायां प्राप्य छायात्वेन परिणमंति पुद्गलाः, ते विश्रसापरिणामादेव, एवमुष्णमपि, तथैव विश्रसापरिणामादेवाप्रायोगिकमपि स्थिरं भूत्वा दधिमस्तुकिलायनिष्टनवनीतघृतत्वेन परिणमंति, भणितं भावकरणं, एत्थ भावकरणेण अहियारो, तत्थ

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ १६ ॥

णिज्जुत्तिगाथा–'मूलकरणं पुण सुते तिविधे जोगे सुभासुभे झाणे। ससमयसुत्तेण पगयं अज्झवसाणेण य सुभेणं ॥ १६ ॥' सुत्ते मूलकरणं दुविधं–लोइयसुतकरणं लोउत्तरियसुतकरणं च, तत्थ लोए ताव जो जस्स सत्थस्स कत्ता यथा सुलसा याज्ञवल्क्यश्च तंतुग्रीवश्च, अस्माकमपि गणधरैर्दृब्धं, तत्कतरेण योगेन कृतं ?, उच्यते–त्रिविधेनापि, मनसा तावदुपयुक्तः, वाचा भाषते, कायेन प्रगृहीताञ्जलिः तीर्थकराभिमुख उत्कुटुकः, भंगिकश्रुतोपयुक्तस्य वा त्रिविध उपयोगो भवति, एवमीर्यासमितस्यापि त्रियोगतैककाले भवति, मनसा तावत्पथ्युपयुक्तो वाचा किंचित् पृष्टो व्याकरोति कायेन गच्छत्येव, एवं त्रिविधमपि तस्य भवति। 'सुभासुभे ज्झाणे'त्ति, जं सम्मदिट्ठी करेति, एत्थवि सुतकरणे ससमयसुतेण पगतं. णो परसमयेण, सुभेणं अज्झवसायेणं, सुभेण गणधरेहिं कतं, एवं ताव गणधराणं मूलकरणं, तस्सिसाणं तु उत्तरकरणं, अथवा तेसिमवि मूलकरणं घडेति, यदुत अपूर्वमेव पढंति, वक्तारोऽपि च भवंति 'अनेन साधुना आचारः कृत' इति, यत्तु विस्मृतं पुनः संस्क्रियते तदुत्तरकरणमस्य, उक्तं करणं। इदानीं कारकः, ज्ञानदर्शनसंयुक्ता गणधरा एव कारकाः, तदेव च क्रियमाणं सूत्रं 'कज्जमाणे कडे'त्तिकाऊणं कडं भवति, तं पुण गणधरेहिं किं उक्कोसकालट्ठितीएहिं कम्मेहिं वट्टमाणेहिं कतं०? जहण्णट्ठितीएहिं०? अजहण्णमणुक्कोसट्ठितीएहिं ?, एत्थ गाथा–'ट्ठितिअणुभागे बंधण णिकाय णिधत्तदीहहस्से य। संकमउदीरणाए उदए वेदे उवसमे य ॥ १७ ॥ ठितित्ति अजहण्णमणुक्कोसट्ठितीएहिं कम्मेहिं कयं, तेहिं पुण किं तिव्वाणुभावेसु० मंदाणुभावेसु 'बंधणे'त्ति किं बंधंतेहिं कतं णिज्जरंतेहिं कतं ?, तदावरणिज्जाइं पडुच्च णो बंधंतेहिं कतं, णो णिधत्तंतेहिं, णो णिकायंतेहिं, णो दिग्घीकरंतेहिं० हस्सीकरंतेहिं, उत्तरपगडीसंकमं करंतेहिंवि अकरेंतेहिंवि कतं, तदावरणिज्जाइं कम्माइं अणुदीरंतेहिं, सेसाइं उदीरंतेहिंवि अणुदीरेंतेहिंवि कयं, ॥ १६ ॥

सूत्रे मूलोत्तरकरणादि

| | |
|---|---|
| | मूल एवं उत्तरकरण |

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ १७ ॥

'उदए'त्ति केसिंचि उदए वट्टंतेहिं केसिंचि अणुदए वट्टंतेहिं पुरिसवेदे वट्टंतेहिं कतं, 'उवसमे'ति केसिंचि उवसमो केसिंचि अणुवसमे, अथवा उवसमेत्ति खओवसमिए भावे वट्टंतेहिं कतं, कर्त्तार एव तस्योपदिश्यंते, कथं पुण तेहिं कतं ?, 'सोऊण जिणवरमतं' गाथा ( १८ ) तवणियमणाणरुक्खं आरूढो केवली अमितणाणी। तो मुअइ णाणवुट्ठिं भवियजणविबोधणट्ठाए ॥ १ ॥ तं बुद्धिमएण पडेण गणधरा गेण्हिउं णिरवसेसं। तित्थंकरभासिताइं गंथंति ततो पवयणट्ठा ॥ २ ॥ एयं गणधरसलद्धिएहिं कतं, सेसाणं मूलगणधरवज्जाणं पुव्वकतं अधिज्जंतेहिं तदावरणिज्जाणं कम्माणं खयोवसमं काऊण कतंति, एवं गणधरेहिं कृते को गुणः ?, उच्यते-घेत्तुं च सुहं सुहगुणणधारणा दातु पुच्छिउं चेव। एतेण कारणेणं जीतंति कतं गणधरेहिं ॥ १ ॥ अज्झवसाणेणं कतंति-पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं कतं, ण पूयासक्कारविचित्तहेतुं वा, उक्तं हि-"पंचहिं तु ठाणेहिं सुत्तं अधिज्जेज्जा, तंजहा-णाणट्ठताए०, वइजोगेण पभासति ०गाथा ॥१९॥ यद्भगवान् भाषते स वाग्योग एव, न श्रुतं, श्रुतस्य क्षायोपशमिकत्वादित्युक्तं, वाग्योगस्तु नामप्रत्ययत्वादौदयिको, विज्ञानमप्यस्य क्षायिकत्वात् केवलं, शब्दस्तु पुद्गलात्मकत्वात् द्रव्यश्रुतमात्रं, अतो न भावश्रुतमिति, अतो वइजोगेण अरहता अत्थो पगरिसेहिं भासितो पभासिओ, केसिं ?, 'अणेगजोगकरणा(गंधरा)ण साधूणं' ते य के ?, गणधरा, कथं पुण ते अणेगजोगकरणा ?, उच्यते-जतो अणेगविधलद्धिसंपण्णा, तंजहा-कोट्ठबुद्धी बीयबुद्धी पयाणुसारी खीरसप्पिमधुआसवाओ, वइजोगेण कतं तित्थंति तित्थगरेहिं वइजोगेण पभासिते हि गणधरेहिं वइजोगेण चेव सुत्तीकतं, तं पुण गहितं 'जीवस्स साभावियगुणेहिं'ति पागतभासाए, स सभावगुणः, वैकृतस्तु संस्कृतभाषा, आगंतुक इत्यर्थः, तं च पुण एवं 'अक्खरमतिगुणसंघातणाए' गाथा ॥२०॥ अक्षरगुणो णाम एकैकमणंतपर्यायं अक्षरं, अक्षरसंमिलापो वा अक्षरगुणो, अमौ ह्य-

सूत्रकरणं

॥ १७ ॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ १८ ॥

भिलाप्योऽर्थः, न शक्यते अक्षरमंतरेण प्रकाशयितुं प्रदीपमंतरेणेव तमसि घट इत्यतोऽभिलाप्य एवाक्षरगुणः, 'मति'त्ति मतिणाण-विशुद्धयाए सव्वेवि समा, अक्षरसमा अक्षरसंघातणाए लद्धिओवि सव्वे समा, अथवा जहा जहा अक्षराणि मतिविशुद्धताए संघाएंति तहा तहा णिज्जरा भवति, 'तदुभययोगेणं'ति वाइएण माणसेण य जोगेणंति कृतं सूत्रकृतं, सूत्रकृतं सूत्रं-सूत्रकृतं सूचनाद्वा सूत्रं, 'सुत्तेण सूइत्तत्ति य' गाथा ॥२१॥ सूइता प्रोता इत्यर्थः, उपलब्धव्या वा, ते सुत्तपदेण अत्थपदा सूइता, सूत्राणुसारेण ज्ञायंत इति नासूत्रोऽर्थो विद्यते, तेन पुनर्युज्यमाना योजिताः, अयुज्जमानास्तु अपार्थकनिरर्थकादयः न योजिताः 'तो बहुविधप्पगारा जुत्त'त्ति गद्यं पद्यं कथ्यं गेयं चउव्विहेण जातिबंधेण पयुत्ता, अथवा प्रतिज्ञादिपंचावयवविशेषेण प्रयुक्ता, ते पुण ससमयजुत्ता अणादीया, सम्प्र-तिकालं तावत्प्रतीत्य संख्येयानि पदानि, कथं पुण ते अणंता गमा अणंता पज्जवा ?, अतीताणागतं कालं पडुच्च अणंता गमा अणंता पज्जवा, पण्णवगं वा पडुच्च अणंता गमा अणंता पज्जवा, जेण चोद्दसपुव्वी चोद्दसपुव्विस्स छट्ठाणपडिओ, गम्यते अनेनार्थो इति गमकः, गणधरा पुणो सव्वे अक्खरलद्धितो मतिलद्धिओ य तुल्ला यथा तुल्यवर्त्तिस्नेहाः पदीपाः प्रकाशेन तुल्या आदित्या वा तथाऽक्ष-रमतिलाभाभ्यां तुल्याः, अथवा यथा आदित्यः स्वभावतः प्रकाशयति एवं गणधरा अपि गणनिर्वर्त्तकस्य कर्म्मणः उदयाद्गणधारितं कुर्वंति, एत्थ पुण इमाओवि गाथाओ भाणितव्वाओ 'कताकतं केण कतं केसु य दव्वेसु कीरति वावि। काहे व कारओ वा णयतो करणं कतिविधं वा ॥ १ ॥' कथं ?, एताणि सत्त पयाइं, तत्थ सुत्तकडं किं कतं कज्जति अकयं कज्जति ?, जं भणियं—किं उप्पण्णं कज्जति अणुप्पण्णं कज्जति ?, एत्थ णएहिं मग्गणं—केइ उप्पण्णं इच्छंति, केइ अणुप्पण्णंति, ते य णेगमादी सत्त मूलणया, तत्थादिणेगमस्स अणुप्पण्णं कीरति, णो उप्पण्णं कीरति, कम्हा ?, जहा पंचत्थिकाया णिच्चा एवं सूतकडंपि ण कयादि णासी

गणधराणां-सादृश्यः

॥ १८ ॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ १९ ॥

ण कदाइ ण भवइ ण कयाइ ण भविस्सति भूयं च भवइ य भविस्सति य धुवे णितिए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे ण एस भावो केणइ उप्पायितोत्तिकट्टु, जयावि भरहेरवतेसु वोच्छिज्जति तयावि महाविदेहे वासे अवोच्छिण्णामेव, सेसाणं णेगमाण चउण्ह य संगहादीणं णयाणं उप्पण्णं कीरति, जेण पण्णरससुवि कम्मभूमीसु पुरिसं पडुच्च उप्पज्जति, जति उप्पण्णं तिविधेणं सामित्तेणं उप्पण्णं-समुट्ठाणसामित्तेण वायणसा० लद्धीसा०, एत्थ को णयो कं समुप्पत्तिं इच्छति?, तत्थ जे पढमभज्जा णेगमसंगहववहारा ते तिविधंपि उप्पत्तिं इच्छंति, समुट्ठाणं जहा तित्थकरस्स सएणं उट्ठाणेणं, वायणाए वायणायरियस्स णिस्साए जहा भगवता गोतमसामी वाइतो, लद्धीए जहा भवियस्स किंचि निमित्तं दट्ठूणं जातिस्मरणादिगं तदावरणिज्जाणं कम्माणं खयोवसमेणं उप्पज्जति, उज्जुसुतो समुट्ठाणं णेच्छति, किं कारणं?, भगवं चेव उट्ठाणं स एव वायणायरिओ गोतमप्पभितीणं, तेण दुविधं वायणासामित्तं लद्धिसामित्तं, तिण्णि सद्दणया लद्धिमिच्छंति, जेण उट्ठाणे वायणायरिए य विज्जमाणेऽवि अभवियस्स ण उप्पज्जति, अभावात्, कतातंति गतं ॥ केण कयंति य, ववहारतो जिणेंदेण गणधरेहिं च, तस्सामिणा तु णिच्छयणतस्स, ततो जातो णऽण्णं। 'केसु दव्वेसु कीरति'त्ति णेगमस्स मणुण्णेसु दव्वेसु कीरति, जहा 'मणुण्णं भोयण भोच्चा, मणुण्णं सयणासणं। मणुण्णंसि अगारंसि, मणुण्णं ज्झायते मुणी ॥१॥ णेगंतेण मणुण्णं हवइ हु परिणामकारगं दव्वं। वभिचाराओ सेसा चिंति ततो सव्वदव्वेसु ॥ २ ॥ ण सव्वपज्जवेसु, जेण 'सुत्ते ण सव्वपज्जवा' इति वचनात्, केसु दव्वेसुत्ती गतं। काहे य कारओ भवति, 'उद्दिट्ठेचिय णेगमणयस्स कत्ताऽणधिज्जमाणोऽवि। जं कारणमुद्देसो तंमि य कज्जोवतारोत्ति ॥ १ ॥ संगहववहाराणं पच्चासण्णतरकारणत्तणतो। उद्दिट्ठंमि तदत्थं गुरुपयमूले समासीणो ॥ २ ॥ उज्जुसुतस्स पढंतो अपुव्वसुतपज्जवे ममए २ अक्कममाणो उवउत्तस्स वा

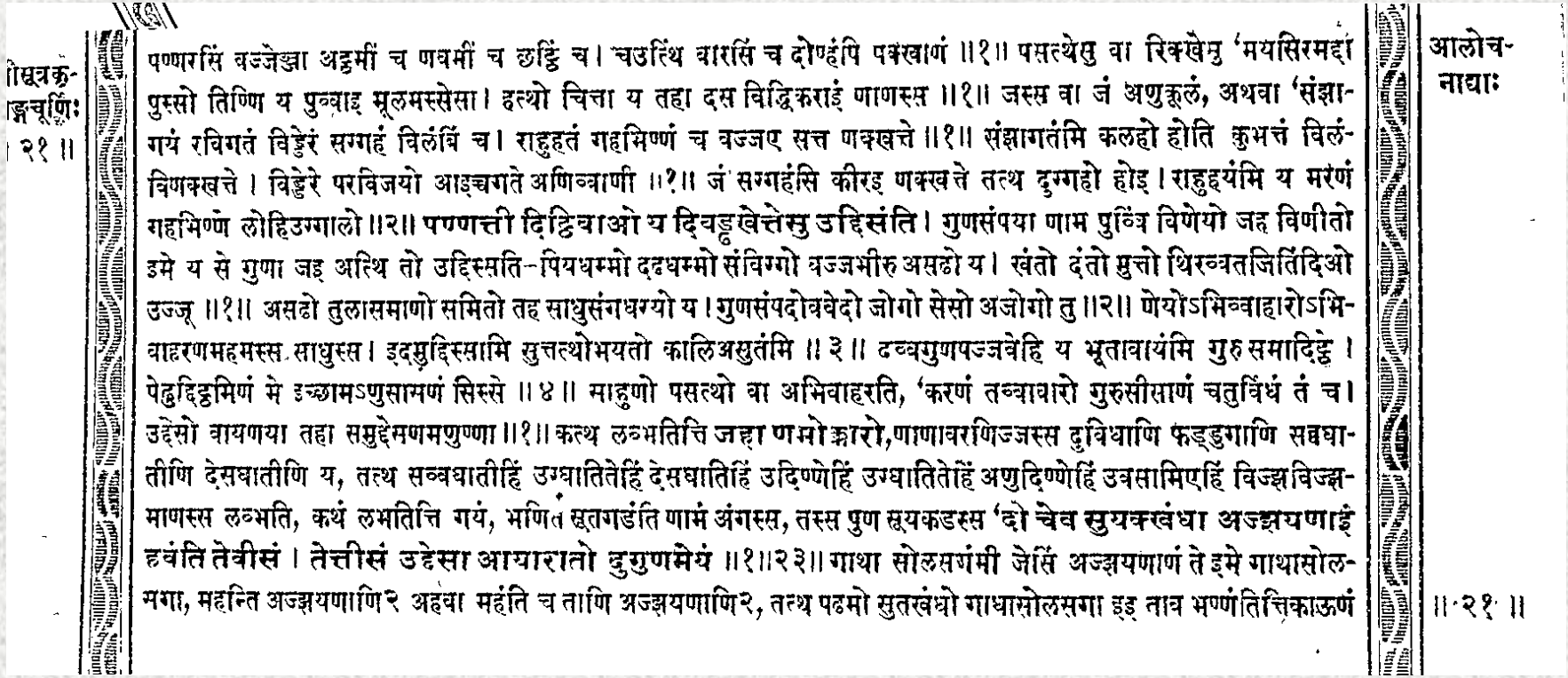
उत्पत्त्यादि-विचारः

॥ १९ ॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ २० ॥

णो सुतं भवति, समत्ते अज्झयणे सुयं भवति, तिण्हं सद्दणयाणं अपुव्वे सुतपज्जवे समये समये अक्कमसाणस्स णियमा सम्मदिट्ठिस्स उवयुत्तस्स णो सुयं भवति, समत्ते कारओ सुतं भवति, एत्थ 'अंगेसु ताव युत्तो कत्ता सद्दकिरियोवयुत्तोवि । सद्दादीणमणण्णो परिणामो जेण सुतमतिओ ॥ १ ॥ कत्ता णयतोऽभिहितो अथवा णयतोत्ति णीतियो णेया। सामाइयहेतुपयोज्जयारओ सो णयो य इमो ॥ २ ॥ आलोयणाइ विणये खेत्तदिसा अभिग्गहे य काले य । रिक्खगुण संपयावि य अभिवाहारे य अट्ठमयो ॥ ३ ॥ नयतीति नैयायिकः-गमयति एभिः प्रकारैः, एवंगुणसंपण्णा य जो सुताइं देति सो णायकारी णायवादी य भवति, आलोयणा व सुतोवसंपया य दायव्वा पडिच्छगेणं, सिस्सेणावि जति मूलगुणउत्तरगुणा वा विराधिता ताहे उद्देसावितेण णिस्सल्लेण होतव्वं। आलोयणसुद्धस्सवि देज्ज विणीयस्स णाविणीयस्स । ण हि दिज्जति आभरणं पलियत्तियकण्णहत्थस्स ॥१॥ सो विणीतो केरिसो ?, 'अणुरत्तो भनिगतो अमुई अणुअत्तओ विसेसण्णू। उज्जुमइ अपरितंतो इच्छितमत्थं लभति साधू ॥१॥ विणीयस्सवि य कयमंगलस्स तयविग्घपारगमणाय । देंजा सुकतोवयोगो दव्वादिसु सुप्पसत्थेसुं ॥ २॥ तत्थ दव्वे सालिवीधियागोधुमजवादिधण्णसमीपे, ण तु तिलचणगादिसमीवे, खेत्तं पसत्थमपसत्थं वा, उच्छुवणे सालिवणे पउमसरे कुसुमिए व वणसंडे। गंभीरसाणुणाए पदाहिणजले जिणघरे वा ॥ १ ॥ दिज्ज ण उ भग्गआमितसुसाणसुण्णामणुण्णगेहेसुं । छारंगारकयारामेज्झादीदव्वदुट्ठेसु ॥ २ ॥ अथवा अत्थि काणिवि खेत्ताणि जेसु सज्झायो चेव ण कीरति जहा वैदेसे पण्णत्ती, सिंधुविसए य ण पढिज्जति, मसाणादिसु वा, एवं जो जहिं। इदाणिं तिण्णि दिसाओ अभिगिज्झ उद्दिसियव्वं–'पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व देज्जाऽहवा पडिच्छेज्जा। जाए जिणादयो वा दिसाए जिणचेइआइं वा ॥ १ ॥ कालेत्ति इमं अंगं कालेण पढिज्जति, रातिदिणाणं पढमचरिमासु, अहवा उद्दिसंता–चाउद्दसिं

आलोचनादयः ॥ २० ॥



सूत्रकृ-
ङ्गचूर्णिः
। २१ ॥

पण्णरसिं वज्जेज्जा अट्ठमीं च णवमीं च छट्ठिं च। चउत्थिं बारसिं च दोण्हंपि पक्खाणं ॥१॥ पसत्थेसु वा रिक्खेसु 'मयसिरमद्दा पुस्सो तिण्णि य पुव्वाइ मूलमस्सेसा। हत्थो चित्ता य तहा दस विद्धिकराइं णाणस्स ॥१॥ जस्स वा जं अणुकूलं, अथवा 'संझागयं रविगतं विड्डेरं सग्गहं विलंबिं च। राहुहतं गहभिण्णं च वज्जए सत्त णक्खत्ते ॥१॥ संझागतंमि कलहो होति कुभत्तं विलंबिणक्खत्ते। विड्डेरे परविजयो आइच्चगते अणिव्वाणी ॥१॥ जं सग्गहंसि कीरइ णक्खत्ते तत्थ दुग्गहो होइ। राहुहयंमि य मरणं गहभिण्णे लोहिउग्गालो ॥२॥ **पण्णत्ती दिट्ठिवाओ य दिवड्ढखेत्तेसु उदिसंति**। गुणसंपया णाम पुव्विं विणेयो जह विणीतो इमे य से गुणा जह अत्थि तो उद्दिस्सति-पियधम्मो दढधम्मो संविग्गो वज्जभीरु असढो य। खंतो दंतो मुत्तो थिरव्वतजितिंदिओ उज्जू ॥१॥ असढो तुलासमाणो समितो तह साधुसंगधग्गो य। गुणसंपदोववेदो जोगो सेसो अजोगो तु ॥२॥ णेयोऽभिव्वाहारोऽभिवाहरणमहमस्स साधुस्स। इदमुद्दिस्सामि सुत्तत्थोभयतो कालिअसुतंमि ॥३॥ दव्वगुणपज्जवेहि य भूतावायंमि गुरु समादिट्ठे। पेढुद्दिट्ठमिणं मे इच्छामऽणुसासणं सिस्से ॥४॥ माहुणो पसत्थो वा अभिवाहरति, 'करणं तव्वावारो गुरुसीसाणं चतुविधं तं च। उद्देसो वायणया तहा समुद्देसणमणुण्णा ॥१॥ कत्थ लब्भतित्ति **जहा णमोक्कारो**, णाणावरणिज्जस्स दुविधाणि फड्डगाणि सव्वघातीणि देसघातीणि य, तत्थ सव्वघातीहिं उग्घातितेहिं देसघातिहिं उदिण्णेहिं उग्घातितेहिं अणुदिण्णेहिं उवसामिएहिं विज्झविज्झमाणस्स लब्भति, कथं लभतित्ति गयं, भणितं सुतगडंति णामं अंगस्स, तस्स पुण सूयकडस्स '**दो चेव सुयक्खंधा अज्झयणाइं हवंति तेवीसं। तेत्तीसं उद्देसा आयारातो दुगुणमेयं** ॥१॥२३॥ गाथा सोलसगंमी जेसिं अज्झयणाणं ते इमे गाथासोलसगा, महन्ति अज्झयणाणि२ अहवा महंति च ताणि अज्झयणाणि२, तत्थ पढमो सुतखंधो गाथासोलसगा इइ ताव भण्णंतित्तिकाऊणं

आलोचनाद्याः

॥ २१ ॥

तेण गाथा णिक्खेत्तव्वा सोलस णिक्खिवितव्वा सुत्तं णिक्खिवितव्वं खंधो णिक्खिवितव्वो,'णिक्खेवो गाथाए' ॥२३॥ गाथा णामादि चतुर्विधा, णामठवणाओ गयाओ, दव्वे जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ता पत्तयपोत्थयलिहिता, भावगाथा दुविधा—आगमतो णोआगमतो य, आगमतो जाणए उवयुत्ते, णोआगमतो एयं चेव, सोलसयं णामाइ छविधं, णामठवणाओ तह चेव, वइरित्तं सोलस सचित्तअचित्तमीसगाणि दव्वाणि, खेत्तसोलसगं सोलस आगासपदेसा, कालसोलसयं सोलस समया, सोलस-समयठितियं वा दव्वं, भावसोलसयं इमाणि चेव सोलस अज्झयणाणि खयोवसमिए भावे, सुत्ते खंधे य चउक्को णिक्खेवो पूर्ववत्, जाव भावखंधो एतेसिं चेव सोलसण्ह अज्झयणाणं समुदयसमितिसमागमेणं गाथासोलसयसुत्तखंधोत्ति लब्भति, गाथासोलस-याणं इमे अत्थाहिकारा भवंति, ससमयपरसमयपरूवणा य० गाथा ॥२३॥ पढमज्झयणे ससमयपरसमयपरूवणाए अधिगारो १, बितियज्झयणाधियारो पुण ते ससमयगुणे परसमयदोसे य णाऊणं ससमए संबुज्झियव्वं २, तत्तिगज्झयणाहिगारे संबुद्धो संतो जत्थ उवसग्गेणं चालिज्जइ ३,चउत्थज्झयणाओ इत्थिदोसविवज्जणा, तेऽवि अणुलोम उवसग्गा चेव उवसग्गभीरुणो थीवसस्स(२५) पडिलोमगा वा ४, पंचमअज्झयणाहियारो जो उवसग्गभीरू इत्थीवसमोगओ बहुयं पावं अज्जिऊण णरएसु उववज्जति ५, छट्ठस्स एवं जाणिऊणं महप्पा महावीरो उवसग्गाणि जिणित्ति इत्थीपसंगदोसा य दोसे जाणित्तु इत्थिगाओ वज्जेत्ता णिव्वाणं गतो भगवान् अतो आयरिओऽवि एवं चेव चेव सीसस्स उवदिसन्तो हक्खाति जहा सममए जइअव्वं उवसग्गा य णिजिणितव्वा इत्थिगाणि उ वज्जेतव्वाओ एवं सीलं बंभं च भवति ६, परिचत्तणिसीलकुसील० गाथा ॥२६॥ सत्तमए णिस्सीला गिहत्था दुस्सीला अण्णउत्थिया सममएवि पासत्थादयो कुशीला वज्जेत्ता सयं च शीलवता भवितव्वं ८, अट्ठमस्स सयं सीलवता णाऊण वीरियदुगं पंडितवीरिए

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णि' ॥ २३ ॥

पयतितव्वं। सेसाणं पुण इमो अहियारो–धम्मो समाहिमग्गो० गाथा ॥ २७ ॥ वितियावि आयाणिय संकलिया गाथा ॥२८॥ एवं वीरियपंडितअभिगमणट्ठाए धम्मो कहिज्जइ, पंडियवीरियट्ठितो व धम्मं कथेति ९, दसमस्स समाधिं च सो उवदिसति १०, णाणादिसंजुत्तो से मग्गो उवदिस्सइ सो वा परेसिं उवदिमति एक्कारसमस्स ११, बारसमस्स एवं मग्गपडिवण्णो गामायगं (मगयं) वा उवस्सए वा भिक्खायरियगयं वा दूइज्जमाणे वा परउत्थिगा परउत्थिगभाविताविं गिही विवदेज्ज तेसिं पडिसेधणट्ठा समोसरणज्झयणे तिण्हवि तिसट्ठाणं पासंडियमताणं अमग्गभावकुदिट्ठीओ पडिसेधिज्जंते १२ तेरसमस्स जे पडिसेधेत्ता अहवा मग्गो परिकहिज्जति सच्चेवि ते धम्मं समाधिमग्गं वा ण याणंति १३, चोद्दसमस्स समाधिमग्गट्ठितस्सवि सीसगुणदोसा परिकहिज्जंति सीसगुणसंपण्णेण य गुरुकुलवासो वसितव्वो १४, पण्णरसमस्स आयाणिज्जे आत्मार्थिकेन आयतचरित्तेण भवियव्वं सुत्तत्थो य पायेण संकलियाण बद्धो १५, एतेसिं पण्णरसण्हवि अज्झयणाणं गाथाए पिंडकत्थयणेणं अत्थोऽभिवज्जति दरिसिज्जति विभाष्यत इत्यर्थः, गाथासोलसगाणं पिंडत्थो वण्णितो समासेणं। एत्तो एक्केकं पुण अज्झयणं कित्तयिस्सामि ॥ १ ॥ तत्थ पढमज्झयणं समयोत्ति, तस्स इमे अणुओगदारा भवंति, तंजहा–उवक्कमो णिक्खेवो अणुगमो णयो, उपक्रम्यते अनेनेत्युपक्रमः, क्रमु पादविक्षेपे उप सामीप्ये सत्थमामीवीकरणं, सत्थस्स णासदेसाणयणमिति भणितं होति, तथा–निक्षिप्यतेऽनेनेति निक्षेपः, क्षिप प्रेरणे इति, नियतो निश्चितो क्षेपो निक्षेपो न्यासः स्थापनेतियावत्, अनुगम्यतेऽनेनेत्यनुगमः, अनुगतो वा सूत्रस्य गमो अनुगमः, अनुरूपार्थगमनं वा अनुगमः, सूत्रानुसारणमित्यर्थः, णी ञ् प्रापणे, तस्य नय इति भवति, सूत्रप्रापणे व्यापारोपायान्नयतीति नयः, नीयते वा अनेनेति नयः, वस्तुनः पर्यायानां संभवतोऽभिगमनमित्यर्थः, एतेसिं च उवक्कमादिदाराणं एसेव कमो, यतो नाणुपक्कन्तं अम-

अर्थाधिकाराः उपक्रमाद्याश्च

॥ २३ ॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ २४ ॥

मीपीभूतं सन्निक्षिप्यते, न च नामादिभिरनिक्षिप्तं अर्थतोऽनुगम्यते, न च नयमतविकलो अनुगम इति, जतो सत्थं सम्बन्धात्मकेन उपक्रमेण स्थापनासमीपमानीयते नामादिन्यस्तनिक्षेपमर्थतोऽनुगम्यते नानानयैः अतोऽयमेवानुयोगद्वारक्रम इति, सो उवक्कमो छव्विहोऽवि-णामोवक्कमो ठवणा०दव्व०खेत्त०काल०भावण्णू उवक्कमो, छव्विहोवि जहा आवस्सए तहा परूवेयव्वो, अहवा उवक्कमो छव्विधो–आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वया अत्थाधिगारो समोतारो, एतेऽवि जहा अणुयोगद्दारे तहा भासितव्वा जाव समोतारो सम्मत्तो। एवं समयज्झयणं अणुपुव्वादिएहिं दारेहिं जत्थ जत्थ समोतरति तत्थ तत्थ समोतारेयव्वं, आणुपुव्वीए उक्कित्तणाणुपुव्वीए गणणाणुपुव्वीए य समोतरति, सा तिविहा–पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी अणाणुपुव्वी, समयज्झयणं पुव्वाणुपुव्वीए पढमं, पच्छाणुपुव्वीए सोलसमं,अणाणुपुव्वीए एताए चेव एगादियाए एगुत्तरिआए सोलस(ग)च्छगताए सेढिए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो,एत्थ पत्थारविहिकरणं इमं-एकाद्या गच्छपर्यन्ताः,परस्परसमाहताः। राशयस्तद्विद्विजेयं,विकल्पगणिते फलम् ॥१॥ गणितेऽन्त्यविभक्त तु,लब्धं शेषैर्विभाजयेत्। आदावंते च तत् स्थाप्यं,विकल्पगणिते क्रमात् ॥२॥ णामे छविधणामे समोतरति,तत्थ छविधो भावो वण्णिजति,तत्थवि खयोवसमिए भावे समोतरति, जतो सव्वमेव सुयं खयोवसमिए भावे वट्टति। पमाणं चउविधं–दव्वप्पमाणं खेत्तप्पमाणं कालप्पमाणं भावप्पमाणं च; प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणं, तत्थ समयो भावात्मकत्वात् भावप्रमाणगोचरं, तं भावप्पमाणं तिविधं–गुणप्पमाणं नयप्पमाणं संखप्पमाणं; गुणप्पमाणं दुविधं-जीवगुणप्पमाणं अजीवगुणप्पमाणं च, तत्थ जीवाणण्णत्तणओ समयस्स जीवगुणप्पमाणे समोतारो, जीवगुणप्पमाणं तिविधं–णाणगुणप्पमाणं दंसणगुणप्पमाणं चरित्त(गुणप्पमाणं च),तत्र बोधात्मकत्वात् समयस्स णाणगुणप्पमाणे समोतारो, णाणप्पमाणं चतुव्विधं–पच्चक्खं अणुमाणं उवम्मं आगमो, तत्थ समयस्स पायं परोवदेसत्तणतो आगमप्पमाणे समोतरति, आगमो

उपक्रमः

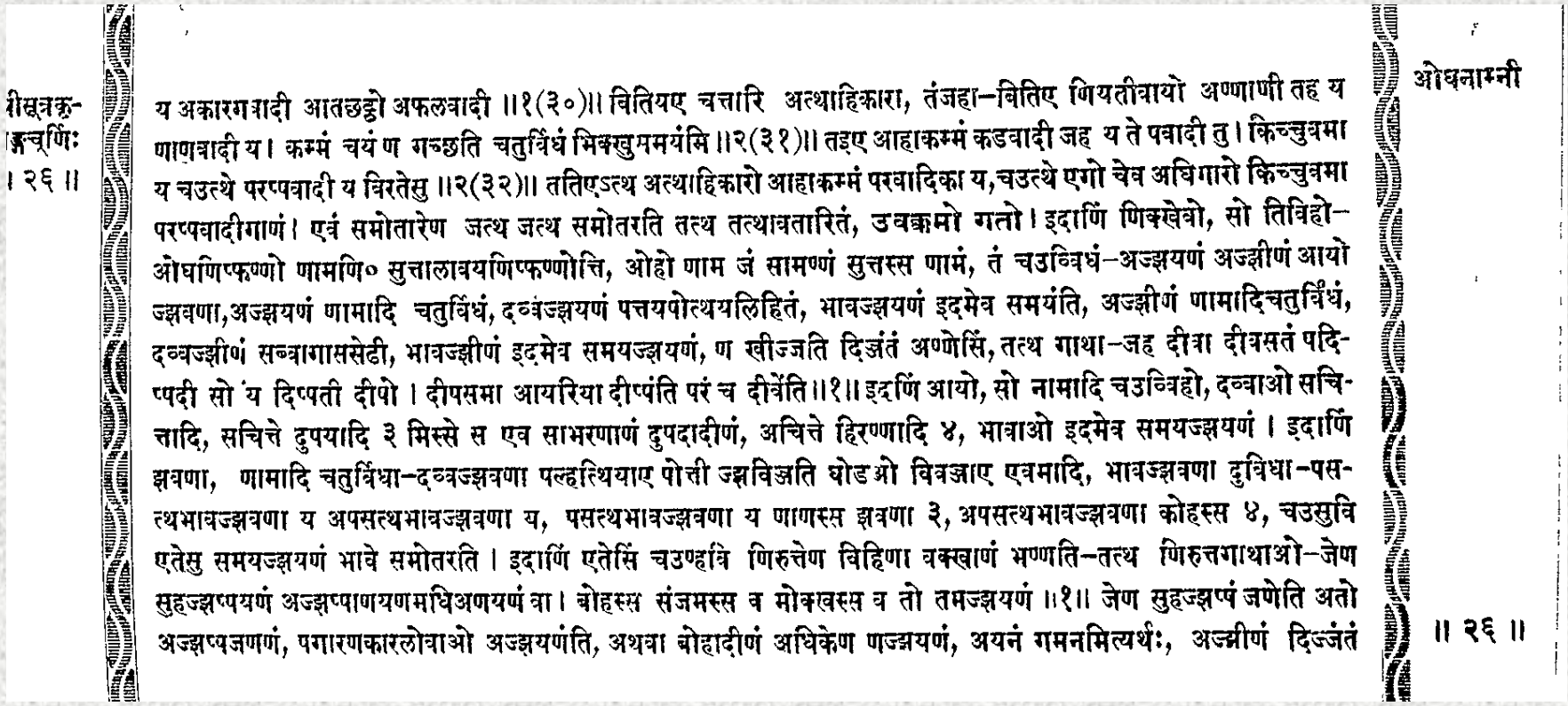
॥ २४ ॥

ताङ्कचूर्णिः ॥ २५ ॥

दुविधो-लोइओ लोगुत्तरो य,लोगुत्तरिए समोतरति,सोऽवि तिविधो-सुत्ते अत्थे तदुभयेत्ति,तिसुवि समोतरति,अथवा आगमो तिविधो–अत्तागमो अणंतरागमो परंपरागमो य, तत्थ समयस्स अत्थतो तित्थकरस्स अत्तागमो गणधराणं अणंतरागमे गणधरसिस्साणं परंपरागमो, सुत्त(त्थ)ओ गणधराणं अत्तागमो गणहरसीसाणं अणंतरागमो,तेण परं सुत्तत्थभअयोवि णो अत्तागमो णो अणंतरागमो,परंपरागमो, गुणप्पमाणं गतं। इदाणिं णयप्पमाणं–तत्थ मूढणइयं सुतं कालियं तु ण णया समोतरंति इहं। आसज्ज तु सोयारं णए णयविसारतो बूया ॥१॥ इदाणिं णयप्पमाणे ण समोसरति, पुरा पुण जाव चउण्ह अणुयोगाण अपुहुत्तं आसि ताव सुत्ते णया अवितारिज्जंता, इयाणिं पुहुत्ताणुयोगे णावतारिज्जंति। इदाणिं संखप्पमाणं, तं अट्ठविहं, तंजहा–णामट्ठवणसंखा दव्वखेत्तकालसंखा परिमाणपज्जवभावे संखा चेव, तत्थ परिमाणसंखाए समोतरति, परिमाणसंखा य दुविधा–कालियसुतपरिमाणसंखा य दिट्ठिवायसुतपरिमाणसंखा य, कालिय० संखाए समोतरति, कालियसुतपरिमाणसंखा दुविधा–अंगपविट्ठं अंगबाहिरं च, अंगपविट्ठे समोतरति, पज्जवसंखाए अणंता पज्जवा, जतो भणितं-सव्वागासपदेसग्गं, सव्वागासपदेसेहिं अणंतगुणितं पज्जवग्गं अक्खरं लब्भति, संखेज्जा अक्खरा संखेज्जा संघाता संखेज्जा पदा संखेज्जा सिलोगा संखेज्जाओ गाथाओ संखेज्जा वेढा संखेज्जा अणुयोगदारा। इदाणिं वत्तव्वया, सा तिविधा–ससमयवत्तव्वया परसमयवत्तव्वया ससमयपरसमयवत्तव्वया, तत्थ ससमयवत्तव्वयाए समोतरति, परसमए उभयं वा सम्मदिट्ठिस्स ससमयो, जाणतो सव्वज्झयणाइं ससमयवत्तव्वणियताइं, मिच्छत्तसमूहमयं सम्मत्तं जं च तदुवकारंमि वट्टइ परसिद्धंतो तो तस्स तओ ससिद्धंतो। अत्थाहिकारो दुविधो–अज्झयणत्थाधिकारो य उद्देसात्थाधिकारो य, तत्थ अज्झयणत्थाहिगारो ससमयपरसमयपरूवणाए, उद्देसत्थाहिकारो इमो–पढममुद्देसए ताव इमे छ अत्थाहिकारा भवंति, तंजहा–महपंचभूता एकप्पयतज्जीवतस्सरीरी य तह

गुणनयवक्तव्यताः

॥ २५ ॥



सूत्रकृ-
ङ्गचूर्णिः
। २६ ॥

य अकारगवादी आतछट्ठो अफलवादी ॥१(३०)॥ वितियए चत्तारि अत्थाहिकारा, तंजहा–वितिए णियतीवायो अण्णाणी तह य णाणवादी य। कम्मं चयं ण गच्छति चतुविधं भिक्खुममयंमि ॥२(३१)॥ तइए आहाकम्मं कडवादी जह य ते पवादी तु। किच्चुवमा य चउत्थे परप्पवादी य विरतेसु ॥२(३२)॥ ततिएऽत्थ अत्थाहिकारो आहाकम्मं परवादिका य, चउत्थे एगो चेव अधिगारो किच्चुवमा परप्पवादीगाणं। एवं समोतारेण जत्थ जत्थ समोतरति तत्थ तत्थावतारितं, उवक्कमो गतो। इदाणिं णिक्खेवो, सो तिविहो–ओघणिप्फण्णो णामणि० सुत्तालावयणिप्फण्णोत्ति, ओहो णाम जं सामण्णं सुत्तस्स णामं, तं चउव्विधं–अज्झयणं अज्झीणं आयो ज्झवणा, अज्झयणं णामादि चतुविधं, दव्वज्झयणं पत्तयपोत्थयलिहितं, भावज्झयणं इदमेव समयंति, अज्झीणं णामादिचतुविधं, दव्वज्झीणं सव्वागाससेढी, भावज्झीणं इदमेव समयज्झयणं, ण खीज्जति दिज्जंतं अण्णेसिं, तत्थ गाथा–जह दीवा दीवसतं पदिप्पदी सो य दिप्पती दीवो। दीपसमा आयरिया दीप्पंति परं च दीवेंति ॥१॥ इदाणिं आयो, सो नामादि चउव्विहो, दव्वाओ सचित्तादि, सचित्ते दुपयादि ३ मिस्से स एव साभरणाणं दुपदादीणं, अचित्ते हिरण्णादि ४, भावाओ इदमेव समयज्झयणं। इदाणिं झवणा, णामादि चतुविधा–दव्वज्झवणा पल्हत्थियाए पोत्ती ज्झविज्जति घोडओ विवज्जाए एवमादि, भावज्झवणा दुविधा–पसत्थभावज्झवणा य अपसत्थभावज्झवणा य, पसत्थभावज्झवणा य णाणस्स झवणा ३, अपसत्थभावज्झवणा कोहस्स ४, चउसुवि एतेसु समयज्झयणं भावे समोतरति। इदाणिं एतेसिं चउण्हंवि णिरुत्तेण विहिणा वक्खाणं भण्णति–तत्थ णिरुत्तगाथाओ–जेण सुहज्झप्पयणं अज्झप्पाणयणमधिअणयणं वा। बोहस्स संजमस्स व मोक्खस्स व तो तमज्झयणं ॥१॥ जेण सुहज्झप्पं जणेति अतो अज्झप्पजणणं, पगारणकारलोवाओ अज्झयणंति, अथवा बोहादीणं अधिकेण णज्झयणं, अयनं गमनमित्यर्थः, अज्झीणं दिज्जंतं

ओघनाम्नी

॥ २६ ॥

'अध्ययन' शब्दस्य निक्षेपा:

अवोच्छित्तिणयो अलोगो वा। आयो णाणादीणं झवणा पावाण खवणत्ति ॥१॥ गतो ओहणिप्फण्णो णिक्खेवो। अह णामणिप्फण्णो समयोत्ति, सो बारसविधो–णामं ठवणादविए खेत्ते काले कुतित्थसंगारे। कुलगणसंकरसमए गंडी तह भावसमए य ॥२९॥ णामं ठवणाओ तहेव वतिरित्तो दव्वसमओ जो जस्स सचित्तस्स अचित्तस्स वा सभावो, तंजहा–सचित्तस्सोवयोगो सेसाणं गतिठिति-अवगाहगहणाणि. अध अचित्तेण दव्वाणं सब्भावा भवंति वण्णगंधरसफासेहिं, वण्णतो कालतो भमरो णीलं उप्पलं रत्तो कंबल-सारो पीतिया हरिदा सुक्किलो ससी सुगंधं चंदणादि दुग्गंधो लहसुणादी कडुआ सुंठि तित्तो णिंबो कसायि वतूरं कविट्ठं अम्बं अम्बयं महुरो गुलो कक्खडो पासाणो स एव गुरु लहुगं उल्लगपत्तं सीतं हिमं उण्हो अग्गी णिद्धं घतं लुक्खा छारिया एवमादि, अहवा जो जस्स दव्वस्सोवयोगकालो सो तस्स समयो, तंजहा–खीरस्स ताव उण्हमणुण्हं तमसीतं वा, एवमण्णेसिंपि पुप्फफलादीणं विभा-सियव्वं, अथवा–वर्षासु लवणममृतं शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते। शिशिरे चामलकरसो घृतं वसंते गुडो वसंतस्यान्ते ॥१॥ खेत्त-समयो आगासस्स धम्मो–एगेणऽवि से पुण्णो दोहिवि पुण्णे सतंपि माइज्जा। अहवा जो जेसिं गामाईणं खेत्ताणं ससभावो, जहा गामे गामधम्मो णगरे णगरधम्म इति, देवकुरादीणं वा खेत्तणंपि जो सब्भावो, अहवा जहा परिपक्कस्स सालिखेत्तस्स लुणितव्वस-मये, अहवा उड्ढलोगअधोलोगतिरियलोगस्स वा जो सब्भावो, कालसमयो जो जस्स कालस्स सब्भावो ओसप्पिणी अवसप्पिणी, उस्सप्पिणी उस्सप्पति तथा सुभाणुभावा मुदिता एगंता सुभा एवं छव्विहो कालो वण्णेतव्वो, जहा जंबुद्दीवपण्णत्तीए। पासं-डसमयो जो जस्स पासंडस्स सब्भावो धम्मतेत्यर्थः, तंजहा–केइ आरंभेण धम्मं ववसिता केसिंचि णाणा ण धम्मो, केसिंचि अ-भिपेचनोपवासगुरुकुलवासादिभिः, संगारसमयो हि यस्य येन यस्मिन् काले विधिर्दत्तः, सिंगारः–समयो जहा पुव्वकअसंगारेण ॥ २७ ।



अध्ययन-१ आरब्ध:

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥ २८ ॥

सिद्धत्थसारथिणा बलदेवो संबोधितो, पुट्ठिलाए तेयलिपुत्तो, पभावतीए उद्दायणो, एवमादि, कुलसमयो जो जस्स कुलस्स धम्मो, आचार इत्यर्थः, तद्यथा–शकानं आव पितृशुद्धिः खंडशुद्धिः आभीराणां अमातृमंथनी शुद्धिः, गणसमयो जो जस्स गणस्स समयो, तंजहा–मल्लगणस्स जो मल्लो अणाहो मरति स सेममल्लैः संस्कार्यते, पतितं चैनमुद्धरति, गण्डिसमयो जहा भिक्खूणं गोसे पज्जागंडी मज्झण्हे भावणगंडी अवरण्हे धम्मकथागंडी सज्झाए समितिगंडी, भावसमयो इमं चेव अज्झयणं खयोवसमिए भावे, एतेण चेव एत्थ अहिगारो, सेसाणि मतिविकोवणत्थं परूवितानि। णामणिप्फण्णो निक्खेवो गतो। इदाणिं सुत्तालावगणिप्फण्णो णिक्खेवो, सो पत्तलक्खणोवि ण णिक्खिप्पति, कम्हा ?, लाघवत्थं, जम्हा अत्थि इतो ततीयं अणुयोगदारं अणुगमोत्ति, तहिं वा णिक्खित्तं इह णिखित्तं भवति, तम्हा तहिं चेव णिक्खिविस्सामीति। आह–यदि प्राप्तावसरोऽप्यसौ न संन्यस्यते किमिहोच्यत इति, उच्यते–निक्षेपमात्रसामान्यादसौ केवलमिहोपदिश्यते, न तु न्यस्यते, गुरुता मा भूदित्युक्तो निक्षेपः॥ इदाणिं ततियमणुयोगदारं अणुगमोत्ति, सो दुविधो–सुत्ताणुगमो निज्जुत्तिअणुगमो, णिज्जुत्तिअणुगमो तिविहो–णिक्खेवणिज्जुत्तिअणुगमो उवुग्घातणिज्जुत्तिअणुगमो सुत्तफासियणिज्जुत्तिअणुगमो, तत्थ णिक्खेवणिज्जुत्तीअणुगमो अणुगतो जं एयं हेट्ठा णिक्खेववक्खाणं भणितं, इदाणिं उवघातणिज्जुत्तिअणुगमो, उवघातो णाम प्रभवः प्रसूतिः निर्गम इत्यर्थः, अब्भच्छन्ने यथा चंदो, न राजति नभस्तले। उपोद्घातं विना शास्त्रं, तथा न भ्राजति विधौ ॥१॥ यथा हि दृष्टसर्वांगो, संवीतवदनो नरः। अभिव्यक्तिं न यात्येवं, शास्त्रमुद्घातवर्जितं ॥२॥ सो य उवघातो इमेहिं छव्वीसाए दारेहिं अणुगंतव्वो, तंजहा–उद्देसे णिद्देसे य णिग्गमे खेत्तकाल पुरिसे य। कारणपच्चय लक्खण णये समोतारणाणुमतो ॥१॥ किं कतिविधं कस्स कहिं केसु कथं केचिरं हवति कालं। कति संतरमविरहियं भवाग-

सूत्रालापानुगमौ

॥ २८ ॥

रिस फासण णिरुत्ती ॥२॥ एताणि जहा सामाइयणिज्जुत्तीए भाणियव्वाणि, उवग्घायणिज्जुत्ती गता। संपति सुत्तफासिय-णिज्जुत्ती–जं सुत्तस्स वक्खाणं तीसे अवसरो, सा पुण पत्तावि ण भण्णते इधत्ति, किं ?, जेणासति सुत्ते कस्स तई ?, तंजहा–कमप्पत्ते सुत्ताणुगमे वोच्छिति होहिति, तीसे य तदावसरो अत्थाणमिदं तीसे, जइ भो सो कीस भण्णइ एधइं ?, इव सा भण्णति णिज्जुत्तिमे-त्तसामण्णतो, णवरं अतो एतेण संबंधेण, इदाणिं निज्जुत्ति अणुगमाणंतरं सुत्ताणुगमं भणामि, सुत्तस्स अणुगमे सुत्ताणुमरणमित्यर्थः; किमिह हीणाधिकविपज्जत्थादीदोसदुट्ठस्स आहु णिद्दोसस्स य वक्खाणं आरब्भति ?, णिद्दोसस्स, ण सदोसस्स, जतो सुत्ताणुगमे सुत्तमुच्चारेयव्वं, सुत्तेऽणुगते सुद्धे णिच्छिते तह कतो पदच्छेदो सुत्तालावणासणिक्खित्ते फासो तु, एवं सुत्ताणुगमो सुत्तालावय-कयो य णिक्खेवो। सुत्तफासिय निज्जुत्ती णया य वच्चंति समगं तु ॥१॥ तत्थ सुत्ताणुगमे सुत्तं उच्चरियव्वं अहीणक्खरं अणच्च-क्खरं अवाइद्धक्खरं अक्खलितं अमिलियं अविच्चामिलितं पडिपुण्णं पडिपुण्णघोसं कंट्ठोट्ठविप्पमुक्कं तो तत्थ णज्जिहिहि ससम-यपदं वा वंधपदं वा मोक्खपदं वा ससमयपदं वा णोससमयपदं वा ते, तंमि उच्चारिते समाणे केसिंचि भगवंताणं केइ अत्था-धिकारा अधिकता, भवंति, केइ अणधिगता, तो तेसिं अणभिगताणं अत्थाणं अभिगमणट्ठताए पएण पयं वन्नइस्सामि, तत्थ संहिता य पदं चेव, पयत्थो पदविग्गहो। चालणा पच्चवत्थाणं, छव्विधं विद्धि लक्खणं ॥ १ ॥ तत्थ संहिता सुत्तं इमं–'बुज्झिज्ज तिउ-ट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया। किमाहु बंधणं धीरे ?, किं वा जाणं तिउट्टति ? ॥१॥ बुज्झिज्जेति कुत्र बुध्येत ? धर्म्मे बुध्येत इति, बुज्झितं वा बुज्झेज्जा बुज्झेज्जा तिकालगाहणं बुद्धो तमेवार्थं पुनः पुनर्बुध्यते, बुद्ध्यमानो वा बुद्धयेत, किं पुनः तए बुज्झेज्ज वा उवलभेज्ज वा भिंदेज्ज वा एवमन्येऽपि ज्ञानार्था धातवो वक्तव्याः, तद्यथा जहेज्ज वा आगमेज्ज वा, समयोत्ति अधि-

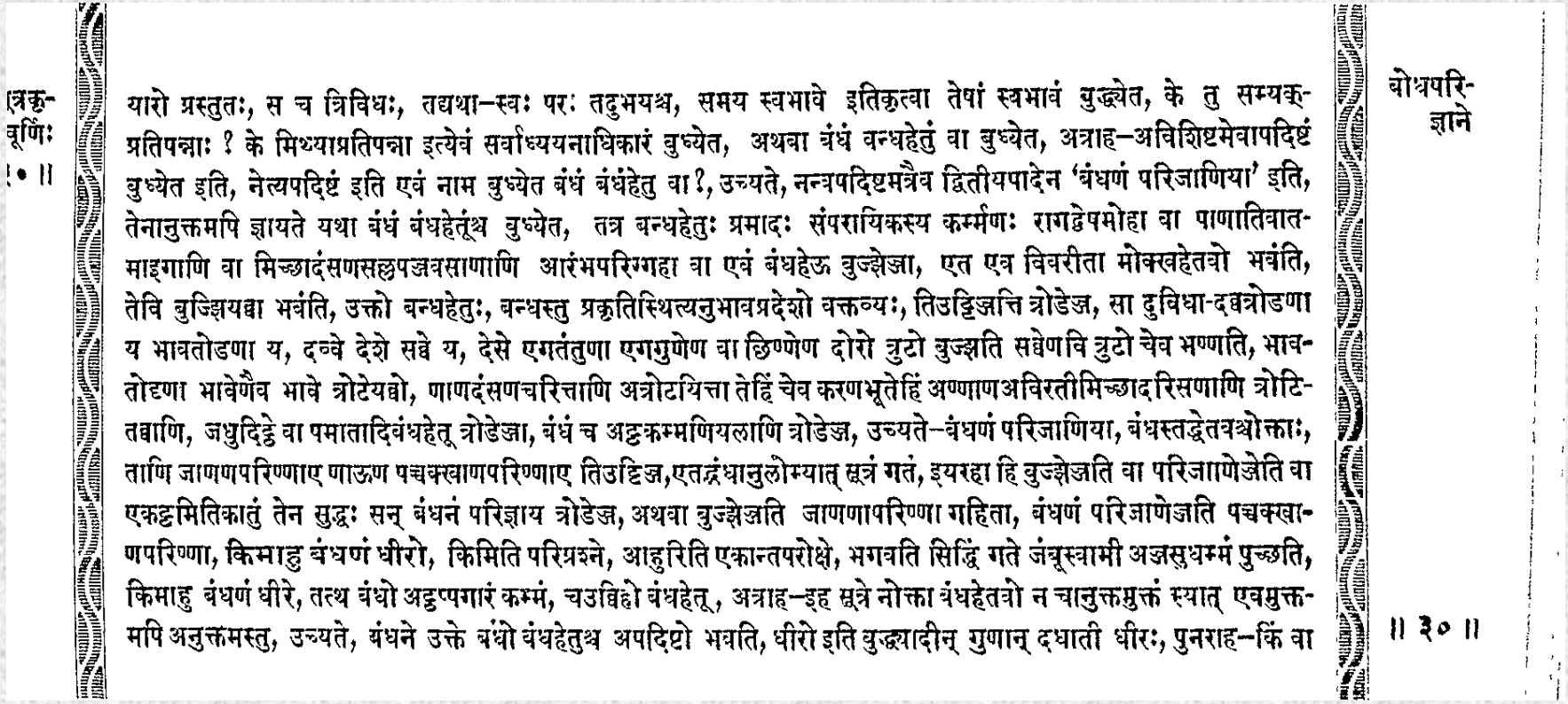


॥ २९ ॥

सूत्रस्य अनुगम

प्रत सूत्रांक ||१-२७||

दीप अनुक्रम [१-२७]



[त्रकृ-
चूर्णिः
१० ॥

यारो प्रस्तुतः, स च त्रिविधः, तद्यथा–स्वः परः तदुभयश्च, समय स्वभावे इतिकृत्वा तेषां स्वभावं बुद्ध्येत, के तु सम्यक्-प्रतिपन्नाः ? के मिथ्याप्रतिपन्ना इत्येवं सर्वाध्ययनाधिकारं बुध्येत, अथवा बंधं बन्धहेतुं वा बुध्येत, अत्राह–अविशिष्टमेवापदिष्टं बुध्येत इति, नेत्यपदिष्टं इति एवं नाम बुध्येत बंधं बंधहेतु वा?, उच्यते, नन्वपदिष्टमत्रैव द्वितीयपादेन 'बंधणं परिजाणिया' इति, तेनानुक्तमपि ज्ञायते यथा बंधं बंधहेतूंश्च बुध्येत, तत्र बन्धहेतुः प्रमादः संपरायिकस्य कर्म्मणः रागद्वेषमोहा वा पाणातिपात-माइगाणि वा मिच्छादंसणसल्लपज्जवसाणाणि आरंभपरिग्गहा वा एवं बंधहेऊ बुज्झेज्जा, एत एव विवरीता मोक्खहेतवो भवंति, तेवि बुज्झियव्वा भवंति, उक्तो बन्धहेतुः, बन्धस्तु प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशो वक्तव्यः, तिउट्टिज्जत्ति त्रोडेज्ज, सा दुविधा-दव्वत्रोडणा य भावतोडणा य, दव्वे देशे सव्वे य, देसे एगतंतुणा एगगुणेण वा छिण्णेण दोरो त्रुटो बुज्झति सव्वेणवि त्रुटो चेव भण्णति, भाव-तोट्टणा भावेणैव भावे त्रोटेयव्वो, णाणदंसणचरित्ताणि अत्रोटयित्ता तेहिं चेव करणभूतेहिं अण्णाणअविरतीमिच्छादरिसणाणि त्रोटि-तव्वाणि, जधुद्दिट्ठे वा पमातादिबंधहेतू त्रोडेज्जा, बंधं च अट्ठकम्मणियलाणि त्रोडेज्ज, उच्यते–बंधणं परिजाणिया, बंधस्तद्धेतवश्चोक्ताः, ताणि जाणणपरिण्णाए णाऊण पच्चक्खाणपरिण्णाए तिउट्टिज्ज,एतद्गंधानुलोम्यात् सूत्रं गतं, इयरहा हि बुज्झेज्जति वा परिजाणेज्जेति वा एकट्ठमितिकातुं तेन सुद्धः सन् बंधनं परिज्ञाय त्रोडेज्ज, अथवा बुज्झेज्जति जाणणापरिण्णा गहिता, बंधणं परिजाणेज्जति पच्चक्खा-णपरिण्णा, किमाहु बंधणं धीरो, किमिति परिप्रश्ने, आहुरिति एकान्तपरोक्षे, भगवति सिद्धिं गते जंबूस्वामी अज्जसुधम्मं पुच्छति, किमाहु बंधणं धीरे, तत्थ बंधो अट्ठप्पगारं कम्मं, चउव्विहो बंधहेतू, अत्राह–इह सूत्रे नोक्ता बंधहेतवो न चानुक्तमुक्तं स्यात् एवमुक्त-मपि अनुक्तमस्तु, उच्यते, बंधने उक्ते बंधो बंधहेतुश्च अपदिष्टो भवति, धीरो इति बुद्ध्यादीन् गुणान् दधाती धीरः, पुनराह–किं वा

बोधपरि-
ज्ञाने

॥ ३० ॥

श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन-१, उद्देश-१ सूत्र आरभ्यते

जाणं तिउट्टति ?, उच्यते, आघातः इहैव व्याकरणे तमेव बंधं बंधहेतू य जाणणापरिण्णाए णातुं पच्चक्खाणपरिण्णाए पडिसेहेतुं पच्छा तिउट्टतित्ति तिउट्टति-बंधणाइं तोडेइ, सो वा बंधणेहिं भिन्नो त्रुटति, अहवा पुव्वद्धेण उद्देसो पच्छद्धेण पुच्छा बितियसिलोगेण वागरणं, तेन कारणे कार्यवदुपचारं कृत्वा बंधनमपदिश्यते–**चित्तमन्तमचित्तं वा सिलोगो** ॥२॥ उक्तं हि आरंभपरिग्गहो बंधहेतू, येऽपि च रागादयः तेपि नारंभपरिग्गहा च अंतरेण भवंतीति तेन तावेव वागराहियं सन्त्विति कृत्वा सूत्रेणैवोपनिबद्धो, तत्रापि परिग्गहनिमित्तं आरंभाः क्रियते इतिकृत्वा स एव गरीयस्त्वात् पूर्वमपदिश्यते, पंचण्हं वा पाणातिपातादिआसवाणं परिग्गहो गुरुत्तरोत्तिकाउं तेण पुव्वं परिग्गहो वुच्चति, तत्थ चित्तमंतं तिविधं–दुपयं, चउप्पदं अपदं, अचित्तमंतं हिरण्णसुवण्णादि, वा विभाषायां, मिश्रं चेति, परिगिज्झ किसामवि किसामवीति कृशं-तनुः तुच्छमित्यनर्थान्तरं तृणतुषमात्रमपि,अथवा कसायमपीति इच्छामात्रं, प्रार्थना कषायतः, असत्यपि विभवे कषायतः परिगृह्यमानानि वस्त्रपात्राणि परिग्गहो भवति, तमेव नो सयं परिगिण्हइ नो अण्णेण परिगिण्हावेति परिगृह्यंतं चपि सुत्तेण चेव भणियं अण्णं नाणुजाणति, सूचनामात्रं सूत्रं इतिकृत्वा स्वयंकरणकारवणानि अणुमतीए गिहिताइं, णवगो वा वेदो, एव दुक्खाण मुचति, एवं सो णवएण भेदेण परिग्गहे वट्टमाणो दुक्खाओ न मुचति, तत्र दुक्खं कर्म्म तद्विपाकश्च, एवं वुज्झेज्ज–सपरिग्गहस्स णियमा पाणाइवायादयो भवंति, तेण पुव्वं परिग्गहो भणिओ, मेथुणं परिग्गहे चेव पडति, समञ्जिणणणासे य परिग्गहदोसा भाणियव्वा,उक्तं हि–"परिग्रहेष्वप्राप्तनष्टेषु कांक्षामोहौ प्राप्तेषु च रक्षणं उपभोगे चातृप्तिः"। इदाणीमारंभो,सो य परिग्गहमेव, तत्थ सिलोगो–**सयं तिवातए पाणे**(३)सयमिति स्वतः अतिवायए नेति,आयुर्बलशरीरप्राणेभ्यो त्रिभ्यः पातयतीति त्रिपातयति, त्रिभ्यो वा मनोवाक्काययोगेभ्यः पातयति, करणभूतैर्वा मनोवाक्काययोगैः पातयतीति त्रिपातयति, अति-

पातयतीति वा वक्तव्यं, अकारलोपं कृत्वाऽपदिश्यते तिपातयति, अदुवा अण्णेहिं घातथे अदुवा अन्यैर्घातयति तया राजादयः, हणंतं वा अणुजाणति जहा उद्दिट्ठभोयिणो पासंडा, अस्मिँस्त्रितये कश्चित् स्वयं त्रिविधेऽपि करणे वर्त्तते कश्चिद् द्विविधे कश्चिदेकविधे, सर्वथापि वर्त्तमानो वेरं वड्ढति अप्पणो विरज्जते येन तद्वेरं सुणगवधितिपरंपरे वट्टमाणे महासंगामे हवेज्जा, किमंग पुण पुरिसवधे गोणादिवधे वा,एत्थोदाहरणं वारत्तएणं महुबिंदुमि पसंगो,अथवा वेरमिति अट्ठपगारं कम्मं,उक्तं हि-? पावे वेरे वज्जेत्ति,ता वेरं प्राणातिपाताद्यैरारंभैर्वर्द्धयन्ति मृषावादादत्तादाने अपि आरंभाय गीत एव, एवं बुज्झेज्जा। तत्किमर्थमारभते प्रतिगृह्णाती वा ?,उच्यते-जंसि-कुलेसु उप्पन्नो सिलोगो (४)परिग्गहविशेषमेवाभिधीयते जंसि कुले समुप्पन्ने, यस्मिन्निति अनिर्दिष्टे कुलइति मातापितृपक्षे जेहिं वा संवसे णरे भज्जासुसरसहवाससमित्तातिएहि ममाई लुप्पए बालो ममाती मम ममैते बांधवा इति ममीकारदोसेण ये लुप्पति उवत्तेति,उदूढं धम्माओत्ति,द्वाभ्यामाकलितो बालः,अण्णमण्णेहि मुच्छितेति तेसु पुव्वसंथुतेसु वा,एत्थ चउभंगो-सो तेसु मुच्छितो ण ते तत्थ मुच्छिता, णासो तेसु ४, सूत्राभिहितस्तु अण्णमण्णेहिं मुच्छितेति सोऽवि तेसु तेऽवि तंमि, चतुर्थः शून्यः, एवं बुज्झेज्ज, किंचान्यत्-न केवलं स्वजनमूर्च्छिता लुप्यन्ते,अन्यत्रापि मूर्च्छिता लुप्यंते,तंजहा-वित्तं सोदरिया चेव सिलोगो(५)अथवा जं वुत्तं अण्णमण्णेहि मुच्छितेति एषा मूर्च्छा न त्राणाय भवतीत्यपदिश्यते वित्तं-सोदरिया चेव, वित्तं तिविधं सचित्तादी, सचित्तं त्रिविधं दुपयादि, अचित्तं हिरण्णादि, मीसं तिविधं तदेव दुपयादी वक्तव्यं, सोदरिया णाम भाता भगिणी णालवद्धा वा समाणोदरिका सहोदरिका मनुष्यजातयो गृह्यन्ते, तेऽत्रापि न त्रा०, अपरे च अत्रातारः संतो कथं त्रोटयंति, इहापि ताव भवेज्जा तयोः परिग्रहश्च न त्राणाय, किमंग पुण प्रेत्येति, पालकवादच्छेदोदाहरणं वक्तव्यं, किंच–यन्निमित्तमसौ परिग्रहः परिगृह्यते तदप्यसंजतानां संघात-

जीवितं चेव समस्तं घाति संघाति मरणाय धावति, जीवितकाममोगापि हि अग्गिचोरादि विनाशाय वधेंति, एवं जीवितं काम-भोगाश्चानित्यात्मकं जानीहि, मूर्च्छतामस्य कर्म्माणि बध्यंते, तेभ्यः स्वयं तिउट्टेज्ज, ताणिवि तोडेज्ज, अथवा न केवलं मनसा कर्माणि त्रोडेज्जा, इतरथापि हि कर्म्माणि चेव त्रोडिज्जंति, पठ्यते च-संखाय जीवितं चेव कम्मणाओ तिउट्टति' संखाएत्ति ज्ञात्वा जाणणसंखाए णच्चा अणिचं जीवितंति, तेण कम्माइं कम्महेऊ य त्रोडेज्ज, एते गंथे विउक्कम्म० सिलोगो ॥६॥ तत्रारंभग्रहणेन तिण्णि आसवा पाणातिवातादयो गहिता, परिग्गहगहणेण मेहुणपरिग्गहा गहिता भवंति, अथवा समयः प्रस्तुतः, ते सामयिकाः एते गंथे विउक्कम्म एते इति ये प्रागुद्दिष्टाः चित्तमंतअचित्तमंत अथवा वित्तं सौदरिया आरंभपरिग्गहो वा, ग्रथ्यते येन स ग्रन्थः ग्रन्थमात्रं वा ग्रन्थः तं ग्रन्थं ग्रन्थहेतूंश्च विविधमुत्क्रान्ता विउक्कंता, अथवा विविधैः प्रकारैः उक्कामंति विउक्कमिता, पुणरवि तेसु चेव वट्टंति, यथा शाक्यादयो, एगेति नास्मच्छ्रमणाः, शाक्यादयो परिव्राजकादयः, अयाणंता वियोसिया अयाणंता विरति-अविरतिदोसे य, विविधं उसिता बद्धा इत्यर्थः, वीभत्सं वा उत्सृता विउस्सिता, कामाः शब्दादयः, मनोरपत्यानि मानवाः, अथवा एभत्सा (वीभत्सा) चित्तादीन् ग्रन्थानतिक्रम्य अस्मन्मतका अपि एके, न सर्वे, समणा लिंगत्था माहणा-समणोवासगा, तत्पुरुषो वा समासः, श्रमणा एव माहणा श्रमणमाहणाः, नैश्चयिकनयं प्रतीत्य ते हि अणयाणका एव, वे ये ज्ञानोपदेशे न तिष्ठंति पासत्था-दयो तेऽवि परतित्थिया इव अपारगा, किमंग पुण कामभोगपवित्ता गृहस्था अप्पसत्थिच्छा, कामेसु-इच्छाकामेसु मयणकामेसु वा सत्ता, वुत्ता ओहतो ससमयपरिक्खा। इदाणिं विभागेण परतित्थियाण तिण्णि तिसट्ठाणि पावादियसयाणि परिक्खिज्जंति, तत्थ पुव्व-भेव पंचमहब्भूतवादिणो भवंति, उद्देसत्थाधिकारे य भणितं-महप्पंचभूत एकप्पया अ तज्जीवतस्सरीरा य, तत्थ पंचमहाभूतियाण

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥ ३४ ॥

समयं परूवेति भगवं-संति पंच महब्भूता सिलोगो(७)संतीति विद्यंते पंच महद्ग्रहणं तन्मात्रज्ञापनार्थः, भूतानि–पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति, 'इहे'ति इह मनुष्यलोके, एगेसिं, ण सव्वेसिं, जे पंचमहद्भूतवाइया तेसिं, एवं आहिता-आख्याता, तत्र यो ह्यस्मिन् शरीरे कठीनभावो सो पुढवी यावत्किंचि द्रवत्तं आउभूतं उसिणस्वभावो कायाग्निश्च तेउभूतो चलस्वभावोच्छासनिःश्वासश्च वातभूतं वादनादिश्च स्थिरस्वभावमाकाशं। एते पंचमहद्भूता सिलोगो(८)एते इति ये उद्दिष्टाः,तेभ्यः एक आत्मा भवति,पिष्टकिण्वोदनिमित्तयोः सुरायामदवत्, अथवा तेभ्यो एगोत्ति सिस्सामंत्रणं एवमाख्याति भो ! ति, कोऽयं लोकः ?, चेतनमचेतनद्रव्यं सर्वं भौतिकं, अथैतेसिं संयोगो अथेत्यव्ययं निपातः, तेषामिति तेषां भूतमयानां प्राणिनां विगतः संयोगो २ विणासो(दे)हित्ति देहिणं,विनासो नाम पंचस्वेव गमनं, पृथिवी पृथिवीमेव गच्छति, एवं शेषाणामपि गच्छंति, उक्तं हि "जह मज्जंगेसु मओ वीसुमदिट्ठोऽवि समुदये होउं। कालंतरे विणस्सति तह भूतगणंमि चेतण्णं॥१॥अस्योत्तरं-पत्तेयमभावातो ण रेणु तेल्लं व समुदए चेता। मज्जंगेसुं तु मदो वीसुंपि ण सव्वसो णत्थि॥१॥भभिधाणिवितण्हयादी पत्तेयंपिहु जहा मदंगेसु। तह जइ भूतेसु भवे ता तेसि समुदये होज्जा॥२॥जइ वा सव्वाभावे वीसुं तो किं तदंगणियमोऽयं ?। तस्समुदयणियमो वा? अण्णेसुवि ते हविज्जाहि ॥३॥तस्स गोमयादिषु भूताणं पत्तेयंपि चेतणो अत्थि, समुदयदरिमणाओ, जह मज्जंगेसु मयोत्ति हेऊणासिद्धोऽयं, स्यान्मतिः-साधूक्तं यथा पृथगपि मद्याङ्गेषु मदसामर्थ्यमस्ति, एतदेव हि व्यस्तभूतचेतनायामुदाहरणं–इह व्यस्तेष्वपि भूतेसु चैतन्यमस्ति तत्समुदये दर्शनात् मदवत्,यथा मद्याङ्गेषु मदः पृथगसत्त्वान्नास्ति स्पष्टः,तत्समुदये तु व्यक्तिमेति, तथा पृथग्भूतेष्वणीयसी चेतना भवतीति,उच्यते,यथाऽऽत्थ त्वं भूतसमुदयगुणाभिप्रायतो चेतनायाः तत्समुदये दर्शनादित्यसमसिद्धः, न हि भूतसमुदयस्येयं चेतना, यदि भूतसमुदयस्येयं भवेत् व्यस्तभूतचैतन्यमपि प्रतिपद्येमहि,

पंचमहा-भूतिकाः

॥ ३४ ॥

आह–ननु प्रत्यक्षविरुद्धमिदं, यत्समुदयोपलभ्यचेतनानुमानमस्ति, भवत एव हि प्रत्यक्षमिदं भूतचैतन्यं, प्रति ज्ञानं मनोभावात्, भूतविशिष्टमात्रे पुद्गलानामेव तदात्मकानामविप्रतिपत्तेः, आह–न भूतसमुदयस्य चैतन्यमिति, किमनुमानमुच्यते ?–भूतेंद्रियातिरिक्तः संचेतयिता तदुपलब्धार्थानुस्मरणात्, यो हि यैरुपलब्धानर्थानेकोऽनुस्मरति स तेभ्योऽन्यो दृष्टः, यथा गवाक्षैरुपलब्धानर्थाननुस्मरन् तेभ्यो देवदत्तः, यश्च यतो नान्यो नासावेकोऽनेकोपलब्धानामर्थानामनुस्मर्त्ता यथा ततो विज्ञानं, इतश्चेन्द्रियातिरिक्तो विज्ञाता तदुपलब्धार्थानुस्मरणात्, यो हि यदुपलब्धानामर्थानामनुस्मर्त्ता स तेभ्योऽन्यो दृष्टः, यथा गवाक्षोपलब्धानामर्थानामिवाक्षोपरमेऽपि देवदत्तः, अनुस्मरति चायमात्मा अंधबधिरादिकाले पंचेंद्रियोपलब्धानर्थान्, ततः स तेभ्योऽर्थान्तरमिति, व्यतिरेकः पूर्ववत्, इतश्चेंद्रियातिरिक्तो विज्ञाता, तद्व्यापारेऽप्यनुपलंभतो, यो हि यद्व्यापारेऽपि यदुपलब्धानर्थान्नोपलभते स तेभ्योऽतिरिक्त एव दृष्टः, यथोपविष्टगवाक्षोऽपि न दर्शनानुपयुक्तस्तेभ्यो देवदत्तः, इमं पुण णिज्जुत्तीए उत्तरं भण्णति–पंचण्हं संयोगे अण्णगुणाणं च चेयणादिगुणो। पंचिंदियठाणाणं ण अण्णमुणियं मुणति अण्णो॥३३॥असंख्या ईश्वरकारणिका वैदिका वैशेषिका अनभिगृहीता मिथ्यादृष्टयश्च गृहस्थाः सर्वेऽपि भौतिकं शरीरं वर्णयंति,तेषां पुनर्भूतव्यतिरिक्त आत्मा नास्ति तत् जुत्ता पंचमहब्भूतिया, अयमन्यो मिथ्यादर्शनविकल्पः, ये तत्र केचिदेकात्मकं जगदिच्छंति, तत्र केषांचिद्विष्णुः कर्त्ता केषांचिन्महेश्वरः, स हि तत् कृत्वा जगत् पुनः संक्षिपति, ते पुर्यनदा परैश्चोद्यंते कथमेकात्मकं विलक्षणं च जगदिति?, इति चोदिता ब्रुवते-जह्मा य पुढवी भूते(थूभे)सिलोगो ॥९॥ यश्चेति येन प्रकारेण पृथिव्येव स्तूपो तत्पुरुषसमासः स एक एव स्तूपो नानात्वेन दृश्यते, तद्यथा–निम्नोन्नतसरित्समुद्रोदशर्करासितागुहादरिप्रभृतिभिर्विशेषैर्विशिष्टोऽपि पृथिवीत्वेन व्यतिरिक्तो दृश्यते, अथवा एको मृत्पिण्डश्चकारोपितः शिवकस्तूपच्छत्र-

अस्तलवटादिभिर्विशेषैरुत्पद्यते, तथा चोक्तं –एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १ ॥ एवं भो! कसिणे लोए० कसिणग्गहणं न ह्यनीश्वरात्मकं किंचिदस्ति, विष्णूरिति विद्वान् विष्णुर्वा, नानार्थान्तरत्वेनेव मनुष्यजाविकृमिपिपीलिकावृक्षगुल्मलतावितानवीरुधादिभिर्विशेषैर्दृश्यते । एवमेगेत्ति जंपंति सिलोगो ॥ १० ॥ एवम्-अनेन प्रकारेण योऽयमुक्तः 'एगो'त्ति एक एव पुरुषः, एके प्रभाषंते, मंदा नाम मंदबुद्धयः आरंभे नियतं आश्रिता आरंभनिश्रिताः, तेषामुत्तरं-यदि विष्णुमयं सर्व्वं तदा एगो किच्चा सयं पावं यदीश्वरः कर्त्ता येन यदेकस्य सुखं दुःखं वा तत्सर्वेषामस्तु, एकात्मकत्वे हि सति एकः कृत्वा स्वयं पापं कथमस्य नु वेदको वेदयते?, नान्ये वेदयंत इति, यस्माच्च य एव पापं करोति स एव वेदयति, नान्यः, तत एकात्मकत्वं न भवति, तेन निच्चं णियच्छतित्ति य एव कर्त्ता स एव त्रिः प्रकारं कायिकादि कर्म्म णियच्छति, वेदयतीत्यर्थः, अथवा त्रिभिस्तापयतीति त्रिप्रं (तपं) किंच तत्?, कर्म्म, किंचान्यत्–एकात्मकत्वे हि सति पितृपुत्रारिमित्रता न घटते, अथवा एकत्वे हि खल्वात्मनः न सुखादयः संघटंते सर्वगतत्वात्, इह यत्सर्व्वगतं न तत् सुखादिगुणं यथाकाशं, एवं न बध्यते सर्वगतत्वात्, इह यत्सर्व्वगतं न तद्बध्यते यथाकाशं, यच्च बध्यते न तत्सर्वगतं यथा देवदत्तः, एवं न मुच्यते न कर्त्ता न भोक्ता न संसारीत्यादि, नैकात्मकत्वे सुखी बहुतरोपघातीता, इह यो बहुतरोपघातो नासौ सुखी यथा सर्वरोगावृत्तो अंगुल्येकदेशेऽरोगः, यश्च सुखी नासौ बहुतरोपघातो यथेष्टविकल्पविषयसंपदुपेतो देवदत्तः, न चासौ मुक्तो बहुतरोपनिबंधनात्, इह यो बहुतरोपनिबन्धनः नासौ मुक्त इति व्यपदिश्यते, न च मुक्तत्वसुखमश्नुते यथा सर्वाङ्गकीलितो विमुक्ताङ्गुल्येकदेशः पुमान्, यश्च मुक्तो नासौ बहुतरोपनिबन्धनो, न च स्वल्पनिबंधनो यथा कीलितः पुमान्, स्वरूपपर्यन्त-

मात्रशरीरव्यापी जीवः तत्रैव तद्गुणोपलंभात्, इह यस्य यत्र गुणोपलंभः स तन्मात्रो दृष्टः, यश्च यत्रासन् न तस्य तत्र गुणोपलब्धिः यथाऽग्नेरभसि, उक्ता एकात्मवादिकाः। इदाणिं तज्जीवतस्सरीरवादी, ते भणंति–पत्तेयं कसिणे आया० सिलोगो॥११॥ पत्तेयं नाम पृथक् पृथक् एकैकं शरीरं प्रति एक एवात्मा भवति, न हि सर्वं एकात्मकं, कसिणो णाम शरीरमात्रः, नतु शरीराद् व्यतिरिच्यते, बाला नाम मंदबुद्धयः पंडिता बुद्धिसंपन्ना अथवा पंडिता जे एतं दरिसणं पवण्णा तेषां प्रत्येकम् एकैक आत्मा तेषां तु 'संति पञ्चा ण ते संति' संतीति संत्यात्मानः, केवलं तु सरीरं आत्मा भूत्वेह प्रेत्य न ते यांति, प्रेत्य नाम परभवो,कथं ?,न हि सत्ता उववातिका विद्यंते,यतश्चैवं तेण"णत्थि पुण्णे व पावे वा०सिलोगो"॥१२॥न हि किंचि तपोदानशीलैः अपि आचर्यमाणैः पुण्यं बध्यते,हिंसाद्यैर्वा पापं,णत्थि लोगे इतो परंति न वास्त्यन्यो लोकः यत्र पुण्यपापे उक्तरूपे स्यातां,कस्मात्?-सरीरस्स विणासेणं विणासो होति देहिणो, स्यादेतत्–यदि पुण्यपापे न भवतः तेनायमीश्वरः अनीश्वरो वा न विद्यते, नन्वेकस्मादेव पाषाणात् रुद्रादिप्रतिमा क्रियते पादप्रक्षालनशिला च, न चानयोः पुण्यपापे भूः, एवं स्वभावादेव ईश्वरो भवत्यनीश्वरो वा, उक्तं च-"कंटकस्य च तीक्ष्णत्वं, मयूरस्य च चित्रता। पर्णानां नीलता स्वच्छा, स्वभावेन भवंति हि ॥१॥ तेषामुत्तरं-विद्यमानकर्तृकमिदं शरीरं आदिमत्प्रतिनियताकारत्वात्, इह यदादिमत् प्रतिनियताकारं च तद्विद्यमानकर्तृकं दृष्टं यथा घटः, यच्च न विद्यमानकर्तृकं न हि तदादिमत् प्रतिनियताकारं च यथाकाशं, यत्कर्तृकं चेदं शरीरं स जीवः, तस्मादन्य इति, आदिमद्विशेषणं जंबूद्वीपादिलोकस्थस्थितिनिषेधार्थं, विद्यमानाधिष्ठातृकानींद्रियाणि करणत्वात्, इह यद्यत् करणं तद्विद्यमाणाधिष्ठातृकं दृष्टं यथा दंडादयः कुलालाधिष्ठिताः, यच्चाविद्यमानाधिष्ठातृकं न तत्करणं यथाऽऽकाशं, यश्चैषामधिष्ठाता स जीवस्तेभ्योऽर्थान्तरमिति, विद्यमानादातृकमिदं इंद्रियविषयकदम्बकं

सूत्रकृ-तचूर्णिः ३८ ॥

आदानादेयभावात्, इह यत्रादानादेयभावस्तत्र विद्यमानादातृकत्वं दृष्टं यथा संदंशायःपिंडयोरयस्कारादातृकता, यच्चाविद्यमानादातृकं न तत्रादानादेयभावः, यथाऽऽकाशे, यश्च विषयाणामिन्द्रियैरादाता स तेभ्योऽर्थान्तरमात्मेति, विद्यमानस्वामिकमिदं शरीरं इंद्रियादिभोग्यत्वात्, इह यद्भोग्यं तद्विद्यमानभोक्तृकं दृष्टं यथाऽऽहारवस्त्रादि, यच्चाविद्यमानभोक्तृकं न तद्भोग्यं यथा खरविषाणं, यश्चैषां शरीरादीनां भोक्ता स तेभ्योऽर्थान्तरमात्मेति, विद्यमानस्वामिकमिदं इन्द्रियादि संघातत्वात्, यत्संघातात्मकं तत् विद्यमानस्वामिकं दृष्टं यथा गृहं, यच्चाविद्यमानस्वामिकं तदसंघातात्मकं यथा खरविषाणं, यश्चैषां शरीरादीनां स्वामी स तेभ्योऽर्थान्तरमात्मेति, यथाऽयं कर्ता अधिष्ठाता दाता भोक्ताऽर्थी चोक्तः शरीरादन्यो जीवः तथा चैवोदाहृतं, स्यात्–कुलालादीनां मूर्तिमत्त्वसंघातानित्यत्वादिदर्शनादात्मनामपि तद्धर्मता सा तैर्विरुद्धा प्रायः, तच्च न, संसारिणः खल्वदोषात्, संसार्यवस्थायामेवायं साध्यते, न मुक्तावस्थायां, अयं चानादिकर्मसंतानोऽपि निबंधनत्वात् द्रव्यपर्यायार्थिकनयाभिप्रायाच्च तद्धर्मापीत्यदोषः, किंच—योऽयं जातिस्मरः सः अविनष्टः, इहार्थतः तदनुभूतानुस्मरणात्, योऽन्यदेशकालानुभूतमर्थमनुस्मरति सोऽविनष्टो दृष्टः यथा बाल्यकालेऽनुभूतानां यज्ञदत्तः, अथ मन्यसे–जन्मान्तरविनष्टोऽप्यनुस्मरति विज्ञानसंतानावस्थानात्, उच्यते, एवमपि भवान्तरसद्भावः, सर्वशरीरेभ्यश्चाविज्ञातसंतानार्थान्तरता सिद्धा,अविच्छिन्नविज्ञानसंतानात्मकश्चेत्यात्मेति शरीरादर्थान्तरमेव सिद्धं। तथा च–विण्णाणं-तरपुव्वं बालण्णाणमिह णाणभावाओ । जह बालणाणपुव्वं जुवणाणं तंच देहहियं ॥१॥ पढमो थणाभिलासो पुव्वं आहारऽभिलसमाणस्स । जह संपदाभिलासो स पुव्वकालाऽणुभूतीतो ॥२॥ सो य मिण्णो सो य देहहितो, उक्ता हि तज्जीवतच्छारीरवादी। इदाणिं अकारकवादिणो भण्णंति–तेषामयं पक्षः, कुव्वं च कारवं चेव० सिलोगो॥१३॥करोतीति कर्त्ता,स'स्वतंत्रः कर्त्ते'तिकृत्वा न विद्यते,

तज्जीव-तच्छरीराः

॥ ३८ ॥

कारवं चेवत्ति न चैतमन्यः कारयति विष्णुरीश्वरो वा, सव्वं कुव्वं ण विज्जतित्ति सव्वं सर्वथा सर्वत्र सर्वकालं चेति, अथवा यदपि च किंचित्करोति तथापि सर्वकर्त्ता न भवतीतिकृत्वा अकर्त्ता एव भवति, एवं अकारओ अप्पा, एवम्–अनेन प्रकारेण योऽयमुक्तः,एगे णाम सांख्यादयः,जे ते तु वादिणो एवं० सिलोगो॥१४॥जे तेत्ति णिद्देसो तु विसेसणे अकर्तृवादिनो लोकयत्वात् सम्यक्त्वलोगो ज्ञानसंयमलोको वा, अथवा योऽभिप्रेतलोकः परोऽन्यो वा स तेषां नास्ति, तेन पुनरनभिप्रेतलोकमेव तमातो ते तमं जन्ति तम इति मिथ्यादर्शनं अज्ञानं वा तस्मात् तमसः तम एव यांति, तमो हि द्वेधा-द्रव्ये भावे च, द्रव्ये नरकः तमस्कायः कृष्णराजयश्च, भावे मिथ्यादर्शनं एकेन्द्रिया वा, मंदा उक्ताः, आरंभे द्रव्ये भावे च, द्रव्ये षट्कायवधः भावे हिंसादिपरिणामात् अशुभसंकप्पा, अथवा मोहेण पाउडा मोहो–अज्ञानं तेन प्रावृताः–समाच्छन्नाः, उक्ताः अकारकवादिनः। इदाणिं आयच्छट्ठाफलवादी ॥१५॥ न संति– विद्यंत इति तन्मात्रग्रहणं महद्भूताः इतिपृथिव्यादयः,इधत्ति इह कुपाखंडिलोके,एगेसिंति, ण सव्वेसिं,आहिता–व्याख्याताः, ते तु अत्तछट्ठा पुण एगे आहु–पंचमहद्भूतियं सरीरं सरीरी छट्ठो, स च आत्मा लोकश्च शाश्वतः, लोको नाम प्रधानः, सम्यक्त्वं वेति दुहतो तेण विणस्संति० सिलोगो॥१६॥ दुहतो णाम उभयतो, आत्मा प्रधानं चाक्षुषमचाक्षुषं वा ऐहिकामुष्मिको वा लोकः दुहिं तेण विणस्संतित्ति 'स एवं आत्मा न जायते न म्रियते कदाचित्, नायं भूत्वा भविता न भूयः, अभिज्झो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे, 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥१॥ अच्छेद्योऽयमभेद्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते । नित्यः सततगः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२॥ न चोत्पद्यते असदिति असत्कार्यपरिग्रहः, मृत्पिंडे हि विद्यते घटः, सव्वेवि सर्व्वथा भावाः,सव्वे महतादयो विकाराः, नियतिर्नाम प्रधानं, तामागताः,सा कथं फलवती

प्रकृ-चूर्णिः ० ॥

भवतीति, यत्करोति न तस्य लभते फलं आत्मा, न फलवति प्रकृतिः, न फलतीत्यर्थः। पंच खंधे वदंतेगे० सिलोगो ॥१७॥ तइ खंधा इमे–रूपं वेदना विज्ञानं संज्ञा संस्काराः,रूपणतो रूपं,वेयतीति वेदना,विजानातीति विज्ञानं,संजानातीति संज्ञा, शुभाशुभं कर्म्म संस्कुर्वन्तीति संस्काराः, ते पुण खणजोइणो क्षणमात्रं युज्जंत इति परस्परतः,न चैतेभ्य आत्माऽन्तर्गतो भिन्नो वा विद्यते संवेद्यस्मरणा-प्रसंगादित्यादि, तेषामुत्तरं-अण्णो अणण्णो णेवाहु, केचिदन्यं शरीरादिच्छंति केचिदनन्यं,शाक्यास्तु केचिन्न वाच्यं,तथा स्कन्ध-मात्रका हेतुमात्रमात्मानमिच्छन्ति बीजांकुरवत्, अहेतुकं शून्यवादिकाः हेतुप्रत्ययसामग्रीपृथग्भावेष्वसंभवात्, तेन तेनाभिलप्यो हि भावः, सर्व्वे स्वभावतः लोके यावत्संज्ञासामर्थ्यमेव दृश्यते यस्मात्तस्मात् संति भावाः–भावाः संति, नास्ति सामग्रीं, एवं जगदपि केचिद्धेतुमत् केचिदहेतुमदिति, अथवा हेतुमदिति विष्णुरीश्वरो वा सो उत्पादहेतुरिति,अहेतुमन्नाम येषां स्वभावत एव उत्पद्यते, तथा लोकायतिकानां–"कः कंटकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं०। अन्ये ब्रुवते–पुढवी आऊ वाऊ य० सिलोगो ॥१८॥ केचिद् ब्रुवते-चत्तारि धातुणो रूवं, एतेसिं उत्तरं णिज्जुत्तीए पंचमहद्भूतवादिणो आरब्भ कथं अफलवतीत्ति। आगारमावसंतो० सिलोगो॥१९॥यथास्वं एतानि दर्शनानि प्रपन्नाः, ते पुनरगारस्त्वे वा वसंति अरण्ये वा तापसादयः, पव्वगा नाम वणरुक्खादगसोयरियादयो ते सव्वेवि एतं दरिसणमावण्णा सव्वदुक्खा विमुच्चंति, तव्वणियाणं उवासगावि सिज्झंति आरोप्पगावि अणागमणधम्मिणो य देवा, ततो चेव णिव्वंति, सांख्यानामपि गृहस्थाः अपवर्गमाप्नुवंति, एयं दरिसणमिति एयं सक्कदरिसणं वा जाणि य मोक्खवादिदरिसणाणि वुत्ताइं ताइं पवण्णो सव्वदुक्खाण मुच्चइत्ति वुत्तं, तच्च ण भवति, कथं ते दशकुशलात्मके कर्म्मपक्षे स्थिता न निर्व्वंति, यमनियमात्मके वा सांख्यादयः, तेषामर्थत एवोत्तरंअनेनेव श्लोकेन-आगारमावसंता तु, आरण्णा वावि पव्वगा । एयं दरिसणमावण्णा,

स्कन्धवादिनः

॥ ४० ॥

सव्वदुक्खाण मुंचति ॥१॥ किं चान्यत्-तेणावि संधिं नचाणं० सिलोगो॥२०॥तेणत्ति उपासकानामाख्याज्ञानेन त्रिपिटकज्ञानेन ते धर्म्मविदूरविद्वांसो भवंति, जायंते इति जनाः, ये ते तु वादिणो एवं ये यथाऽऽदिष्टाः एते च यान् वक्ष्यामः, सर्वे न ते ओहंतराऽऽहिता, ओहो द्रव्ये भावे च, द्रव्योघः समुद्रः, भावौघस्तु अष्टप्रकारं कर्म्म यतः संसारो भवति, न ते तस्य उत्पादका वा आहिता—आख्याताः, संसारे चेव संसरन् मोहमुपचिनोति, तस्याप्यपारकः, ततो गर्भजन्मदुःखमाराणि संसारचक्कवालंमि० सिलोगो ॥२६॥ एवमस्मिन् संसारचक्रवाले भ्रमन्तश्चक्रवद् भ्रममाणा उच्चावयं णियच्छंता उच्चाइं-उत्कृष्टानि अवयाइं-नीचानि मज्झि याणि दुक्खाइं ताइं अहिगच्छंति, अहवा उच्चावचमनेकप्रकारं, संसारश्चानेकप्रकारः, तं नियच्छंता गब्भमेसंतणंतसो गब्भो-तिरिक्खजोणियमणुस्सेसु गब्भाओ जम्मं एए मार्गजणा तं गब्भं एसंति अणंतसोत्ति-अणंतखुत्तो, अथवा उच्चावयमिति नानाप्रकारं कम्मं तं णियच्छंता ते दुपया गर्भजन्ममरणानि दुःखान्यनुभवंति, तानि तु न एकशः, अनंतशः, अनादीयं अनवदग्गं दीहमद्धं चाउरन्तसंसारकंतारं अणुपरियट्टंति, इति परिसमाप्तौ, बेमित्ति भगवंतादेशाद् ब्रवीमि, न स्वेच्छया इति। समयस्स पढमो उद्देसो सम्मत्तो ॥

वितियउद्देसयाभिसंबंधो स एव सूत्तकडसुत्तकडअवियोगेऽनुवर्त्तते स एव च समयपरूवणाधियारो वट्टए, ते परसमया यथा स्वं स्वं पक्षं संक्षेपतः प्ररूप्य प्रत्युत्सृष्टाः तदासूतापायाश्च उक्ताः, जहा गब्भमेसंतणंतसोत्ति, णाणाविधाभिग्गहमिच्छादिट्ठीसु वण्णिज्जमाणेसु अयमवि अभिग्गहितमिच्छादिट्ठिविकप्पो वण्णिज्जति, तस्स इमे चत्तारि अत्थाधिकारा, तंजहा—वितिए णियतिवात अत्थाधियारो १ अण्णाणवादी २ णाणवादी ३ भिक्खुसमयाहियारो जेसिं चउव्विधं कम्मं चयं ण गच्छति ४ त्ति, एतेहिं चउहिं



अस्य पृष्ठे प्रथम अध्ययनस्य द्वितीय उद्देशकस्य आरम्भ:

संसिया गब्भमेसंतणंतसोत्ति तदादीणि य दुक्खाणि पावंति, इत्यतस्तं नाश्रयीत, तत्थ ताव णियतीवादसमयपरूवणत्थमिदमपदिश्यते। आघायं पुण एगेसिं० सिलोगो ॥२८॥ आघातं णाम आख्यातं, पुनर्विशेषणे, किं विसेसेति ?, पूर्वसमयेभ्यो विशेषयति नियतिवादमपि, इहेति अस्मिँल्लोके समयधिकारे वा एकेषां, न सर्वेषां, उपपन्नास्तासु गतिसु 'पृथक्' इति पृथक् पृथक् न त्वेकात्मकत्वं जीवोत्ति वा एगट्ठं, वेदयंता णाणाविधेसु ठाणेसु पृथक् णाणाविधाणि सुहदुक्खाणि अणुभवंति, ते च तेभ्यो नानाविधेभ्यो दुःखस्थानेभ्यश्च लुप्यंते अनुभवंत इत्यर्थः, येन च ते दुक्खेन लुप्यंते तन्नेयं। ण तं सयंकडं दुक्खं० सिलोगो ॥२९॥येन नियतिः करोति तेण तावण्ण तं सयंकडं दुक्खं, न पुरुषकारकृतमित्यर्थः, यत् स्वयंकृतं न भवति इत्यतो ण अण्णकडं च णं, अन्येन कृतं अण्णकडं, च पूरणे, अन्यनामापुरुषस्तदुभयकृतमपि न भवति, न वाऽकृतं तत्कथं ?, उच्यते—सुहं वा यदिवा दुहं अनुग्रहोपघातलक्षणे सुखदुक्खे सेद्धसिद्धिः—निर्वाणमित्यर्थः, इतश्च जीवाश्रया सर्वे नियतीकृताः, न वीर्यं पुरुषकारोऽस्ति सर्व्वमहेतुतः प्रवर्तत इति, एषा णियतिवादिदिट्ठी, अकंमिकाणं च कालवादीणं च दिट्ठी ण सयंकडं ण अण्णेहिं० सिलोगो॥३०॥णिय तीसभावमेत्तमेवेदं संगयं तहा तेसिं संगतियं णाम सहगतं संयुक्तमित्यर्थः, अथवाऽस्यात्मनः नित्यं संगताणि इति, संगतेरिदं संगतियं भवंति, संगतेर्वा हितं संगतिकं भवति, तहा तेसिंति जेण जहा भवितव्वं ण तं भवति अण्णहा, इहेति इह लोके नियतिवाददर्शने वा, एगेसिं, ण सव्वेसिं, आहितमाख्यातं, न तु नियतिवादिणो, एवमेताइं जंपंता० सिलोगो॥३१॥एवमवधारणे, कानि ?, एतानि कुदर्शनानि तानि सद्दहंता, नियइवायं अकम्मादि आकर्म्मिका अहवा परूवेइ नियइवाददर्शनं वा पंडिवादिणो बालास्तेषां पंडितवादिणो अपंडिताः पंडितप्रतिज्ञाः, ते हि णियताणियतं संतं जे जहा कडा कम्मा ते तहा चेव णियमेण वेदिज्जंतित्ति एवं

नियतिवादः

॥ ४२ ॥

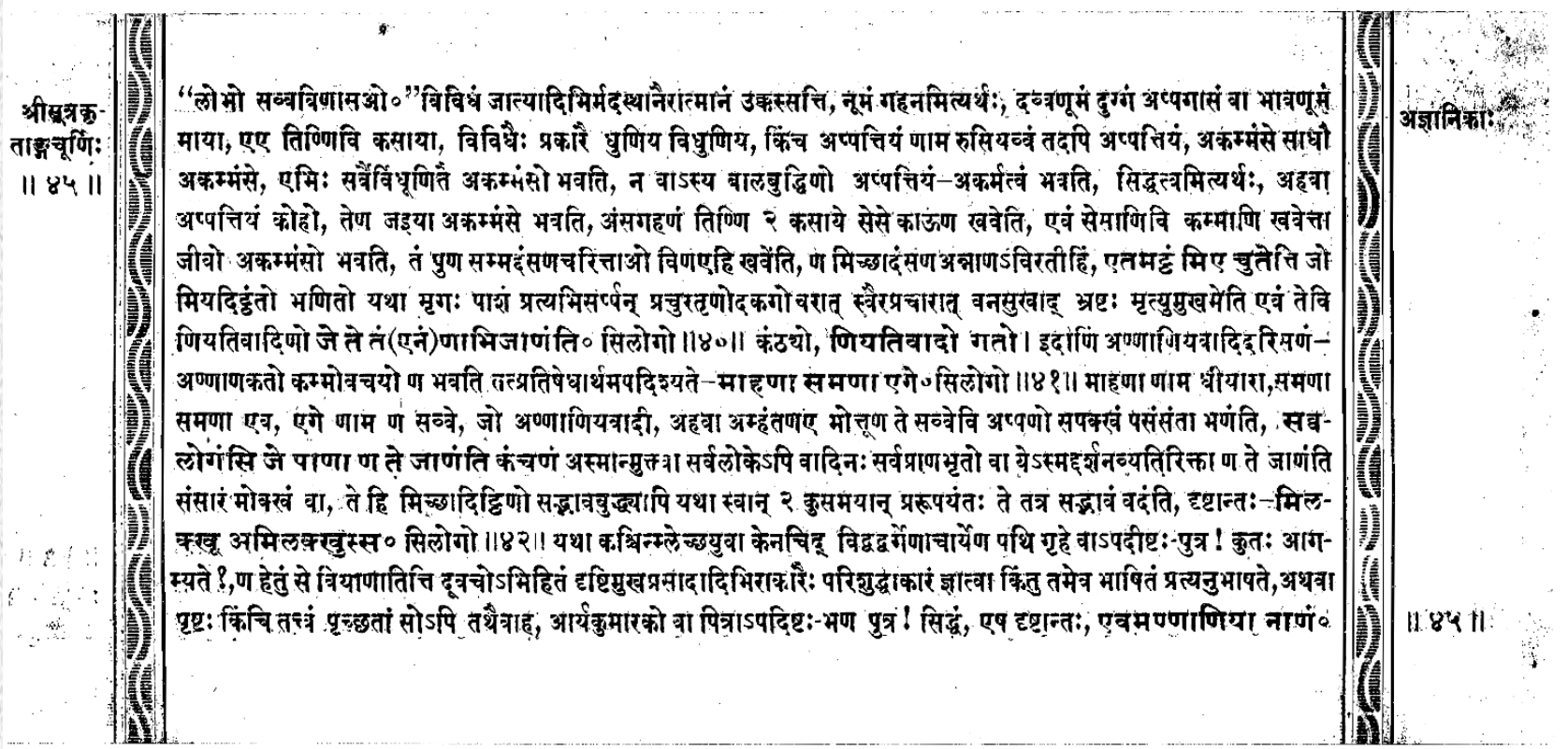
नियतं, तंजहा णिरुवक्कमायू देवणेरतियत्ति, अणियतं सोवक्कमायुंति, एतं णियताणियतं संतं सद्धूतं अयाणमाणा अबुद्धि० अबुद्धिकाः मंदमेधस इत्यर्थः, ते अमेधस एवमेतं अयाणंता, एवमेगे तु पासत्था० सिलोगो ॥३२॥ एवमवधारणे, न जाणंता अजाणंता विप्रगज्झिता ते नैव स्वयं विकल्पितमिथ्यादर्शनाभिनिवेशे आसज्ज ताइं वा सकर्म्मभिस्तब्धीभूता लज्जनीयेनापि न लज्जंते इत्यर्थः, एवं पुव्वुट्ठिता एवं नाम यद्यप्यभिगृह्य तानि नानाविधानि बालतपांसि स्वे स्वे दर्शने यथोक्तमुपास्थिता गुर्वादिविनययुक्ताः सर्व-प्रकारेण यथोक्तज्ञानान्मतितो विसीदंति तथाप्यात्मानं न संसाराद्विमोचयंति, उक्तंच–मिथ्यादृष्टिरवृत्तस्थः०, स्यात्–कथं ते न संसा-रपारगा भवंति?, मिथ्यादर्शनेनोपहतत्वात्, दृष्टान्तः, जविणो मिगा जहा० सिलोगो॥३३॥जव एषां विद्यत इति जविनः, के च ते?-मृगा परिगृह्यन्ते, संतग्रहणा णिरुपहतशरीरावस्थाः अक्षीणपराक्रमाः, परितन्यत इति परितानः वागुरेत्यर्थः, तज्जिता वारिता, ग्रहता इत्यर्थः, न शक्यमेतत् परितानं–निस्सर्तुं, सा च एगतो वागुराः एकतो हस्त्यश्वपदातिवती यथा हि भयतो से नश्यंति एकतः पाशकूटोपगा यथा विभागशः नित्यत्रस्ताः, तत्र ते मृगाः स्वजात्यादिभिः परित्रुट्यमाना मरणभयोद्विग्ना अशंकिताइं संकंति, स्यात्–किं शङ्कनीयं किं नेति, उच्यते–परिताणियाणि संकंता०सिलोगो ॥३४॥ सर्वतः परितनितानि यानि वा तानि पुनः वज्झ-पोतरज्जुमयानि, तान्यशङ्कनीयाः परिशङ्किताः, त एवं वराकाः अण्णाणभयसंविग्गा अज्ञानभयत्ता, तत एवं न जानते-यथैमा वागुरा दुर्लंघा न अधः शक्यतेति कर्तुं, ते ततस्ते ज्ञानाभावेन संविग्गा तहिं तहिं संपलिन्ति अणुकूडिलेहिं अण्णपासेहिं अण्णपासेहिं, अथवा एकतः पाशहस्ताः व्याधाः एगतो वागुरा तन्मध्ये संप्रलीयंतो भ्रमन्तो इत्यर्थः, यावद्धता मारिता वा, स तेषामज्ञानदोषः, ते पुण अधतं पवेज्ज वेज्झं बंधेज्ज पदपासतो, पदं पासयतीति पदपाशः-कूडः उपको वा, पज्यते च-मुचेज्ज पदपासाओ, बंधघात-

त्रकृ-
र्णिः
४ ॥

मारणानि, तं च मंदे ण पेहती(ति)स भावमन्दः न प्रेक्षति तं स एवं बराकः, अप्पाऽहित पण्णाणो० सिलोगो॥३६॥विसमं णाम कूटैः पाशोपगैः आकीर्णं तं द्वारं तं विसमं समं वा तेण गतः उपागतः से बद्धे पयपासेहिं 'से'त्ति स मृगः बध्यते स वध्यः पदं पाशयतीति पदपाशः स च कूटः उपगो वा, तत्थेति तेहिं पासादिएहि बद्धे, घंतः घातकः घातक एवांतप्पंतः यातनामेव स करोतीति घंतः नियतमधिकं वा घंतं गच्छति नियच्छति। एवं तु समणा एगे० सिलोगो॥३७॥एवमवधारणे तुविंशेषणे निर्ग्रन्थत्वातिरिक्ता एके न सर्वे, के च ते?, नियतिवादिनः, जे य अण्णे णाणाविधदिट्ठिणो,मिच्छादिट्ठित्ति विपरीतग्राहिणाः अणारियंति णाणदंसणचरित्त-अणारिया ते असंकणिज्जाइं संकंता, णाणदंसणचरित्ताइं असंकणिज्जाइं ताइं अन्ये जीवबहुत्वादिभिः पदैर्नात्र शक्यते अहिंसा निष्पादयितुमिति संकंति-ण सद्दहंति, संकिताइं कुदंसणाइं ताइं असंकिणो सद्दहंति पत्तियंति, स्यात्किं शंकनीयं किं नेति? उच्यते-धम्म-पण्णवणा जा तु० सिलोगो॥३८॥यावान् कश्चित् ज्ञेयधर्मः समग्रेन प्रज्ञाप्यते सा धर्मप्रज्ञापना, अहवा दुविधो धम्मो–सुतधम्मो चरित्तधम्मो य, दसविधो च समणधम्मो आगारमणागारिओ धम्मो, स जेण पण्णविज्जइ स धम्मपण्णवणा एती, सेसं कंठयं, वज्झत्ति दुक्खं कज्जति, अहवा ण सद्दहंति, अहवा किमेवं णवत्ति वा संकंति, पृथिव्यादिजीवत्वं शंकितं, मूढा अज्ञानेन–दर्शनमोहेन आरंभाय ण संकंति, दव्वारंभे भावारंभे य वट्टंति कुपासंडिणो, तमेव आरंभं बहु मन्नंति, अवियत्ता णाम अव्यक्ताः, णारंभादिसु दोसेसु विसेसितबुद्धयः, अकोविता अविपश्चित इत्यर्थः, मिच्छत्तकडदोसेण सब्भूतं णिग्गंथं पदयं ण संकंति–ण बुज्झंति, स्याद् बुद्धिः–यथा मृगाः पाशबद्धाः प्रचुरतृणोदकात् वनवाससुखा च्यवंते एवं मिथ्यादृष्टयः, कुतः च्यवन्ते?, उच्यते–सव्वप्पगं विउक्कस्स० सिलोगो॥३९॥ सर्वत्रात्मा यस्य स भवति सर्वात्मकः, अथवा जे भावकसायदोसा तेऽवि सव्वे लोभे संभवंतीति सव्वप्पगं, उक्तं च–

नियतिवादः

॥ ४४ ॥



श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ ४५ ॥

"लोभो सव्वविणासओ०"विविधं जात्यादिभिर्मदस्थानैरात्मानं उक्कस्सत्ति, नूमं गहनमित्यर्थः, दव्वणूमं दुग्गं अप्पगासं वा भावणूमं माया, एए तिण्णिवि कसाया, विविधैः प्रकारैः धुणिय विधुणिय, किंच अप्पत्तियं णाम रुसियव्वं तदपि अप्पत्तियं, अकम्मंसे साधौ अकम्मंसे, एभिः सर्वैर्विधूणितैः अकम्मंसो भवति, न वाऽस्य बालबुद्धिणो अप्पत्तियं–अकर्मत्वं भवति, सिद्धत्वमित्यर्थः, अहवा अप्पत्तियं कोहो, तेण जइया अकम्मंसे भवति, अंसगहणं तिण्णि २ कसाये सेसे काऊण खवेति, एवं सेसाणिवि कम्माणि खवेत्ता जीवो अकम्मंसो भवति, तं पुण सम्मद्दंसणचरित्ताओ विणएहि खवेंति, ण मिच्छादंसणअन्नाणऽविरतीहिं, एतमट्ठं मिए चुतेत्ति जो मियदिट्ठंतो भणितो यथा मृगः पाशं प्रत्यभिसर्पन् प्रचुरतृणोदकगोचरात् स्वैरप्रचारात् वनसुखाद् भ्रष्टः मृत्युमुखमेति एवं तेवि णियतिवादिणो जे ते तं(एनं)णाभिजाणंति० सिलोगो ॥४०॥ कंठयो, णियतिवादो गतो। इदाणिं अण्णाणियवादिदूरिसणं–अण्णाणकतो कम्मोवचयो ण भवति तत्प्रतिषेधार्थमपदिश्यते–माहणा समणा एगे०सिलोगो ॥४१॥ माहणा णाम धीयारा,समणा समणा एव, एगे णाम ण सव्वे, जो अण्णाणियवादी, अहवा अम्हंतणए मोत्तूण ते सव्वेवि अप्पणो सपक्खं पसंसंता भणंति, सव्वलोगंसि जे पाणा ण ते जाणंति कंचणं अस्मान्मुक्त्वा सर्वलोकेऽपि वादिनः सर्वप्राणभृतो वा येऽस्मद्दर्शनव्यतिरिक्ता ण ते जाणंति संसारं मोक्खं वा, ते हि मिच्छादिट्ठिणो सद्भावबुद्ध्यापि यथा स्वान् २ कुसमयान् प्ररूपयंतः ते तत्र सद्भावं वदंति, दृष्टान्तः–मिलक्खू अमिलक्खुस्स० सिलोगो ॥४२॥ यथा कश्चिन्म्लेच्छयुवा केनचिद् विद्वद्वर्गेणाचार्येण पथि गृहे वाऽपदीष्टः-पुत्र! कुतः आगम्यते?,ण हेतुं से वियाणातित्ति दूरचोऽभिहितं दृष्टिमुखप्रसादादिभिराकारैः परिशुद्धाकारं ज्ञात्वा किंतु तमेव भाषितं प्रत्यनुभाषते,अथवा पृष्टः किंचि तत्त्वं पृच्छतां सोऽपि तथैवाह, आर्यकुमारको वा पित्राऽपदिष्टः-भण पुत्र! सिद्धं, एष दृष्टान्तः, एवमण्णाणिया णाणं०

अज्ञानिकाः

॥ ४५ ॥

सूत्रकृ-कचूर्णिः ४६ ॥

सिलोगो ॥४३॥ एवमवधारणे, निश्चयार्थो नाम यथा भावोऽवस्थितः तह आत्मादिपदार्थान् दर्शयंतोऽप्यन्येषां अचित्रकलाभिज्ञा इव न सद्भावात्तावदिति, तदेवोदाहरणं मिलक्खुव्व अबोधिए, अबोधिरज्ञानमित्यर्थः, स एवं तेषां-अण्णाणियाण वीमंसा० सिलोगो ॥४४॥ संशयः संदेहो वितर्कः ओह वीमंसेत्यनर्थान्तरं, तेषां हि असर्वज्ञत्वादसौ वीमंसा प्रत्यक्षेष्वपि, न चेत् पृथिव्यादिषु संदिह्यते किं पुनरात्मादिषु अप्रत्यक्षेषु ?,तदेवं सा वीमंसा,इह निश्चयज्ञानेन नियच्छति-न युज्यते न घटत इत्यर्थः,स एवं संदिग्धमतिस्तावदात्मानमपि न शक्नोति प्रत्याययितुं,कुतस्तर्हि परं ?, संसारतो वा समुद्धर्तुं ?, एवं ते मिच्छादिट्ठिणो तदुपदिष्टं वा मिच्छादंसणं पडिवज्जति, उदाहरणं–वणे मूढो जहा जंतू० सिलोगो ॥४५॥ जहा कोइ महति वणे दिसामूढेण भण्णति–भ्रातः! कतरस्यां दिशि पाटलिपुत्रमिति, तेनापदीश्यते-अहं तत्र नयामीति, ततो सो तेण सह पट्ठितो, तौ हि मूढानुगामिनौ दुहतोवि अकोविता, दुहतो णाम तावेव द्वौ, अथवा उभयावि ण याणंति-कुतो गम्यते आगम्यते वा ? किं वा गतमवशिष्टं वा ?, अकोविया णाम अयाणगा, तिव्वं सोयं णियच्छंति, तीव्रे नाम अत्यर्थं पर्वतासरित्कंदरावृक्षगुल्मलतादिना गहनं, स्रवंति तेनेति श्रोतं भयद्वारमित्यर्थः, नियत्तमनियत्तं वा गच्छंति नियच्छंति, अथवा खंधावारेण महासत्थवाहेण कोइ अग्गिमदेसओ गहितो, सो य दिसामूढताए अण्णतो णेइ, तत्थ ते मज्झिमपच्छिमा ते जाणंति, अग्गिमगा ण जाणंति पंथमिति, तेऽवि मूढा सुगाया, दुहतो दिसामूढदिट्ठंतो। इदाणिं अंधदिट्ठंतो भण्णति–अंधे अंधं पहं णेति० सिलोगो ॥४६॥ जहा कोइ अंधो अद्धाणट्ठाणे च कंचि अंधं मत्तं वा समेत्य ब्रवीति–अहं ते अमिरूयितं गामं णगरं वा णेमित्ति तेण सह पट्ठितो गच्छति दूरमद्धाणंति,नासौ जाणाति, यत्र वस्तव्यं यातव्यं वा इत्यत्र तस्स तदपरिमाणमेव अध्वानमित्यतो दूराध्वानं, अहवा जओ अंधं जंतो स एवं पथेणं पत्थितोवि क्षणान्तरं पादस्पर्शेन गत्वा उत्पथमापद्यते यत्र विनाशं

अज्ञानिकाः

॥ ४६ ॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ ४७ ॥

प्राप्नुते प्रपातकंटकादिश्वापदादिभ्यः, अथवा यदृच्छया पंथानमेवानुपतति, अथवा अचलएहिं बहुगे हि दिट्ठंतो–वुग्गाहेतूण अचलया पव्वयं परीयंचावेऊण अग्गिछुं पच्छिछुयस्स लाउं मुत्तो, तेऽवि इच्छितव्वं वयं भूमिं वचामोत्ति तत्थेव भमंति, स सतं चेव आवज्जे उप्पधं, जंतूघुणाक्षरवत् ,एते दिट्ठंता दव्वदिसामूढेण वुत्ता अणिययवुत्ती,तस्समवतारः-एवमेगे णियायट्ठो० सिलोगो ॥४७॥ एवमवधारणे, एगे ण सव्वे, भावदिसामूढा भवन्वायसाः, नियतो नाम मोक्षः, नियतो नित्य इत्यर्थः, वयमेव धर्म्माराधकाः नान्ये, ते एवंप्रतिज्ञा अपि धम्ममावज्जेऽपिः संभावने, मूलपाठस्तु अधम्ममावज्जे, अदुवा णाम स्मरणार्थमेव, अप्येवं अधर्म्ममापद्यंते, यथा शाक्या आरंभप्रवृत्ताः धर्मायोत्थिता अधर्म्ममेव आपद्यंते, येऽपि च कष्टतपःप्रवृत्ताः आजीविकादयः तेऽपि धर्म्मं अधर्म्मानुबन्धनं प्राप्य पुनरपि गोशालवत्संसारायैव भवंति, ण ते सव्वुज्जुगं वए, सव्वुज्जुगो णाम संजमो सर्वतो ऋजुः अकुटिलः निरुपधः न कस्यांचिदवस्थायां अकल्पानुज्ञानमलिनो भवतीति, पुनरपि विशेषोपलंभात् स एवार्थः उपसंहियते–एवमेगे वितक्काहिं० सिलोगो ॥४८॥ उक्तो हि सिलोगो,उक्तं हि-"पुव्वभणितं तु जं भण्णती तत्थ कारणं अत्थि। पडिसेहमणुण्णाकरणहेउविसेसोवलंभो वा ॥१॥ अथवा द्वौ दृष्टान्तावुक्तौ,उपसंहारावपि द्वावेव,एवमवधारणे,एते इति ये उक्ताः,परं तत्र तीर्थकरा वितर्का मीमांसेत्यनर्थान्तरं, एवं स्यादिति, ते तु नान्यं पर्युपासितवन्तः, अन्ये नाम ये छद्मस्थलोकादुत्तीर्णाः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः तानुपास्य अप्पणो य वितक्काहिं चशब्दादन्यमतेश्च,यथा व्यासः-अमुकेन ऋषिणा एवमुक्तमिति,ह्रासमानयंति, यथा कणादोऽपि महेश्वरं किंचिद् आराध्य तत्प्रसादपूतमनाः वैशेषिकमकरोत्, एतैरात्मवितर्कैः परोपदेशैश्च यथास्वं अयमस्मिन्मार्गः ऋजुः, अरिजुना शेषाः प्रदुष्टमतयो दुर्म्मतयः। एवं तक्काए साधेंता० सिलोगो ॥ ४९ ॥ एवमवधारणे स्वमतिवितर्काभिः, साधयंतो योजयन्तः कल्पयन्त इत्यर्थः, धम्मों

अज्ञानिकाः

॥ ४७ ॥

नाम यथा द्रव्यपर्यायवस्तुभावावस्थानं, विपरीतोऽधर्म्म इति, अथवा कारणे कार्यवदुपचारं कृत्वापदिश्यते–संसारदुःखकारणमधर्म्मः, तत्र कोविदा धर्म्माधर्मकोविदा असंबुद्धा इत्यर्थः, दुःखं णेति दुःखं–संसारो तं नातिवर्त्तते न उत्तरतीत्यर्थः, अथवा कारणे कार्यवदुपचारं कृत्वाऽपदिश्यते संसारदुःखकारणमधर्म्मः, दिट्ठंतो सउणिपंजरं, यथा शुककोकिलामदनशलाका द्रव्यपंजरं नातिवर्त्तते, एवमिमे परतित्थिया दुक्खविमोक्खकारणं भावपंजरं नातिवर्त्तते, विउट्टंति त्रोटयंति अतिवर्त्तन्ते वा, त एवं परतंत्राः–**सयं सयं पसंसंता०** सिलोगो ॥५०॥ स्वं स्वं नामात्मीयं २ प्रशंसंतः स्तुवंतः ख्यापयन्तः इदमेवैकं सत्यमिति, नान्यं, न तानि गर्हन्ति, परेषां वचनानि प्रकटीकुर्वंति,एवं ते परस्परविरुद्धदर्शनाः कुसमयतीर्थकराः मुमुक्षवोऽपि न संसारपंजरमतिवर्त्तते,येऽप्यन्ये ततोऽश्रितास्तेऽपि, यथा जे उ तत्थ विउस्संति, विसेषेण उस्संति-इदमेवैकं तत्त्वमिति विशेषेण उद्घोषयंति गव्वेण उस्संतीति, ते संसारतो विउस्संति । **अण्णाणिया वादी परिसमत्ता** ॥ इदाणीं यत्कर्म्म चतुर्विधं चयं ण गच्छतित्ति णिज्जुत्तीए वुत्तं शाक्यानां तत्प्ररूपणार्थमपदिश्यते **अथावरं परिक्खाय०** सिलोगो ॥५१॥ अथेत्ययं निपातः पूर्वप्रकृतापेक्षस्तेभ्यः समयेभ्यः प्रकृतेभ्यः अथ इदमपरं पूर्वमाख्यातं उक्खायं, त एवं ब्रवते-गंगावालुकासमा हि बुद्धाः, तैः पूर्वमेवेदमाख्यातं, अथवा पुराख्यातमिति पूर्वेषु मिथ्यादर्शनप्रकृतेष्वाख्यातं, अथवा प्रख्यातं क्रिया कर्म्मेत्यनर्थान्तरं, कर्म्मवादिदर्शनमित्यर्थः, धिगतं वीभत्सं वा दर्शनमशोभनमित्यर्थः, कर्म्मचिन्ता णाम यथा येन यस्य येषु च हेतुषु प्रवर्त्तमानस्य कर्म्म बध्यते ततो कर्म्मचिंतातः प्रनष्टः, अथवा अतिकर्म्माभीरुत्वात्तैः कर्म्माश्रवाः केचिदिदं अबन्धत्वायापदिष्टास्तत्तेषां कुदर्शनं दुःखबंधविवर्द्धनं कर्म्मसमूहवर्द्धनमित्यर्थः, तेषां हि अविज्ञानोपचितं ईर्यापथं स्वप्नांतिकं च कर्म्म चयं न यातीत्यतस्ते कर्म्मचिंतापणट्ठा, स्यात्-कथं पुनरुपचीयते ?, उच्यते, यदि सत्त्वश्च भवति सत्त्वसंज्ञा च संचिंत्य जीवितात्

व्यपरोपणं प्राणातिपातः, अत्र भङ्गाश्चत्वारः जीवो जीवसण्णा य, प्रथमे भङ्गे बंधः,त्रिष्ववन्धः, अथवा सत्त्वश्च भवति १ सत्त्वसंज्ञा वा२ संचित्य संचित्य ३ जीविताद् व्यपरोपणं४, चतुसु पदेसु सोलस भंगा, पढमे बंधो सेसेसु अबंधो, अथवा जाणं काएणऽणाउट्टि० सिलोगो ॥५२॥ जानानः सत्त्वं यदि कायेण णाउट्टति, काउट्टणं नाम जिघांसिका उत्थाणं हत्थपदादिव्यापारो, स एवमणाउट्टमाणो जइवि हिंसति तहावि अबंधगो, अबुहो जं च हिंसतित्ति माता प्रसुप्ता पुत्रं मारयति, स्तनेन मुखमावृत्यान्यतरेण वा गात्रेण, अथवा स एव अबुहो बालको यदा पिपीलिकादीन् सत्त्वान् घातयति, मातापितरौ किंचिदवचनं ब्रवीति, न चास्य कर्म्मोपचयो भवति, यद्यपि च कश्चिद्भवति स तद्यथाऽस्माकमीर्यापथं तथा पुट्ठो वेदेति, परं पुट्ठो णाम स्पृष्टमात्र एव तं कर्म वेदति, मुंचतीत्यर्थः, अव्यक्तं नाम सूक्ष्मं तंतुबंधनवत् शीघ्रमेव छिद्यते, सह अवद्येन सावद्यं, अथवा जानंतित्ति षडभिज्ञस्य बुद्धस्य हिंसतोऽपि यत् बध्यते, काएण णं आउट्टतित्ति स्वप्नान्ते घातयन्नपि सत्त्वं न कायेन आउट्टति, न समारभते इत्यर्थः, अबुहो नाम अल्पबुद्धीन्द्रियो बालः, सो हिंसादिकर्म्मसु वर्त्तमानोऽपि अबंधक एव, अथवा अबुद्धो बालः अज्ञश्च पथि वर्त्तते, न च पथ्युपयुक्तः, असावपि अबुध्यमानो यानि सत्त्वानि व्यापादयति, नानयोः पापोचयो भवति, पुट्ठो वेदेति परं, एतानि चउरो वर्जयित्वा योऽन्यः स स्पृष्टः कर्म्मणा भवति, बध्येत इत्यर्थः, तं णियमा वेदयति, चतुर्भ्यो बन्धहेतुभ्यः परत इत्यर्थः, तच्चाव्यक्तं सावद्यं, अमूर्त्तमित्यर्थः, अथवा व्यक्तं तेषां त्रिकोटीशुद्धं मांसमपि भक्ष्यं अन्यथा त्वभक्ष्यमित्यतो व्यक्तं स्यात्, कथं पापं बध्यते ?, उच्यते-संतिमे तयो आदाणा० सिलोगो ॥५३॥ संतीति विद्यंते, आदानं प्रसूतिराश्रयो वा यैः क्रियते पापं कर्म्म, तं च अभिकम्माय पेसाया, अभिमुखं क्रम्य अभिक्रम्य स्वयं घातयत्वेत्यर्थः, प्रेष्यनाम अन्यः कारयित्वा, हतं हन्यमानं वा मनसाऽनुजानंति। एते तु ततो आदाना० सिलोगो ॥५४॥

पुव्वद्धं कंठयं, एवं भावणासुद्धीए, भावयंति तां भाव्यते वाऽनयेति भावना, शुद्धिर्नाम नात्र विचिकित्सामुत्पादयंति, किंच–एवं तस्य भावनाशुद्धात्मनः त्रिकोटीशुद्धभोजिनः यद्यपि कश्चित् पुत्तं पिता समारम्भ० सिलोगो ॥५५॥ अपि पदार्थसंभवने हि,उक्तं हि–प्राणिनः प्रियतराः पुत्राः, तेन पुत्रमपि तावत्समारभ्य, समारंभो नाम विक्रीयायामारब्धत्वात्, मांसेन वा द्रव्येण वा, किमंगं णरपुत्रं शूकरं वा छगलं वा ?,आहारार्थं कुर्याद्भक्तं भिक्खूणं, असंजतो णाम भिक्खुव्यतिरिक्तः, स पुनरुपासकोऽन्यो वा, तं च भिक्षुः त्रिकोटिशुद्धं भुंजानो यो मेधावी कम्मुणा णोवलिप्पति, तत्रोदाहरणं-उपासिकायाः भिक्षुः पाहुणओ गतो, ताए लावगो मारेऊण उवक्खडित्ता तस्स दिण्णो, घरसामिपुच्छा अहो णिविखणि(क्विं)त्ति, ताहे तेण भिक्खुणा कृतकश्च कृतः, मा, कप्परेण हस्ताभ्यां गृहीत्वा स्वेदय इमेऽंगारानिति, त्वमेव दह्यसे, नाहं, एवं मत्कृते घातक एव वध्यते, नाहं,एषामुत्तरं–मणसा जे पउस्संति० सिलोगो ॥५६॥ पूर्वं हि सत्त्वेषु निर्घृणतोत्पद्यते पश्चादपदिश्यते-यः परः जीववधं करोति न तत्र दोषोऽस्तीति, ते हि पुण्यकामकाः मातुरपि स्तनं छित्त्वा तेभ्यो ददति, अप्रदुष्टा अपि मनसा दुष्टाः एव मन्तव्याः, य उद्देशककृतं भुंजते, एवं ते संघभक्तादिषु, मत्स्यायितेषु च मूर्छितानां ग्रामादिव्यापारेषु च नित्याभिनिविष्टानां कुशलचित्तं न विद्यते, अशोभनं चित्तं व्याकुलं वा, तदचित्तमेव यथा अशीलवति, लोकेऽपि दृष्टं व्याकुलचित्ताणं भवति अविचित्तत्तं, एवं तेषां सावद्ययोगेषु वर्त्तमानानां अणवज्जं-अनयं(हं)तेसिं न,न हंत्यतीत्यनहं नास्तीत्यर्थः, का तर्हि भावना ?, न तेषामनवद्ययोगोऽस्ति, नित्यमेव हि ते असंवुडचारिणो बंधहेतुषु वर्त्तंते, असंवृतत्वात्, ते हि तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यादिष्वाश्रवद्वारेषु यथास्वं वर्तमानाः तदनुरूपमेव च यथापरिणामं कम्मं बंधंति, दव्वसंवुडा पावसियालचोरादयः, भावसंवुडा साधवः, संवृतचारिणो नाम संवृतः संयमोपक्रमः, तच्चरणशीलः संवृतचारी । इच्चेताहि दिट्ठीहिं० सिलोगो ॥५७॥ इति

पूतिदोषाः

॥ ५० ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता.....आगमसूत्र-[०२], अंग सूत्र-[०२] "सूत्रकृत" जिनदासगणि विहिता चूर्णिः

प्रत सूत्रांक ॥२८-५९॥

दीप अनुक्रम [२८-५९]



उपप्रदर्शने, एतार्हिंति इहाध्याये या अपदिष्टा नियतिकाद्याः, सातागारवो नाम शरीरसुखं तत्र निःसृताः, अज्झोववण्णा इत्यर्थः, हियंति मण्णमाणो-एवमस्माकं हितं भविष्यतीति सुखानि एव-अहितमेव सेवते, अथवा अस्मिन्नर्थेऽयं दृष्टान्तः-जहा आसाविणिं णावं० सिलोगो ॥५८॥ आश्रवतीत्याश्रविणी अकतकोट्टा पुण्णकोट्टा वा, जात्यन्धग्रहणं नासौ नावो मुखं पृष्ठं वा जानाति, यो वा अवछुकपत्रादेरुपकरणस्य यथोपयोगः, स एवमिच्छन्नपि पारं समुद्रपारं वा, अंतरा विषीदति, सद्य च एव ह्रियते, निमज्जते वा, सोहणिछिड्डंपि ण सक्केइ वज्जिउं तेषु, किमंग पुण सयछिद्दं, एस दिट्ठंतो, उवसंहारो एसो-एवं तु समणा एगे० सिलोगो ॥५९॥ एवम्–अनेन प्रकारेण, तुविशेषणे, अस्मान् मुक्त्वा मिच्छादिट्ठी अणारिया णाम चरित्ताणारिया अणारियाणि वा कम्माणि कुर्वंति ते संसारपारमिच्छंति संसारे च अणुपरियट्टंति, अवि णाम सो जातिअंधो देवतापभावेण वा अण्णेण वा केइ उत्तारिज्जेज्ज, ण य मिच्छादिट्ठी संसारादुत्तरंति । बितिओ उद्देसिओ सम्मत्तो १–२॥ समयाधिकारोऽनुवर्त्तत एव, तत्र प्रथमे द्वितीये च कुदृष्टिदोषा अभिहिताः, तृतीये तेषामेवाचारदोषा अभिधीयंते, अथ द्वितीयावसाने सूत्रं-'पुत्तं पिता समारब्भ आहारट्ठमसंजते' आचारदोष उक्तः, इहापि स एवाचारदोषोऽभिधीयते, दृष्टिदोषाश्च तेषामेव तेरासिगवत्तं च भणिहिंति, इत्यतोऽपदिश्यते–जं किंचि उ पूतीकडं० सिलोगो ॥६०॥ यदिति अणिद्दिट्ठस्स णिद्देसो, किंचिदिति यदाहारिमं उवधिजातं वा, पूतिग्रहणादाधाकर्म्मापि गृहीतं, आधाकर्मिकं एव हि पूतिं, यदपि च तदवयवोऽपि, न वर्त्तते कथं तर्हि आधाकर्म्म ?, तद्ग्रहणाच्च सर्वा अविशोधिकोटि गृहीता 'एगग्रहणे गहणंतिकाउं तज्जातियाण सव्वेसिं' तिण्णि विसोहिकोटीवि गहिता, श्रद्धा अस्यास्तीति श्राद्धी, आगच्छंतीत्यागंतुकाः, तैः श्राद्धैरागंतुकाननुप्रेक्ष्य-प्रतीत्य उवक्खडियं, अथवा सड्ढित्ति जे एगतो वसंति ते उद्दिश्य कृतं, तत् पूर्वपश्चिमानां आगंतुकोऽपि यदि सहस्संतरकडं भुंजे,



अस्य पृष्ठे प्रथम अध्ययनस्य तृतीय उद्देशकस्य आरम्भः

प्रत सूत्रांक ||६०-७५||

दीप अनुक्रम [६०-७५]



दुपक्खं णाम पक्षौ द्वौ सेवते, तद्यथा—गृहित्वं प्रव्रज्यां च, अम्हंतणओवि जो असुद्धं भुंजति सोवि दुपक्खं सेवति, कथं ?, दव्वओ लिंगं भावओ असंजतो, एवं ते प्रव्रजिता अपि भूत्वा आधाकर्म्मादिभोजने गृहस्था एव संपद्यंते। तमेव अविजाणंतो० सिलोगो ॥६१॥ तमिति णिद्देसे, यथोद्दिष्टमेव तदर्थं, एवमनेन प्रकारेण मूलगुणे उत्तरगुणे तदुपघातं च अयाणंता, अविशुद्धभोगदोसेण जहा 'आहाकम्मण्णं भंते! भुंजमाणे किं पकरेति किं चिणाति०, विसमा णाम बंधमोक्खा कम्मबंधोवि विसमो, एक्केकं कंममणेग-प्पगारं अणेगेहिं च पगारेहिं बज्झते अतो विसमंति, अकोविका असंबुद्धा इत्यर्थः, ते अयाणगा प्रत्युत्पन्नगृद्धाः अनागतदोषदा-र्शनात् आधाकर्म्मादिभिर्दोषैः कर्म्मबद्धा संसारे दुःखमाप्नुवंति,मच्छा वेसालिया चेव विशालः समुद्रः विशाले भवाः वैशालिकाः-बृहत्प्रमाणाः अथवा विशालिकाः वैशालिकाः, पठ्यते च 'मच्छे वेयालिए चेव' वैताली कूलमिष्यते, लोके सिद्धमेव तदभिधानं, यथा पूर्वा वैताली दक्षिणाऽपरो तरेति सामुद्रकूलोद्भवो, स वैशालिको वैतालीकूलो वा मत्स्यः सामुद्रकैर्वा विग्रहारैर्मत्स्यैश्चान्यैर्बृहद्भिर्बाध्यते स कथंचि देवतातो निरुपसर्गान्निष्कंटकात्समुद्रवेलया निसृष्टकायः यतो, रूढ इव पुमान् परप्रयोगेन अनूह्यमानः सुदूरम-पहृताः उदगस्स अभिआगमेत्ति उदगस्य अभ्यागमो नाम समुद्रान्निस्सरणं, केचित्तु पुनः प्रवेशः, स एवं शरीरसुखाय अज्ञानात्, सूत्रापायात्। उदगस्सप्पभावेन० सिलोगो॥ ६२ ॥ अप्पभावो नाम उदगस्स अल्पभावः, प्रत्यावृत्ते उदगे शुष्का एव वालुका संवृत्ताः पंको वा, अथवा अप्पस्वभावः अप्पभाव, स्तोक इत्यर्थः, स च महाकायत्वात् न तत्र शक्नोति, न परिवर्त्तमानो वा नदीमुखे लग्यते, एवं अप्पकाओ विघातयती घनघातेन वा, घातं करोतीति घंतः, अकर्म्म च कर्म्मकर्तेतिकृत्वाऽपदिश्यते—स्वयमेव असौ घातारं एति प्राप्नोतीत्यर्थः, अथवा घंतो णाम मच्चू तं मच्चुमेति, कैः?, उच्यते—ढंकेहि य कंकेहि य० सिलोगो ॥६२॥ पच्छद्धं, एते चान्ये



॥ ५२ ॥

आमिषाशिनः शृगालिपक्षिमनुष्यमार्जारादयः कर्षंति तत्रैव यदृच्छयावि, केचित्पुनः वीचीमासाद्य वर्द्धमाने चोदके समुद्रमेव विशंति, दुहिति तैस्तीक्ष्णतुण्डैः पिशिताशिभिरस्यमानास्तीव्रं दुःखमनुभवंतो अह(इ)दुहसहा मरंति, एस दिट्ठंतो, एवं तु समणा एगे० सिलोगो ॥६३॥ एवमनेन प्रकारेण वर्त्तमानमेव जिह्वासुखमिच्छंति, अण्णउत्थिया पासत्थादयो वा एगे, समुद्रमुत्तरितुं, अविसुद्धाणि आहारादीणि गवेसंतो जहा मच्छा एगभवियं मरणं पावेंति एवमणेगाणि जाइतव्वमरितव्वाणि पावंति, एवं पासत्थादयोवि जोएयव्वा, इण्णमणं तु अण्णाणं० सिलोगो ॥६४॥ इदमिति जं भणिहामि जहा लोको उप्पज्जति विणस्सति य, इहेति इहलोगे, एगेसिं, ण सव्वेसिं, अथवा एगे णाम न ज्ञानमहा, एतं कहं ?, देवउत्ते अयं लोगे०सिलोगो ॥६५॥ केइ भणंति-देवेहि अयं लोगो कओ, उप्पइत्ति बीजवत् वपितः आदिसर्गे पश्चादंकुरवत् निसर्प्पमानः क्रमशो विस्तरं गतः, देवगुत्तो देवैः पालित इत्यर्थः, देवपुत्तो वा देवैर्जनित इत्यर्थः, एवं बंभउत्तेवि तिण्णि विकप्पा भाणितव्वा, बंभउत्तः बंभपुत्त इति वा। इस्सरेण कते लोगे० सिलोगो ॥६६॥ ईश ऐश्वर्ये, ईश्वरः प्रभुः, स महेश्वरोऽन्यो वाऽभिप्रेतः, तथा प्रधानादन्य इच्छंति, प्रधानमव्यक्त इत्यर्थः, जीवाश्चाजीवाश्च जीवाजीवास्तैः जीवाजीवैः संयुक्तः, सुखं च दुक्खं च सुखदुक्खे स एकीभावेन अन्वितः सुखदुःखसमन्वितः, अनुगत इत्यर्थः, तथाऽन्ये इच्छंति सयंभुणा कते लोगे० सिलोगो ॥६७॥ स्वयं भवतीति स्वयंभूः, स तु विष्णुरीश्वरो वा ब्रह्मा वा इति, वुत्तंति, इतिसद्दो इतिरिति उपप्रदर्शनार्थः, उक्तं कथितमित्यर्थः, महऋषिनाम स एव ब्रह्मा अथवा व्यासादयो महर्षयः, यो वा यस्याभिप्रेतः स तं ब्रवीति महर्षिमिति,एवं यो यस्याभिप्रेतः स स तं तं लोककर्तारमिति। केचित्पुनस्त्रयाणामपि साधारणं कर्तृत्वमिच्छंति, तद्यथा-'एका मूर्तिस्त्रिधा जाता, ब्रह्मा विष्णु०,कारणिका ब्रुवते-विष्णुः स्वर्लोकादेकांशेनावतीर्य इमान् लोकानसृजत्,स एव मारयतीतिकृत्वा

मारोऽपदिश्यते, ततस्तेन मारेण मारणे संसूना माया, एके ब्रुवते-यदा विष्णुणा सृष्टा लोका तदा अजरामरणत्वात् तैः सर्वा एवेयं मही निरंतरमाकीर्णा, पश्चादसावतीवतरां क्रान्ता मही प्रजापतिः (मू)उपस्थिता, **नागार्जुनीयास्तु पठंति**–अनिविट्टिय जीवाणं मही वण्णयते पभुं' ततो से मायांसजुत्तकारलोगस्स भीत्वा ततस्तेन परिभीय स्वयं मह्या विज्ञप्तेन मा भूल्लोकाः सर्व एव प्रलयं यास्यंतीति भूमेरभावात्, तां च भयविह्वलांगीं अणुकंपता व्याधिपुरस्सरो मृत्युः सृष्टः, ततस्ते धर्म्मभूयिष्टाः प्रकृत्याः जीवयुक्ताः मनुष्याः सर्व एव देवेषूपपद्यंते स्म, ततः स्वर्गोऽपि अतिगुरुतरो क्रान्तः प्रजापतिमुपतस्थौ, ततस्तेन मारेण संस्तुता माया, मारो णाम मृत्युः, संस्तवो नाम सांगत्यं, उक्तं हि–मातुपुव्वसंथवः, मृत्युसहगता इत्यर्थः, ततस्तेन मायाबहुला मनुष्याः केचिदेके मृत्युधर्म्ममनुभूय नरकादिषु यथा क्रमंते–उपपद्यंते स्म, उक्तं च–'जानतः सर्वशास्त्राणि, छिन्दतः सर्वसंशयान्। न ते ह्यपकरिष्यंति, गच्छ स्वर्गं न ते भयं ॥१॥" येन वा मारेण संस्तुता माया बितिया तेण लोए असासते। अत्र–**माहणा समणा एगे० सिलोगो** ॥६८॥ माहणा धियारा,समणा सांख्यादयः, एगे, ण सव्वे, अंडात् कृतं ब्रह्मा किलाण्डमसृजत्, ततो भिद्यमानात् शकुनवल्लोकाः प्रादुर्भूताः, एवमेते सर्वेऽपि लोकोप्तवादवादिनः स्वं स्वं पक्षं प्रशंसंतो ब्रुवते–असौ तत्तमकासी य,अयाणंता मुसं वदे,असाविति असावेकः योऽस्मदभिप्रेतः विष्णुरीश्वरो वा, तच्चं नाम असावेव, नान्यो, लोकमकार्षीत्, शेषास्तु लोकोप्तवादमजाणंतो मुसं वदे, अथवा वयं ब्रूमः-ते वराका लोकस्वभावं अयाणंता मुसं वदे, कथं?, जं ते वदंति देवा मणुस्सा तिरिक्खा णारगा सुहिता दुक्खिता राजा युवराजादि सुट्ठाणि वा विग्गहाणि वा सुभिक्खाणि वा दुभिक्खाणि वा सव्वमेतत् विष्णुकृतं, ये वाऽन्ये ते सर्वं अयाणंता मुसं वदे, किंच–जं ते-सएण परियाएण, लोयं बूया कडे सिलोगो ॥६९॥ विधिः–स्वपर्यायो नाम आत्माभिप्रायः अप्पणिज्जो गमकः, य एवं स्वेन

पर्यायेन ब्रुवते लोगस्स कडविधी, विधिविधानं प्रकार इत्यर्थः, तेषामुत्तरं-तत्तं ते णवि जाणंति, तस्य भावस्तत्त्वं लोकसद्भाव इत्यर्थः, यथा उत्पद्यते पलीयते च स्वकर्म्मभिः तत्त्वं न जाणंतीति, उक्तं हि–अणंता जीवघणा उप्पज्जित्ता णिलिज्जंति, एवं परित्तावि इत्यर्थः, कर्म्मभिरुत्पद्यमानः प्रलीयमानश्च, संततीः प्राप्य नायं नासीत् कदाचिदपि, नित्यः दव्वट्ठयाए सासओ, पज्जवट्ठयाए असासओ, अथवा सव्व एवायं उत्तरसिलोगो, तेषां कडवादीनां विप्रसृतानि निशम्य सएण परियाएण बूया लोककडे विहिंति अप्पणियाएणं परियाओ णाम वीतरागागमवक्तव्यता, बूया लोए कडे वा णवित्ति, ते उ सव्वे कुवादिणो, तत्तं ते णवि जाणंति-णायं णासि कयाइवि, तत्त्वं यथा भगवद्भिरुपदिष्टं?, किमुपदिष्टं,'किमिदं भंते! लोकेत्ति पवुच्चति?, पंच अत्थिकाया, तत्थ दव्वओ णं लोगे ण कयाइ णासि जाव णिच्चे' एवं २ भावओ जे जहा भावा-पज्जवा उप्पज्जंति विणस्संति च ते पडुच्च अणिच्चो, पठ्यते च-लोकं बूया कडेति च, चशब्दादकडेत्ति वा, नित्य इत्यर्थः, भावं पडुच्च कडे, किं चान्यत्–ते ह्यसर्वज्ञा नैवं दुक्खं जाणंति ण च दुक्खुप्पायं नैव तंनिरोधं, कथं तर्हि लोकोत्पादं ज्ञास्यंति?, कथं–अमनुण्णसमुप्पायं०सिलोगो ॥७०॥ अमणुण्णो णाम असंजमो, न हि कस्यवि संजमत्वं परिणामिन्यात्मनि क्रियमाणमिष्टं इत्यतः असौ दुष्टासीविषवत् सर्वस्यैवावमन्यः असंजमः, तेषां च यत्पूर्वं नासीत् पश्चाद् ज्ञानं तत्सर्वं दुक्खं, जंपि किंचि सुखसण्णितं तंपि दुक्खमेव, चंक्रमितं दुक्खं पवट्टति आसितं सयं दुक्खं दुधावि वातगत्तणंपि दुक्खं एवमादीणि, पुव्वं णासी पश्चाज्जायंत इति दुक्खानि, तानि चेश्वरकृतानि नास्माभिरिति, त एवं तस्य दुःखस्य समुत्पादमयाणंता किह णाहिंति तं बराका, तर्हि भावना–तद्विधैरात्मा, नैव पूर्वं कृतं, पश्चाद् द्वैतं, ततः तेष्वपि एकं, तद्यथा नाम कृष्यादीनि कर्माणि स्वयं कृत्वा तत्फलमुपभुंजाना ब्रुवते यदस्मत्सु किंचित् कर्म्म विपच्यते तत्सर्वमीश्वरकृतमिति, एवं तस्स दुक्खस्स समुत्पादमयाणंता कह-

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ ५६ ॥

मणिपुणा संसारगता यासवं ज्ञास्यंति ?, संसारदुक्खणीस्मरणोवायं च कहं णाहिन्ति संवरं, भणिया कडवादिणो, तेरासिइया इदाणिं, तेवि कडवादिणो चेव, तेरासिया णाम जेसिं ताइं एक्कवीससुत्ताइं तेरासियासुत्तपरिवाडीए, ते भणंति–सुद्धे अपावए आया० सिलोगो ॥७१॥ तेषां हि यथोक्तधर्म्मविशेषेण घटमानोऽयमात्मा इह सुद्धाचारो भूत्वा मोक्खो, अप्पा एको भवति, अकर्म्मा इत्यर्थः, 'इहे'ति इह लोके मिथ्यादर्शनसमूहे वा स–मोक्षप्राप्तोऽपि भूत्वा कीलावणप्पदोसेण रजसा अवतरति, तस्य हि स्वशासनं पूज्यमानं दृष्ट्वा अन्यशासनान्यपूज्यमानानि च क्रीडा भवति, मानसः प्रमोद इत्यर्थः, अपूज्यमाने वा प्रदोषः, ततोऽपि सूक्ष्मे रागे द्वेषे वाऽनुगतान्तरात्मा शनैः शनैः निर्म्मलपट इव उपभुंजमानः कृष्णाणि कर्म्माणि पयुज्य स गौरवात्तेन रजसाऽवतार्यते, ततः पुनरपि इह संवुडो (इह संवुडे मुणी जाया) भविस्साणं सुद्धे सिद्धीए चिट्ठति इहेति इह आगत्य मानुष्ये च यः प्राप्य प्रव्रज्यामभ्युपेत्य संवृतात्मा भूत्वा, जानको नाम जानक एव आत्मा, न तस्य तज्ज्ञानं प्रतिपतति, यतश्चैतत् शासनं ज्वलति, तत एवं प्रज्वाल्य किंचित्कालं संसारे च स्थित्वा प्रेत्य पुनरपापको भवति, मुक्त इत्यर्थः, एवं पुनरनन्तेनानन्तेन कालेन स्वशासनं पूज्यमानं वा अपूज्यमानं वा दृष्ट्वा तत्थ से अवरज्झति–अवराधो णाम रागं दोसं वा, ततः सापराधत्वात् चोरवत् रागद्वेषोत्थैः कर्म्मभिर्बध्यते, ततः कर्मगुरुत्वात् पुनरवतार्यते, तेनैव क्रमेण शासनं प्रज्वाल्य निर्वाति च, उक्तंच–दग्धेंधनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठम्। मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशूरस्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यं ॥१॥ यतश्चैवं–एतानुवीयि मेधावी० सिलोगो ॥७२॥ एवं त्रैराशिकमते चान्ये प्रागुक्ताः कुवादिनः तैश्च गच्छति स्वच्छंदबुद्धिविकल्पैः पूर्वापराधिष्ठितः मती, न तु चिंत्य, ज्ञात्वेत्यर्थः, नैते निर्वाणायेति, द्रव्यब्रह्मचेरं 'न तं वसे' वसेत्ति ण तं रोएज्जा आयरेज्जा वा, ण वा तेहिं समं वसेज्जा, संसग्गिं वा कुर्यात्

त्रैराशिकाः

॥ ५६ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता.....आगमसूत्र-[०२], अंग सूत्र-[०२] "सूत्रकृत" जिनदासगणि विहिता चूर्णि:

प्रत सूत्रांक ||६०-७५||

दीप अनुक्रम [६०-७५]



ते होहिंति, मा भूत् सेहमति, वुग्गाहेज्जा उक्तं हि-"शंका कांक्षा जुगुप्सा च०" सव्वेवि एते पुढो पावादिया सव्वे अक्खातारो सयं, पुढो णाम पृथक्, यथामति विकल्पशो वा स्वं स्वमिति स्वं स्वं सिद्धान्तं प्रशंसंति परसिद्धान्तं च निन्दंति सए सए उवट्ठाणे०सिलोगो ॥७३॥ स्वे स्वे आत्मीये उपतिष्ठंति तस्मिन्निति उपस्थानं, सिद्धिरिति निर्व्वाणं, एवमवधारणे, नान्यथेति नान्येन प्रकारेण, मुच्यन्ते सर्वा, अन्येषां तु स्वाख्यातं चरणधर्म्मावशेषादिहैवाष्टगुणैश्वर्यप्राप्तो भवति, तद्यथा-अणिमानं लघिमानमित्यादि, अहवा अबोधि होति च वसति, अबोहिनाम अबोधिज्ञानः, वशवर्त्ती नाम वशे तस्येन्द्रियाणि वर्त्तते नासाविन्द्रियवशकः, सव्वकामसमप्पियो णाम सर्वे कामाः समर्पिताः तस्य यथेच्छातः उपनमंते इत्यर्थः, तस्य सर्वकामा अर्प्पिताः, सर्वकामानां वा समर्प्पितः॥'सिद्धा य ते अरोगा य०' सिलोगो ॥७४॥ ते हि रिद्धिमंतः शरीरिणोऽपि भूत्वा सिद्धा एव भवंति, निरोगाश्च, नीरोगा णाम वातादिरोगैरागंतुकैश्च न पीड्यन्ते, ततः स्वेच्छातः शरीराणि हित्वा निर्वांति, एवं 'सिद्धिमेव पुरो काउं सएहिं गढिता णरा' सिद्धिं पुरस्कृत्यैते सिद्धा एव वयं, अनेन वाऽऽचारेण सिद्धिं यास्यामः पूजापुरस्कारकारणात्, हिंसादिषु गढिता णाम मूर्च्छिताः, संसक्तभावात्, तत एवं 'सिद्धाः' सिद्धवादिनः ये चान्ये आश्रवगढिता वादिनः ते "असंवुडा०सिलोगो"॥७५॥ अणादीयं भमिहिंति पुणो पुणो, एतत्कंठ्यं,'कप्पकालुववज्जंति ठाणा असुरकिव्विसा' कल्पपरिमाणः कालः कप्पकालः कप्प एव वा कालः तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानं, आसुरेषूपपद्यन्ते किल्विषिकेषु च, ततो उव्वट्टा अणंतं कालं हिंडंति संसारे । इचेते कुसमये बुज्झेज्ज तिउट्टेज्ज ॥ ततिओ उद्देसो सम्मत्तो १-३॥ उद्देसाऽभिसंबंधो 'किच्चुवमा य चउत्थे' णिज्जुत्तीए उत्तं, किच्चेहिं-कृत्यैरुपमीयंते इत्यतः कृत्युपमाः, सूत्रस्य सूत्रेण सह संबंधने मोक्षार्थमुपस्थितः आत्मनोऽपि तावत् सरणं नो भवति जेण कप्पकालुववज्जंता, किमंग पुनरन्येषां?,





अस्य पृष्ठे प्रथम अध्ययनस्य चतुर्थ उद्देशकस्य आरम्भ:

इत्यतोऽपदिश्यते 'एते जिता भो सरणं०' सिलोगो ॥ ७६ ॥ 'एते' इति य उद्दिष्टाः, श्रयंति तमिति शरणं, 'भो'! इति शिष्यामंत्रणं, जिता नाम विषयकषायैस्ते जिता, न भवंति शरणाय, दुर्बला इत्यर्थः, अथवा एते भो असरणं, परीषहजितत्वात्, अत्तणो य परेसिं च, स्यात्–कथं अशरणाय भवंति?, उच्यते, येन 'बाला पंडियमाणिणो,' अथवा पयणपयावणादिआरंभविहारधण-धण्णगोमहिससयणासणादिपरिच्छंदा, णाणाविधेहिं दुक्खेहिं अभिभूता आत्मनः सरणं मण्णंते ते कथं अण्णेसिं सरणं भविस्संति?, ते असरणे सरणबुद्धिया बाला पंडितमाणिणो, संजमो य भावसरणं, अत्तणो य ताव परेसिं च तं प्रति जिता, जहित्ता पुव्वं संयोगं, के ते?, कुतित्था लिंगत्था य, पुव्वसंयोगो णाम स्वजनधन इत्यादि, तं च हित्वा 'सिता किच्चोवगा' सिता बद्धा इत्यर्थः, सितानां कृत्यानि सितकृत्यानि, तद्यथा–पचनपाचनारंभपरीग्रहादीनि, उपगा नाम योग्याः, अथवा 'सितकृत्योपगा' इति सिता-गृहस्थाः नित्यमेवारंभोपजीवित्वात् असुभाध्यवसिताः पापोपगा भवंति, ततश्च नरकोपगा इति, एत्थ दिट्ठंतो सुइवादिवोद्देणं, अंतरदीवे एक्कस्स भिण्णवाहणियस्स पुव्वपविट्ठस्स उच्छुखाइयस्स समुद्दकूलावस्करस्थाने मुक्कं सण्णं गुलमट्ठियंतिकाऊण भक्षयति, इतरदर्शनं, सब्भावे कथिते णत्थि किंचि सुइत्ति सगिहं चेव हव्वमागते, यतश्चैवं तेण 'तं च भिक्खू परिण्णाय०' सिलोगो ॥ ७७ ॥ 'तदि'ति तेषां आरंभादि सितकृत्योपगत्वं चशब्दात्कुदर्शनग्रहणं अन्यच्च छउमत्थं चउपज्जवं जाणणापरिण्णाए परि-जाणिया (पच्चक्खाणपरिण्णाए) पच्चक्खातुं तदाचारस्य विज्ञं नाम विद्वान् संस्कृतापभ्रंशः न मूर्च्छां तेषु कुर्यात्, यथा एतेवि णिव्वाणाय, अथवा यत्तेषां परैः क्रियते ण तत्थ मुच्छए, अमूर्च्छमान एव च 'अणुकसाए अणुवलीणे' अणुकसायो नाम तणु-कसाओ, यथाऽणुत्वात्परमाणु नोपलभ्यते एवमस्यापि यद्यप्यक्षीणाः कषायाः तथाप्यणुत्वान्नोपलभ्यंते, निगृहीत्वान्नोदीर्यंत इत्यर्थः,

पठ्यते चान्यथा सन्धिः अणुक्कोसे अणुवलीणे, तत्राणुक्कोसो णाम न जात्यादिभिर्मदस्थानैरुत्कर्षं गच्छति, अपलीयते स्म अपलीनः, यो हि जात्यादिरहितः पूर्वमासीत् स नापलीयेत, न गूहयेदात्मानमित्यर्थः, तत आत्मोत्कर्षत्वापलीनत्वे वर्जयित्वा मज्झिमेण मुणि जावए, ण–नोत्कृष्येत् लज्येत इत्यर्थः, अथवा रागद्वेषौ हित्वा तयोर्मध्येन मुनिर्यापयेत्, अरक्तदुष्ट इत्यर्थः, अथवा मध्यमिति 'सपरिग्गहा य सारंभा य०' सिलोगो ॥ ७८ ॥ परिग्रहारंभावुक्तौ प्रथमोद्देशके, 'इहे'ति इहलोके, एके न सर्वे, आहितं–आख्यातं, यदेषामारंभपरिग्रहौ व्याख्यातौ निर्व्वाणाय अतश्चं, साधवस्तद्विपरीतास्तन्मध्ये अपरिग्रहे अणारंभे ज्ञानवान् ज्ञानी भिक्षुः पूर्वोक्तः समंताद् व्रजेत् परिव्रजेत्, स्यादेतत्–अनारंभापरिग्रहवतो अपरिचयस्य च भिक्षोः कथं शरीरयापनाप्रक्रिया स्यादिति ?, नैवाशरीरो धम्मो भवति, ततः उच्यते–'कडेसु घासमेसेज्जा०' सिलोगो ॥७९॥ अथवा जावएत्ति वुत्तं, सा चेयं यापना–कडेसु घासमेसेज्जा, तैरेवारंभपरिग्रहवद्भिः पचमानकैः अर्थाय कृतेषु प्रासुकीकृतेष्वित्यर्थः, ग्रस्यत इति ग्रासः, तेषु कृतवत्सु स भिक्षुर्याचेत, यदुक्तमेषणीयं चरेत्, चर गतिभक्षणयोः, भुंजीतेत्यर्थः, एवमाहारउवधिसेज्जाओवि, तदपि भुंजानाः अगिद्धे विप्पमुक्के य, अगिद्धो अरक्त इत्यर्थः, बायालीसदोसविप्पमुक्कं, एसणं चरेदिति गवेसणा गहणेसणा य गहिताओ, अगिद्धेति घासेसणा, विप्पमुक्केत्ति न तेष्वाहारादिषु ममीकारः कर्त्तव्यः, यत्र वा इष्टो आहारो लभ्यते तत्रापि कुले ग्रामे वा न संगः कार्य इत्यतो विप्पमुक्को य, 'उम्माणं परिवज्जिए'त्ति सपक्खपरपक्खउम्माणपेल्लियं च खेत्तं वज्जेतव्वं, मा भूत्–एवं दोषाः स्युरिति, उवहिसेज्जाहिवि जोइज्जा आदिग्गहणा, किच्चुवमाहिकारो गतो, समयाधिकारोऽनुवर्त्तत एव, लोकस्य च–पाखण्डलोकस्य च तदधिकारेऽनुवर्त्तमाने इदमपदिश्यते लोगावायं णिसामेज्ज०'सिलोगो ॥८०॥ लोका नाम पाषंडा गृहिणश्च, लोकस्य

लोकयोर्वा वादः लोकवादस्तान् 'अनपत्यस्य लोका न संति, गावान्ता नरकाः, तथा गोभिर्हतस्य गोघ्नस्य नास्ति लोकः, तथा जेसिं सुणया जक्खा, विप्पा देवा, पितामहा काया, न लोगदुव्वियड्ढो दुक्खमोक्खा विबोधितुं, तथा पुरुषः पुरुष एव, स्त्री स्त्रीत्येव, तथा पाषंडलोकस्यापि पृथक् तयोरिव प्रवृत्ताः, केषांचित्सर्वगतः असर्वगतः नित्योऽनित्यः अस्ति नास्ति चात्मा, तथा केचित्सुखेन धर्म्ममिच्छंति, केचिद्दुःखेन, केचित् तानेन, केचिदाभ्युदयिका धर्म्मपराः नैव मोक्षमिच्छंति, 'इहे'ति इहलोके आहितं–आख्यातं, पश्यते च 'लोकावादं णिसामेत्ता' णिसामेत्ता–जाणित्ता य ण सद्दहेज्ज, लोकस्वभावो नाम अज्ञानित्वाद्यत्किंचिद्भाषिता, उक्तं च–"एवं स्वभावः खलु एष लोकः, न स्वार्थहानिः पुरुषेण कार्या।"अथ कस्मान्न श्रद्धेया परसमया इति ?, यस्मात्ते 'विपरीयपण्णसंभूया' त्रयाणामपि ज्ञानानां विपरीतया प्रज्ञया संभूताः, उक्तं हि–'मतिश्रुतविभंगा विपर्ययश्च' (तत्त्वा० अ० १ सू०) विपरीतप्रज्ञा संजाता येषां ते विपरीतपण्णसंभूताः, अन्योऽन्यस्य वुइतं अणुगच्छंतीति अण्णोण्णवुइताणुगा, तत्कथं ?, व्यासोऽपि हि इतिहास्यमानो यत् अन्यस्य वचः प्रमाणीकरोति, तद्यथा–अमुकेन ऋषिणा एवं दृष्टमन्येनैवमिति नान्योऽन्यस्य वचनमतिवर्त्तते, प्रायेण हि वार्त्तानुवार्त्तिको लोकः, तथा चोक्तं–"गतानुगतको लोकः," अस्यामेव लोकचिन्तायां केचित्पाषंडा तच्छ्रावकाश्चैवं प्रतिपन्नाः–'अणंते णियते लोए०' सिलोगो ॥८१॥ अनन्तो नाम नास्ति परिमाणमस्य क्षेत्रतः कालतोऽपीति, णितिये नित्य इत्यर्थः, ननु के ?, सांख्याः, तेषां सर्वगतः क्षेत्रज्ञः, कूटस्थग्रहणं यथा वैशेषिकाणां, प्रतिपन्नाः परमाणवः, शाश्वतत्वेऽपि सति णवि सासएत्ति, न तेषां कश्चिद्भावो विनस्यत्युत्पद्यते वा, अन्ये तु ब्रुवते 'अणंते च णितिए लोए' यथा पौराणिकानां सप्त द्वीपाः सप्त समुद्राः क्षेत्रलोकपरिमाणं, कालतस्तु नित्यः, केषांचिदन्तवान्नित्यश्च, एवमेवधारणे, वीरो जावकः, अधिकम्–अन्येभ्यः, सर्वे-



॥ ६० ॥

ग्योऽन्यतीर्थकरेभ्यो वा पश्यत्यधिपश्यति, किंचान्यत्–'अमितं जाणति वीरे' ॥८२॥ न मितं अमितं, का तर्हि भावना?– केषांचित्सर्वज्ञवादिनां अनंतं ज्ञानं सर्वत्राप्रतिहतमिति, अथवा लोकमेव अमितं जाणंति, अमितो नाम अपरिमाणो लोकः, तच्च सर्वज्ञो वीरः तथैव जानाति, अन्ये पुनः सव्वत्थ सपरिमाणं इति, वीरोत्ति,'सर्वत्रे'ति तिर्यगूर्ध्वमधश्चेति क्षेत्रतः, कालतः केषांचिद् दिव्यं वर्षसहस्रं केषांचिदन्यथा, इति उपप्रदर्शनार्थः वीर उक्तः, अधिकं पश्यतीति, एवं यस्य परिमाणमिष्टं स तेनार्थाभिप्रेतेन परिमाणेन, नानन्तलोकमिच्छन्ति, तत्र ये ब्रुवते 'अणंते णितिए लोए' त एवं ब्रुवते–यो हि यथा भावः स तथैवात्यन्तमविकलपो भवति, तद्यथा–यस्त्रसस्त्रस एव स्थावरः स्थावर एव सर्व्वकालं, न त्रसत्वं जहाति न स्थावरत्वं जहाति, एवं देवा देवा एव, मनुष्येषु स्त्रीपुंनपुंसका इति, अथवा यदुक्तं 'लोकावादं णिसामेज्ज' ते च लोकवादा उक्ताः, अथवा स्त्री स्त्री एव, एवं त्रसस्त्रस एव, स्थावरः स्थावर एव, भट्टारगो भणति–मिच्छा एयं, जो जहा सो तहेव, अव्वत्तं भण्णति, अयं तु स्वभावो–'जे केइवि तसा पाणा'सिलोगो ॥८३॥'जे'त्ति अणिद्दिट्ठे णिद्देसे, केचिदिति न सर्वे, त्रसा न स्थावराः, तत्र त्रसतीति त्रसाः तिष्ठंतीति स्थावराः,'परियाए अत्थि से जायं' पर्यायो नाम पर्यायः प्रकार इत्यर्थः, अथ कोऽर्थः, अस्त्यसौ कश्चित् प्रकारः येन ते त्रसा भवन्ति स्थावरा वा, तत्र तावत् त्रसनिर्वर्त्तकानि कर्म्माण्युपचित्य त्रसा भवंति, एवं स्थावरा अपि, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति—त्रसनामउदयेण त्रसं न तु स्थावरोदयनामेन, उक्तं च–'अणिच्चमावासमुविंति जंतवो, परलो० सोच्च समेच्च इंतयं' तथा चोक्तं 'ठाणी विविधा ठाणा०' अन्यचोक्तं 'अशाश्वतानि स्थानानि', यो हि यथाकर्म्मा स तथा भवतीति, तद्यथा–नारगो तिर्यग्मनुष्यो देवो वा, तथा स्त्री पुं नपुंसकं वा, न तु जातिमनुष्योऽस्ति जातिस्त्री वेत्यादि, यतश्चैवं तेनायमन्यः पर्यायो भवतीति वाक्यशेषः, येन ते त्रसा भवन्तीति

स्थावरा वा, किं चान्यत्—इहैव तावद्दासो भूत्वा राजा भवति राजा भूत्वा द्रमकः, तथा बालकौमारयौवनमध्यमस्थाविर्याण्यन्योपमर्देन प्राप्नोति, गतिस्थाननयनासनस्वप्नबोधादयोऽन्येऽपि विशेषा वक्तव्या इति, किंचान्यत्—प्रत्यक्षेण परोक्षं साध्यते, तच्चामी सत्त्वा 'उरालं जगतो जोगं' सिलोगो ॥ ८४ ॥ ओरालं प्रागडं स्थूलं जगतो योगो, तद्यथा—गर्भबालकौमारयौवनमध्यमस्थाविर्याण्योरालाणि प्रागडानि जुज्जंति विजुज्जंति, तथा च तस्मिन्नेव वयसि कश्चिद्दासो भूत्वा राजा भवति, ईश्वरश्च भूत्वा निर्द्धनो भवति, 'अस भुवि' विपरीततामेवैति विपर्यासः, विपर्यासेन प्रलीयन्ते, अन्यथाभावगमणेनेत्यर्थः, चशब्दान्न सर्वथा प्रलीयंते, द्रव्यतो हि अवस्थिता एव, अनेन प्रत्यक्षदृष्टेन सामान्येनानुमानेनैव साध्यन्ते, यथेह जातिस्मरणाद्वा बहवो विशेषा दृश्यन्ते एवं भवान्तरगतस्य अप्रत्यक्षाः, गतिकायेन्द्रियलिंगवत्रसस्थावरराजयुवराजईश्वरादिदासभृतकद्रमकादयश्चोत्तमाद्याः विपर्यासाः, भवान्तरेष्वपि प्रत्येतव्याः, एते तु प्रत्यक्षपरोक्षाः तांस्तान् पर्यायविशेषान् परिणमंतः 'सव्वे अक्कंतदुक्खा य' सर्व्वे इत्यपरिशेषाः कान्तः प्रिय इत्यर्थः न कान्तमकान्तं दुक्खं अनिट्ठं अकामं अप्पियं जाव अमणामं दुक्खं, अनुकूलमपि चैतत् ज्ञायते, तथा सव्वे इट्ठा सुभा कंता सुभा जाव मणामा सुभा 'अत' इति अस्मात्कारणात् अहिंसगाः, एवं ज्ञात्वा सर्वसत्त्वान्यस्य साधोरहिंसनीयानि, किं कारणं ?, तदुच्यते–'एवं खु णाणिणो सारं' सिलोगो ॥ ८५ ॥ 'एतदि'ति यदुक्तमुच्यते वा सारं विद्धीति वाक्यशेषः, यत्किं ?, उच्यते, जे ण हिंसति किंचणं, किंचिदिति त्रसं स्थावरं वा, अहिंसा हि ज्ञानगतस्य फलं, तथा चाह–'योऽधीत्य शास्त्रमखिलं०' एवं खु णाणिणो सारं जं ण भासे अलियपयं, एवं अदत्तं, मेहुणं, परिग्गहं च, जं च रागादि अज्झत्थदोसे विवज्जेति तदप्युच्यते एवं खु णाणिणो सारं, स्यात्किं कारणं सत्त्वा न हिंसनीया ?, उच्यते–'अहिंसा समयं चेव' अहिंसासमयो नाम

॥ ६२ ॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ ६३ ॥

तुल्यता, यथा मम दुक्खमप्रियं एवं सव्वसत्त्वानां, एतां अहिंसां समतामात्मनः सर्वजीवैः एतावन्तं वियाणिया न हिंसति कंचनमिति वर्त्तते, एतावांश्च ज्ञानविषयः यदुत सर्वत्र समया भाव्येति, तथा मृषाऽदत्तादानादिष्वपि आश्रवेषु यथासंभवमायोज्यमिति, उक्ता मूलगुणाः, उत्तरगुणसिद्धये व्यपदिश्यते 'वुसिए य विगतगेही आयाणं'सिलोगो ॥८६॥'वुसिते'त्ति स्थितः, कस्मिन् ?, धर्म्मे, विगता गृद्धिरिति अलुब्धः, 'आदिरंत्येन सहिति'त्ति अकुद्धः अमानः अमायावी, पश्यते अकसायी, सदाधिगतबोधी, कषायाः क्रोधाद्याः, गृद्धिर्लोभः, एगग्गहणे गहणमिति 'आदिरन्त्येन सहितेति' वा गृद्धिग्रहणात्सर्वे आकुष्टाः,'**आदाणं सारक्खए**'त्ति आत्मानं सारक्खति असंजमाओ, आदीयत इत्यादानं–ज्ञानादि, तं सारक्खति मोक्खहेतुं, किं ?–'**चरियासणसेज्जासु भत्तपाणे य अन्तसो**' सारक्खति इति वर्त्तते, चरियत्ति इरियासमिति गहिता, चरियाए पडिवक्खो आसणसयणे, एत्थ आदाणं सारक्खति, अथवा चरियागहणेण समिईओ गहिताओ, आसणसयणगहणेण कायगुत्ती, एकग्गहणेणं गहणंतिकाऊण मणवइगुत्तीओवि गहिताओ, भत्तपाणग्गहणेण एसणासमिई, एवं आदाणपरिट्ठावणीयाई सूइयाओ, 'अन्तस' इति जाव जीवितान्तः। 'एतेहिं तिहिं ठाणेहिं' सिलोगो ॥ ८७ ॥ 'एतानी'ति यान्युक्तानि इरिया एगं ठाणं आसणसयणंति विइयं भत्तपाणेति तईयं, अहवा एतेसु चेव इरियाइगेसु मणोवयणकाएणं, अहवा इरियं मोत्तूण सेसेसु उग्गमउप्पायणेसणासु संजमेज्ज सया मुणी, सदा–सर्वकालं। इयाणिं एतेसु संजमंतो इमानन्यानध्यात्मदोषान् परिहरेत्, तद्यथा–'उक्कोसं जलणं णूमं' सिलोगो ॥ ८८ ॥ उक्कसतेऽनेनेति उक्कोसो–मानः, ज्वलत्यनेनेति ज्वलनः–क्रोधः, नूमं णाम अप्रकाशं माया, अज्झत्थो णाम अभिप्रेतः, स च लोभः, स एवं परसमयाः, न सद्भाव इति मत्वा सम्यग्दृष्टिज्ञानवान् यथोक्तेषु मूलोत्तरगुणेषु यतमानः '**समिते तु सदा साधू**' सिलोगो

समतादि

॥ ६३ ॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ ६४ ॥

॥ ८८ ॥ समिते तु तेषामेवोत्तरगुणानां पूर्वोक्तानां परिसमाननं क्रियते सदा–नित्यं, तुर्विशेषणे, साधयतीति साधुः, पंचासंवराः प्राणातिपाताद्याः तत्संवृतत्वान्न पापमादत्ते इति, स एवं संवृतत्वात् सितेहिं असिते भिक्खू, सिता बद्धा इत्यर्थः, गृहिकुपाषंडादिभिर्गृहकलत्रमित्रादिभिः संगैः सिताः तेषु सितेष्वसितः, अबद्ध इत्यर्थः, तैर्याच्यमानः तानाश्रितो वा अणसितः, एवं कथं?, उक्तं हि 'जणमज्झेवि वसंतो एगंतो०' आङ् मर्यादाभिविध्योः परि समंतात् आदिमध्यावसानेषु यावन्न मुच्यसे ताव आमोक्खाए परिवएज्जासित्ति बेमि शिष्योपदेशो। गतः सूत्राणुगमो, इदाणिं णया–'णायम्मि गिण्हिअव्वे०'गाथा ॥ ॥ 'सव्वेसिंपि णयाणं०' गाथा ॥ ॥ इति श्री सूत्रकृतांगे समयाख्यं प्रथमाध्ययनं समाप्तं ॥

अज्झयणाभिसंबंधो ससमयगुणे णाऊण परसमयदोसे य ससमए जयमाणो कम्मं विदालेज्जासित्ति **वेयालियज्झयणमागतं**, तस्सुवक्कमादि चत्तारि अणुयोगद्दारा, अज्झयणत्थाधिकारो कम्मं वियालियव्वंति, उद्देसत्थाधिकारो पुण "**पढमे संबोधि अणिच्चया य**" गाहा ॥ ४० ॥ पढमे उद्देसए हिताहिता संबुज्झितव्वं अणिच्चता य 'डहरे बुड्ढे य पासधा' एवमादि, बितिए उद्देसए 'माणवज्जणता' माणो वज्जेयव्वो,'जे यावि अणायए सिदा' एवमादि,"**उद्देसम्मि ततिए**"गाहा॥४१॥ततिए मिच्छत्तादिचितस्स कम्मस्स अवचयो '**संवुडकम्मस्स भिक्खुणो**' एवमादि, णामणिप्फण्णे णिक्खेवे वेयालियंति तत्थ गाथा ॥ **वेयालियंमि वेयालगो य वेयालयं वियालणियं । तिण्णिवि चउक्कगाइं वियालगो एत्थ पुण जीवो** ॥३६॥ तत्थ वेतालिगो णामादि चतुर्विधो, णामठवणाओ तहेव, दव्ववेयालगो जो हि जं दव्वं वेयालियंति रथकारादिः, भावे णोआगमतो भाववियालगो साधुः, जीवो कम्मं विदालयति कम्मं वा जीवं, विदालणंपि णामादि चतुर्विधं, तत्थ गाथा "**दव्वं च परसुमादी**" गाथा ॥३७॥ विदा-

समतादि

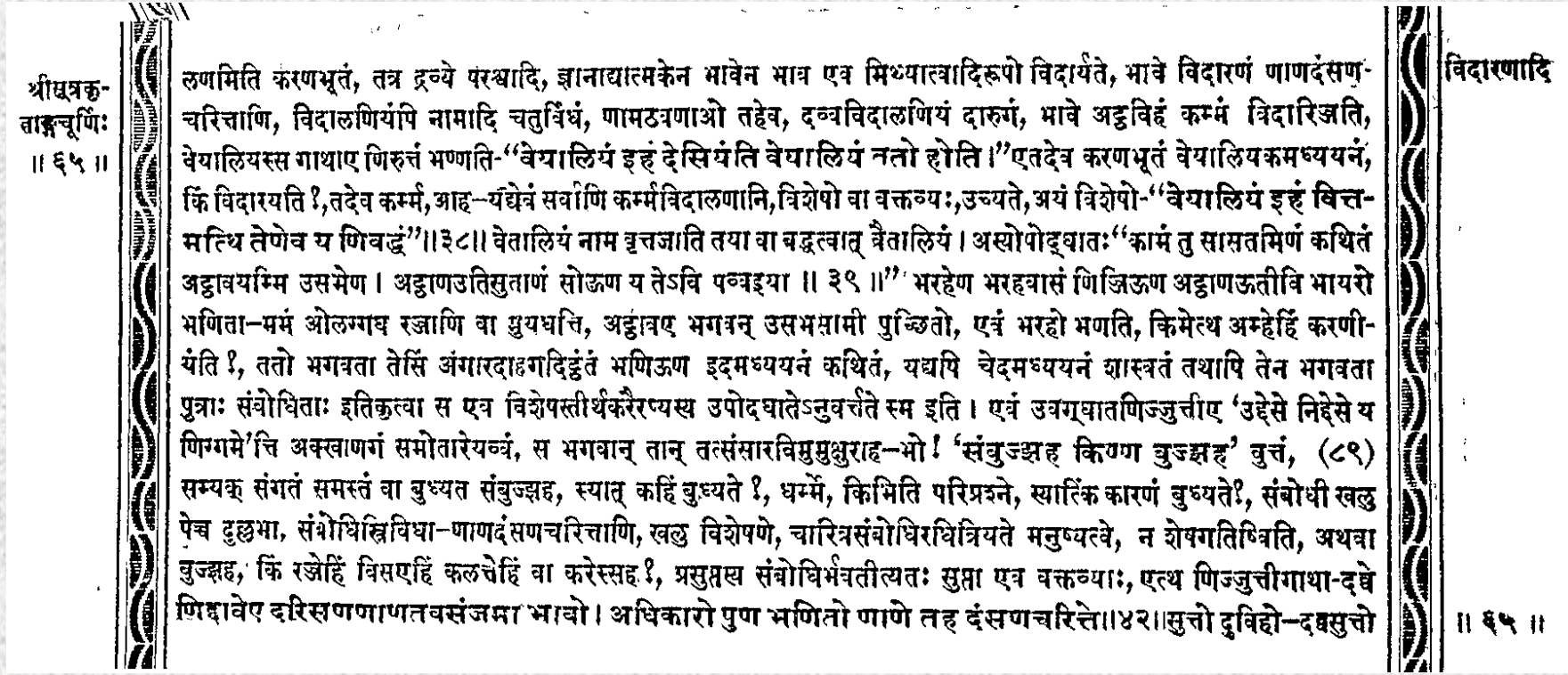
॥ ६४ ॥

अस्य पृष्ठे द्वितिय अध्ययनस्य आरभ्यते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता.....आगमसूत्र-[०२], अंग सूत्र-[०२] "सूत्रकृत" जिनदासगणि विहिता चूर्णि:

प्रत सूत्रांक ||८९-११०||

दीप अनुक्रम [८९-११०]



श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ ६५ ॥

लणमिति करणभूतं, तत्र द्रव्ये परश्वादि, ज्ञानाद्यात्मकेन भावेन भाव एव मिथ्यात्वादिरूपो विदार्यते, भावे विदारणं णाणदंसण-चरित्ताणि, विदालणियंपि नामादि चतुर्विधं, णामठवणाओ तहेव, दव्वविदालणियं दारुगं, भावे अट्ठविहं कम्मं विदारिज्जति, वेयालियस्स गाथाए णिरुत्तं भण्णति-"वेयालियं इहं देसियंति वेयालियं ततो होति।"एतदेव करणभूतं वेयालियकमध्ययनं, किं विदारयति ?,तदेव कर्म्म,आह–यद्येवं सर्वाणि कर्म्मविदालणानि,विशेषो वा वक्तव्यः,उच्यते,अयं विशेषो-"वेयालियं इहं वित्त-मत्थि तेणेव य णिबद्धं"॥३८॥ वेतालियं नाम वृत्तजाति तया वा बद्धत्वात् वैतालियं। अस्योपोद्घातः"कामं तु सासतमिणं कथितं अट्ठावयम्मि उसमेण। अट्ठाणउतिसुताणं सोऊण य तेऽवि पव्वइया ॥ ३९ ॥" भरहेण भरहवासं णिज्जिऊण अट्ठाणऊतीवि भायरो भणिता–मम ओलग्गह रज्जाणि वा मुयधत्ति, अट्ठावए भगवन् उसभसामी पुच्छितो, एवं भरहो भणति, किमेत्थ अम्हेहिं करणी-यंति ?, ततो भगवता तेसिं अंगारदाहगदिट्ठंतं भणिऊण इदमध्ययनं कथितं, यद्यपि चेदमध्ययनं शास्वतं तथापि तेन भगवता पुत्राः संबोधिताः इतिकृत्वा स एव विशेषस्तीर्थकरैरप्यस्य उपोदघातेऽनुवर्त्तते स्म इति। एवं उवग्घातणिज्जुत्तीए 'उद्देसे निद्देसे य णिग्गमे'त्ति अक्खाणगं समोतारेयव्वं, स भगवान् तान् तत्संसारविमुमुक्षुराह–भो! 'संबुज्झह किण्ण बुज्झह' वुत्तं, (८९) सम्यक् संगतं समस्तं वा बुध्यत संबुज्झह, स्यात् कहिं बुध्यते ?, धर्म्मे, किमिति परिप्रश्ने, स्यात्कं कारणं बुध्यते?, संबोधी खलु पेच्च दुल्लभा, संबोधिस्त्रिविधा–णाणदंसणचरित्ताणि, खलु विशेषणे, चारित्रसंबोधिरधित्रियते मनुष्यत्वे, न शेषगतिष्विति, अथवा बुज्झह, किं रज्जेहिं विसएहिं कलत्तेहिं वा करेस्सह ?, प्रसुप्तस्य संबोधिर्भवतीत्यतः सुप्ता एव वक्तव्याः, एत्थ णिज्जुत्तीगाथा-दव्वे णिद्दावेए दरिसणणाणतवसंजमा भावो। अधिकारो पुण भणितो णाणे तह दंसणचरित्ते॥४२॥सुत्तो दुविहो–दव्वसुत्तो

विदारणादि

॥ ६५ ॥

अस्य पृष्ठे द्वितिय् अध्ययनस्य प्रथम उद्देशक: आरभ्यते

भावसुत्तो य, तत्थ दव्वसुत्तो दुविहो–उवचारसुत्तो णिद्दासुत्तो य, उपचारसुप्तः पतित ओदकः, निद्रासुत्तो नाम निद्रावेदोदयाविष्टः स्वपिती, पञ्चानामपि विषयाणां तत्कालमावत्तो, भावसुप्तस्तु ज्ञानादिविरहितः अज्ञानी मिथ्यादृष्टिरचारित्री च, जो दव्वसुत्तो सो भावओऽवि भतिओ, एवं जागरिओवि, द्रव्यजागरिता भावसुप्तेन चाधिकारः। स्यात् कथं संबोधि दुल्लभा ?, उच्यते,'माणुस्स देसकुलकाला' गाथा ॥ इतश्च संबोद्धव्यं धर्म्मे यस्मात् 'णो हूवणमंति रातिओ णो सुलभं पुणरावि जीवियं,' नद्यतिक्रान्तरात्रयः पुनरुपनमंते, कथं ?, न हि बालरात्रयो यौवनरात्रयो वाऽतिक्रम्य पुनरुपनमंते, का तर्हि भावना ?, न वृद्धो भूत्वा पुनरुत्तानशायी क्षीराहारो बालको भवति, नवा शिल्पककलाग्रहणसमर्थः कुमारको रक्तगंडमंसु भवति, नवाभिनवश्मश्रुभूषिताधरोष्ठकपोलः कामभोगोल्वणमना युवा भवति, अत्रोदाहरणं लौकिकं, नन्दः किल मृत्युदूतैराकृष्ट आह–कोटीमहं दद्यां यद्येकाहं जीवेत्, तथापि न लब्धवान्, इत्यतः णो सुलभं पुणरावि जीवितं, जहण्णेणं अंतोमुहुत्ताऊहि उक्कोसेणं पुव्वकोडीआयुगेहि अहियारे ऊहिए एत्थंतरे कस्सइ उपक्कमो होज्ज, तं पुण जिण्णं ण सक्कति पुणो वड्ढावेतुं, सदोपक्रमोऽनियतो, तद्यथा "डहरा वुड्ढा य पासधा गब्भत्था य चयंती माणवा" (९०) मनोरपत्यानि मानवाः, मानवग्रहणेन मनुष्याणां कथ्यते, अथवा सर्व एव मानवाः अपदिश्यंते, 'सेणे जह वट्टयं हरे' 'यथे'ति येन प्रकारेण, वट्टगा नाम तित्तिरजातित ईषदधिकप्रमाणा उक्ता वार्तकाः, एवमवधारणायां, आयुषः क्षयः आयुःक्षयः, स तु उपक्रमादन्यथा वा 'तुट्टइ'त्ति त्रुट्यते जीवः शरीरात् वा शरीरं जीवात् अथ मनुष्यजीवितात्तुट्यति स्वजनादिभिर्वा, योऽपि नाम कश्चित्स्वजनप्रमत्तो न बुध्यते यथा मातापितरौ मे वृद्धौ, ताभ्यां मृताभ्यां धर्म्मं करिष्यामीति, एतदप्यकारणं, कथं ?, तर्हि उच्यते–'माताहि पियाहि लुप्प' वृत्तं (९१) मातृभ्य इति सर्वमातृग्रामो

सुप्तादि

॥ ६६ ॥

गृह्यते, पितृभ्य इति पितृग्रामः, लुप्यत इति छिद्यते तेषु जीवात्, स्वयं कदाचित् पूर्वतरं म्रियते, न च सैव माताऽन्यत्रापि भवति पिता वा, अथैकेन्द्रियादिषु प्रक्षिप्तः नैव मातापितृसंबंधं लभते, न वा सुगतिः प्रेत्य सुलभा भवति, सुगतिर्नाम सुकुलं, प्रेत्य योनिस्थितिरेव, नागार्जुनीयास्तु पठंति 'माता पितरो य भायरो विलमेजसु केण पच्चए' नारकदेवैकेन्द्रियासंज्ञिषु च, यतश्चैवं तेण एताणि भयाणि वेहिया एतानि यान्युक्तानि–णो हूवणमंति राइओ, पेक्खिया–देहिया पस्सिया, आरंभो नाम असंयमः अनुक्तमपि ज्ञायते, परिग्रहाच्च, कथं ?, आरंभपूर्वको परीग्रहः, स च निरारंभस्य न भवती ततः आरंभग्रहणं, स्यादारंभादनिवृत्तस्य को दोषः ?, उच्यते, 'जमिणं जगति पुढो जगा' वृत्तं ॥ ९२ ॥ 'यदि'ति यस्मात्कारणात् अस्मिन् जगति, पुढो नाम पृथक्, कम्मेहिंति यथाकर्म्मभिः लुप्यंति नरकादिषु विविधैर्दुःखैर्लुप्यते, सर्वसुखस्थानेभ्यश्च्यवंते, किंच–'सयमेव कडे मि(व)गाहतु' ण इसरादिकतं एव, येन यथा कर्म्म कृतं असंबंधिदोषात् अष्टप्रकारं आत्मनि अवगाहति, आत्मा कर्म्मसु वा, अकारलोपं कृत्वा तमेव अवगाहति 'णो तेण मुच्चेज्ज अपुट्ठवं' नासौ तेण–कर्म्मणा मुच्यतेऽस्पृष्टमस्यास्तीति, आह हि 'पावाणं च भो ! कडाणं कम्माणं' किंच-न केवलमिहानित्यता भवति, अन्यत्रापि एषा भवत्येव, तथा 'देवा गंधव्वरक्खसा असुरा' वृत्तं (९३) अथवा मा भूत्कश्चिदेव-सुखेषु संगं करिष्यतीत्यतस्तदनित्यताज्ञापनार्थं अपदिश्यते 'देवा गंधव्वरक्खसा' देवग्गहणात् वाणमंतरभेदो, असुराणां प्रतिपक्षः, सुरा वैमानिकाः, भूमिगता असुरा एव, अथवा भूमिगता भूमिजीवा एव, अथवा भूमिगताः सरिसृपा गृह्यन्ते, इहापि च 'राया णर सेट्ठि माहणा' राजानः-चक्रवर्त्त्याद्याः नरा-पृथग्जनाः सेट्ठिणो-णेगमाद्या, अधिपास्तु अधिकं पांतीत्यधिपाः, ते तु मंत्रिमहामंत्रिगणक-दौवारिकादयः, माहनग्रहणात् जातिभेदः, त एते सर्व्व एव स्वस्थानेभ्यश्च्यवंते, दुःखिता नाम, नवा स्यात्कस्यचिन्मरणमिष्टं, उक्तं

च 'मरणमिति महद्भयं' तदपि च कालवशेन किं ?, येऽपि कामनिमित्तेनोद्यमंते तान् प्रत्युपदेशः, 'कामेहि य संथवेहि य' वृत्तं(९४) एत्थ इच्छाकामा अप्पत्थिच्छाकामा मयणकामा य, अविशिष्टा वा शब्दादयः, कामोपग्रहाश्च स्त्र्यादयः संस्तुता वर्त्तन्ते, अथवा संस्तुता इति पूर्वापरसंस्तवो गृह्यते, स एवं तेभ्यः कामेभ्यः संस्तवेभ्यश्च 'कम्मसहि'त्ति कर्म्मभिः सह तुल्यतीति, कोऽर्थः ?, न ते कामाः संस्तुताश्चैनं गच्छंतमनुयास्यंति, 'कालेने'ति सोपक्रमेणान्यतरेण वा, जायंत इति जन्तवः, 'ताले जह बंधणच्चुतो' ताले जातं तालं, तालं हि गुरुत्वाद् दूरपाताच्च शीघ्रं पततीत्यतस्तद्ग्रहणं, तालस्यापि द्विधा पातः—उपक्रमात् कालेन च, एवं आउक्खएवि तुट्टति जीवोऽपि सोपक्रमेणान्यथा वा, किंच—न केवलं कामेषु संस्तुतेषु च सत्त्वा गृहिणस्तावत् पढंति, अन्येऽपि हि तथैव, तंजहा— 'जे यावि भवे बहुस्सुता धम्मिय माहण भिक्खुए' ॥८५॥ बहुस्सुया धर्म्मे नियुक्तो धार्मिकः, बृहन्मना ब्राह्मणः, भिक्षणसीलो भिक्षु, सुचिरिति यथावत्स्वधर्म्मव्यवस्थितः, परिव्राजको वा, 'अभिनूमकरेहि मुच्छिया' नूमं नाम कर्म माया वा, अभिमुखं नूमीकुर्वन्तीति अभिनूमकरा—विषयास्तेषु मूर्च्छिता—गृद्धा, लोभो गृहीतः, एगग्गहणे गहणंति सेसकसायावि गहिता, कथं तं नेच्छंति ?, पत्थंति पत्थिज्जंति चैं अण्णेहिं तेहिं आहारादिसु कामेसु सत्त्वाः, इह च परत्र च तीव्रमेव तदुपचितैः कर्म्मभिः कृत्यन्ते कामजनितैरित्यर्थः, स्यात्—कथं ते कर्म्मभिरेव कृत्यन्ते न निर्वान्त ?, उच्यते, 'अथ पास विवेगमुट्ठिते' वृत्तं ॥ ९६ ॥ 'अथे'ति प्रकृतिअपेक्षं, अथवा कर्म्मविवागो यत्र, किं न पश्यसि विवेगमुट्ठिते ?, विवेगो नाम स्वजनगृहादिभ्यः प्रव्रज्यास्थानमन्यतरं, अथवा कर्म्मविवागो यत्र स्थिताः कर्म्मनिर्वाणायेत्यर्थः, विविधं तीर्णा वितीर्णा न वितीर्णा अवितीर्णा न कामभोगाभावतीर्णा, 'इह' अस्मिँल्लोके, अथवा इहेति पूरणार्थः, धुतं णाम येण कर्म्माणि विधूयन्ते, वैराग्य इत्यर्थः, चारित्रमपि, केचिद्भणंति—

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ ६९ ॥

वयं स्वतः विरता, विरताः अपापकर्म्माणः, अथवा अपि संभावने, तीर्था अपि गृहादिसंग्रंथं केवलं भाषंते, न तु कुर्वन्ति, स एवं भाषमाणः पाखंडी पाखंडगणो वा, अणेगेसु च एकादेशो भवत्येव 'णाहिसि आरं कतो परं' ज्ञास्यति आरं–गृहस्थत्वं परं–प्रव्रज्या, किमुक्तं भवति–न त्वं जानीषे, कैः–किर्म्मभिः गृही भवति प्रव्रजितो वा, अजानन् कथं कुशलानि वेत्स्यसि ?, अथवा आरमित्ययं लोकः परस्तु परलोकः, अयं सौत्रोऽर्थः–आरः–संसारः परो–मोक्षः, तदिति आरं पारं वा न ज्ञास्यति, कुतः?–कुमार्गाश्रयात्, अथवा 'ण णाहिसि' त्ति न जानिष्यसि मोक्षमात्मानं परं वा, तत्रात्मा आरं परं पर एव, अथवा णाहिसि गिही ण पव्वइओ, आरो पव्वइओ, आरो गृही परः प्रव्रजितः, वेहासं नाम अंतरालं, न गृहित्वे नापि श्रामण्ये, अंतराले वर्त्तते, ते हि आहारादिषु सक्ता इह परत्र च तीव्रमेव तदुपचितैः कर्म्मभिः कृत्यन्ते, कामजनितैरित्यर्थः, आह–एते तावदवितीर्णत्वात् मा भवन्निर्वाणाय, अथ ये इमे उद्दंडिकाः चूर्णिकादयश्च एते कथ न तन्निर्वाणाय ?, उच्यते, "जइवि णिगिणे किसे चरे" वृत्तं ॥९७॥ यदित्यभ्युपगमे णिगिणो नाम नग्नः, कृशस्तपोभिर्निष्टप्तत्वाद् आतापनादिभिः, मासो संख्यातप्रतिभाग इतिकृत्वा मासस्य अंते सकृद्भुक्तं इति मासान्तशः 'चउत्थछट्ठट्ठमदसमदुवालसमेहिं' स एवं निष्टप्तशरीरोवि 'जे इह मायादि मिज्जति' अणिद्दिट्ठणिद्देसा माया आदिर्येषां कषायाणां, आदीयत इत्यादिः, माङ् माने, कथं ?, मीयते, पूर्यत इत्यर्थः, मायादीनां कषायाणां योजनं, अथवा मीयत इति–यथा धान्यस्य कुडो मीयते एवं मायादिभिः कषायैः स मीयते, पूर्यत इत्यर्थः, स एवं कषायाणामाकंठं मितः मरणमितो 'आगंता गब्भादणंतसो' आगमिष्यतीति आगंता, गर्भः आदिर्यस्य संसारक्रमस्य भवति स गर्भादिः, तद्यथा–गर्भप्रसवबाल्यकौमारयौवनमध्यमस्थाविर्यमरणनरकदुःखान्त इति, उत्तीर्णस्य च नरकात् स एव ध्रुवः, पुनः स एव क्रम इति,

आरपारादि

॥ ६९ ॥

यतश्चैवं मिथ्यादर्शनोपहतं तपोपि न दुर्गतिनिवारकमित्यतो मदर्शितमार्गमास्थाय "पुरुसोरम पावकामुणा" वृत्तं ॥ ९८ ॥ पुरि शयनात् पुरुषः, हे पुरुष! पुरुषा वा उपेत्य उवरम–उपरम पावानि–प्राणातिपातादीनि मिच्छादंसणसल्लंताणि अट्ठारस ठाणाणि, स्यात् कामभोगजीवितनिमित्तं नोपरमसि इत्यतोऽपदिश्यते 'पलियंतं मणुयाण जीवितं' परि–समंतात् आदियति जीवितस्य परं वर्षशतं, अथवा प्रलीयं–कर्म्म यावदायुर्निर्वर्त्तिं तत्परिक्षयान्तं, अथवा यस्यान्तोऽस्ति तत्प्राप्तमेव वेदितव्यमिति, आह हि दूरस्थमपि भावित्वात् आगतमेव, तथा उदधीन्यपि दिव्युषितो, जे पुण असंजमजीवितेण कलत्रादीपंकावसन्ना 'इह' मनुष्यलोके शब्दादिविषयेषु 'मूर्च्छिता' अध्युपपन्ना 'मोहं जंति नरा असंवुडा' मोहो नाम कर्म्म तं जंति, मोहतश्च गर्भजन्ममरणादिः स एव संसारक्रमः, असंवुडा हिंसादिएहिं इंदिएहिं वा, यतश्चैवं तेन 'जयतं विहराहि जोगवं' वृत्तं ॥९९॥ जययं नाम गामे एगराईयं नगरे पंचराइयं यत्नतः, योगो नाम संयम एव, योगो यस्यास्तीति स भवति योगवान्, जोगा वा जस्स वसे वट्टंति स भवति योगवान्, णाणादीया, अथवा योगवानिति समितिगुप्तिषु नित्योपयुक्तः, स्वाधीनयोग इत्यर्थः, यो हि अन्यत् करोति अन्यत्र चोपयुक्तः स हि तत्प्रवृत्तयोगं प्रति अयोगवानेव भवति, लोगेऽपि च वक्तारो भवंति–विमना अहं, तेन मया नोपलक्षितमित्यतः स्वाधीनयोग एव योगवान्, स्यात्-किमर्थं नित्योपयोगः?, उच्यते,'अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा'अणवः प्राणा येषु ते इमे भवंति अणुपाणा–सूक्ष्माः, यदुक्तं भवति तानविराधयद्भिः, दुःखेन उत्तीर्यन्त इति दुरुत्तराः, अतः अणुपत्थि पाणा अणुपत्थि बीयहरितादि,'अणुसासणमेव परक्कमे' अनुशास्यतेऽनेनेत्यनुशासनं–सूत्रं तद्यथा सूत्रोपदेशेनानुशास्यते यच्चाचार्यैस्तदन्तरा अननुशासनमेव पराक्रमेः–भृशं क्रमेः, स्यात्केनेदमनुशासनं?, उच्यते, 'वीरेहिं सम्मं पवेदितं' नित्यमात्मनि–गुरु-

पुरुषेषु च बहुवचनं, तेन वीरेहिं, सम्मं पवेदितं, अथवा सर्वं एवार्हन्तो वीरास्तै प्रवेदितं, स्यादेतत्, के वीरा इति?, उच्यते, 'वीरा विरता हु पावका' वृत्तं ॥१००॥ यो विरतः स वीरः, कुतो?, पापात्, अथवा विराजमानाः विदालयंतीति वा वीराः—सम्यगुत्थिताः संजमसमुट्ठाणेणं, स्यात्किं पापकं यतस्ते विरताः?, उच्यते, 'कोधकातरियादीपीसणा' कातरिया णाम माया, क्रोधग्गहणात्मानोऽपि गृहीतः, कातरियाग्रहणाल्लोभः, पीषणा णाम क्रोधकातरिकादयः कषायाः किं पीषयंति? ज्ञानदर्शनचारित्राणि, अथवा त एव वीराः पीषणा, पीसणा दव्वे भावे य, दव्वे कुंकुमादि पसत्थदव्वपीसणा, वप्पादि अप्पसत्थपीसणा, भावे पसत्थभावपीसणा य अप्पसत्थभावपीसणा य, अपसत्थभावपीसणेहिं अहिकारो, त एवं पीसणा 'पाणे ण हणंति सव्वसो' सव्वसो नाम सव्वप्पकारेण योगत्रिककरणत्रिकेण, पापं नाम कर्म्म, येन च हिंसादिकर्म्मणा तत्पापं बध्यते तस्मिन् कारणे कार्योपचारं कृत्वाऽपदीश्यते 'पापाओ विरताभिणिव्वुडा' अभिमुखं णिव्वुडा अभिणिव्वुडा अभिप्रसन्नाः, यथोष्णमुदकं सीतं भूतं णिव्वुडमित्यपदिश्यते एवं, अथवा कषायोपशमाच्छीतीभूता अभिनिव्वुडा वुच्चंति, स्यात् तस्याभिनिर्वृत्तात्मनः साधोः परीषहोपसर्गाः प्रादुर्भवेयुः, ततस्तेन इदमालंबनं कृत्वा अहियासेतव्वं 'णावि ता अहमेव लुप्पए' वृत्ते ॥ १०१ ॥ नाहमेक एव शीतोष्णदंशमशकादिभिः परीषहोपसर्गैर्लुप्येत्ति, अन्नेऽवि असंयता पुत्रदारभरणादिभिः क्लेशैर्लुप्यन्ते, तथा च चौरपारदारिकादयः पराधीना लुप्यन्ते, अनपराधिनोऽपि कर्षकादयः करभरविष्टयादिभिरुपक्लेशैर्लुप्यन्ते, 'एवं सहिते' एवम्—अनेन प्रकारेण, सहिते णाणादीहिं, आत्मनो वा हितः सहितः, अधिकं पृथग्जनान् पश्यति अधिपश्यति, अनिहो नाम परीषहोपसर्गैर्न निहन्यते, तवसंजमेसु वा संतपरक्कमं ण णिहेति, 'से' इति णिद्देशे स एव भिक्षुः, कथंचित्परीषहोपसर्गैः स्पृश्यते ततः सो पुट्ठोऽधिया-



॥ ७१ ॥

सए, अकारलोपो द्रव्यः, स एवं परीषहसहिष्णुः "धुणिया कुलियं च लेववं" वृत्तं ॥१०२॥ धुणिया णाम धुणेज्जा कम्मं, कथं ?, जहा करणकुड्डं उभयोपासे लित्तं चिरेण कालेण जुण्णलेवं, सततं लिप्पंते व जोगं वा लेईमं, उपमाने वति,'कसए'त्ति कृशं कुर्यात्, दिह्यत इति देहः यथा कुड्डं लकुटादिभिः प्रहारैः लेपापगमात् कृशीभवति एवं साधुरनशनादिभिः तपोविशेषैः कृशं देहं कुणंति, देहे च सम्यक्तपोभिरेवं कृश्यमाणे कर्म्मदेहोऽप्यपकृश्यते एव, द्रव्यकर्षणा कुड्डे शरीरे वा, भावकर्षणा रागद्वेषौ कर्षयति, त एवं अनशनादितपोयुक्ताः रागद्वेषापकृष्टाः 'अविहिंसामेव पव्वए' न विहिंसा २ अतस्तामविहिंसां पव्वए, कथमहिंसकः स्यादिति,'अनुधर्म्मो' अनु पश्चाद्भावे यथाऽन्यैस्तीर्थकरैस्तथा वर्द्धमानेनापि मुनिना प्रवेदितं, अनुधर्म्मः-सूक्ष्मो वा धर्म्मः, पुष्पवत् वृत्तं, अप्पसत्थभावधुणणं, तंमि विधुए कम्मरयो विधुत एव भवति, स्यात्-कथं धूयते ?, 'सउणी उ जह पंसुगुंडिता' वृत्तं ॥ १०३ ॥ सउणि-काउच्छी, धूलीए वा लेट्टितुं तद्रजः पक्षातो धुव्वति-ध्वंसयति सितं-बद्धं, रंजयतीति रजः, एषो दृष्टान्तः 'एवं दविओवधाणवं' दविओ रागदोसरहितो, द्रव्यमात्रमेव, उव० उपदधातीति उपधानं तदस्यास्तीत्युपधानवान्, कर्म्म क्षपति, 'तवस्सि माहणो' समणेत्ति वा माहणेत्ति वा, अथ तं कश्चित् "उट्ठितमणगारमेसणं" वृत्तं ॥१०४॥ उट्ठितो णाम धर्मे प्रव्रज्यायां, नास्यागारं विद्यते अनगारः, अनगारत्वमेषति, अथवा मोक्षमेव एषति, समणाणं ठाणे ठितं चरित्ते णाणासु वा, तपःस्थितं तपस्सियं, बारसविहे तवे, तमेवं धम्मे दृढप्रतिज्ञं "डहरा वुड्ढा य पत्थए" डहरित्ति पुत्तनत्तुआदयः, तेसु विसेसतो णेहो भवति, कालुणियं कारंतेसु वड्ढमाइपितिमातुलपितृव्यादयः 'पत्थए'त्ति उप्पव्वातुं इच्छति, ते आजम्मएण ठिता तण्हाए छुहाए य अवि सुस्से ण तं लभेऊण, अवि मरेज्ज णवि उप्पव्वावेतुं सक्केंति, जनानामधर्मव्यवस्थितरवाजनवत्स तान् पश्यति,

न तु स्वजनवत्, "जइ कालुणियाइं से कए" वृत्तं ॥१०५॥ कालुणिया णाम 'णाह ! पिय ! कंत ! सामिय ! उद्दंसण णिप्पण्णत्त भुवणंमि । सव्वं सुण्णं पणइणि पुत्ता ते पितु वियोगवेलप्पा ॥१॥' सण्णा गामो गोट्ठी गणो व तं जत्थ होसि सण्णिहितो । दिप्पति सिरीए सुपुरिस ! किं पुण णियगं घरदारं ? ॥ २ ॥ पुत्रकारणाद् एकमवि ताव कुलतंतुवर्द्धनं पिंडपिंडदं धनगोप्तारं च जनयस्व पुत्रं, ततो यास्यसि, एवं कलुणाणि रुदंता 'दवियं'ति दविओ–रागदोसरहिओ, भिक्खणशीलो भिक्खू, सम्यगुत्थितं समुट्ठितं संजमुट्ठाणेण समुट्ठितं 'णो लब्भति णं'ति ण सक्केति 'सण्णवेत्तए'त्ति आणेतुं 'जइ णं कामेहिं भा(ला)विया' वृत्तं ॥१०६॥ यदीत्यभ्युपगमे, कामा–सद्दादि धणाइ वा 'लाविय'त्ति णिमंतणा, जइ कामेहिं धणेण वा बहुप्पगारं उवणिमंतेज्ज बंधित्ता वा घर आणेज्ज 'तं जीवितणावकंखिणं' तमिति–तं साधुं जीवितं–असंजमजीवितं नावकांक्षति नावकांक्षिणं 'णो लब्भंति ण सण्णवित्तए' नोकारः प्रतिषेधे. लब्भतित्ति ण ते लभंते सण्णवेत्तए, किंच–'सेहंति अ णं ममाइणो' वृत्तं ॥१०७॥ असंजमं ममायंतित्ति ममायिनः ते मातिपितिस्नुषपतिभायारो 'सेहंते'त्ति सेहावेन्ति, कथं सेहावेंति ?–'पोसाहि ण पासओ तुम' तुमं अतीव पासओ जं अतीव पस्ससि, भोगनिरिक्खितो भवान्, जतो एक एवात्मा पायमीरु पासएत्ति प्रवचनवयणेणं, कहं अम्हेहिं दुक्खिताणि ण पासतित्ति, यदि त्वं एवं दीर्घदर्शी परलोगंपि जहाहि उत्तमंति, इमो तावत्तिमो लोगो जदो, अम्हेहि य तुज्झ निमित्तेण अद्धितीए किलिस्समाणेहिं अम्ह य वुड्ढत्तणे सुस्सुसाए अकीरमाणीए पुत्तदारे य अभरिज्जमाणे य परलोगोवि ते ण भविस्सति, उक्तं च–'या गतिः क्लेशदग्धानां, गृहेषु गृहमेधिनाम् । पुत्रदारं भरंतानां, तां गतिं व्रज पुत्रक ! ॥ १ ॥' उत्तमो नाम तव एव मातापितृसुश्रूषया उत्तमो लोको भविष्यति, अन्यथा त्वधमः, एवं तैरुपसर्गैः क्रियमाणैः किंचिदेवं धर्मकातरः 'अण्णे

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ ७४ ॥

अण्णेहिं मुच्छिता' वृत्तं ॥ १०८ ॥ अन्योऽन्येषु मूर्च्छिताः, तद्यथा–कश्चिद्भार्यायां कश्चित्पुत्रे कश्चिन्मातरि पितरि वा 'मोहं जंति णरा असंवुडा' मुह्यते येन स मोहः-कर्म्म अज्ञानं वा तत्कृतो वा नानायोनिगहनः संसारः, अथवा स्वजनस्नेहमोहिताः कृत्याकृत्ये न जानंति, न संवृताः असंवृताः–इन्द्रियनोइन्द्रियतः संवररहिता 'विसमं विसमेहि गाहिया' विसमो णाम असंजमो तमसंजमं असंयतैरेव ग्राहिता, 'ते पावेहि पुणो व गब्भिता' पापानि–छेदनभेदनविशसनमारणादीनि प्राणिवधादीनि वा तेषु पापेषु वर्त्तमाना पुनरपि गर्भीभूया उन्मार्गमाचरंतो न लज्जंते, पुराणश्मशानचिंतकमांसखादनपिशाचहस्तावसारणं, अहं संसारस्स ण बीभेमि, कुतस्तर्हि ?, तव यतश्चैवं 'दविए व समिक्ख पंडिते' वृत्तं ॥ १०९ ॥ द्रविक उक्तः एवम्–अनेन प्रकारेण योऽयमुक्तः सम्यक् ईक्ष्य समीक्ष्य पापं–हिंसादि, अन्यथा पाठस्तु 'तम्हा दविइक्ख पंडिते' तस्मादेवं ज्ञात्वा विरताणं अविरताणं च गुणदोसे पावाओ विरता अट्ठारसट्ठाणाओ सयणाओ व विरतो भवाहि,'अभिणिव्वुडो' असंजमउण्हाओ सीतीभूतो 'पणता वीरा महाविधिं' भृशं नताः प्रणताः प्रणंतार इत्यर्थः, कतरं ?, जो हेट्ठा संबोहणमग्गो भणितो, वीराः उक्ताः, वीही नाम मार्गो चक्कवीथिवत् महती वीही महावीही, अथवा भाववीही एव महावीधी, तत्र द्रव्यवीधी नगरगामादिपंथाः भाववीधी तु सिद्धिपंथाः 'णेआउअं' शिवं, पाठविशेषस्तु 'प्रणता वीधीमेतमणुत्तरं,' एतदिति भाववीधीं जं भणिहामि अणुत्तरं–असरिसं अणुत्तरं वा ठाणणाणादि, सेहनं सिद्धिः, पद्यत इति पंथाः, नयतीति नैयायिकः, शिवं निरोगं, धुवं वा धुवो सासओ स एवं प्रणतः 'वेयालियमग्गमागतो' वुत्तं ॥११०॥ वैतालिकमुक्तं, अथवा विदालयतीति वैदालिकः-भगवानेव–वैतालिकस्य मार्गः वैतालिकमार्गः तं आगतः, प्राप्त इत्यर्थः,'मणसा वयसा कायेण संवुडे'त्ति गुत्तो 'चिच्चा वित्तं च णातयो' चिच्चा णाम त्यक्त्वा वित्तं बाह्यमभ्यंतरं

भार्या-मूर्च्छादि

॥ ७४ ॥

च, बाह्यं गोमहिष्यादि अभ्यंतरं हिरण्णसुवण्णादि, अथवा अभ्यन्तरं विद्याबुद्धिकौशल्यादि, शेषं बाह्यं, 'णातय'त्ति पुव्वावरसंस्तुता, आरंभस्तु पचनछेदनादि प्राणातिपातो वा चशब्दात् शेषा अवयवा अपि, चिच्चा अपि वर्त्तते, संवुडे इंदिएहिं, चरेदिति अनुमतार्थे, अथवा परिव्वइज्जासित्तिबेमि ॥ वेयालिए पढमो उद्देसओ सम्मत्तो २–१॥

उद्देसत्थाहिगारो माणो वज्जेतव्वो, तत्थ गाथा–तवसंजमणाणेसुवि जइ माणो वज्जिओ महेसीहिं। अत्तसमुक्कसणट्ठा किं पुण हीलामणु अण्णेसिं ?॥४३॥ महातवस्सिणा-संजमे अतीव अप्पमत्तेणं अतीव बहुस्सुतेण जइ ताव माणो वज्जिओ तेन तपस्त्वे अप्रमत्तत्वे बहुश्रुतत्वे वा गर्व्वं न याति, किमंग पुण नातिकृत्स्नतपोयुक्तेन प्रमादवता अल्पश्रुतेन वा गव्वो कायव्वो ? परो वा हीलेतव्वो ?, किंचान्यत्-'जइ ताव णिज्जरमतो पडिसिद्धो अट्ठमाणमहणेहिं। अवसेस मयट्ठाणा परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥४४॥ भणिओ य उद्देसत्थाहियारो, सुत्तामिसंबंधो पुण उक्कं प्रथमस्यान्ते–चिच्चा वित्तं च णातयो, एवं वित्तं स्वजनारंभं विहाय तपसि स्थितत्वात् 'तयसं व जहाइ से रयं'वुत्तं ॥१११॥ तया णाम कंचुओ, स्वमित्यात्मीयां, उपमाने वति उरगवत्, 'स' इति स पूर्वविवक्षितः साधुः, रज्यत इति रजः, तत्केन जहाति ?–अकषायत्वेनेति वाक्यशेषः, अकषायस्य हि सर्व्वत्वगिव च हीयति रजः, 'इति संखाय मुणी ण मज्जए' इति–उपप्रदर्शने 'एवं संखाए'त्ति एवं परिगणेत्ता, एवं ज्ञात्वेत्यर्थः, 'ण मज्जए'त्ति न मदं कुर्यात्, तत्केन मज्जते ? 'गोयण्णयरेण जे विए' गोत्रं नाम जातिः कुलं च गृह्यते, अन्यतरग्रहणात् क्षत्रियः ब्राह्मणः इत्यादि, अथवा अन्यतरग्रहणात् शेषाण्यपि मदस्थानानि गृहीतानि भवंति, इत्थिणी णाम खिंसणा णिंदणा हीलणा, अन्ये ब्रुवते रिक्तता, अथवा गोतण्णतरेण माहणे–साधू, अहिंसगो सुन्दरो अण्णे असोभणा, स्यात् य एषा मदानां एकेन नैकैर्वा मदस्थानैर्मत्तः परं परिभवति





अस्य पृष्ठे द्वितिय् अध्ययनस्य द्वितिय उद्देशक: आरभ्यते

तस्य को दोषः ?, उच्यते–'जो परिभवति परं जनं' वृत्तं ॥ ११२ ॥ परो नाम आत्मव्यतिरिक्तः सपक्षः परपक्षो वा, अथवा परः—अस्वजनः, परिभवो नाम जात्यादिश्रेष्ठस्त्वं हीनजातिरिति, एवं कुलादिषु, नान्यत्रापि, सो अणादीए वपज्जंते अणवदग्गे 'संसारे परिवट्टति चिरं' सर्वतो वर्त्तते परिवर्त्तते, 'चिर' मिति अणंतकालं, विसेसेण कुत्थिता सुकुत्थिता तासु जातिसु एगिंदियवेइंदियादिसु, यतश्चैवं तेन 'अदु इंखिणिया तु पाविया' अदु इति यदुक्तकारणात् इंखिणिका प्रागुक्ता पातयतीति पातिका, वानरपिटिका इह सुघरीदृष्टान्तः, परलोके कोकिलकश्च परिभट्ठउ सडुसुणओ जाओ, इति उपप्रदर्शनार्थं, 'एवं संखाए' एवं परिगण्य मुणी 'ण मज्जए' मदं न कुर्यात्, 'जे यावि अणायए सिया' वृत्तं ॥११३॥ जेत्ति अणिद्दिट्ठणिद्देसे नान्यो नायकोऽस्यास्तीत्यनायकः—चक्रवर्त्ति बलदेवो महामंडलिओ वा, वासुदेवो ण पव्वयति, निदानकृतत्वात्; तेन नाधिकारः, पेसगपेसगो णाम तेसिं चेव चक्किमादीणं जो पट्टिगावाहगो प्रव्रजितः स्यात्, असावपि तं चक्रवर्तिं प्रव्रजितः पूर्वं दासदासं वारसावत्तेण वंदणेण वंदति, वंदणमाणोऽपि वा 'इदं मोणपदमुवट्ठिए'त्ति इदमिति आरुहतं मुनेः पदं मौनं पञ्चतेऽनेनेति पदं—मोक्षं गम्यत इत्यर्थः, उपेत्य स्थितः उवट्ठितो, न तेन पूर्वस्वामिना लज्जा कर्त्तव्या जहाऽहं पुव्वदासदासं वंदाविज्जामि, इतरेणापि न गर्वं, अहं सामिगसामिणा पूइज्जामि, 'समतं'ति अरागद्वेषवानित्यर्थः, 'सदा' सर्व्वकालं चरेदित्यनुमतार्थः, स्यात्–कथं ताभ्यां लज्जामदौ न कर्त्तव्याविति ?, उच्यते, 'समयण्णयरम्मि संयमे' वृत्तं ॥ ११४ ॥ ते हि सयं तच्चं प्रति समा चेव, अथवाऽयमपि छेदोपस्थानीये, एवं परिहारविशुद्धिकादिषु शेषेष्वपीति, अरिस्स मि० वृत्तं, तौ हि संयमत्वं प्रति समावेव, अथ समेत्ति एकस्मिन्नेव तौ संयमस्थाने वर्त्तयेतां, अण्णयरे वत्ति विसमे वा छट्ठाणपडितस्स, तेसु सम्यक्त्वादिष्वसंजम इतिकृत्वा अन्यतरे अधिके वर्त्तमानः

पूज्यः, संयतत्वादेव, अथवा जे यावि भवे अणायगे, जेवियं पेसगस्स पेसएत्ति, एगिगो माणेऽई उक्तः, इह तु 'समअण्णतरंमि वा सुते समेऽवि सुएणमिमं परिचिततरंतिकाउं स माणो ण कायव्वो, लहुं वा मे अधीतंति, अण्णयरं तु एगो गणी एगो वायगो, पूर्वगतं वाचितं येन स वाचकः, न च वाचकेन मानः कार्यः, संशुद्धो स एव, संयमः शुद्धः यत्रासौ वर्त्तते, अथवा स एवं लज्जा-मददोसादिएहिं संसुद्धो 'समणे'त्ति सम्यक् मणे समणे वा समणो, परि समंता सव्वातियारसुद्धो सव्वओ वा परिवए परिव्वए, स्यात्किंयच्चिरं कालं?, उच्यते 'जा आवकथा समाहिते' यावदस्य कथा प्रवर्त्तते देवदत्तो यज्ञदत्तो वा, दव्विओ णाम रोग-दोसरहिओ, स्यान्मृतस्यापि कथा प्रवर्त्तते तत उच्यते 'कालमकासि पंडिते' यावत्कालं न करोति तावन्मानादिदोषरहितेन भवितव्यं, स्यात्किल किमालंबनं कृत्वेति यतितव्यं?, उच्यते 'दूरं अणुपस्सिया' वृत्तं ॥११५॥ दूरं नाम दीर्घं अनुपश्यति तं धम्म-मणागतं, तथा धर्म्मः स्वभाव इत्यर्थः, वर्त्तमानो धर्म्मो हि कालानादित्वाद् दूरः, स तु अविरतत्वान्मानादिमदमत्तस्य दुक्खभूयिट्ठो-ऽतिक्रान्तः, किं च इमेण खलु जीवेण अतीतद्धाए उच्चणीयमज्झिमासु गतिसु असतिं उच्चगोते असतिं णीयगोते होत्था, तथा च अतीतकाले प्राप्तानि सर्वदुःखान्यनेकशः, एवमनागतधर्म्ममपि, अथवा दूरमणुपस्सिअत्ति दढं पस्सिय, अथवा मोक्षं दूरं पस्सिय दुर्लभबोधितां पस्सिय जात्यादिमदमत्तस्य च दूरतः श्रेयः एवमणुपस्सिय इत्येवमादि अतीतानागतान् धर्म्मान् अनुपस्सिता 'अट्ठे फरुसेहि माहणे' फरुसा नाम स्नेहविप्रयुक्तैः वाचिकाः कायिकाश्चोपसर्गा क्रियन्ते, तत्र वाचिकाः आक्रोशहीलनाद्याः कायि-कास्तु वधबंधनताडनाङ्गनच्छेदनमारणांताः, अथवा प्रतिलोमा फरुसा, तैरुदीर्णैः 'अवि य हण्णू' अपि हन्यमानाः अविहण्णू यथा स्कन्धकशिष्याः, न तु स्कन्दकः, 'समयंसि रीयति'त्ति यथा समयेऽतिदिष्टं तथा रीयते प्रसन्न इत्यर्थः, पठ्यते च 'अविहण्णू

समयाधियासए' अस्यार्थः अविहण्णू-अविहन्यमानः सम्यक् अहियासए, अथवा अविहण्णू इति हन्यमानो न हन्यात् किंचित्, अथवा धर्म्ममस्योपदिशेत् स कीटकधर्म्मकथिक उच्यते, 'पण्णसमत्ते सया जए' वृत्तं ॥११६॥ प्रच्छंति तमिति प्रश्नः यावत्प्रश्नान् परः पृच्छेत् तं व्याकर्तुं समर्थः, पठ्यते च–'पण्हसमत्ते सदा जए' समाप्तप्रश्न इत्यर्थः, सदाजएत्ति ज्ञानवान् अप्रमत्तश्च, अयतस्य हि क्षीरं परिचिकित्सिकस्येव न वचः प्रमाणं भवति, उक्तं हि–"अट्ठितो ण ठवेति परं" समिता णाम सम्मं धम्मं उदाहरेज्ज, जहा पुण्णस्स कत्थति तथा तुच्छस्स कत्थति, 'सुहुमे हु सया अलूसए' सुहुमो नाम स हि सुहुमेणवि अतिचारेण लूसिज्जति, कथयतो वा सूक्ष्मेणापि आत्मोत्कर्षेण परहीलया वा लूसिज्जति, पूयागारवसक्कारहेउं वा कथयतो लूसेति, अहवा सुहुमेत्ति सूक्ष्मबुद्धिः कथयेत्, अलूषकस्तु स एवमनाशंसी, न च मार्गविराधना करोति, अपरियच्छंते य परेण कुप्पेज्जा, णेव कथणलद्धीसंपण्णताए माणी माहणो होज्जा, अथवा कथयंतो ण परं कोवये–अन्यतरं कषायं गमयेत्, स एवं 'बहुजणणमणंमि संवुडे०' वृत्ते ॥११७॥ बहुजनं नामयतीति बहुजननामने, अहवा नम्यते–स्तूयत इत्यर्थः, स धर्म्म एव, सर्व्वलोको हि धर्म्ममेव प्रणतः, न हि कश्चित्परमाधार्मिकोऽपि ब्रवीति–अधर्म्मं करेमि, तत्रोदाहरणं–सेणिओ राया, तस्स अत्थाणीए धर्म्मजिज्ञासायां के धम्मिया इति, ततो परिसदेहिं भण्णति–दुल्लभा धम्मिया, पायं अधम्मिओ लोओ, अभयो भण्णति–लोगस्स भावपाएण एस पइण्णा जहा वयं धम्मिया इति, परिसाए अवदहंतीए अभओ भण्णति–परिक्खामो, ततो रायाणुन्नाए सितासिताणि दुवे भवणाणि कारवेति, पउरजणवया भणिया–जे तुम्हं धम्मिया ते धवलं गिहं पविसंतु, अधम्मिया असियमिति, ततो ते सव्वे पउरजणा धवलगृहमणुपविट्ठा, अधिगारिगेहिं पुच्छिता–किं भवंतो धर्म्मं करेहिंति?, तत्थेगो भणति–अहं करिस्सगो, तत्थ मे अणेगेहिं गउणसहस्सेहिं



॥ ७८ ॥

धण्णं उवजीविज्जति, अण्णो भणति–अहं वणिज्जो, कलोपजीवि बंभणो मे णिच्चगं भुंजतित्ति, अण्णो भणति–अहं कुटुंबभरणपवित्तो किलेसभागी, किं बहुणा ?, सोयरियादयोऽवि कुलधम्मानुवर्तित्वाद्वयमपि धम्मिया, एवं धवलगिहमणुपविट्ठा, उक्तं च–"सोतसुतघोररणमुह०" अथ तत्थ दुवे सावगा सकृत्मद्यपाननिवृत्तिकृतभङ्गा असितभवणमणुपविट्ठा पुच्छिता भणन्ति—सुसाहुणो सुसावगा य धम्मिया जे सया अपमत्ता, अम्हे पुण पमादिणो स्वकृतमद्यपाननिवृत्तिकृतभंगा ण धवलगिहारुहा, अतो असितभवणमणुपविट्ठा इत्येवं बहुजननमितो धर्म्म इति, तस्मिन् बहुजननमिते संवृतात्मा भवेदिति वाक्यशेषः, अन्ये त्वाहुः–बहुजननमनो–लोभः, सर्वो हि लोकस्तस्मिन् प्रणतः, असंयतास्तावत् सर्वे शब्दादिविषयप्रणताः, प्रमत्तसंयता अपि तेनैव केचित्प्रणताः, वीतकषायास्त्वप्रणताः, जे य जयणा अप्पमत्ता इति तेऽपि न प्रणताः, उक्तं च—'कोधस्स उदयणिरोधा वा उदयपत्तस्स वा कोहस्स विहलीकरणं' एवं योगेन्द्रियाणामपि वक्तव्यं, संयतो नाम विरतः निवृत्त इत्यर्थः, 'सव्वट्ठेसु सदा अणिस्सिते'त्ति सव्वेसु इंदियत्थेसु यावंतो वा असंयमार्थाः अथवा ऐहिकामुष्मिकेषु अणिस्सितो नाम नाकांक्षति 'हरदे व तुमे अणाइलो' हरदेत्ति, महासमुद्रः, स हि तक्रादिभिः महामत्स्यैः स्फुरद्भिरपि नाकुलजलो भवति, न क्षुब्धजल इत्यर्थः, पद्ममहापद्मादयो वा ह्रदाः स्वच्छप्रसन्नगंभीरजलाः गंभीरत्वादनाकुलाः, एवमसावपि पूर्वापरज्ञेयपरिशुद्धस्वच्छज्ञानवान् प्रसन्नवाङ्मनाः न च परप्रवादिभिः शक्यते विक्षोभयितु इत्यनाकुलः, कोधादीहि वा अणाइलो, अथवा अणाइल इति निरुद्धाश्रवः अनातुरो—न ग्लायति धर्म्मं कथयन्, 'धर्म्मं प्रादुरकासव'त्ति प्रादुः प्रकाशने स भगवान् आर्यसुधर्म्मः अण्णतरो वा गणधरो ह्रद इवानाकुलः धर्म्मं प्रादुरकार्षीत्, एवमन्येऽपि स्थविराः प्रादुरकार्षीत् प्रादुष्कुर्वन्ति करिष्यंति च, कस्यपश्यायं काश्यपः, स एवं लक्षणकं धर्म्मं कथयति, तं च वा

'बहवो पाणा पुढो सिया०' वृत्तं ॥ ११८ ॥ अथवोपदेश एवायं, बहवो प्राणा पुढो सिता, बहव इत्यनन्ताः, पृथक् पृथक् सिता पुढोसिता, तंजहा–पुढविकाइयत्ताए०, तेषां तु प्रत्येकानन्तानामप्येको धर्म्मः समान एव, सुखप्रियत्वं 'समियं उवेहाए'त्ति समिता णाम समता, प्रत्येकाश्रयेऽपि सति अभीष्टसुखता दुःखोद्वेगता च समानमेतत्, अथवा समिया इति समं उवेहिताः जे मोणपदं उवट्ठिए, मुनेरिदं मौनं, विरमणं विरतिः तेषामतिपातादीनां अकासित्ति करिष्यसि, पापाद्धीनः पंडितः, का भावना ?, यथा तवैते इष्टानिष्टे सुखदुःखे एवं पाणाणमवि इत्येवं मत्वा विरतिं तेषामकासि पंडिते, स एव विरतात्मा 'धम्मस्स य पारए मुणी०' वृत्तं ॥११९॥ धम्मो दुविहो–सुतधम्मो चरित्तधम्मो य, तयोः पारं गच्छतीति पारगः, श्रुतज्ञानपारंगतः चोद्दसपुव्वी, पारं वा कांक्षति, एवं पारं गतः कांक्षति वा अकषायः, तस्य च चारित्रमधिकृत्यापदिश्यते, आरंभो नाम जीवकायसमारंभस्तस्यांते व्यवस्थितो, नारभत इत्यर्थः, जे य पुण आरंभपरिग्गहे वट्टंति ममायंति वा ते तं परिग्गहं णट्ठविणट्ठं 'सोयंति य णं ममायणो' अलभ्यमाणमपि यथेष्टपरिग्गहं सोयंति णं ममाइणो, उक्तं हि–"परिग्गहेष्वप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षाशोकौ, प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगे वाऽवृत्तिः" णो लब्भति णियं परिग्गहंति अग्गिसामण्णत्ताए चोरसामण्णत्ताए णितओ ण भवति, अयमपरकल्पः तमिव, धम्मस्स य पारए मुणी, आरंभस्स य अन्तिअट्ठितं सोयंति य णं ममाइणो अम्हे सुहिता, तुम्हं संतविभवोऽवि अतिदुक्करं तवचरणं करेसि, जेणं ममायंते तेणं ममायणो–मातापुत्रादयो णो लब्भंति परिग्गहंति, स तेषां नित्यं वशकः आसीदिति नित्यं परिग्रहः परः, ततस्तत्प्रत्ययिकं णो लभति णितियं परिग्गहं, अमुमेवार्थं नागार्जुनीया विकल्पयंति-सोऊण तयं उवट्ठितं केयि गिही विग्घेण उट्ठिता। धम्मंमि इहं अणुत्तरे, तंपि जिणेज्ज इमेण पंडिते'इह लोग दुहावहं विदा परलोगे य दुहं दुहावहं' ॥१२०॥ कृषिभृत-

चौरादीनां इहलोगे एव दुहावहं धणं, उक्तं हि--अममा जनयंति कांक्षितां, निहिता मानसचौरजं भयम्। विद्वंति जना हि०" परलोकेऽपि च दुहं असाद्वनोपार्जनदुःखात् सुमहत्तरं दुःखं समावहंतीत्यतो दुहादुहावहा, अथवा दुहादुहा वा पुनरनन्ते संसारे पर्यटन्तः शरीरादिदुःखं समावहंति 'विद्धंसणधम्ममेव या' अग्गिचौराद्युपद्रवैः कालपरिणामतश्च विद्धंपणधम्ममेव या इत्येवं विद्वान् मत्वा को नाम आगारमावसे?, किंचान्यत्-पव्वइतेणवि न सत्कारवंदणणमंसणाउ बहु मानितव्वा, उक्तं च तत्थ-'महता पलिगोह जाणिया०' वृत्तं ॥१२१॥ परिगोहो णाम परिष्वंगः, दव्वे परिगोहो पंको भावे अभिलाषो बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु, परस्परतः साधूनां जावि वंदणणमंसणा सावि ताव परिगोहो भवति, किमंग पुण सदादिविसयासेवणं?, अथवा प्रव्रजितस्यापि पूजासत्कारः क्रियते, किमंग पुण रायादिविभवासंसा?,'सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे' सूचनीयं सूक्ष्मं, कयं?, शक्यमाक्रोशताडनादि तितिक्षितुं, दुःखतरं तु वन्द्यमाने पूज्यमाने वा विषयैर्वा विलोभ्यमाने निःसंगतां भावयितुं, इत्येवं सूक्ष्मं भावशल्यं दुःखमुद्धर्तुं हृदयादिति वाक्यशेषः, इत्येवं मत्वा विद्वान् 'पयहेज्ज संथवं' सम्यक् स्तवः सतो वा स्तवः संथवो, नागार्जुनीयास्तु पठंति-पलिमंथ महं विजाणिया जावि य वंदणपूयणा मह। सुहुमं सल्लं दुरुद्धरं तंपि जिणे एएण पंडिए''एगे चरे ठाण आसणे०' वृत्तं ॥१२२॥ द्रव्ये एगल्लविहारवान् भावे रागद्वेषरहितो वीतरागः, ठाणं-काउस्सग्गो आसणं-पीढफलगं भूमिपरिग्गहो वा सयणंति णुवण्णो, एगो रागद्वेषदोसरहितो, सव्वत्थ पवादणिवादसमविसमेसु ठाणणिसीयणसयणेसु एगभावेण भवितव्वं, णाणादिसमाहितो, चरेदित्यणुमतार्थे, भिक्खू 'उवहाणवीरिए' उपधानवीर्यवानिति तपोवीर्यवान्, 'वइगुत्ते'त्ति वयगुत्तिगहिता 'अज्झप्पसंवुडे'त्ति मणोगुत्ती गहिता, पूर्वार्द्धेन तु कायगुप्तिः। इदाणिं जो सो एगल्लविहारी तं दुच्चरे य णिक्कारणेण भणति-'णो पीहे ण यावः

वंगुणे' वृत्तं ॥१२३॥ पिहितं णाम ढक्कियं, अवगुत्तदुवारिए सुण्णघरे वा भिन्नघरे वा, शून्यां हितं शून्यं, शून्यं वा यत्राऽन्यो न भवति, पुट्ठो ण उदाहरे वयिं, चत्तारि भासाओ सोचूण उदाहरति वयिं, अवस्सं संबुज्झितुकामस्स वा एगनायं एगवागरणं वा जाव चत्तारि, णिसीयणट्ठाणे मोत्तूण सेसं वसधिं 'ण संमुच्छति'त्ति ण पमज्जति,'णो संथडे तणे'त्ति ण वा तणाइं संथरेति, किमंग पुण किंचिं पोत्तिं वा ?, स एवं सरीरोवस्सयादिसु अप्रतिबद्धः अणियतवासित्वात् 'जत्थऽत्थमिते अणाइले'वृत्तं ॥१२४॥ जत्थ से अत्थमिति सूरो जले थले वा तत्थ वसति, अणाइलो णाम परीपहोपसर्गैः नक्रैः समुद्रवत् नाकुलीक्रियते, समविसमाइं ठाणसयणासणाइं मुणीऽधियासए, न रागद्वेषौ गच्छेत्, तत्थ से अच्छमाणस्स 'चरगा अहवावि भेरवा' चरंतीति चरका-पिपीलिकामत्कुणघृतपायिकादयः भेरवा-पिशाचश्वापदादयः सरीसृपा-अहिमूषिकादयः सव्वे अहियासएत्ति, एवमन्येऽपि 'तिरिया मणुसा य दिव्विया' वृत्तं ॥ १२५ ॥ तिरिया चतुर्विधा उवसग्गा तिविहाधि सेविया नामासेवित्वा अणुभूय 'लोमादीयंपि ण हारिसे' लूयत इति लोमा लोमहरिसो दुधा भवति-प्रतिलोमैर्भयात् अनुलोमैः प्रहर्षेण हासतः, आदिग्रहणात् दृष्टिमुखप्रमादो दैन्यं वा, 'सुन्नागारगते महामुणी' स तैर्भैरवैरप्युपसर्गैरुदीर्णैश्छिद्यमानो मार्यमाणो वा 'णो ताव मिकंच्च जीवितं' वृत्तं ॥ १२६ ॥ अनुलोमैर्वा उदीर्णैः असंजमजीवितं ण वा पूयासक्कारं पत्थेज्ज, तेनैवं जीवितमनाकांक्षता पूजासत्कारौ च, भयानके वाऽऽवसथे वसता 'अब्भत्थमुवति भेरवा' अभ्यस्ता नाम आसेविता असकृद् असकृत्सहमानेन जाता उदिता आसेविता अभ्यस्ता इत्यतः उपेन्ति-उपयान्ति भयानकाः, पठ्यते च-'अप्पुत्थं उवेंति भेरवा' अल्पा न बहवः पिशाचश्वापदव्यालादयः जीवितान्तयिका उवेंति, शीतोष्णदंशमशकादयस्तु उदीर्णा अपि शक्याऽधिपोढुमिति, अभ्यस्तत्वान्निराजितवारणस्येव भैरवा एव भवंति,

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ ८३ ॥

तस्यैवं 'उवनीततरस्स ताइणो०' वृत्तं ॥ १२७॥ भिक्षोः धर्म्ममुपनीतः परीषहजयं वा, अयं चोपनीतः २ अयमनयोरुपनीततरः ज्ञानदर्शनचारित्रेषु यस्यात्मा उपनीततरः स भवत्युपनीततरः, त्रायतीति त्राता, स च त्रिविधः—आत्म०पर०उभयत्राता—जिनकल्पिकार्हद्गच्छवासिनः 'भयमानस्स विवित्तमासनं' इत्थीपसुपंडगविरहितं विवित्तं आसनग्रहणादुपाश्रयोऽपि गृहीतः 'सामाइयमाहु तस्स तं' समभावः सामाइयं आहुः तस्स तं समभावं सामाइयं तस्सेवंगुणजातियस्स सामायिकं, कतरं ?, चारित्तसामाइयं, आहु—उक्तवानिति तित्थकरो अज्जसुहम्मो वा सिस्साण कथेति, तस्य चारित्रधर्म्मः, किं करोति ?, यः आत्मानं भये न दर्शयति, न क्षुभ्यत इत्यर्थः, किंचान्यत्—'उसिणोदकतत्तभोयणो०' वृत्तं ॥१२८॥ उसिणग्रहणात् फासुगोदगं सोवीरगउण्होदगादीणि गहिताणि, तप्तग्रहणात् स्वाभाविकस्यातपोदकादेः प्रतिषेधार्थः, धर्मेण यस्यार्थः स भवति धम्मट्ठो, ह्री लज्जायां, असंयमं प्रति ह्रीर्यस्यास्ति स ह्रीमान् तस्य ह्रीमतः, स हि लोके शीतोदकं पिबन् लज्जते, ह्रीयत इत्यर्थः, तस्येवमप्रमत्तस्य आसतःसंमग्गि असाधु 'रायिहि' राजादिभिस्तस्यासाध्वी, कथं ?, रिद्धिं दृष्ट्वा तं मा भून्मूर्च्छां कुर्यात्, मूर्च्छतश्च असमाधी भवति 'तधागतस्सवि'त्ति वैराग्यगतस्यापि, अथवा यथाऽन्ये, यथा जिनादयो गता वीतरागं तथा सोऽवि अप्रमादं प्रति गतः, इदानिं प्रमत्ता उच्यन्ते—'अधिकरणकरस्स भिक्खुणो०' वृत्तं ॥१२९॥ अधिकरणं करोतीति अधिकरणकरः, 'प्रसह्ये'ति आक्रम्य परपरिभवात् संबंधं स्नेहसंततिं दारयति ततः दारुणं, 'अट्ठे परिहायते ध्रुवं' अर्थो नामा मोक्षार्थः तत्कारणादीनि च ज्ञानादीनि परिहायंति, "जं अज्जियं समीखल्लएहिं तवणियमबंभमइएहिं। मा हु तयं छड्डेहि य बहुतरयं सागपत्तेहिं ॥ १ ॥ एतेण कारणेणं अधिकारणं ण करेज्ज संजते स्वपक्षपरपक्षाभ्यामितिवाक्यशेषः, तस्यैव अधिकरणमकुर्वाणस्य 'सीतोदगपरिदुगुंछिणो' वृत्तं ॥ १३० ॥ सीतोदगं णाम अवि-

उपनीततरादि

॥ ८३ ॥

गतजीवं अफासुगं प्रती, प्रतिदुगुंछति णाम ण पिवति, यो हि यन्न सेवति स तत् जुगुप्सत्येव, जहा धीयारा गोमांसमद्यलसुन-पलंडुं दुगुंछंति, न केवलं धीयारा गोमांसं दुगुंछंति, तदाशिनोऽपि जुगुप्संति, अप्पडिण्णो णाम अप्रतिज्ञः, नास्य प्रतिज्ञा भवति यथा मम अनेन तपसा इत्थं णाम भविष्यतीति, तंजहा–णो इहलोगट्ठताए तवं करोति० जहा धम्मिवयं भदन्ता, आलयाहारउवधिपू-याणिमित्तं वा अप्रतिज्ञः, लवं–कर्म्म येन तत्कर्म्म भवति ततः आश्रवात् स्तोकादप्यवसकति, तस्यैवंविधस्य **'सामायिकमाहु तस्स'** जं तदेवास्य सामायिकं–चरित्रसामायिकं, यत्किं ?, न करोति, जं गिहिमत्ते असणं ण भक्खति, मा भूत् पच्छाकम्मदोसो, भविस्सति णट्ठे हिते वीसरिते, स एव सीतोदगवधः स्यादिति। किं च **'ण य संखतमाहु जीवितं'** वृत्तं ॥१३१॥ णहि छिन्न-तंतुवत् इहं जीवितं पुनः शक्यते संस्कर्तुं, 'तथे'ति तेन प्रकारेण, बालजणो णाम असंयतजनः, प्रगल्भीभवति प्राणातिपातादिषु प्रवर्त्तमानो धृष्टो भवतीत्यर्थः, स एव बालः पापेषु कर्म्मसु प्रगल्भीभवन् तैरेव बाले पावेहिं मज्जति हिंसादीहिं, तज्जणिएण वा कर्म्मणा मानभंडमिव मीयते पूर्यत इत्यर्थः, मार्यते वा संसारे, **'इति संखाय मुणी ण मज्जति'** इति संस्कार्यते, एवं परि-गणय्य ण मज्जतित्ति–न यदं कुर्यात्–न कुप्येत, मानाधिकार एव अस्मिन्नुद्देशके वर्ण्यते, तेण इति संखाए मुणी ण मज्जति, क्रोधो माने(मदो)ऽपि गृहीतो, लोभस्तु **'छंदेण पलेति मायया'** वृत्तं ॥१३२॥ छंदो णाम लोभः इच्छा प्रार्थना, तेण छंदेण प्रलीयते यं प्रजाः तासु तासु गतिषु भृशं लीयते–गच्छति, पठ्यते च **'छण्णेण पलेति मायया'** छंदेणेति डंभेणोवहिणा कूटतुलकूटमाना-दिभिः तथा हिंसादिषु कर्म्मसु प्रवर्त्तते दंभेणेव, पलायितुमिच्छति कर्म्मबन्धात्, यथा मारेंतोऽवि य देवस्सुवरिं छुभति, महर्षि-प्रणीतोऽयं मार्गः, तथा चित्तं न दूषयितव्यं इति, पाषंडिनोऽपि शाक्यादयः छणेण पलायितुमिच्छंति कर्म्मबन्धात्, तद्यथा–संघ-

प्रतिजुगुप्सादि ॥ ८४ ॥

संतगा ग्रामाः, दासीदासहिरण्यादि च ते उपासगसंता वा, भागवता ब्रुवते–सव्वं देवो करेति, यथा छण्णेण तथा लोभादिभिरपि 'बहुमाये'ति उत्कंचणादि, पासंडिनोऽपि मायाबहुला कुक्कुडेहिं लोअं उवचरंति, उक्तं हि–कुक्कुडसाध्यो लोको नाकुक्कुटतः प्रवर्त्तते किंचित्। तस्मात् लोकस्यार्थे पितरं (अवि) सकुर्कुटं कुर्यात् ॥१॥' चित्तप्रामाण्यं वर्णयन्ति, मोहो नामाज्ञानं तेन प्रावृता छादिता इत्यर्थः, शासनाश्रितास्तु 'वियडेण पलेति माहणे' भावेनेति वाक्यशेषः, तेनाकुडिलेनावि अविकुत्थितेनाजिम्हेन, कुतः पलीयते ?, संसारात्, न केवलमात्मा शुद्ध्या पलीयते, बाह्येनापि पलीयते, तद्यथा–'सीउण्हं वयसाऽधियासए' सीते अप्रावृतः उष्णे आतापयति, अथवा सीता अनुलोमाः उष्णाः प्रतिलोमाः, वयसेति वाचा, यथा वयसा तथा मनसावि, एवं सेसिंदियदभोवि, किंच–जं बहुपसण्णं तं गेण्हाहि चिट्ठंते, 'कुजए अपराजिए जहा०' वृत्तं ॥१३३॥ कुच्छितो जयः कुजयः द्यूतेण थोवं विढप्पति, यद्यपि अपराजितो अक्खेहि देवताप्रसादेन वा अक्खहितत्तेण वा अपराजितो तथापि कुत्थित एव जयः, अक्खापासगादिषु क्रीडाव्यवहाराः, अक्षैर्दीव्यति दिव्यं, दिव्यं चास्यास्तीति दिव्यवान्–क्रीडावान्, जह सो दिव्वं च कडमेव गहाय, णो कलिं णो त्रेतं णो चेव दावरं, उवसंहारः 'एवं लोगंसि ताइणो०' वृत्तं ॥ १३४ ॥ एवम्–अनेन प्रकारेण असिँल्लोके पासंडलोगे वा 'ताइणो'त्ति आत्मपरोभयत्रायिणो–जिनतीर्थंकरस्थविराः 'वुइते' उक्तः 'अयं'ति इमो जइधम्मो सुतचरित्तधम्मा य 'अनुत्तरे' बहुफले, अतुल्ये इत्यर्थः, 'तं गेण्ह हेतंति उत्तमं' तमिति तं धर्म्मं गेण्हाहि इहलोए परलोए य हितं, इहलोए आमोसहिलद्धीओ परलोए सिद्धी देवलोगसुकुलपच्चायादि, 'ते' इति तस्य ग्रहे, कस्य निर्देशः ?, उत्तमः–प्रधानः, धर्म्म इति वर्त्तते, कडमिव द्यूतकरवत् सेसा तिण्णि आता, पासत्था अण्णतित्थिया गिहित्था य, अवहाय–छड्डेत्ता, को भवति ?, उच्यते, पंडितो भवति, किं

प्रत सूत्रांक ॥१११-१४२॥

दीप अनुक्रम [१११-१४२]

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ ८६ ॥

च–एषा हि शब्दादीनां त्वग्परीषह एव गरीयान् अत एवोच्यते 'उत्तरमणुयाण आहिता' वृत्तं ॥ १३५ ॥ उत्तरा णाम शेषविषयेभ्यः ग्रामधर्म्मा एव गरीयांसः, यथा मयाऽनुश्रुतं स्थविरेभ्यस्तैः पूर्वं श्रुतं पश्चात्तेभ्यो मया श्रुतं, उक्तं हि–"सुखस्यातिरसः स्वर्गः, स्वर्गस्यातिरसः स्त्रियः। गवामतिरसः क्षीरं, क्षीरस्यातिरसो घृतं ॥ १ ॥ सर्व्व एव वा विषयग्रामधर्म्मः, अथवा उत्तराः–शब्दादयो ग्रामधर्म्मा मनुष्याणां चक्रवर्तिबलदेववासुदेवमंडलिकानां तेसु उत्तरेसुवि 'जंसि विरता समुट्ठिता' जासु इत्थिगासु सम्यक् उट्ठिता समुत्थिताः, 'कासवस्स अनुधम्मचरिणो' काश्यपो–वर्द्धमानस्वामी काश्यपचीर्णानुचरणशीलाः कासवस्स अणुधम्मचारिणो, अथवा ऋषभ एव काश्यपः तेन चीर्णमनुचरंति यथोद्दिष्टं 'जे एत चरेंति आहितं' वृत्तं ॥ १३६ ॥ जे इति अणुद्दिट्ठणिद्देसे, जे अणुधम्मचरित्तं कुर्वन्ति, आहितं–आख्यातं, केण ?, 'णाएण महता' ज्ञातकुलीयेन महता इति, ज्ञातृत्वेऽपि सति राजसूनुना केवलज्ञानवता च, महाँश्चासौ ऋषिश्च महर्षिः, अथवा मोक्षेसिणा, ते उट्ठिता, उत्थिता नाम मोक्षाय, सम्यगुत्थिताः समुत्थिताः, न जमालिवत्, शाक्यादयोऽपि हि मोक्षार्थमभ्युत्थिताः, 'अन्योऽन्यं च सीदंतं सारेंति धर्म्मत' इति धर्म्मे सीदंतं, अथवा धम्मियाए पडिचोयणाए, अथवा धर्म्मे सालितं स्खलंतं वा धम्मियाए पडिचोयणाए धम्मिएणं, पडोआरेणं, धर्म्मे सम्यगवस्थितश्च भूत्वा 'मा पेह पुरापणामए' वृत्तं ॥ १३७ ॥ अमानोनाः प्रतिषेधे, मा प्रेक्षस्व, पुरा नाम पूर्व्वकालिए पुव्वरतपुव्वकीलितादि, प्रणामयंतीति प्रणामकाः दुग्गतिं संसारं वा प्रति धर्म्मे स्थितं, संक्षेपार्थस्तु पुव्वकीलितं ण सुमरेज्जा, धर्म्मं वा प्रति प्रणामयेदात्मानं, उवधिं दव्वे हिरण्णादि भावोवधिं अट्ठविधं कम्मं, अभिमुखं कंखेज्जासित्ति अभिकंखे उवधिं धुणित्तए, मानाधिकारेऽनुवर्त्तमाने 'जे दूवणतेहि णो णता' जे इति अणिद्दिट्ठणिद्देसे दुष्टं प्रणताः दूषनताः शाक्यादयः, ते हि मोक्षाय प्रवृत्ता अपि

स्पर्शनामुत्तमता

॥ ८६ ॥

विषयेषु प्रणता रसादिषु, नेति प्रतिषेधे, आरंभपरिग्रहेषु ये न नता ते जानंति समाहितं, त एव ज्ञानवन्तः ये सम्यङ्मार्गाश्रिताः, न तु अज्ञानिनो, न वा समाधिं जाणंति, समाधिर्नाम रागद्वेषपरित्यागः, स एवं समाधिमार्गावस्थित, **'णो काहिएँ होज्जा संजते'वृत्तं** ॥१३८॥ कथयतीति कथकाः अक्खाणगाणि गोयरग्गगतो उवस्सयगतो वा अप्रतिमानानि कथयति कथिकः, पासणीओ णाम गिहीणं व्यवहारेषु पणियगादिसु वा प्राश्निको, न भवति, अपाया तत्थ जो जिवति तस्स अप्पियं भवति, संपसारको नाम संप्रसारकः, तद्यथा इमं वरिसं किं देवो वासिस्सति णवत्ति, किं भंडं अग्घिहिति वा न वा ?, उभयथापि दोषः, अधिकरणसंभवात्, अग्घिहिति णवत्ति, 'नच्चा धम्मं अणुत्तरं' एवंविधेन न भाव्यं, कतकिरिओ णाम कृतं परैः कर्म्म पुट्ठो अपुट्ठो वा भणति शोभनमशोभनं वा एवं कर्त्तव्यमासीत् नवेति वा, मामको णाम ममीकारं करोति देशे गामे कुले वा एगपुरिसे वा, किंच–अयं चान्यः कर्म्मविदालनोपायः, तद्यथा–'छण्णं च पसंस णो करे०' वृत्तं ॥१३९॥ द्रव्यच्छन्नं निधानादि भावच्छन्नं-माया, भृशं पसंसा–प्रार्थना लोभः उक्कोसो–मानः प्रकाशः–क्रोधः, स हि अन्तर्गतोऽपि नेत्रवक्त्रादिभिर्विकारैरुपलक्ष्यते, उक्तं हि–"कुद्धस्स खरा दिट्ठी" य एवं कषायनिग्रहोद्यताः तेसिं सुविवेकः गृहदारादिभ्यो विवेको बाह्योऽभ्यन्तरस्तु कषायविवेकः, आहितं–आख्यातं, सुविवेगोत्ति वा सुणिक्खंतं वा सुपव्वज्जत्ति वा एगट्ठं, भृशं नता प्रणताः, कुत्र नता ?, धर्म्मे वा 'सुज्झोसितं'ति जुषी प्रीतिसेवनयोः, धूयतेऽनेनेति धूतं–ज्ञानादि संयमो वा येषां सुज्झोसितं–स्वभ्यस्तं तेसिं सुविवेगमाहिते। स एवं विदालनामार्गमाश्रितः **'अणिहे सहिते सुसंवुडे०'** वृत्तं ॥ १४० ॥ अनिहो नाम अनिहतः परीषहैस्तपःकर्म्मसु वा नात्मानं विंधयति, ज्ञानादिषु सम्यगाहितः णाणादीहि ३ आत्मनि वा हितः सहितः, अथवा यस्त्रिगुप्तः स समाहितो, धर्म्मेण यस्यार्थः स भवति धम्मट्ठी तवोवधाणवीरिय-

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ ८८ ॥

संयुक्तः तवे बारसविधे, स एवं गुणजुत्तो 'विहरेज्ज समाहितेंदिए' अनियतवासित्वं गृह्यते, समाहितो, निगृहीतेन्द्रियत्वं च, उक्तं हि–"सद्देसु य भद्दयपावएसु, सोतव्विसयं उवगतेसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्वं ॥१॥" एवं सेसिन्दियविसएसुवि, स्यात्–किमर्थं एवंविधः प्रयत्नः क्रियते अतिदुःखश्च ?, उच्यते, 'आतहितं दुक्खेण लब्भते' तंजहा–'माणुस्सखेत्त जाती' गाथा ॥ स्यात्–कथं अनादिमति संसारे अयमात्मा न पूर्वमेवानेन पथा प्रयात इति ?, उच्यते 'णहि णूण पुरा अणुस्सुतं०' वृत्तं ॥१४१॥ नेति प्रतिषेधे, हि पादपूरणे, नूनमनुमाने, पुरा इति क्रमात् अतिक्रान्तकालग्रहणं, अनुगतं श्रुतं अनुश्रुतं, किंच तत् ?, उच्यते, वक्ष्यते हि–मुणिणा सामाइयं पदं, अथवा मुणेत्तावि अवितहं णो अधिट्ठितं, अवितहं णाम यथावत्, अधिट्ठितं णाम करणे, तदिदं मुनिना सामाइयं पदं आख्यातं इत्यर्थः, समता सामाइयं, तच्च अनेकप्रकारं, कतरेण मुनिना तदाख्यातं ?, 'णातएण जगसव्वदंसिणा'जगे सव्वं पस्सति जगसव्वदंसी,'एवं माता(मत्ता)महन्तरं०'वृत्तं ॥१४२॥ एवमधारणे, महन्तरं मत्वा-ज्ञात्वा, तत् कस्य कयोः केषां वा ?, उच्यते, सुत्तस्स य असुत्तस्स य, विरतीए अविरतीए, मोक्खसुहस्स संसारसुहस्स य सच्छासननयस्य मिथ्यादर्शनानां च, अथवा इमं धम्मं महत्तरं मत्वा कुप्रवचनेभ्यः, सहिता नाम ज्ञानादिभिः, बहवो जना इति अणंतातीतकाले सिद्धाः संपदं च, 'गुरुणो छंदाणुवत्तगा' गुरवः-तीर्थकरादयः छंदः-अभिप्रायः विरता भूत्वा विषयकषायेभ्यः तीर्णा भवौघं तरंति च, द्रव्यौघः समुद्रः भावौघस्तु संसारः, आहितमाख्यातं कथितमित्येकोऽर्थः इति चैतालीये द्वितीयोद्देशकः २–२ ॥

सूयणाधिकारे प्रस्तुते विदारणाधिकारोऽनुवर्त्तते, उक्तं हि–'उद्देसगंमि ततिए अण्णाणचियस्स अवचयो होहि । स च सुहसातस्स ण भवति, परीषहसहिष्णोर्भवति, स कथं ?, उच्यते 'संवुडकम्मस्स भिक्खुणो०' वृत्तं ॥१४३॥ संवृतानि यस्य प्राणव-

आत्म-हितादि

॥ ८८ ॥

अस्य पृष्ठे द्वितिय् अध्ययनस्य तृतिय उद्देशक: आरभ्यते

धादीनि कर्म्माणि स भवति संवुडकम्मा, इन्द्रियाणि वा यस्य संवृतानि स भवति संवृत्तः, निरुद्धानीत्यर्थः, यस्य वा यत्नवतः चंकमणादीनि कम्माणि संवृतानि, अथवा मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा यस्य संवृता भवंति स संवृतकर्म्मा, भिक्खणसीलो भिक्खू, जमिति अणिद्दिट्ठस्स णिद्देसे, दुक्खमिति कम्मं, पुट्ठं णाम बद्धपुट्ठणिधत्तणिकाइतं, अबोधिए णाम अण्णाणेण धम्मं अवुज्झमाणेणं, यावन्न ताव सुवुध्यते स्म तं संजमतो विवज्जति, तं पंचणालिविहाडिततडागदृष्टान्तेन, निरुद्धेसु च नालिकामुखेषु वातातापेनापि शुष्यते, ओसिच्चमाणं च सिग्घतरं सुक्खति, एवं संयमेण निरुद्धाश्रवस्य पूर्वोपचितं कर्म्म क्षीयते, आह–तपः अभ्यन्तरं, एवं उक्तः, दशप्रकारेन्द्रियादिसंलीणता उक्ताः इंद्रियपडिसंलीनता जोगपडिसंलीणता कसायपडिसंलीणत्ता, संवृतात्मकस्तु अनशनावमौदर्यादितपोयुक्तस्य उत्सिच्यमानमिवोदकं क्षिप्रं कर्म्मापचीयते, सेलेसिं पडिवण्णो उक्कोसो संवुडो, मणुस्ससंतियं 'मरणं हेच्च वयंति पंडिता' मोक्खं, अथवा म्रियते येन तन्मरणं, तच्च कर्म्म संसारो वा, तं हित्वा व्रजंति मोक्षं तेनैव भवग्गहणेण व्रजंति तान् प्रतीत्यादिश्यते–'जे विण्णवणाहिं झूसिता' वृत्तं ॥१४४॥ विज्ञापयंति रतिकामा विज्ञाप्यन्ते वा मोहातुरैर्विज्ञापनाः–स्त्रियः, जुषी प्रीतिसेवनयोः, अजुषिता नाम अनादृियमाणा इत्यर्थः, विज्ञापनासु हि पंचापि विषयाः स्वाधीनाशब्दादयः, उक्तं हि–'पुप्फफलाणं च रसं सुराएँ मंसस्स महिलियाणं च। जाणंता जे विरता ते दुक्करकारए वंदे ॥ १ ॥" संस्पृष्टा वा ताभिः, कौमारब्रह्मचारिणः ते 'संतिण्णेहि समं वियाहिता' सम्यक्तीर्णाः संवृतात्मानो भूत्वा संसारौघं तीर्णाः मोक्षं जिगमिषवोऽपि हि अतीर्णा अपि तीर्णा इव प्रत्यवसेयाः, विविधं आहिता वियाहिता 'तम्हा उड्ढंति पासध' तस्मादिति तस्मात्कारणात् यस्माद्विज्ञापनासु अजुषिता संतिण्णा हि संमं वियाहिया, तीर्णमबन्धकत्वं च प्रति समाः, ऊर्द्धमिति मोक्षः तत्सुखं वा, तं

असंवृतादि

॥ ८९ ॥

दृष्ट्वा कामभोगा द्रष्टव्या, एकार्बुदपरिश्रावणवत् व्रणालेपनबद्धा, पठ्यते च—'उड्ढं तिरियं अधे तथा' उड्ढं दिव्वा कामा अधे भवणवासिणं तिरियं तिरिक्खमणुस्सजोणिवाणमंतरा, ते तिविधेवि य दृष्ट्वा कामाणि रोगवत् अधिकं अत्यर्थं वा, यथा रोगा दुक्खावहा एवं कामा अपि, अट्ठविधकम्मरोगापत्तेः, सो भवति एवं, सेसावि आसवदाराणि जोएयव्वाणि, एयं संवुडत्तणं विरहं च कहं तरेज्ज ?, दिट्ठंतो 'अग्गं वणिएहि आहियं' वृत्तं ॥१४५॥ यदुत्तमं किंचित्तदग्गं, तद्यथा वर्णतः प्रकाशतः प्रभावतश्चेत्यादि, तच्च रत्नादि, तत्तु द्रव्यं वणिग्भिरानीतं राजानो धारयंति तत्प्रतिमा वा, तत्तु वस्त्रमाभरणादि वा, तथैव चाश्वो हस्ती स्त्री पुरुषो वा, यो वा यस्मिन् क्षेत्रे प्रधानं द्रव्यं धारयति, शब्दादिविषयोपगतः परिभुंक्त इत्यर्थः, राजस्थानीया जीवाः, जेहिं मिच्छत्तादि दोसे खवित्ता खयोवसममागिता वा वारसविधा वा कसाया ते परमाणि महव्वतरयणाणि राईभोयणवेरमणछट्ठाणि राजान इवाग्राणि रत्नानि वणिग्भिरानीतानि धारयंतीति अग्रं प्राधान्यं, पूर्वादिदिग्निवासिनामाचार्याणामयमर्थः, अपरदिग्निवासिनस्त्वेवं कथयंति—ते जे विण्णवणाहिं अजोसिता संतिण्णेहि समं विहायिता तेन सर्व्व एवायं लोकः महाव्रतानि प्रतिपद्यते, उच्यते, 'अग्गं वणियेहि आहितं', अग्गाणि—वराणि रयणाति वणिग्भिरानीतानि धारयंति शतसाहस्राण्यनर्घ्याणि वा राजान एव धारयंति, तत्तुल्या तत्प्रतिमा वा, कियन्तो लोकेऽस्ति वणिजः क्रायिका वा, एवं परमाणि महव्वयाणि रत्नभूतान्यतिदुर्द्धराणि तेषामल्पा एवोपदेष्टारो धारयितारश्च,'जे इह सायाणुगा णरा' वृत्तं ॥१४६॥ जे इति अणिद्दिट्ठस्स णिद्देसे सायं अणुगच्छंतीति सायाणुगा—इहलोगपरलोगनिरवेक्खा, एवं इड्ढिरससायागारवेसु 'अज्झोववण्णा' अधिकं उपपण्णाः अज्झोववण्णा तस्मिन्नेव सोतिंदियादिए इच्छामदणकामेसु वा मुच्छिता—गिद्धा गढिता अज्झोववण्णा,'किमणेण समं पगब्भिता' ते हि अइयारेसु पसज्जमाणा यदा



॥ ९० ॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ ९१ ॥

परैश्चोद्यंते तदा ब्रुवते–किमनेन स्वल्पेण दोषेण भविष्यति ?, वितथं वा दुष्पडिलेहितदुब्भासितअणाउत्तगमणादि, एवं थोवे थोवं पावमायरंता पदे पदे विसीदमाणा सुबहून्यपि पापान्याचरंति, उक्तं च–'करोत्यादौ तावत्सघृणहृदयः किंचिदशुभं०' दिट्ठंतो जहा एगस्स सुद्धे वत्थे पंको लग्गो, सो चिंतेति–किमेत्तियं करिस्सतित्ति, तत्थेवाज्झवसितं, एवं वितियं मसिखेलसिंघाणगसिणेहादीहिं सव्वं मइलीभूतं, अथवा मणिकोट्टिमे चेडरूवेण सण्णा वोसिरिता, सा तत्थेव घट्टा, एवं खेलसिंघाणादीणिवि कताणि, किं करिस्संतित्ति तत्थव तत्थेव घट्टाणि जाव तं मणिकोट्टिमं सव्वं लेक्खादीहि–श्लेष्मादिभिः मलिनिभूतं दुर्गंधिगं च जातं, भद्दगमहिसोवि एत्थ दिट्ठंतो भाणितव्वो, आचंलक्खो राया दिट्ठंतो य, एवं पदे पदे विसीदंतो किमणेण दुब्भासितेण वा स्तोकत्वादस्य चरित्तपडस्स मलिणीभविस्सति जाव सव्वो चरित्तपडो मइलितो, अचिरेण कालेण चरित्तमणिकोट्टिमं वा 'णावि जाणंति समाहिमाहितं' ते हि णिच्छयणयतो अण्णाणिणो चेव लब्भंति, पदे पदे विसीदत्तणा जया साधम्मिएहिं परेहिं वा चोइता भवंति तदा 'वाहेण जहा व विच्छले' वृत्तं ॥ १४७ ॥ वाहो णाम लुद्धगो तेण सरेण तालितो मृगोऽन्यो वा स तेण ताव परद्धो यावत् श्रान्तश्चत्वारिवि पादे विन्यस्य व्यवस्थितः ततो मरणं चाप्तः, अयं तु सौत्रो दृष्टान्तः, वाहेण जहा वच्छते, वाहतीति वाहः—शाकटिकोऽन्यो वा 'यथे'ति येन प्रकारेण तेन वाहेन विषमतीर्थश्रान्तो वा अवहन् प्रतोदेन विविधं क्षतः, अबलो नाम क्षीणबलः, भरोद्वहनं श्रान्तो वा, गच्छतीति गौः, भृशं चोदितः, चोद्यमानोऽपि न शक्नोत्युद्वोढुं, जेण तस्य तहिं अप्पथामता 'तस्से'ति तस्य गोः तस्मिन्निति पांसुनिकरे विषमे वा, अप्पथामया णाम जेण अवहंतो तोत्तग्गप्पहारे सहति, जइ थामवं होन्तो तो ण तुत्तग्गप्पहारे सहंतो, सव्वत्थाप्यचयंतो खलु से तीक्ष्णैः प्रतोदाग्रैः तुद्यमानो अवसीदति, अथवा से 'अन्तए' अन्त्यावामप्यवस्थायां अन्तशः

मलिनीभावादि ॥ ९१ ॥

'णातिचए' ण सकेति, अवसो विसीदति, एवं सोवि संयमादिनिरुद्यमः 'एवं कामेसणा विदू' वृत्तं ॥१४८॥ एवमवधारणे, उक्ता 'कामैषणा' कामकाममार्गणा, विदुरिति विद्वान्, कामविपाकं विदन्निह परत्र च कामपिशाचपीड्यमानश्चिन्तयति 'अज्ज सुए पयहामि संथवं' संथवो नाम पुव्वावरसंबंधो तं संथवं अद्य श्वः परश्वो वा प्रहास्यामि, स हि तं संथवं उत्सिसृक्षुरपि मुमुक्षुरपि कुटुम्बभरणादिदुःखैरेव हि विवक्षतो गौरिव न शक्नोति उत्सृष्टुं, अथवोपदेश एवायं–'एवं कामेसणं विदू' वृत्तं, एवमनेन प्रकारेण कामयन्त इति कामाः, एषणा मार्गणैव, विदुरिति विद्वान्, नाविद्वान्, कुटुम्बभरणे दुस्त्यजान् मत्वा तत्र वा शक्नोति गौरिवावहन् तुद्यते कृषिपशुपाल्यादिषु च कर्म्मसु वर्त्तमानो बाध्यते, एवं बह्वपायान् कामान् मत्वा अज्ज वा सुते वा संथवं श्रुत्वा च संथवं 'कामी कामे ण कामए' कमणीयाः काम्यंते वा कामाः इच्छामेसुवि जहा पण्डुमधुरुत्तरमधुराइ भाया संयोगविप्पयोगा, णिमंतिज्जमाणो वा जहा–कण्णाए य धणेण य णिमंतियो जोव्वणंमि गहवतिणा। णेच्छति विणीतविणयो तं वइररिसिं णमंसामि ॥१॥ अलद्धे–असंते पत्थेति उवज्जिणित्ता भुंजीहामि 'कण्हुइ'त्ति क्वचित् ग्रामे वा पुरे वा, अथवा हीणोत्तममध्यमे उपदेशः क्रियते तेसु तेसु पमत्तस्स 'मा पच्छ असाधुता भवे' वृत्तं ॥१४९॥ मा सेति इयं असाधुता, लप्स्यते नाम हिंसादिकर्म्मप्रवृत्तिः मरणकाले तप्स्यते, परत्र वा, उक्तं हि–"जहा सागडिओ जाणं, सम्मं हेच्चा महापहं। विसमं मग्गमोतिण्णो, अक्खे भग्गंमि सोयते ॥ १ ॥ सोयए चेव बहुं, अपत्थं आमकं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए।" एवं ज्ञात्वा 'अचेही अणुसास अप्पगं' अतीव अतीहि-अत्यन्तं क्रम इत्यर्थः, कुतः?–प्रमादात्, आत्मानमेवात्मना अनुशास्ति, किंच 'अधियं च असाधु सोयती' जधा असाधुता तहा तहाऽधिगं सोयति, इहापि ताव चोराती असाधूणि कम्माणि काउं गहिता सोयंति, किमु परत्र?, सूतंति च शरीरादिभिर्दुःखैर्बाध्यमानाः, शोचनं

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥ ९३ ॥

मानसस्तापः, निस्तननं तु वाचिकं किंचि, कायिकं च, सर्वतस्तप्यते परितस्तप्यते बहिरंतश्च, कायवाङ्मनोभिर्वा बहुंति–अपरिमाणं पंकोसण्णनागवत्, किं च 'इह जीवितमेव पस्सधा' वृत्तं ॥ ९५० ॥ 'इहे'ति इह मानुष्ये जीवति येन तत् जीवितं, एवमवधारणे, तरुणगो णाम असंपूर्णवया वा अन्यो वा कश्चित्, पठ्यते च दुर्बलं वा, वाससयं परमायुः ततो 'तिउट्टति' छिद्यते प्रत्यपायबहुलात्, वक्ष्यति हि–गब्भयमितिजंतित्ति गब्भया, 'इत्तरवासं च बुज्झथा' इत्तरमिति–अल्पकालमित्यर्थः, तं बुध्यत–अवगच्छत, एवमल्पेऽप्यायुषि बज्झपाये वा, तथापि नाम गृद्धा नरा कामेसु चिप्पित आक्रान्ता, न पुनरुत्तिष्ठंति तदुल्लंघनाय, किं च 'जे इह आरंभणिस्सिता' वृत्तं ॥ १५१ ॥ जे इति अणिद्दिट्ठणिद्देसे, इहेति इह मनुष्यलोके, पाषंडिनोऽपी भूत्वा शाक्यादयः आरंभे हिंसादि तण्णिस्सिता परदंडप्रवृत्ता आत्मानमपि दंडयंति, अथवा ण तेसिं इमो लोगो न परलोगो, तेनात्मानं दण्डयंति,'एगंतलूसगा' एगन्तहिंसगा इत्यर्थः, येऽपि स्वयं न घातयन्ति तेऽपि उद्दिश्यकृतभोजित्वाद्वधनमनुमन्यन्ते, एवंविधा 'गंता ते पावलोगयं' गंतारो नाम गमिष्यन्ति, पापानि पापो वा लोगः नरकः, 'चिरकालं'ति बहूणि पलिओवगसागरोवमाणि, आसुरिका दव्वे भावे य, आसूरियाणि न तत्थ सूरो विद्यते, अथवा एगिंदियाणं णत्थि जाव तेइंदिया असूरा वा भवंति, दिसन्ति दिश्यत इति दिग् दिग्गहणादट्ठादशप्रकारा भावदिक्, एवं गिहिणो विव इत्थं आरंभणिस्सिता आतदंडा एगंतलूसगा ते, न खंतिया, 'ण य संखयमाहु जीवितं' वृत्तं ॥१५२॥ असंस्करणीयं असंस्कृतं, उक्तं हि–'दंडकलितं करेन्ता वचंति हु राइणो य दिवसा य। आयुं संवेल्लेन्ता गता य ण पुणो णियत्तिन्ति ॥ १ ॥ तहवि य णाम बालजणो हिंसादिषु पापकर्म्मसु प्रवर्त्तमानः प्रगल्भीभवति धृष्टीभवतीत्यर्थः, यद्यपि च पापकर्म्माण्याचरन् परेणोच्यते–किं परलोगस्स ण बीभेसि ?, ततो भणति–'पच्चुप्पण्णेण का-

जीवितालप्त्वादि

॥ ९३ ॥

रितं, को दट्ठुं परलोगमागते?' प्रत्युत्पन्नेनैव सौख्येन कार्यं, को हि दृष्ट्वा स्वर्गं मोक्षं वा तत्सुखं वा परलोकादायातः?, कथं वा साक्षाददृश्यमानः परलोकोऽस्तीत्यध्यवसेयः, उच्यते–'अदक्खुव दक्खु आहितं' वृत्तं ॥ १५३ ॥ न पश्यतीति अदक्खु अदक्खुणा तुल्यं अदक्खुवत्, दक्खू णाम द्रष्टा, दक्खूणा व्याहृतं दक्षुवाहितं श्रद्धस्व, हे अदक्खुदंसणो!, योऽपि कार्याकार्यानभिज्ञो सोऽपि अंध एव, न दक्खुदर्शनी, 'हन्हि हि खु निरुद्धदंसणे' हंदीति संप्रेषणे, हि पादपूरणे, दृश्यते येन तद्दर्शनं, निरुद्धं दर्शनं यस्य स भवति निरुद्धदर्शनः, तत्केन?, मोहनीयेन कर्म्मणा निरुद्धं, मिच्छादिट्ठी, एवं चारित्रनिरोधेन चरित्ते अचरित्ते वा भावना, निरुद्धं तव ज्ञानं-सन्निकृष्टं, केन ज्ञास्यसि परलोकं?, अथवा निरुद्धमिति ज्ञानं तं, न चक्षुर्दर्शनं, तत्कथं परलोकं द्रक्ष्यतीति, आत्मादीनि वाऽचाक्षुषाणि, 'दुक्खी मोहो पुणो पुणो' वृत्तं ॥ १५४ ॥ दुःखमस्यास्तीति दुःखी तैस्तैर्दुःखैः पीड्यमानः पुनः मोहमुपार्जयति, मुज्झति जेण मोहिज्जति वा स मोहः कर्म्मेत्यर्थः, संसारमनुपरीति, यतश्चैवं ततो'निव्विंदेज्ज सिलोगपूयणं' सिलोगो नाम श्लाघा यशःकामता, पूजा आहारादिभिः, दोण्णिवि णिव्विन्देज्ज–गरहेज्ज, सक्कारपुरक्कारौ न प्रार्थयेदयमर्थः,'एवं सहिते धिपासिया' एवमनेन प्रकारेण, सहितो णाम ज्ञानादिभिः, अधियं पस्सिया आयतुले पाणेहि भविज्जसित्ति, यदात्मनो नेच्छसि तत्परेषामिति, योऽपि तावत् 'गारंपिअ आवसे णरे' वृत्तं ॥ १५५ ॥ आगारत्वं, अपिशब्दार्थः सम्भावने, किमुतानगारत्वं, आवसतीत्यावसे, अनुपूर्वं नाम पूर्वं श्रवणं ततो ज्ञानविज्ञाने संयमासंयमश्च, इह तु संयमासंयमो अधिकृतः दुवालसविधं सावगधम्मं फासितो 'समया सव्वत्थ सुव्वते' समभावः समता तां समतां सव्वत्थ भावसमता, कडसामाइए हि सव्वत्थ समतां भावयति, तदनु चाकृतसामायिकः, शोभनव्रतः सुव्रतः, 'देवाणं गच्छे सलोगतां' समानलोगत सलोगतं,

अदक्षुदर्शनादि

॥ ९४ ॥

विविक्तवसंभचेरदेवाणं सलोगतं, किं पुण जो महव्वयाइं फासेति ?, यतश्चैवं श्रावका अपि देवलोकं गच्छंति जिनेन्द्रवचनानुशास्ताः, तेण 'सोच्चा भगवानुशासनं' वृत्तं ॥१५६॥ अनुशास्यते येन तदनुशासनं श्रुतज्ञानमित्यर्थः, अथवा अनुशासनस्य-श्रावकधर्मस्य फले 'सच्चे तत्थ करे उवक्कमं' सत्ये-अवितथे सद्भ्यो वा हितं सत्यं सत्यवचनं नानृतं संयमो वा, तत्र कुर्या-दुपक्रमं, उपक्रमो नाम यथोपदेशः, अथवा सत्यमिति सत्यं, तत्थ करेज्ज उवक्कमंति, न वितथं, 'सव्वत्थ विणीतमच्छरे' सर्वत्रेति सर्वार्थेषु येन विनीतो मत्सरः स भवति विनीतमत्सरः, मत्थरो नामाभिमानपुरस्सरो रोषः, स चतुर्द्धा भवति, तंजहा-खेत्तं पडुच्च वत्थुं पडुच्च उवधिं पडुच्च सरीरं पडुच्च, एतेसु सव्वेसु उप्पत्तिकारणेसु विनीतमत्सरेण भवितव्वं, तत्थ जातिलाभतपो-विज्ञानादिसंपन्ने च परे न मत्सरः कार्यः यथाऽयमेभिर्गुणैर्युक्तोऽहं नेति, तद्गुणसमाने च, दव्वुंछं उक्खल्लुखलगादि भावुंछं अज्ञा-तचर्या, विशुद्धं नाम उग्गममादीहि कल्पितं 'आहरे' आदद्यात्, एवं 'सव्वं णच्चा अहिट्ठए धम्मं' वृत्तं ॥१५७॥ सर्वं ज्ञेयं यावत् शक्तिर्विद्यते तावदध्येयं, ज्ञात्वा च अकृत्यं न कर्त्तव्यं, कृत्यमाचरितव्यमिति, उक्तं हि-"ज्ञानागमस्य हि फलं०"अधि-ट्ठए धम्मं, णाणादीणि वा, धम्मेण जस्स अत्थो स भवति धम्मट्ठी, तपोपधानवीर्यवान्,'गुत्ते जुत्ते सदाजते'त्ति त्रिगुप्तः, जुत्तो णाम णाणादीहिं तवसंजमेसु वा सदा-नित्यकालं जतेत यत्नवात् स्यात्, कुत्र यतेत ?, तदिदमात्मपरे, आत्मनि परे च आत-परे, णो अत्ताणं अतिवातेज्ज णो परं अतिवातेज्जिति, आत्मनः परं आत्मेसु वा परं, किं तं ?, आयतार्थिकत्वं, अत्थो णाम णा-णादि, आयतो णाम दृढग्राहः, आयतविहारक्रमित्यर्थः, 'वित्तं पसवो य णातयो' वृत्तं ॥ १५८ ॥ वित्तं-हिरण्णादि पसवो-गोमहिसाजाविगादि णातयो-मातापितासंबंधिणो, बालजणो सरणंति मण्णती, एतान् बालजनः शरणं मन्यते, एते हि मां दुःखा-

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥ ९६ ॥

त्परित्रास्यंति इह परत्र च, तं च न भवति, कथं ?, इह तावत्–सयणस्सवि मज्झगतो रोगाभिहओ किलिस्सए एगो। सयणोवि य से रोगं ण विरिंचिति णेव णासेति ॥१॥ सव्वणयहेतुसिद्धं अप्पाणं जाण णिच्छएणेकं' यथा ते मम न त्राणाय तथाऽहमपि न तेषां त्राणाय शरणं च, इतश्च न भवति शरणं, यतः 'अब्भागमियंसि वा दुहे' वृत्तं ॥ १५९ ॥ अभिमुखं आगामिकं अभ्यागमिगं–व्याधिविकारः, स तु धातुक्षोभादागंतुको वा, उपक्रमाज्जातमित्युपक्रमिकं, अनानुपूर्व्या इत्यर्थः, निरुपक्रमायुः करणं, भवंतो नाम भवान्ते मरणमेव, का भावना ?, तद्धि यद्बालमरणं न भवति, जराक्रामाद्युपक्रमतो वा फलप्रपातवत्, तस्यैवंविधमृतस्य 'एगस्स गती च आगती' एकस्येति पशुज्ञातिहीनस्य, एवं विदुः मत्वा न तां वित्तपशुनातिं च शरणं मन्यते,'सव्वे सयकम्मकप्पिया' वृत्तं ॥ १६० ॥ सर्वे इत्यपरिशेषाः, स्वैः कर्मभिः कल्पिताः प्रविभक्तविशेषा इत्यर्थः, तद्यथा-पृथिविकायिकत्वेन०, कृती च्छेदने, न विकृतं अच्छिन्नमित्यर्थः, अवियत्तेन वा अधिगच्छंतेनेत्यर्थः,'दुहिणे'त्ति दुःखिनः प्राणिनो जीवा 'हिंडंति भयाकुला सढा' भयैः आकुला भयाकुला, भयानि सप्त, भयानि वा दुःखं, तेणाकुलाः, सढा नाम तपश्चरणे निरुद्यमाः शठीभूता वा, पापकर्मभिः ओतप्रोता इत्यर्थः,'वाहिजरामरणेहि भिदुता'नारकतिर्यग्मनुष्येषु व्याधिः जरा तिर्यङ्मनुष्येषु मरणं चतसृष्वपि गतिषु, 'इणमो खणं वियाणिया'वृत्तं ॥ १६१ ॥ 'इणमो'त्ति इदं क्षीयत इति क्षणः, सतु सम्मत्तसामाइयादिचतुर्विधस्यापि, एक्केक्कः स चतुर्विधो खणो भवति, तंजहा–खेत्तखणो कालखणो कम्मखणो रिक्खखणो, एते चत्तारिवि जहा लोगविजए पढमे उद्देसए 'खणं जाणाहि पंडिए'त्ति सुत्ते भणिता तथा भणितव्वा, विविधं जाणिया विजाणिया,'णो सुलभं बोधी य आहितं' बोधी णाणाति तिविधो आहितमारव्यातं,उक्तं च-"लद्धेल्लियं व बोधिं अकरेंतोऽणागयं च पत्थंतो। अण्णं दाइं बोधिं लब्भिसि कयरेण मोल्लेणं ?॥१॥"

अत्राणादि ॥ ९६ ॥

विराहितसामण्णस्स हि दुल्लभा बोधी भवति, अवडुं पोग्गलपरियट्टं उक्कोसेणं हिंडति, 'एवं सहितेहि पस्सिया' एवं मत्वेति वाक्यशेषः, णाणातीसहितो अधिया(वा)सए परीसहे, पठ्यते च 'एवं सहिते अधिया(वा)सए' अधिया वासए अधिवासए, यदुक्तमेवमेतत्, क एवमाह-'आह जिणे इणमेव सेसगा' रिसभसामी भगवं अट्ठावए पुत्तसंबोहणत्थं एवमाह इदमेव, जे वाऽजिताद्याः शेषका जिनाः ते प्राहुः, किमतिक्रान्ता अनागताश्चैवं जिनाः कथितवन्तः कथयिष्यंति च ?, ओमित्युच्यते 'अभविंसु पुरापि भिक्खवो' वृत्तं ॥ १६२ ॥ अभविष्यन्नतिक्रान्ताः भिक्षव इति आमन्त्रणं, 'आएसावि भविंसु सुव्वता' आदेशा इति आगमेस्सा 'एताइं गुणाइं आहिते' एते ये उक्ता इहाध्ययने अप्रमादादिगुणा सिद्धिगमणसफला काश्यपो उसभस्वामी वद्धमाणस्वामी वा अनुगतो अनुकूलो वा अनुलोमो वा अनुरूपो वा धर्म्मः अनुधर्म्मः काश्यपस्यानुचरणशीलाः, द्विधा समासः क्रियते-कासवो जं अणुधम्मं चरति जो वा कासवस्स अणुधम्मं चरंति ते च गुणा उक्ताः, पुणरपि चोच्यन्ते-'तिविधेणवि पाण मा हणा' वृत्तं ॥ १६२ ॥ त्रिविधेन योगत्रयकरणत्रयेण, प्राणाः आयुःबलेन्द्रियाः प्राणाः ते मा हण आत्मनोऽहितं, अणिदाणो ण दिव्वमाणुस्सएसु कामभोगेषु आसंसापयोगं करेति, इंद्रियणोइन्द्रिएसु संवुडो, 'एवं सिद्धा अणंतगा' एतं मग्गं अणुपालित्ता अतीतकाले अणंता सिद्धा, संपतं संखेज्जा सिज्झंति, अणागते अणंता सिज्झिस्संति, अवरे नाम ये वर्त्तमाना आगमिष्याश्चेति, 'एवं से उआहु अणुत्तरणाणी अणुत्तरदंसी ॥ १६४ ॥ एवमवधारणे 'स' इति सो उसभसामी अट्ठाणउतीए सुताणं 'आह' कथितवान्, अणुत्तरणाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरणाणदंसणधरो, एतेण एकत्वं णाणदंसणाणं ख्यापितं भवति, 'अरहा णायपुत्ते' पूजादीनर्हतीत्यर्हन् नास्य रहस्यं विद्यते वा अरहा ज्ञातस्य पुत्रः, णातकुलपसूते सिद्धत्थखत्तियसुते भगवान्-ऐश्वर्यादियुक्तः, 'वैसाली-

प्रत सूत्रांक ||१४३-१६४||

दीप अनुक्रम [१४३-१६४]

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः उप० १ ॥ ९८ ॥

ए'त्ति गुणा अस्य विशाला इति वैशालीयः, विशालं शासनं वा इक्ष्वाकुवंशे भवो वैशालीयः, 'विशाला जननी यस्य, विशालं कुलमेव वा। विशालं [प्र]वचनं चास्य, तेन वैशालिको जिनः ॥१॥ 'वियाहितो' व्याख्यातः, इति-एवं जंबूस्वामिनः वृद्धभगवानार्यसुधर्मा कथयति-एवं से उदाहु जाव वियाहितो, 'इतिः' परिसमाप्तौ, अथवा एवमर्थः, एवं इति वेमि, सुधम्मसामिस्स वयणमिदं, भगवता सर्वविदा उवदिट्ठं अहमवि वेमि, नयाः पूर्ववत् ॥ **इति वैतालीयाख्यं द्वितीयमध्ययनं समाप्तं ॥**

इदाणीं उवसग्गपरिण्णत्ति अज्झयणं, तस्सवि चत्तारि अणुयोगदारा परूवेयव्वा, अधियारो दुविधो-अज्झयणत्थाहियारो उद्देसत्थाधियारो य,अज्झयणत्थाधियारो सव्वे उवसग्गा जाणित्ता सम्मं अधियासेतव्वा,उद्देसत्थाधियारो'**पढमंमि य पडिलोमा०**' गाथा ॥ ४९ ॥ पढमे उद्देसए पडिलोमा जहा पुट्ठे दंसमसएहिं तणफासमचाइता आयपरतदुभयसमत्था उवसग्गा भण्णंति, बितिए तु मायादि अणुलोमा उवसग्गा अण्णे य रायमादी पाएण अणुलोमे उवसग्गे उप्पायंति, ततिए उद्देसए अज्झत्थविसेसोवदंसणं भण्णिहिति, के जाणंति विउवातं? इत्थीओ उदयाओ वा, परवादी वयणं संबुद्धा समकप्पाओ अण्णमण्णेहि मुच्छिता परसमयिका परतित्थियभाविता य उवसग्गा उप्पाएन्ति, 'हेउसरिसेहिं' गाथा ॥५०॥ चउत्थुद्देसए हेतुसरिसा अहेतू भण्णिहिति, जहा मंथवई णाम सीलक्खलितकुतित्थिया एवं परूविन्ति हेत्वाभासादि, अहेतवो भूत्वा हेतुमिवात्मानमाभासयंति हेत्वाभासस्स 'समयपडितेहिं' ससमयजोगेहिं, जो तेसिं समया जुज्जमाणया णिउणा भणिता, अथ आयरिओ ससमयपडितेहिं णिउणेहिं दिट्ठंतेहिं तेसिं सीलखलियताणं अण्णउत्थियाणं पण्णवणं करेति चउत्थे, एवं दुविधोऽवि अत्थाहियारो भणितो। इदाणिं णामणिप्फण्णो णिक्खेवो. तत्थ गाथा '**उवसग्गंमि य छक्कं०**' गाथा ॥ ४५॥ णामठवणाओ तहेव, वइरित्तो दव्वोवसग्गो दुविधो-चेतनदव्वोवसग्गो य

उद्देशार्थाधिकारः

॥ ९८ ॥

अस्य पृष्ठे तृतिय् अध्ययनस्य आरभ्यते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता.....आगमसूत्र-[०२], अंग सूत्र-[०२] "सूत्रकृत" जिनदासगणि विहिता चूर्णि:

प्रत सूत्रांक ||१६५-१८१||

दीप अनुक्रम [१६५-१८१]



अचेतनदव्वोवसग्गो चेतनदव्विगं जं तिरक्खमणुआ णियगसरीरावयवेण आहणंति, अचेतणदव्विगं तं चेव लउडादीहिं, अथवा अभिघातो तडिमादि उवरिं पडति, अथवा उवसग्गो दुविधो–आगंतुगो पीलाकरो य, आगंतुगो चउप्पदलउडादीहि, वातियपेत्तियादि, खेत्तोवसग्गो 'जं खेत्तं बहु ओघभवं' गाथा ॥४६॥ ओघो बहुगं उप्पण्णं बहूपसग्गो, जहा बहुउवसग्गो लाढाविसयो, जहिं भट्टारगो पविट्ठो आसि छउमत्थकाले सुणगादीहि तत्थ णिद्धम्मा खवेंति, ओहभयं भवति जहा भरहवासे, कालोवसग्गो एगंतदूसमा, सीतकाले वा सीतपरीसहो वा णिदाघउसिसिणकाले उणपरीसहो वा,एवमादि कालोवसग्गो भवति, भावोवसग्गो कम्मोदयो, सो पुण दुविधो–ओहतो उवक्कमतो वा, ओहतो जहा णाणावरणं दंसणमोहणीयं असुभणामं णियागोत्तं अन्तरायिकं कम्मोदयितं, उवक्कमियं जं वेदणिज्जं कम्मं उदिज्जति। 'दंडकससत्थरज्जू' गाथा 'उवक्कमिए संजमविग्घकारए०' गाथा ॥४७॥ जे संजमा उवक्कामेन्ति उवसग्गा तेहिं अहिगारो, जेण वा दव्वेहि वा तं कम्मं उदीरिज्जति, जेण संजमाओ उवक्कमाविज्जति तेणवि अधियारो, ते चउव्विधा-दिव्वा तिरिक्खजोणिया माणुस्सा आयसंवेतणिया, दिव्वा चउव्विधा–हासा पदोसा वीमंसा पुढोवेमाता, मणुस्सावि चउव्विधा–हासा पदोसा वीमंसा कुसीलपडिसेवणता, तिरिया चउव्विधा–भया पदोसा आहारा अवच्चलेणसारक्खणता, आयसंवेतनीया चउव्विधा–घट्टणता लेसणता थंभणता पवडणता, अथवा वातिता पेत्तिया संभिया सन्निवाइया, एवं 'एक्केक्को चउविहो०' गाथा ॥४८॥ अट्ठविहो कहं होति ?, एक्केको अणुलोमो पडिलोमो य, अथवा सव्वेऽवि सोलसविधा उवसग्गा, चत्तारि चउक्कगा सोलस भवंति, एवं उवसग्गा जाणितव्वा जाणणापरिण्णाए, पच्चक्खाणपरिण्णाए अधिआसेतव्वा, परिहरंतेण तहा तहा घडितव्वं परक्कमियव्वं जहा परीसहा णिज्जेज्जंति। गतो णामणिप्फण्णो। सुत्ताणुगमे सुत्तमुच्चारेयव्वं,'सूरं





अस्य पृष्ठे तृतिय् अध्ययनस्य प्रथम उद्देशक: आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥१६५-१८१॥

दीप अनुक्रम [१६५-१८१]

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१००॥

मण्णति अप्पाणं०'सिलोगो ॥१६५॥ कश्चित्संग्रामे उपस्थितो स्वाभिप्रायेण शूरमित्यात्मानं मन्यमानो वाग्भिर्विस्फूर्जन्नुपतिष्ठति जाव जेयं ण पस्सति, जियति जिनाति वा, गर्जते कलभस्तावद्, घनमाश्रित्य निर्भयः। गुहान्तरविनिष्क्रान्तं, यावद्दिंसहं न पश्यति ॥१॥ तावद्गजः प्रश्रुतदानगंडः, करोत्यकालांबुदगर्जितानि। यावन्न सिंहस्य गुहास्थलीषु, लाङ्गूलविस्फोटरवं शृणोति ॥२॥ णिदरिसणं 'जुज्झंतं दढं धनुर्यस्य स भवति दढधन्वा तं 'सिसुपालो व महारधं' मधारथो–केसवो शिशुपालेन तुल्यं शिशुपालवत्, स किल माद्रीसुतः चतुर्भुजो जातः, भीतया पश्चात् तया नैमत्ती पृष्टः–किमिदं रूवं ?, तेनापदिश्यते–महाद्भुतमेतत्, यं दृष्ट्वाऽस्य एतौ द्वौ भुजौ स्वाभाविकौ भविष्यतः ततोऽस्य मृत्युरिति, ततः सा माद्री दारकजन्मवर्द्धापकानामागतानां तं दारकं दर्शयति स्म, यथार्हं च पादेष्वपातयत्, वासुदेवस्य चागतस्य तमालोक्य तौ भुजौ नष्टौ, पश्चात्तस्य मात्रा वासुदेवोऽभयं याचितः, तेनापदिश्यते–अपराधशतमस्य क्षमयिष्यामि, ततोऽसौ प्रवृद्धं वासुदेवं समक्षं परोक्षं वा गोपालवत्सपालादिभिराक्रोशैराक्रुष्टवान्, आज्ञाप्रतिषेधादींश्चापराधान् कृतवान्, ततोऽपराधशते पूर्णे क्वचिदेव अभिमुखमापतंतं आक्रोशंतं मत्पथोऽसर्प्पस्व इति, नाहमपथा गच्छामि, अल्पेनैवायासेन चक्रधुक् सुदर्शनं चक्रधारातिपातेन शिरश्छिन्नं कृतवानिति परोक्षो दृष्टान्तः, अयं तु प्रत्यक्षः 'पयाता सूरा रणसीसे०' वृत्तं ॥ १६६ ॥ भृशं याताः प्रयाताः, शयति शय्यते वा शूरः, महत उक्किट्ठिसीहणातबोलकलकलसद्देणं प्रयाताः, रणसीसं णाम अग्गाणीकं, समस्तं ग्रास्यते ग्रस्यन्ते वा तस्मिन्निति संग्रामः, उपस्थितो णाम अन्योऽन्यबलेषु संग्रामायोपस्थितेषु, माता पुत्तं ण याणाति, अमातापुत्री यदा संग्रामो भवति, का भावना ?, तस्यामवस्थायां माता पुत्रं मुक्तं उत्तानशयं क्षीरहारमजंगमं भयोद्भ्रान्तलोचना अच्चादण्णा ण याणाति–नापेक्षते, न त्राणायोद्यमते, हस्तात्कटीतो वा भ्रस्यमानं भ्रष्टं वा

शिशुपालवृत्तादि

॥१००॥

वा न जानीते 'जेतेण परिविच्छिते' जयतीति जेता अतस्तेन जेत्रा, तेण जयएण, परि सव्वतो भावे समंता वाणादिभिरायुधैस्तैः कृतः परिविच्छिते, सव्वतो छिण्णमित्यर्थः,'एवं सेहेवि अप्पुट्ठे' सिलोगो ॥१६७॥ अपुट्ठो णाम अप्पुट्ठधम्मो, अस्पृष्टो वा परीषहैः, अदृष्टधर्मा इत्यर्थः, भिक्खूणं चरिया भिक्खुचरिया, कोविदो विपश्चित् न कोविदो अकोविदो, न तावत्परिषहोपसर्गैः विकोविदः, सो पव्वयंतो चिंतेइ भणति य–किं पव्वज्जाए दुक्करं काउंति ?, किं णिच्छियस्स दुक्करं ?, णणु सीहवग्घेहिंवि समं जुज्झिज्जति, संगामे य पविसिज्जति, अग्गिपडणं च कीरइ, एवं अदिट्ठपरीसहो सूरं मण्णति अप्पाणं तपःशूरं, जहा दव्वसंगामे कुंतासिबाणगहणेसु, युद्धे उवट्ठिते केइ परबलसद्दं सोऊण चेव णस्संति, केइ पवृत्ते प्रहताः अप्रहता वा, केइ मारिज्जंति, एवं भावसंग्रामेऽवि सूर मण्णति अप्पाणं जाव लूहं ण सेवएत्ति, रूक्षः–संजम एव, रूक्षत्वात् तत्र कर्म्माणि न श्लिष्यंति, रूक्षपटे रजोवत्, तत्र केचित् दृष्ट्वैव साधून् जल्लादीहिं लिप्ताङ्गान् केचिदर्द्धकृते लोचे केचित्परिसमाप्ते केशान् उत्स्रष्टुं गतास्तत एव यांति, उक्ता ओघउपसर्गाः। इदाणिं विभागशः उपदिश्यन्ते, तत्थोवसग्गा परीसहा य एगं चेव काउं उवदिस्संति 'जदा हेमंतमासम्मि' सिलोगो ॥ १६८ ॥ यत्रातीव शीतं भवति वर्षवर्दलादयो वा तीव्रवाता भवंति, वातग्रहणात् सीघवग्घविरालोपाख्यानं, यथा पोसे वा माहे वा 'तत्थ मंदा विसीदंति' तस्मिन् काले तत्र मंदा उक्ताः, विविधं सीदंति विसीदंति, अहो इमा सुदुक्करा पव्वज्जा, बहवो परीसहोवसग्गा विसहितव्वा, ते एवं चिंतेंता सीयाभिभूया 'रट्ठहीणा व खत्तिया' जहा परबलेण उच्छादिते रट्ठे हितसारे य परबलक्कंते विलुप्यमाने वा, खत्तिओ णाम राया, सो जहा सोयति, एवं सेहोऽवि णिरग्गिगे रण्णे गुत्तावगुत्तावसधीसु सीताभिहुतो विचिंतेति–किमेवंविधाए पव्वज्जाए गहियाए ?, भणितो सीतपरीसहो, एष एवोपसर्गः, तत्पुरुषोऽयं

समासः। तदिदाणीं उण्हपरीसहोऽपदिस्सति 'पुट्ठो गिम्हाभितावेणं' सिलोगो ॥ १६९ ॥ अभिमुखं तापयतीति अभितापः, अशोभनमनाः विमनाः कर्पूरवासितोदगं कंधरावरादि वा चिंतेंतो, अथवा तपं प्रति विगतं मनोऽस्य स भवति विगतमनाः, पातुमिच्छा पिपासा, सुट्ठु पित्तासितो 'मच्छा अप्पोदए जहा' तदल्पत्वादतीव तप्यन्ते बहिरुदकतापेन अंतश्च मनस्तापेन तप्यमानाः यथा सीदन्ति एवमसावपि जलमलस्वेदक्लिन्नगात्रो बहिरुष्णाभितप्तः शीतलान् जलाश्रयाद्यान् धारागृहाणि चन्दनादीश्चोष्णप्रतीकारान् अनुस्मरन् भृशं अनुशोचते व्याकुलचेता भवति, वुत्तो उण्हपरीसहो। इदाणिं जातणापरीसहो–'सदा दत्तेसणा दुक्खं' सिलोगो ॥ १७० ॥ सदेति सव्वकालमविश्रामेन दत्तग्रहणात् जातितं दत्तं च, जाइयदत्तमप्येसणीयं च, दुक्खं खुधातिसाभिभूतेहिं तं परिहरितुं, दुक्खं च पडिसेहिज्जति अणेसणिज्जं, साम्प्रतसुखाभिलाषी पडुप्पण्णभारिओ जीवो दिंतगा य रूस्संति 'जायणा दुप्पणोल्लिया' दुःखं प्रणुद्यते जायणा बलदेववत्, वत्तारो य भवंति–कम्मत्ता दुब्भगा चेव०कृषीपशुपाल्यादिभिः कर्म्मान्तैरार्त्ता अभिभूता इत्यर्थः, स्त्रीमित्रज्ञातिस्वामिनां दुब्भगा इति, आहुः पृथक् पृथक् जनो विस्तरा वा जनाः पृथग्जनाः, 'एते सद्दे अचाअंता' सिलोगो ॥१७१॥ शब्द्यते अनेनेति शब्दः, अचाएंता णाम अशक्नुवन्तः सोढुं, क्वोदीर्यन्ते ?, उच्यते, 'गामेसु नगरेसु व.' वा खेडभिकल्पे कब्बडादीसुवि, 'तत्थ मंदा विसीदंति संगामंमि व भीरुणो' भीरुवो हि संग्रामे प्राप्ते मरणभयाद्विषीदंति, ऊरू खंभाइज्जंति, खिन्नचित्ता भवंति, 'अप्पेगे खुज्झि(ब्भिते)भिक्खू' सिलोगो ॥१७२॥ अपि एके, न सव्वे, खुज्झितो णाम क्षुधितः पिपासुर्वा, तं क्षुत्तृष्णाप्रतियोगार्थमटंतं 'सुणी दंसती'ति सुणी लूषयतीति लूषकः भक्षक इत्यर्थः, 'तत्थ मंदा विसीदंति' संयमोद्यमं प्रति सीदंति, दिट्ठंतो 'तेऊपुट्ठा व पाणिणो' तेजोनाम अग्निस्तेन दवाग्निना

अन्यतमेन वा तेजसा शशमूषकमार्जारकोलवृकक्षुपकलतावितानवृक्षादयो दह्यमानाः संकुचंति, प्राणिनोऽपि दह्यमाना विसीदंति। 'अप्पेगे पडिभासंति' सिलोगो ॥१७३॥ समन्ताद्भापन्ते परिभापन्ते, पथ्यतेऽनेनेति पंथाः पन्थानं प्रति योऽन्यः पन्थाः स प्रतिपथः प्रतिपन्था वा तेन गच्छतीति प्रातिपथिकः तं, गामानुगामं रीयंतं केइ पाडिपंथगाः पडिभासंति, अथवा यो यस्य विलोमकः स तस्य प्रातिपथिको भवति, ते, न तु सर्वे एव, कुतीर्था-सन्मार्गविलोपकाः, कथं ?, अणुसोयपट्ठिए बहुजणंमि, साधवो हि प्रतिश्रोतसा मोक्षमभि प्रस्थिताः, कुतीर्थास्त्वनुश्रोतसा, किं भापंते-'पडियारगया एते' करणं कृतिर्वा कारः कारं प्रति योऽन्यः कारः प्रतिकारस्तं गताः पंडियारगताः, पडियाइं कम्माइं वेदंति, एते हि अण्णाए जातीए पंथा उच्छूढा तेण णिइणा हिंडति, ण य दत्ताइं दाणाइं तेन न लभंति, लद्धेऽपि य ण गेण्हंति, ण चोदगाणि दत्ताणि तेण ताणि ण पिबंति, 'जे एते एव जीविणो'त्ति जे एतेवं जीवणसीला, तंजहा कंजिगउसिणोदगादीहिं अन्ताहारेण जीवंति, पठ्यते च-'तद्दारवेयणिज्जे ते' जेहि चेव दारेहिं कितं तेहिं चेव वेदिज्जतित्ति तद्दारवेदणिज्जं, जहा अदत्तदाणा तेण ण लभंति, सेसं तहेव। 'अप्पेगे वइं जुंजन्ति' ॥ १७४ ॥ अप्येके, न सर्वे, वाचं जुञ्जंति वाचमुदीरयन्तीत्यर्थः, अहो एते 'चरगा पिंडोलगा' पिंडेसु दीयमानेसु उल्लेति पिंडोलगा, अधमजातयः ब्राह्मणा उत्तमाः क्षत्रियाः वैशा मध्यमाः शूद्रा अधमाः, ब्राह्मणस्य किल भिक्षा इष्टा क्षत्रिये कृपी, अवशेषास्तु अवलगन्ति-क्लेशं कुर्वन्ति तेन तत् पिण्डोलगाः, मुण्डेत्यशिष्टाः, स्वेदमलमत्कुणादिभिः खाद्यमाना अङ्गुलीनखशुक्तिशलाकादीनां कण्डुइतमंगैः विणट्ठंगा 'उवज्जलंति' उवचितजल्ला मलसकटाच्छादिताङ्गत्वात्, उज्जायंति वा, पठ्यते च-उज्जाओ मृगो, नष्ट इत्यर्थः, उज्जातमृगसमाः 'असमाहितं'ति अशोभना विवृताङ्गत्वात् अथवा असमाहिता-दुःखिता 'एवं विप्पडिवण्णेगे०' ॥ १७५ ॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१०४॥

सिलोगो, एवमनेनप्रकारेण न सम्यक् प्रतिपन्नाः विप्रतिपन्ना एगे मिथ्यादृष्टयः, स्वयमजानकाः न च ज्ञानवतां शृण्वन्ति, अज्ञानं हि तमो, ते ततो अण्णाणतमातो तमन्तरं वा याइ, उक्कोसकट्ठितीयं मोहणिज्जं कम्मं बंधंति, एवं णाणावरणिज्जं दंसणावरणिज्जं, एगिंदियाइयाइसु वा एगंततमासु जोणीसु उववज्जंति, णिच्चंधकारेसु वा णरएसु, बुद्धीए मंदा मोहो–अण्णाणं पाउता–छण्णा, अथवा मतिमंदा इत्थिगाओ य, मंदविण्णाओ स्त्रीमोहेण, उक्ताः शब्दाः। इदाणिं फासा 'पुट्ठो य दंसमसएहिं' सिलोगो ॥१७६॥ सिंधुतामलित्तिगादिसु विसएसु अतीव दंसगा भवंति, अप्रावृतास्तैः भृशं बाध्यमानाः शीतेन च अत्थरणपाउरणट्ठताए तणाइं सेवमाणा तेहिं विज्झंति, अचाइया अधियासितुमिति वाक्यशेषः, इदं च दुःखमधिसह्यते यदि नाम परः लोकः स्यात्, स च 'न मे दिट्ठे परे लोए, किं परं मरणं सिया' न हि मयाऽन्येन वा साक्षात्परलोको दृष्टः यन्निमित्तं क्लेशः सह्यते, क्लेशान् सहमानस्य हि परं मरणं सिया, तदप्यनिष्टं, मरणमिहेच्छेत् यद्यसौ परलोकः स्यादिति, संदिग्धे तु परलोके किं दुःखेन तपसा कृतेनेत्ययमदर्शनपरीषहोपसर्गः, किंच 'संतत्ता केसलोएणं' सिलोगो ॥१७८॥ समस्तं तप्ताः क्लिश्यन्त एभिराकृष्टा इति क्लेशाः, दुःखभीरवो हि क्वचित् केसलोयपराजिता विप्पडिवज्जंति तेषां स एवोपसर्गः, 'बंभचेरं' इत्थिपरीसहो तेण पराइता–उवसग्गिता अणुवसग्गिता वा 'तत्थ मंदा विसीदंति मच्छा पविट्ठा व केयणे' केयणं णाम कडवल्लसंठितं, मच्छा पाणिए पडिणियत्ते उत्तारिज्जंति इत्यर्थः, खुड्डमादी, तत्थ ते पविट्ठा वरागा सोयंति विसीदंति–परिघोलंति जया व पाणियं णिघुलितं।'आयदंडसमायारा' सिलोगो ॥१७८॥ आत्मानं दंडयितुं शीलं येषां ते भवंति आत्मदंडसमाचाराः, मिच्छत्तसंठिता भावणा जेसिं ते भवंति मिच्छासंठितभावणा, ते तु कथमात्मानं दंडयंति ?, उच्यते, ते साधून् दृष्ट्वा हर्षात्प्रदोषाद्वाऽपि पिट्ठेति जहा सो पुरोहितपुत्रः, केयिचि

तमोऽन्तरादि

॥१०४॥

ण सव्वे, लूयति अक्कोसंति पिट्टेंति य अनार्या दसणादीहिं। 'अप्पेगे पलियंतंमि' सिलोगो ॥१७९॥ वा अपि एके, न सर्वे, 'पडियंतं' समंतादंतं परियन्तं, कस्य ?, देशस्य, तस्मिन् २ देशपर्यन्ते केचिद्भापंते–चारिकोऽयं चारयतीति चारकः, येषां परस्परविरोधः ते चारिकमित्येनं संवदंते, चोर वा, तं 'सुबयंपि' संगतं–शोभनं व्रतं. संकिता वा णिस्संकिया वा भूत्वा बंधन्ति भिक्षुयं बालाः, जहा गोसालो बद्धो आसीत्, 'कसायवसणेहि य'त्ति तत्पुरुषः ममासः द्वन्द्वो वाऽयं, समावत एव केचित्साधून् दृष्ट्वा कसाइज्जंति, वसणं केसिंचि भवति, कप्पडिगा पासंडिया वा होंति, णच्चावेंति वा, तेष्वेव पर्यन्तेषु मध्यदेशेषु वा कंचि रियमानं कश्चिद्बालो 'तत्थ दंडेण संवीते' सिलोगो ॥१८०॥ दंडो णाम खीलो दंडप्पहारो वा, मुट्ठी मुट्ठीरेव, फलं–चवेडाप्रहारः संवीतः–संप्रहत इत्यर्थः, 'णातीणं सरती बालो' जइ णाम णातयो केयि एत्थ होत्था भातिमित्तादयो णाहमेवंविधां आवत्तिं पावेंतो 'इत्थी वा कुद्धगामिणी' जधा सा अचंकारितभट्टा, कुद्धा गच्छतीति कुद्धगामिणी जहा सा 'एते भो फरुसा फासा' सिलोगो ॥१८१॥ फरुसा नाम स्नेहवियुक्तैरुदीरिता, दुक्खं अधियासिज्जंति दुरधियासगा अप्पसत्तेहिं, ते अणधियासेमाणा हत्थी वा सरसंवीतः शस्त्रप्रहारैरित्यर्थः, यथा रौद्रसङ्ग्रामे हस्तिनः शरसंवीता नश्यन्ति, एवं भावसंग्रामादपि परीसहपरायिता क्लीवा, 'वराका' नाम परीषहे वराकाः पुनरपि गृहं गच्छंति गमिष्यंति च, पठ्यते च 'तिव्वसद्दगा गता गिहं'ति वेमि, तीव्रं शब्दाः तीव्रशब्दा तीव्रैर्वा शब्दाः तीव्रशब्दाः, तीव्रैः परीषहैः प्रतिहता ॥ इति तृतीयस्योपसर्गाध्ययनस्य उद्देशः प्रथमः॥३–१॥

म एव उपसर्गाधियारो अणुवत्तत एव, 'अथेमे सुहुमा संगा' सिलोगो ॥ १८२ ॥ 'अथे'त्यानन्तर्ये पडिलोमोवसग्गा गता, इदाणिं अणुलोमा. उक्तं हि–पढमम्मि य पडिलोमा णाती अणुलोमगा बितीयंमि'। सुहुमा णाम निउणा, न प्राणव्यपरो-



अस्य पृष्ठे तृतिय् अध्ययनस्य द्वितिय उद्देशक: आरभ्यते

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१०६॥

पणवत् स्थूरमूर्त्तयः, उपायेन धर्माच्यावयंति, उक्तं हि–शक्यं जीवितविघ्नकरैरप्युपसर्गैरुदीर्णैः माध्यस्थ्यं भावयितुं, अणुलोमा पुण पूजासक्कारादयः भिक्खूणं दुरुत्तरा भवंति, वक्ष्यति हि 'पातालवदुरुत्तरा' सज्जते यत्र स सङ्गः, संगोत्ति वा विग्घोत्ति वा वक्खोडित्ति वा एगट्ठा, अल्पसत्त्वानां दुस्तरा, नतु सत्त्ववतां,'जत्थ मंदा विसीदंति' मंदा उक्ता, विसेसेण सीयंति च, चएत्ता णाम असक्किंता जवइत्तएत्ति वा लाढित्तएत्ति वा एगट्ठा, 'अप्पेगे णातयो दिस्स'सिलोगो ॥१८३॥ अपिः पदार्थसंभावने, एके, न सर्वे, ज्ञातयो–मातापित्रादि पव्वयंतं पुव्वपव्वइतं वा दट्ठूण रुयंति, किध ?, कवणकरुणाणि,'नाधपियकंतसामिय०' परिवारिया दव्वतो भावतो य, वयं वुड्ढा कर्मासहिष्णवः तदिदानीं पोसाहि णे, आबाल्यात् पुट्ठो मदादिभिः,'पिता ते थेरओ तात !'सिलोगो ॥१८४॥ तात ! इत्यामन्त्रणं, उक्तं हि–"पिता ते स्थविरो तात !, वयं च गतयौवनाः। न च तत्कर्म जानामि, यज्ज्ञानात्यपरो जनः ॥१॥" त्वां हि मुक्त्वा(गतः)अस्यां दशायां कोऽन्यः पोषयिष्यति ?, तं तु सद्भावतो ब्रूते कौतुकाद्वा, अन्येष्वपि पुत्रेषु विद्यमानेषु ब्रवीति–पोस णे तात ! पुट्ठो सि, कस्स णाम तुमं अम्हे अणाहाइं परिचयसि, किंच–कश्चिद् जनैः सुहृद्भिर्वा निष्काममेवमुपदिश्यते–'पिता ते थेरतो तात !' थेरगो दंडधरितग्गहत्थो अत्यन्तदशां प्राप्तः, युक्तं त्वयि जीवमाने मल्लपिंडमडंतो ?, कथं च तव धर्मः स्यात् अस्मिन्विलवमाने ?, स्वसा नाम ते भगिनी, सा य खुड्डिया भद्दं, बृहत्तमा कन्या वा, कोऽस्या निर्वहणं करिष्यति ?, एवमादीणि कार्यसहस्राणि संताणि असंताणि वा उदीरंति,'भायरो ते सगा तात !' श्रण्वंतीति श्रवा–आणाउववायवयणणिद्देसे य चिट्ठंति, समानोदराः सोदराः, सोदरग्रहणात् अन्येऽपि ताव एकपित्रादयो छड्डिज्जंति सुहं, न तु सोदराः। 'मातरं पितरं' सिलोगो ॥ १८५ ॥ मातापितरौ हि सुश्रूषार्हावेताविदानीं पुण्णाहि, एवं लोको भविष्यतीत्ययं परश्च, अस्मिँस्तावद्यशः कीर्त्तिश्च

अनुलोमोपसर्गाः

॥१०६॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१०७॥

भवति मङ्गलं च, उक्तं हि–'गुरवो यत्र पूज्यन्ते, यत्र धान्यं सुसंभृतम्। अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र ! वसाम्यहम् ॥ १॥' परलोकश्च भवति गुरुशुश्रूषया, एते हि पदीवत्थिया समणगा भवंति जे मायापितरं सुसुस्संति, तेण तेसिं गुरुपडिणियाणं कतो लोगो धम्मो वा भविस्सति? ॥ किं चान्यत्–'उत्तरा मधुरुल्लावा' सिलोगो ॥१८६॥ उत्तरा नाम प्रतिवर्षमुत्तरोत्तरजातकाः समघटच्छिन्नगाः, पठ्यते 'इतरा मधुरोल्लावा' इतरा णाम खुड्डगा अव्यक्तमधुरोल्लावकाः 'पुत्ता ते तात ! खुड्डगा' तात इत्यामंत्रणं, खुड्डगत्ति अप्राप्तवयसः अकर्मयोग्या वा 'भारिया ते णवा तात !' भरणीया भार्या, नवा नाम नववधूः अप्रसूता गर्भिणी वा, मा सा अण्णं जणं गमेज्ज, उब्भामए वा करेज्ज, जीवंतए तुमंमि अण्णं पतिं गेण्हेज्जा, ततो तुज्झ अद्धीतीया भविस्सति, अम्हवि य जणे छायाघातो अवण्णओ जणे भविस्सतीति, किंच–जो जहा पुव्वमासी तस्स हि स एव उवमग्गो पायो भवति, येनान्यथा ब्रवीति, तद्यथा–यः कृष्यादिकर्म्मपराजितः तं दृष्ट्वा ब्रुवते 'एहि ताव घरं जामो' सिलोगो ॥ १८७ ॥ जाणामो जहा तुमं अतिकम्मा भीतो पव्वइतो, इदाणिं वयं कम्मसमत्था, कम्मसहायगा य कम्मसमत्था, कम्मसहायगा य कम्मसहायकत्वं प्रति भवतः, तदिदानीं कुमारः प्रति भण्णइ–ण चंप गोणिवि, हत्थेण मा छिवा, णित्तेण वा उक्खिवाहित्ति, दूरगतं च णं दट्ठूण भणति–आसण्णं वा गृहमागच्छ, 'वितियंपि तात ! पासामो जामो ताव सयं गिहं' वितियंपि तात ! पासामो स्वे गृहे तिष्ठन्तमिति वाक्यशेषः, वितियंपि ताव पेच्छामु सव्वाइं णियल्लगाइं। 'गंतुं तात पुणो गच्छे' सिलोगो ॥ १८८ ॥ गत्वा स्वजनपक्षं दृष्ट्वा पुनरागमिष्यसि, न हि त्वं तेनाश्रमणो भविष्यसि, यस्त्वं स्वजनमवलोकयित्वा पुनरायास्यसि 'अकामं ते परक्कमं' को नाम अणिच्छिओ 'परक्कमंतं'ति परिजायंतं अथवा यदा त्वं परं प्राप्य निष्णातो भविष्यसि भुक्तभोगत्वात् तदा अकामकं पराक्रमंतं

मातृशुश्रूषादि

॥१०७॥

प्रत सूत्रांक ॥१८२-२०३॥

दीप अनुक्रम [१८२-२०३]



'को तं वारेतुमरिहति' धरेतुं कं वा ?। पव्वइयगं भणंति–'जं किंचि अणगं तात ! तंपि सव्वं समीकतं' उत्तारियंति वा विमोक्खितं वा एगट्ठं, हिरण्णं ववहाराओ, जो वा णियगो खीणभंडमुल्लो पव्वइओ तं भणंति–हिरण्णं ते कताकतं दासामो, आदिग्रहणात् सुवण्णं वा भंडमुल्लं वा दासामो जेणेव ववहरिस्ससि, व्यवहारार्थं व्यवहाराय, अपि पदार्थादिषु तच्च ते दासामो, अन्यच्च यद्वक्ष्यसि, 'इच्चेवं णं सुसिक्खंतं'सिलोगो ॥१८९॥ साधुक्रियां सुट्ठु सिक्खंतं सुसिक्खंतं पाठान्तरं सुसेहिंति वा–उस्सिक्खावेंतीत्यर्थः, 'कालुणतो उवट्ठितं'ति कलुणाणि कंदंता य रुयंता य णिरिक्खंता य तं उवसग्गेंति, समुट्ठिता उप्पव्वावेतुं, स च तेहिं णाणाविधेहिं 'विबद्धो णातिसंगेहिं, ततो गारं पहावती'गारं नाम अगारत्वं, भृशं वा धावति पधावति। किंचान्यत् 'वणे जातं जहा रुक्खं' सिलोगो ॥१९०॥ कंठयं, एवं परिचिट्ठं(वेढं)ति द्रव्यतो भावतश्च परिवेढणं असमाधीएत्ति, तं तं भणति करेंति य येनास्यासमाधिर्भवति, अथवा अमाधुताते द्रव्यतो भावतश्च स तैः करुणादिभिः 'विबद्धे णातिसंगेहि हत्थी वाविणवग्गहो ॥१८२॥ कंचित्कालं कासारोच्छुखंडादिभिरनुवृत्त्य पश्चात् आहारग्रहारैर्बाध्यते, तेऽप्येनं पुनर्जातमिव मन्यमानाः तस्याभिनवानीतस्य पिट्ठतो परिसप्पंति, को दृष्टान्तः ?,'सूतिगोव्व अदूरतो' यथा तद्दिनसूतिकागृष्टिर्वत्सकस्य पीतक्षीरस्य इतश्चेतश्च परिधावतो ईषदुन्नतवालधिः सन्नतग्रीवा रंभायमाणा पृष्ठतोऽनुपप्पति, स्थितं चैनं उल्लिखति, अदूरतोऽस्यावस्थिता स्निग्धदृष्ट्या निरीक्षते, एवं बंधवा अप्यस्य उदकसमीपं चान्यत्र वा गच्छंतं मा णासिस्सिहिंति पिट्ठतो परिसप्पंते, चेडरूवं वदे, मग्गतो देन्ति शयनमासीनं चैनं स्नेहमिवोद्गिरंत्या दृष्ट्या अदूरतो निरीक्षमाणा अवतिट्ठंते। 'एते संगा मणुस्साणं' सिलोगो ॥१९३॥ एते इति ये उद्दिष्टाः, सज्जते येन स संगः, मनुष्याधिकार एव वर्त्तते तेन मनुष्यग्रहणं, पाताला नाम वलयामुखाद्याः, सामयिकोऽयं

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१०९॥

दृष्टान्तः, उभयाविरुद्धस्तु पातालः समुद्र इत्यपदिश्यते, न तारिमा अतारिमा न शक्यते बाहूभ्यां तर्तुमिति, 'कीवा' कातरा जत्थ 'विसण्णेसी विसण्णं एसतीति विसण्णेसी 'णातिसंगेहि मुच्छिता' विसण्णा वा आसंति, विसण्णेसिं णातिसंगेहि मुच्छिता, अथवा कीवा जत्थावकीसंति, अपकृष्यन्ते मोक्षगुणातो धम्मातो वा, किंणिमित्तं णातिसंगेहि मुच्छिता ?, 'तं च भिक्खू परिण्णाय सवे संगा महासवा' सिलोगो ॥१९४॥ तदिति यदेतदुक्तं अथवा तमुपसर्गगणं दुविधाए परिण्णाए परिण्णाय, सव्वे इत्यपरिशेषाः, संगा एव महांति कर्माण्याश्रवंतीति। 'अहिमे संति आवट्टा' सिलोगो ॥ १९५ ॥ अहो दैन्यविषयामंत्रणेषु, अथवा इमे संति आवट्टा, अथेत्यानन्तर्ये, इमे वक्ष्यमाणाः, संतीति विद्यन्ते, द्रव्यावर्त्ता नदीपूरो, भावावर्त्ता यैः प्रकारैरावर्त्तन्ते संयममीरवः, कासवेण पवेइता–प्रदर्शिता इत्यर्थः, 'बुद्धा जत्थावसप्पन्ति' बुद्धा दुविधा–दव्वे भावे य, दव्वे णिद्दाबुद्धा भावे णाणातिबुद्धा, अवसर्पन्ति नाम अवगच्छंति, 'सीदंति अबुधा जहिं'॥ किंच यः कश्चित्संयतः कस्सति रण्णो पुत्तो वा अरायवंसिओवि कोऽवि रूवसंपण्णो विज्जामंतकलागुणसंपण्णो वा, तंजहा–'रायाणो रायमच्चा य' सिलोगो ॥ १९६ ॥ रायाणो चक्कवट्टिमादी, तत्थ बंभदत्तेण चित्तो निमंतिओ, रायमच्चा–इस्सरतलवरमाडंबिगादि माहणा–भट्टा खत्तिया नाम गणपालगा गणभुत्तीए वा भ्रष्टराज्या, जे वा अरायाणो अरायवंसिया णिमंतयंति भोगेहिं 'भिक्खुयं साधुजीविणं'ति साधुविहीए फासुएण पडोआरेण जीवतित्ति साधुजीवी, अथवा साध्विति प्रशंसायां, शोभनेन जीवनेन जीवतीति, संयमजीवितेनेत्यर्थः, के च ते भोगा ?, इमे, 'हत्थस्सरहजाणेहिं' सिलोगो ॥ १९७ ॥ हत्थिअस्सरहादीणि पसिद्धाणि, जाणाणि सीदासन्दमाणिगादीणि, तं पुण जले थले य, जले णावादि, थले सीतासंदमाणिगादी, विहारगमणा इति-उज्जाणियागमणाई, चशब्दादन्यैश्च श्रोत्रादिभिः

ज्ञाति-संगादि

॥१०९॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥११०॥

इन्द्रियक्षमैर्विषयैर्यथेष्टतः 'भुंजाहिमाइं भोगाइं' इमानीति विद्यमानानि प्रत्यक्षाणि वा महरिसित्ति, एवमपि असावस्माभिरन्यैर्वा पूजनीयश्च, किंचान्यत्–तमेवं णिमंतयंति 'वत्थगंधमलंकारं' सिलोगो ॥ १९८ ॥ वत्थाणि–अयिणगादीणि गंधा–कुष्ठादयः अलंकारा–हारादयः, स्त्रियः अहं ते धूतं भगिणीं वा देमि, अण्णं वा जं इच्छसि, सयणाइं अत्थुतपच्चुत्थुताणि, चशब्दात् लोही-लोहकडाहकडुच्छुगादीणि सव्वो घरोवक्खरो, सहीणे जारिसो चेव मम परिच्छतो तारिसं चेव दलयामि, तेनोपचितो भुंजाहि-माइं भोगाइं मया विधीयमानानि, आउसो ! पूजयामि ते, साम्प्रतमेभिर्वस्त्रादिभिः पूजयामि, पूजयीष्यामश्च त्वं, सर्वसत्त्ववशयिता भविष्यसि, किं चान्यत्–न च तवास्माभिरभ्यर्थ्यमानस्य कृततपःप्रणाशो भविष्यति, कथं ?,'जो तुमे णियमो चिण्णो'सिलोगो ॥ १९९ ॥ इंदियणोइंदिएहिं चीर्णो–कृतः भिक्खुभावंमि उत्तमो, भिक्खुभावो णाम पव्वज्जा. उत्तमो असरिसो, अगारमावसं-तस्स सव्वसो चिट्ठती, तथा संविज्जते वा, न विनश्यतीत्यर्थः, लोकसिद्धमेव ससुकयस्स विपुलत्ता। किंचान्यत्–'चिरं दूइज्जमा-णस्स' सिलोगो ॥२००॥ चिरं तुमे धम्मो कतो, दूइज्जता य णाणापगारा देसा दिट्ठा, तनोवणाणि तित्थाणि य, 'दोप इदानीं कुतस्त्व ?' किं त्वया चौरत्वं कृतं पारिदारिकत्वं वा ?, अथवा दोसो पावं अधर्म्म इत्यर्थः स कुतस्त्व ?, क्षपितस्त्वया, कृतं सुम-हत्तपः, ण य ते उप्पव्वयंतस्स वयणिज्जं भविस्सति, किं भवं चोरो परदारिगो वा ?, ननु तीर्थयात्रा अपि कृत्वा पुनरपि गृहमा-गम्यते, एवमादिभिः हस्त्यश्वरथवस्त्रादिभिः निमन्त्रणैश्च ते अणियल्लगा वा 'इच्चेव णं णिमंतेंति णीयारेण व सूयरं' णीयारो णाम कुंडगादिया, स तेण णीयारेण ट्ठितो घरे सूयरगो अडविं ण वच्चति मारिज्जति य एवं सोऽवि असारेहि णिमंतितो तो भोत्तुं मरणणरगादियाइं दुक्खाइं पावेंति। 'चोदिता भिक्खुचरियाए' सिलोगो ॥ २०१ ॥ चोदिता नाम वेधिता तज्जिया बाधिता

वस्त्रादि प्रलोभनं

॥११०॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता.....आगमसूत्र-[०२], अंग सूत्र-[०२] "सूत्रकृत" जिनदासगणि विहिता चूर्णि:

प्रत सूत्रांक ॥१८२-२०३॥

दीप अनुक्रम [१८२-२०३]



इत्यर्थः, चरणं चर्या–चक्कवालसामायारी, जवइत्तएत्ति वा लाढेत्तिएत्ति वा एगट्ठं, 'तत्थ मंदा विसीदंति उज्जाणंसि व दुब्बला' केइ आयसमुत्थेहिं केई परमसमुत्थेहिं केई उभयसमुत्थेहिं, ऊर्द्धं यानं उद्यानं, तच्च नदी तीर्थस्थलं गिरिपब्भारो वा, तत्थ पुंगवावि य आरुभंता सातिज्जंति, किमंग पुण दुब्बला दुप्पदा चतुप्पदा वा ?, एवं केऽपि पव्वयंता चेव भावदुब्बला सीयंति, किं च-'अचयंता य लूहेणं' सिलोगो ॥२०२॥ अचएंता–अशक्नुवन्तः, लूहं दव्वे य भावे य, दव्वे आहारादि, भावलूहं संयम एव, तवोवधाणेण तज्जिता अवहत्थिता, तत्थ मंदा विसीदंति, पंके जीर्णगौः जरद्गवत् 'एयं णिमंतंणं लद्धुं'सिलोगो ॥२०३॥ एतं णिमंतणंति जं हेट्ठा भणियं, लद्धुं–प्राप्तुं मुच्छिता विसएसु, गिद्धा इत्थिगासु, अज्झोववण्णा कामेसु, कामा–इच्छामदणकामाः, चोइज्जंता णाम णिब्भत्थिज्जंता परिस्सहेहिं, णिमंतिज्जमाणा वा, गिहगयत्ति बेमि, पुनर्गृहं गत्वा पुनर्गृहस्थीभूत्वा इत्यर्थः, णिज्जुत्तीए वुत्तो दुविधा उवसग्गा ओहे ओवक्कमे य, अज्झत्थविसीयणा य, स च बालपव्वइतो तरुणीभूतश्चिन्तयति–चिरकालं प्रव्रज्या दुष्करा कर्तुमित्यतो विसीदंति, दृष्टान्तः 'जहा संगामकालंमि' सिलोगो ॥ २०४ ॥ येन प्रकारेण यथा, सङ्ग्रामकालो नाम सममि-चारितं युद्धं, तत्थ कोइ वच्चंतो भीरु पच्छतो उवेहति 'वलयं गहणं णूमं' वलयं णाम एकदुवारा गड्डा, परिक्खो वा वलयसं-ठितो वलयं भण्णति, गृह्यते यत्तद्गहनं–वृक्षगहनं लतागुल्मवितानादि च, नूमं नामाप्रकाशं, जत्थ णूमेति अप्पाणं गड्डाए दरिए वा, 'को जाणेति पराजये'त्ति दैवायत्तो हि पराजयो, 'मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स' सिलोगो ॥ २०५ ॥ मीयतेऽनेनेति मुहूर्त्तः, बहूनां हि मुहूर्त्तानां एकः मुहूर्त्तो भवति यत्र विजयो भवति पराजयो भवति वा, जयश्चेत् इत्यतः शोभनं, पराजयश्चेदित्यतो वरं पराजयतो अवसर्पिष्यामः, अवसर्पितो इति भीरू उवेहती, एस दिट्ठंतो, अयमर्थोपणयो–'एवं तु समणा एगे' सिलोगो ॥२०६॥





अस्य पृष्ठे तृतिय् अध्ययनस्य तृतिय उद्देशक: आरभ्यते

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥११२॥

एवमनेन प्रकारेण 'तु' पूरणे, एगे, ण सव्वे, संजमे तैस्तैः प्रकारैः अबलं ज्ञात्वा अप्पगं 'अणागयं भयं दिस्स' अणागतं णाम अप्पत्तं, मा णाम एवं होज्जत्ति, ततः 'अवकप्पंतिमं सुतं' अव च रक्षणादि, अवकल्पयंति अधीयंत इत्यर्थः,'इमानी'ति अर्थोपार्जनसमर्थानि गणियणिमित्तजोइसवायसद्दसत्थाणि,'को जाणति वियोवायं' सिलोगो ॥२०७॥ विउवातो णाम व्युपातः, सो उण इत्थीपरीसहातो भवति, ण्हाणपियणादिणिमित्तं उदगाओ वा, वा विकप्पे, जो वा जस्स पलिओवमादि, परिसहजिता अमुकेण लिंगेण कोंटलवेंटलादीहिं कज्जेहिं अबुज्झाणेण चोदिज्जंता य वक्खामो, चोदिज्जंता–पुच्छिज्जंता, प्रायशः कुण्टलट्ठीओ लोगो समणे पुच्छति, तत्थ चरेस्सामो, विज्जामंते य पउंजिस्सामो 'णो ण अत्थि पकप्पियं'ति ण किंचि अम्हेहिं पुव्वोवज्जितं धणं पेइयं वा, एवं णच्चा पावसुतपसंगं करेंति, 'इच्चेवं पडिलेहंति' ॥२०८॥ इति एवं इच्चेवं, पडिलेहंति णाम समीक्षंते-संप्रहारेंति, भावग्गहणं भावणूमाइं पडिलेहंति, 'वित्तिगिंछासमावण्ण'ति, किं संजमगुणे सकेस्सामो ण सकेस्सामोत्ति, उक्तं हि–"लुक्खमणुण्हमणियतं कालाइक्कंतभोयणं विरसं।" दिट्ठंतो पंथाणं व अकोवितो, जहा देसितो विगलपथे चिंतेंतो अच्छति–किमयं पंथो इच्छितं भूमिं जाति ?, एगच्चोवि ण णिव्वहति, अकोविया अयाणगा, उक्ताः अप्पसत्था, इदाणिं पसत्था–'जे तु संगामकालंमि' सिलोगो ॥२०९॥ जेत्ति अणिद्दिट्ठणिद्देसे, तु विसेसणे, ज्ञाता णाम प्रत्यभिज्ञाता नामतः कुलतः शौर्यतः शिक्षातः, तद्यथा–चक्कवट्टिबलदेवा वासुदेवमाण्डलीकादयः, प्राकृनाथ वीरपट्टगेहिं बद्धगेहिं सण्णद्धबद्धवम्मियकवयउप्पीलियसरासणपट्टिया गहियाउधपहरणा समूसियधयग्गा सूरा एवं चक्कवर्त्यादीनां पुरतो गच्छंति, सुरपुरंगमा न ते बलयादीणि पडिलेहन्ति, ते तु संपहारेंति "तरितव्वा च पइण्णिया मरियव्व वा समरे समत्थएणं। असरिसजणउल्लावया ण हु सहितव्वा कुले पसूयएणं ॥१॥ परबलं जेतव्वं

अनागत-भयादि

॥११२॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥११३॥

मरियव्वं वा, ण उ पिट्ठतो पेहंति, अपत्ते जुद्धे जुद्धमाणे वा, किं परं मरणं भवेत् ?, मरणादप्यनिष्टतमं अश्लाघ्यत्वं, मरणादपि विशिष्यते भग्नप्रतिज्ञजीवितं, उक्तः प्रशस्तदृष्टान्तः, तदुपसंहारः प्रशस्त एव। **'एवं समुट्ठितं भिक्खुं'** सिलोगो ॥ २१० ॥ सम्यग् उत्थितं समुत्थितं दव्वसमुत्थाणेण भावसमुत्थाणेण य, आगारबंधणं छित्ता अज्झत्थो, अवसीतयाणं 'आरंभं तिरियं कट्टु'त्ति दव्वे भावे वाऽऽरंभः, तिरियं णामादि, तिरिच्छं बोलेंति, अनुलोमेहिं दुक्खमतिक्राम्यंते नदीश्रोतोवत् परीसहोपसर्गा, णिउणो णेव्वाणगजकंखी, अत्तत्ताए–आत्महिताय सर्वतो संव्रजेत्, सिद्धिगमनोद्यतेन मनसा, अथवा आतो–मोक्षो संजमो वा अस्यार्थः, आतत्थाए, अथवा आप्तस्यात्मा आप्तात्मा आप्तात्मैव आत्मा यस्य स भवति अप्पात्मा इष्टो, वीतराग इव व्रजेदित्यर्थः, अज्झत्थविसीदणत्ति गतं। इदाणिं परवादवयणं, तं अत्तट्ठाए परिव्वयंतं **'तमेगे पडिभासंति'** सिलोगो ॥ २११ ॥ तमिति तं अत्तट्ठयाए संवुडं रीयमाणं, एगे ण मव्वे, समंता भासंति परिभासंति, आजीवप्रायाः अन्यतीर्थिका, सुत्तं अणागतोभासियं च काऊण बोडिगा, **'साधुजीवणं'**ति णाम साधुवृत्तिः अपापजीवनमित्यर्थः, जे ते एवं भासंति **'अंतए ते समाहिते'** अंतए नामानाभ्यन्तरतः–दूरतस्ते समाधिए, णाणादिमोक्खो परसमाधी, अत्यन्ते असमाधौ वर्त्तन्ते, असमाहिए अकारलोपं कृत्वा, संसारे इत्यर्थः, किं प्रभाषन्ते ? **'संबद्धसमकप्पाओ'** सिलोगो ॥२१२॥ समस्तं बद्धाः संबद्धा-पुत्रदारादिभिर्ग्रन्थैर्गृहस्थाः, संबद्धैः समकल्पाः तुल्याः इत्यर्थः, जहा गिहत्था माता मे पिता मेत्ति एवमादिभिः संगैर्बद्धा, अण्णमण्णसमुत्थिता णाम माता पुत्ते मुच्छिता पुत्तोवि मातरि एवं भवंतोऽपि शिष्याचार्यादिभिः परस्परसंबद्धाः, अन्यच्चेदं कुर्वता **'पिंडवातं गिलाणस्स, जं सारेध दलाध य'** पिंडस्य पातः पिंडपातः भिक्षं, एवं पिंडावायं गिलाणस्स आणेत्ता दद्धुं, यच्च परस्परतः सारेध वारेध पडिचोदेध सेज्जातो

समुत्थानादि

॥११३॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥११४॥

उद्ववेहचि, जं च गिलाणस्स आयरियवुड्ढमामाएसु आहारउवधिवसधिमादिएहि य उवग्गहं करेह 'एवं तुब्भे सरागत्था अण्णमण्णमणुव्वसा' सिलोगो ॥ २१३ ॥ रागत्थिता सरागत्था सदोसमोहा, अन्योऽन्यस्य अनुगता वशं अणुव्वसा 'भट्ठसप्पधसब्भावा' शोभनः पंथा सत्पन्थाः ज्ञानादि, सतो वा भावः सद्भावः, सत्पथसब्भावो नाम यथार्थोपलंभः,'संसारस्स अपारगा' पारं गच्छंतीति पारगा न पारगा अपारगाः। एवं भासमाणेसु 'अह ते पडिभासेज्जा' ॥ २१४ ॥ अथेत्यानन्तर्ये तान् प्रतिभाषते 'भिक्खू मोक्खविसारदो' विसारदो नाम सिद्धान्तविनायकः, स किं पडिभासति ?, एवं तुज्झेऽवभासंता दुवक्खं चेव सेवधा, दुपक्खो णाम संपराईयं कम्मं भण्णति गृहस्थत्वं च, किंच 'तुब्भे भुंजह वाएसु' सिलोगो ॥२१५॥ तुब्भे जेहिं भिक्खाभायणेहिं भिक्खं गेण्हध तेहि आसंगं करेह, आजीविका परातकेसु कंसपादेसु भुंजंति, आधारोवकरणसज्झायज्झाणेसु य मुच्छं करेह, गिलाणस्स पिंडवातपडियाए गंतुमसमत्थस्स भत्तमंतेहिं कुलगेण वा अण्णतरेण वा मत्तेहिं अभिहडं भुंजेह, एवं तुब्भेहिं पादपरिभोगेहिं बंधोऽणुण्णाओ भवति, अन्तरा य कायवधो, सो य तुब्भ णिमित्तं आणंतो भत्तिमंतोऽवि कम्मबंधेण लिप्पति, पाणिपायंपि ण कायव्वं जति पादे दोसो, स च किं तुब्भ देंतो णट्ठसप्पधसब्भाव उदाहु सप्पधि वट्टति ?, अविण्णाणा य मिगसरिसा तुब्भे जेण असंकिताइं संकथ संकितट्ठाणाइं ण संकथत्ति,'तं च बीओदगं भोत्त'त्ति कन्दमूलानि ताव सयं भुंजह, सीतोदगं पिबध, एवं पुढवितेउवाउवधे वट्टह, जं च छक्कायवधेण णिप्फण्णं उद्देसियं तं भुंजह, तुब्भे चेव गिहत्थसरिसा, पावतरा वा गिहत्थेहिं, येन ते गृहस्था अनभिगृहीतमिथ्यादृष्टयोऽपि भवंति, न तु भवंतः, जेण अभिग्गहितमिच्छदिट्ठिणो साधुपरिवायं च करेह, दव्वं खित्तं कालं सामत्थं च पुणो वियाणित्ता कीतकडच्छेज्जादिसुवि दोसा भाणितव्वा, ते एवं असंजतेहिंतोऽवि पावतरा

अनुवृत्त्यादि

॥११४॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥११५॥

कता समाणा महता अपत्तिए 'लित्ता तिव्वाभितावेणं सिलोगो ॥२१६॥ तिव्वाभितावो णाम तीव्रोऽमर्षः दंसणमोहणिज्जकम्मोदएणं कोधमाणकसायोदएण य लित्ता, उज्झिता णाम शून्या, एतदेव व्याचष्टे–अण्णा, णाणदंसणचरित्तेहिं असमाहिता, तैरेव विहीणा,'णाइकंडुइयं साधु'त्ति जहा कंडुइयं साधुत्ति तं अरुकस्स अवरज्झति पच्चुयपीडाहेतुत्वात्, एवं साधुहीलणावि अपसत्था, अथवा 'लित्ता तिव्वाभितावेणं'ति तेण मिच्छादंसणावलेवेण लित्ता गुणेहिं शून्या बुद्ध्यादीहिं असमाहिता आतुरीभूता भणंति–जुत्तं णाम तुब्भेहिं अम्हे गिहत्थसरिसा काउं पावतरा वा, तेन त उच्यन्ते 'णातिकंडूइतं साधु' साधु णाम सुदट्ठु, अरुअं हि रुज्झमाणं खज्जइ, तं जति ण सुट्ठु कंडूइज्जइ ततो णातिकंडुइणो माधु अवरुज्झति अरुगस्स अरुइअगत्तस्स वा, अर्थात् प्राप्तं अतिकंडुइयंति भृशमपराध्यते, नातिरूढव्रणस्य, एवं यद्यहं त्वया णातिनिष्ठुरं उक्तो भविष्यति ततोऽहमपि नातिनिष्ठुरमेवापदिश्यात्, त्वया वाऽहं यत्किंचनप्रलापिनाऽसंबंधसमकल्पो व्यपदिष्टः, न चाहं तैर्गुणैर्युक्तो, भवन्तस्तु कन्दमूलोदकभोजिनः उद्दिश्यकृतभोजिनश्च सच्छासनप्रत्यनीकाश्च तेन न कथं गृहस्थैः पापतरा इत्येवं 'तत्तेण अणुसट्ठा ते' सिलोगो ॥ २१७ ॥ तच्चं तथ्यं सद्भूतं नानृतमित्यर्थः, अणुसट्ठा णाम अणुसासिता, ते इति आजीविकाः वोडियादयो ये चोद्दिश्यभोजिनः पाखण्डा,'अपडिण्णेणं'ति विसयकसायणियत्तेण जाणएण एवं वुत्ता भणंति–'ण य एस णितिए मग्गे' णितिओ णाम नित्यः अव्याहतः एषः 'असमीक्ष्य वति कृती' कृतिर्नाम कुशलमतिः पौर्वापर्यसम्बन्धसद्भावार्थोपलम्भस्तु सर्वज्ञज्ञानात् युक्तः, अथवोपदेश एवायं, तत्तेण अणुसट्ठाए अपडिण्णेण जाणएत्ति, कमणुसट्ठाए?, ण एस णितिए मग्गे, न एष भगवतां नीतिको मार्गो, नीतिको नाम नित्यः, एष हि असमीक्ष्य भवद्भिरेव वाचा चटकरसा(श्रा)त्रा वा कृतिः-कृतः। किंचान्यत् 'एरिसा जा वई एसा'सिलोगो ॥२१८॥

तीव्राभितापादि

॥११५॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥११६॥

एरिसा णाम येयमुक्ता तुब्भे संबद्धसमकप्पा वयं नेति, एषा निर्वाहिका, कथं ?,'अग्गिवेलुव्व करिसिता' वेल्लो हि मूले स्थिरः अग्गे कर्षितः, एवमियं वाक् भवतां संकल्पस्थूला–निश्चयकृता न हि भवति, न संबद्धकल्पा, तथा चोक्तं, कंदमूलादि, उद्दिश्य-भोजित्वाच्च, यतश्चैवं तेन नैष भवतां वाङ्निश्चयः सुन्दरः, अथवा एरिसा जा वई एसा अग्गे वेलुव्व करिसितित्ति जहा धम्मी, कडिल्ले वंसो मूलच्छिण्णो न शक्यते अन्योऽन्यासंबंधत्वात् न शक्यतेऽधस्तात् उपरिष्टाद्वा कर्षितुं, अथासौ वंसो न णिव्विहति, एवं भवतामपि इयं वाक् न निर्वाहिका, तत्र अनिर्वाहिका गिहिणो अभिहिताः,' शेषं भवंतो हि सम्प्रतिपन्ना निर्मुक्तत्वात्संसारान्तं करिष्यामः, तन्न निर्बहति, कथं ?, यद्भवतां ग्लायतामग्लायतां गृहस्थः कन्दादीनां मात्रेणानयित्वा ददाति, तत्किल भोक्तुं श्रेयः, न तु यद्भिक्षुणाऽऽनीतमिति, एषा हि वाङ् भवतां न निर्वाहिका, कथं गृहस्था ईर्यांति शोधयंति, आगच्छतो चास्य कश्चिद् व्यापादः स्यात्, कश्चानुक्त एवं ब्रूयात् यथा 'गृहीणं अभिहडं सेयं, भुंजितुं ण तु भिक्खुणो' किं च–'धम्मपण्णवणा एसा' सिलोगो ॥ २१९ ॥ धम्मस्स पण्णवणा एसा साहिया, इदाणिं धम्मपण्णवणा गिहत्थाणीयं सेयं ण पव्वइताणीतमिति 'सारंभाण विसोधिया' सारंभा णाम गिहत्था तेषां पापविशोधिका, न हि भवद्भ्यो ददतो विशुद्ध्यन्ते, न तु प्रव्रजिताः दाणधम्मेण संयुज्यंते, यस्मादानयंति ते गृहीभूत्वा यतयः पापेन संबद्ध्यन्ते, 'ण तु एताहिं दिट्ठीहिं' नेति प्रतिषेधे, दृष्टिर्नाम ग्रहो, ण भवद्भिरेता-भिर्दृष्टिभिः पूर्वप्रकल्पितमासीत्, प्रकल्पितं प्रदर्शितमित्यर्थः, का दृष्टयः?, यादृशं किल गृहस्थानां तादृशमस्माकमपि अन्योऽन्यं किल सारयित्वा स्थेयं, न चानुकंपतामनुभवन्तोऽपि ग्लानकृत्यं गृहस्थैः कारयन्ति, अत्र तावदावयोः साम्यं, येन भवन्तो गृहस्थैः कारयन्ति प्रागुक्तं ग्लानस्य तत्कार्यं, मा भूत् संबंधसाम्यकल्पा, न स्युरिति अभिविष्यत्, इदानीं स एव ग्लानो गृहस्थैः कारयन्

संबद्धसमत्वादि

॥११६॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥११७॥

तत्कृतमनुजानन्तः भवंतश्च तत्कारिणः तद्वेषिणश्च एतां दृष्टिं भावयन्तः कथं सम्बन्धसमकल्पा न स्युरिति, किं चातः?, एवं 'सव्वाहि अणुजुत्तीहिं' सिलोगो ॥२२०॥ योजनं युक्तिः अनुयुञ्जत इति अनुयुक्तिः अनुगता अनुयुक्ता वा युक्तिः २ सर्वैः हेतुयुक्तिभिः तर्कयुक्तिभिर्वा, अत एव अचयंता अशक्नुवन्तः 'जवित्तए'त्ति णिजङ्गमित्यनर्थान्तरं, कथं ण चएति?, यथा कश्चिद्बलीवर्दं भग्नं वा उवमए, स च तं विचिकीर्षुः परेणोच्यते–उत्थाप्यतां तावदयं गौः, ततो यदि शक्ष्यति तत एव ग्रहीष्यामि, स जनो नैष शक्ष्यतीति ब्रवीति–यदि ते रोचते एवमयं गृह्यतां, नन्वेषोऽव्यंगशरीरो निरुपहतवपुर्न दृश्यते?, एवं सामयिक आह परूको वा, समय इति परैरुच्यते, येन परीक्षामहे ततो ब्रूते किमत्र परीक्षया?, प्रत्यक्ष एवायं दृश्यते बहुजनपरिगृहीतः, ईश्वरस्वामिनं प्रतिपन्नाः, यदि नैवं तत्त्वं स्यात् नैवात्र बहुजनोऽतिप्रसज्यते, लोकिका अपि ब्रुवते–'आज्ञासिद्धानि चत्तारि' न हन्तव्यानि हेतुभिः। भारतं मानवा धर्म्माः, सांगो वेदश्चिकित्सितं ॥१॥ एषामुत्तरः–एरंडकट्ठगसी जहेह गोसीसचंदणपलस्स। मोल्लेण होज्ज सरिसे कत्तिय-मेत्तो गणिज्जंतो?॥१॥ तहवि णिगरातिरेगो सो रासी जह ण चंदणसरित्थो। तह णिव्विण्णाणमहाजणोऽवि सोज्झे विसंवदति ॥२॥ एक्को सचक्खुगो जह अंधलयाणं सएहिं बहुएहिं। होति पहे गहिया वा बहुगावि ण ते अपेच्छंता ॥३॥ एवं बहुगावि मूढा ण पमाणं जे गतिं न याणंति। संसारगमणगुविलं णिउणस्स य बंधमोक्खस्स ॥४॥" 'ततो वादं णिराकिच्चा' ततः इति ततः कारणात्, वादो णाम छलजातिनिग्गहस्थानवर्जितः, निराकिच्चा णाम पृष्टतः, वादं निराकृत्वा, ते इति ते आजीविकाद्याः सामयिकाः मस्करास्च विविधाः प्रगब्भिता धृष्टीभूता इत्यर्थः, 'रागदोसाभिभूतप्पा' सिलोगो ॥२२१॥ रज्यते येन आत्मपक्षे स रागः परपक्षे द्वेषः, अभिभूताः पराजिता इत्यर्थः, रागद्वेषाभ्यामभिभूतो येषामात्मा ते, मरुगा दोसाभिभूयप्पा, 'मिच्छत्तेण अभि-

अनुयुक्त्या-दयः

॥११७॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥११८॥

दुया' अभिभूया इत्यर्थः, त एवं उक्ताः रोषानललोहिताक्षाः भृशममर्षोद्गमप्रस्पंदिताधरोष्ठाः जिता अवदातैर्हेतुभिर्निर्ग्रन्थपुत्रैः पराजिताः 'अक्कोसे सरणं जंति' प्रायेण दुर्बलस्य रोषो उत्तरं भवति आक्रोशश्च, रुदितोत्तरा हि स्त्रियः बालकाश्च, क्षांत्युत्तराः साधवो, दृष्टान्तः 'टंकणा इव पव्वतं' टंकणा णाम म्लेच्छजातयः पार्वतेयाः, ते हि पर्वतमाश्रित्य सुमहन्तमवि हत्थिबलं वा अस्सबलं वा आगलिन्ति, पराजितास्तु शीघ्रं पर्वतमाश्रयंति, कुतीर्थाः पराजिताः आक्रोशयंति यष्टिमुष्टिमिश्रोत्तिष्ठन्ति, न ते प्रत्याक्रोष्टव्याः इदमालंबनं कृत्वा-"अक्कोसहणणमारणधम्मब्भंसाण बालसुलभाणं। लाभं मण्णति धीरो जधुत्तराणं अलाभंमि ॥१॥'बहुगुणप्पकप्पाइ० सिलोगो ॥२२२॥ गुणा पकप्पिज्जंति जेहिं ताइं गुणप्पकप्पाइं, गुणप्पकप्पो णाम येनात्मपक्षः प्रसाध्यते, परपक्षश्चोभासीयते, अथवा सर्वपरीक्षकाविरुद्धो दृष्टान्तोऽबाध्यो हेतुर्वा, उक्तंहि—"लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः, हेतुप्रतिज्ञादयः, आतसमाहितो वत्तए, आत्मसमाधिर्नाम दव्वं खित्तं कालं समत्थं चऽप्पणो वियाणित्ता इति, अथवा के अयं पुरुषे कं च णतेत्ति, एवं तथा यथाऽऽत्मनो समाधिर्भवति, उक्तं हि—"पडिपक्खो णायव्वो०" अथवा आत्मसमाधिर्नाम यथा परतो घातो न भवति बाधा वा, किंच-'जेणऽण्णे ण विरुद्धेज्ज' येन चोक्तेन अण्णस्स उवघातो ण भवति, तथा प्रतिज्ञादयो वक्तव्याः यथा च सिद्धान्तविरुद्धा न भवंति, कथं विरुध्यते ?, यो ब्रूयान् त एव हि कृतोद्दिश्यभोजित्वाद् गृहितुल्याः, साधवस्तु मूलोत्तरगुणोद्यताः शरीरे चानपेक्षाः, ततश्चातिप्रसक्तस्य लक्षणस्य निवृत्तये त्वपदिश्यते 'इमं च धम्ममायाय' सिलोगो ॥२२३॥ अथवा तैः परतत्त्वैरपदिष्टं-ध्यानकृत्यं हि न कर्त्तव्यं, मा भूत् संबद्धसमकल्पः, तदेनमपदिश्यते 'इमं च धम्म०' न यथा भवतां निरनुकंपो धर्म्मः, अस्माकं हि इमं च धम्ममादाए कासवेण पवेइयं, अथवा ये ते उक्ता उपसर्गा एते हि अग्लायता सोढव्याः, ग्लायतो हि

आक्रोश-शरणादि

॥११८॥

द्रव्यपरीषहा भवंति, न ग्लायमानस्य न कर्त्तव्यं, कथं–'इमं' इदं च धर्ममादाय इति यद्वक्ष्यामः। तं धर्ममादाय–गृहीत्वा **'कासवेण पवेदितं'** काश्यपग्रहणात्तीर्थकरणैवेदं प्रवेदितं, न तु स्थविरैः, किंचान्यत् **'कुर्यात् भिक्खू गिलाणस्स'** ग्लायते रोगेणान्यतरेण वा प्रथमद्वितीयादिपरीषहादिना, अगिलाणेण–अनार्दितेन अव्यथितेन राजाभियोगवत् **'समाधिए'**त्ति आत्मनः समाधिहेतोः कर्त्तव्यं, ग्लानस्य वा अथवा समाधीए कायव्वं, ण मणोदुक्कडेण, किंच–न केवलं उवसग्गा एव अहियासेयव्वा ज्ञात्वा सोढव्याः **'संखाय पेसलं धम्मं'** सिलोगो ॥२२४॥ संखा अट्ठविधा, तंजहा–णामसंखा ठवणसंखा दव्वसंखा उवम्मसंखा परिणामसंखा गणणासंखा जाणणासंखा भावसंखा, तत्थ जाणणासंखाए अधियारो, संखाय–ज्ञात्वा, पेसलं दव्वे भावे य, दव्वे जं दव्वं पीतिमुत्पादेति आहारादि, भावपेसलस्तु सर्ववचनीयदोषापेतो भव्यानां धर्म्म एव, सो धम्मो दुविधो–सुतधम्मो चरित्तधम्मो य, कस्य तौ प्रीतिमुत्पादयेयातां ?, दृष्टिमानिति दृष्टिमतः, सम्यग्दृष्टिः परिनिर्वृत्तः सीतीभूत इत्यर्थः, उवसग्गे अधियासेयव्वे उपसर्गा ये उक्ताः ये च वक्ष्यमाणाः तान् सर्वानधियासयन् सहन्नित्यर्थः, आमोक्षाय परिसमाप्तेः समन्ता **'वयेज्जासि'** परिव्रजेज्जासि, मोक्षो द्विविधः–भवमोक्षो सव्वकम्ममोक्खो य, उभयहेतोरपि आमोक्षाय परिव्रजेदिति ब्रवीमि । **उपसर्गपरिज्ञायां तृतीयोद्देशकः ४–३ ॥**

वुत्तं निज्जुत्तीए हेतुसरिसेहिं अहेउएहिं, हेत्वाभासैरित्यर्थः, कथमहेतवो हेतुसदृशाः ?, वक्ष्यति हि सुहेण सुहमज्जेमो० वणिजवत्, तथा च 'जहा गंडं पिलागं वा' एवं सीलक्खलिया अण्णउत्थिया तब्भावुकाश्च **'आहंसु'**रिति ॥२२५॥ आहुः, के ते ?– महापुरिसाः पहाणा पुरिसा, राजानो भूत्वा वनवासं गत्वा पच्छा णिव्वाणं गताः, **'पुव्विं तत्ततवोधणा'** पुव्वमित्यतीते काले



अस्य पृष्ठे तृतिय अध्ययनस्य चतुर्थ उद्देशक: आरभ्यते

क्वचित्रेतायां द्वापरे च, तप एव धनं तपोधनं, तप्तं तपोधनं यैः त इमे तप्ततपोधना, पंचाग्नितापादि लोइयाणं ते ते महापुरिसा, आस्माकं तु यदा सामन्नं प्रतिपन्नाः तदा महापुरिसा,'भोच्चा सीतोदकं सिद्धा' सीतोदगं णाम अपरिणतं, तेण सोयं आयरंता ण्हाणपाणहत्थादीणि अभिक्खणं सोएंता तथाऽन्तर्जले वसंतः सिद्धिं प्राप्ताः सिद्धाः, एवं परंपरश्रुतिं श्रुत्वा अस्नानादिपरीषहजिताः 'तत्थ मंदे विसीदंति' तत्रेति तस्मिन्नस्नातकव्रते फासुगोदयपाणे वत्ति,तत्थिमे'अभुंजिया णमी वेदेही एमाउत्ते य भुंजिया। बाहुए उदयं भोच्चा तहा नारायणे रिसी ॥२२५॥ आसिले देविले चेव, दीवायणमहारिसी। पारासरा दगं भोच्चा, बीताणि हरिताणि य ॥२२६॥' 'एते पुर्विं महापुरिसा' ॥२२७॥ प्रधानाः पुरिषाः महापुरिषाः आहिता-आख्याता,'इह संमत'त्ति इहापि ते इसिभासितेसु पडिज्जंति, णमी ताव णमिपव्वज्जाए सेसा सव्वे अण्णे इसिभासितेसु, असिले देविले चेवत्ति बंधाणुलोमेण गतं, इतरथा हि देवल आसिल इति वक्तव्यं, एतेसिं पत्तेयबुद्धाणं वणवासे चेव वसंताणं बीयाणि हरिताणि य भुंजंताणं ज्ञानान्युत्पन्नानि, यथा भरतस्य आदंसगिहे णाणमुप्पण्णं, तं तु तस्स भावलिंगं पडिवण्णस्स खीणचउकम्मस्स गिहवासे उप्पण्णमिति, ते तु कुतित्था ण जाणंति कस्मिन् वर्त्तमानस्य ज्ञानमुत्पाद्यते कतरेण वा संघतणेण सिज्झति?, अजानानास्तु ब्रुवते० ते नमी आद्या महर्षयः भोच्चा सीतोदगं सिद्धाः, भोचेति भुंजाना एव, सीतोदगं कन्दमूलाणि वा, जोइं च समारंभंता,'जहमेतमणुस्सुतं'ति भारहपुराणादिसु एवं एताहि कुसुतीउवसग्गेहिं उवसग्गिज्जमाणे, ण केवलं सरीरा एव उवसग्गा, माणसा अपि उपसर्गा विद्यंते, यां श्रुतिं श्रुत्वा मनसा विनिपातमापद्यंते, कथं?, उच्यते 'तत्थ मंदा विसीदंति' ॥ २२८ ॥ तस्मिन्निति कुश्रुतिउपसर्गोदये मंदा-अबुद्धयः विसीदंति-फासुएसणिज्जे छक्कायेसु अ परिहरितव्वेसु, दिट्ठंतो 'वाहच्छिण्णा व गद्दभा'

मारेणेत्यर्थः, खंधेन पृष्ठेन वा, एवं ते परसामयिका कर्मगुरुगा लुक्खमणुव्हमणियतं एरिसेण लूहेण अजवेत्ता अस्नानादि ताव संजमगुणे य गुरुए अचइत्ता वोढुं त्वरितमोक्षाध्वगानां साधूनां लघुभूतानां पीढाभ्यां परिसर्पतीति पीढसप्पी, संभ्रमंति तस्मिन्निति संभ्रमः, जनस्यान्यस्य त्वरितमग्गिभयात् णस्सितुकामो किल पीढसप्पी दूरातोऽज्झितोऽपि जणं वा वच्चंतं पिट्ठतोऽणुवयति, एवं तेऽवि किल संसारभीरवो मोक्षप्रस्थिताः सीतोदगादिसंगात् संसार एव पडंति। इदानीं शाक्याः परामृश्यन्ते—**इहमेगे तु मण्णंते सातं सातेण विज्जती** ॥२३०॥ सायं णाम सुखं श्रोतादि तं सातं सातेणेव लभ्यते, सुखं सुखेन लभ्यत इत्यर्थः, वयं सुखेन मोक्षसुखं गच्छामः, दृष्टांतो वणिजः, तुब्भे पुण परमदुक्खितत्वात् '**जितत्थ आयरियं मग्गं**' जिता नाम दुःखप्रव्रज्यां कुर्वाणा अपि न मोक्षं गच्छत, वयं सुखेनैव मोक्खसुक्खं गच्छामः इत्यतो भवंतो जिता, तेनासदीयार्यमार्गेण '**परमं**'ति समाधित्ति मनःसमाधिः परमा, असमाधीए शारीरादिना दुःखेनेत्यर्थः। '**मा एतं अवमण्णंतो**'सिलोगो ॥२२९॥ अमाणोणा प्रतिषेधे, अथ तद्बुद्धप्रणीतं सुखात्मकं मार्गमवमन्यमानाः आत्मानमात्मना वंचयंते इत्यर्थः, दूरं दूरेण सुखातो, लुंपह छिन्दथ, दिट्ठंतो '**एतस्स अमोक्खाए अयहारीव जूरेथ**' त एवं वदंतः प्रत्यंगिरादोषमापद्यंते, कथं ?, 'इहमेगे तु मण्णंता सातं सातेण विज्जते,' इहेति इह निर्ग्रंथशासने, सातं साते न विद्यते, का भावना ?—नहि सुखं सुखेन लभ्यते, यदि चेवमेवं तेनेह राजादिनामपि सुखिनां परत्र सुखिना भाव्यं, नारकाणां तु दुःखितानां पुनर्नरकेष्वेव भाव्यं, तेन साया सोक्खस्संगे न,'जिता नाम शिरस्तुण्डमुण्डनमपि कृत्वा सम्यग्मार्गमास्थाय मोक्षं गच्छंति, परमं च समाधिं ता मोक्खसमाधिं, इह वा जाऽसंगसमाधि, उक्तं हि—"नैवास्ति राजराजस्य तत्सुखं नैव देवराजस्य। यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य ॥१॥" '**मा एयं अवमण्णंता**' अमाणोणाः

प्रतिषेधे, 'एतंति' एतं आरुहंतं मग्गं अवमण्णंता आत्मानमात्मना वहुं परिभविजह–लुंपह वहुं, को दृष्टान्तः ?,'एयस्स अमोक्खाए अयहारिव जूरथ' कथं ?, जेण तुब्भे वा 'पाणातिवादे वट्टंता' सिलोगो ॥२३२॥ स्यात्–कथं प्राणातिपाते वर्त्तामहे ?, येन पचनानि पाचनानि चानुज्ञातानि, उक्तंहि–पचंति दीक्षिता यत्र, पाचयंत्यथवा परैः। औद्दशिकं च भुंजंति, न स धर्म्मः सनातनः ॥१॥" मुसावादेवि असंजता संजतंति अप्पाणं भणध, अदत्तादाणे च जेसिं जीवाणं सरीराइं आहारेंति तेहिं अदत्ताइं आएह, धेनूनां वत्सवृद्ध्यै नियुंजितुं मेथुनेऽपि प्रेष्यगोपशुवर्गाणां, परिग्रहेऽपि धनधान्यग्रामादिपरिग्रहः, एवं कोधमाण जाव मिच्छादंसणसल्ले इति, एवं ताव शाक्याः अन्ये च तद्विधाः कुतीर्थाः, 'एवमेगे तु पासत्था' सिलोगो ॥२३३॥ एवमवधारणे 'एते' इति शाक्याः अन्ये च तद्विधाः, पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः, केषां ?–अहिंसादीनां गुणानां णाणादीण च सम्मद्दंसणस्स वा, किं ?–पण्णवेंति विसयणिग्घाते सुहेण सुहं, अथवा इमं पण्णवेंति दगसोयरियादयो, सुखलिम्भवो अजितेन्द्रिया 'इत्थीवसगता बाला जिणसासणपरम्मुहा' किं पण्णवेंति–विसयणिग्घातणे तु कज्जमाणे णत्थि अधम्मो अप्पणो परस्स वा सुखमुत्पादयतः, अप्पेवं धर्मो भवति, नत्वधर्मः, को दृष्टान्तः ?, 'जधा गंडं पिलागं वा' सिलोगो ॥२३४॥ जहा कोई अप्पणो परस्स वा गंडं पिलागं णिप्पीलेत्ता पुव्वं पूयं सोणितं वा णिस्सावेतित्ति को अधम्मो ?,एवं जो कोई इत्थिशरीरे शुक्रविपयनिर्घातं कुर्यात् तत्र को दोषः स्यात् ?, 'एवं विण्णवणीत्थीसु' एवमनेन प्रकारेण विज्ञापना नाम परिभोगः, एकार्थिकानि आसेवना, दोषः तत्र कुतः स्यात् ?, किंच 'जहा मन्धातइए णाम' सिलोगो ॥२३५॥ मंधातई णाम मेसो, सो जहा उदगं अकलुसेन्तो य जण्णुएहिं णिसीदितुं गोप्पएवि जलं अणदुआलेंतोवि पियति, एवमरागो चित्तं अकलुसेन्तो जइ इत्थिं विण्णवेति को तत्थ दोसो ?, उक्तं च–"प्राप्तानामु-

पभोगः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानाम्" किंच 'जहा विहंगमा पिंगा' सिलोगो ॥२३६॥ विहायसा गच्छंतीति विहंगमा, पिंगा पक्खिणी, आगासेण चरंती, उदगे अनिलीयमाना अविक्खोभयंती तं जलं चंचूए पिबति एवं विण्णवणित्थीसु, एवमरज्जमाणो यदि संप्राप्तान् भोगान् भुंजीत अत्र को दोषः ?, उत्तरदाणं–णणु तेसिं आसेवणा चेव संगकरणं, मेथुणभावं आसेवामित्ति, 'जह णाम मंडलग्गेण सीसं छेत्तूण कस्सई पुरिसो। अच्छेज्ज पराहुत्तो किं णाम तत्तो ण घेप्पेज्ज ? ॥ १ ॥ अथवा विसगंडूसं कोई घेत्तूण णाम उण्हिक्को। अण्णेण अदीसंतो किं नाम ततो णवि मरेज्जा ?॥२॥ जह वावि सिरिघरातो कोई रयणाणि णाम घेत्तूणं। अच्छेज्ज पराहुत्तो किं णाम ततो ण घेप्पेज्ज ? ॥३॥''एवं तु समणा एगे' सिलोगो ॥२३७॥ एवमनेन प्रकारेण, तु विसेसणे, नास्तीदीया, परे, एकेत्ति परेषामपि न सर्वे, एके, मिथ्यादृष्टयः अनार्या मिच्छादिट्ठीअणारिया, अथवा मिथ्यादृष्टित्वेऽपि कर्म्मभिरनार्याः, अज्झोववण्णा कामेहिं, दुविहेहिवि कामेहिं, दिट्ठंतो 'पूअणा इव तण्णए' पूयणा णाम उरणीया, तस्या अतीव तण्णगे छावके स्नेहः, ततो जिज्ञासुभिः कतरस्यां २ जातौ प्रियतराणि स्तन्यकानि ?, सर्वजनानां छावकानि अनुदके कूपे प्रक्षिप्तानि, ताश्च सर्वाः पशुजातयः कूपतटे स्थित्वा सच्छावकानां शब्दं श्रुत्वा रंभायमाणास्तिष्ठंति, नात्मानं कूपे मुंचति, तत्रैकया पूतनया आत्मा मुक्तः, त एवं पूतना इव तरुणे(ण्णए)मुच्छिता गिद्धा कामेसु 'अणागतमपासंता' सिलोगो ॥२३८॥ अनागतकाले किंपाकफलाहारवत् विषयदोषानपश्यन्तः 'पच्चुप्पण्णविसयगवेसणा' णाणाविहेहिं उवाएहिं विसयसुहं उप्पायंता 'ते पच्छा अणुसोयंति' ते इति अण्णउत्थिया परलोकं प्राप्ता अनुशोचंते देवदुर्गतौ यत्र वाऽन्यत्रोपपद्यंते, दृष्टान्तः 'खीणे आऊमि जोव्वणे' यथातिक्रान्तवयसः क्षीणेंद्रियशरीरबुद्धिबलपराक्रमाः नानाविधैः क्रीडाविशेषैः तरुणान्, वयमप्येवं क्रीडितवन्तः, तीव्रमनुशोचयन्ति,

प्रत सूत्रांक ॥२२५-२४६॥

दीप अनुक्रम [२२५-२४६]

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१२४॥

एवं तेऽपि परलोकं प्राप्यानुशोचन्ति, इह च मरणकाले, न अस्माभिर्जितेन्द्रियत्वं भावितं वैराग्यं वा, उक्तं हि–'हतं मुष्टिभिराकाशं, तुषाणां कुट्टनं कृतम्। यन्मया प्राप्य मानुष्यं, सदर्थे नादरः कृतः॥१॥ उक्तं बहु चरित्रं च, स्वार्थश्च न प्रहावितः। ते चैवमन्वशोचन्त, यथा के?, उच्यते, 'जेहिं काले परिक्कंतं' सिलोगो ॥ २३९॥ जे इतिणा अणिद्दिट्ठणिद्देसे, कालो नाम तारुण्यं मध्यमं वयः, यौ वा यस्य कालो ध्यानस्याध्ययनस्य तपसो वा, तेषामेकेषां सुकृतं नाम श्रामण्यं, त एव च श्रमणाः त एव मोक्षाकांक्षिणस्त एव साधवो साधर्मिका वा 'ते धीरा बंधणुम्मुक्का' त एव धीराः त एव बंधविमुक्ता, बंधनं कलत्रादि कर्म्म वा, ये किं कुर्वन्ति?, 'जे णावकंखंति जीवितं' पुव्वतरपुव्वकीलितादि असंजमजीवितं न वांछंति। 'जहा णदी वेयरणी०' सिलोगो ॥२४०॥ 'यथे'ति येन प्रकारेण वेगेन तस्यां तरंतीति वेतरणी नाम परोक्षाः अवादिपुः सा हि तीक्ष्णश्रोतस्त्वात् विषमतटत्वाच्च दुःखमुत्तीर्यते इति दुस्तरा, सर्वलोकप्रतीत एवासौ, पाखण्डिनां च केषांचित्, 'इहे'ति इह प्रवचने, वक्ष्यमाणमपि च 'जह तं णदी वेतरणी' दुत्तरा एवं लोगंसि नारीओवि दुत्तराओ, एवमनेन प्रकारेण सर्वोपसर्गेभ्योऽनुलोमेभ्यः प्रतिलोमेभ्यश्च दुस्तरतरा नार्यः, ता हि नानाविधैर्हावभावविलासैरुत्तितीर्षूनभिभवंति, वैतरण्यामिव तत्रैव तत्रैव निमज्जापयंति, ता हि दुक्खं द्रव्यभावतः परिहियंते, 'अमतीमय'त्ति न मतिमान् अमतिमान् तेनामतिमंता, 'जेहिं ते णारिसंजोगा' सिलोगो ॥ २४१॥ जे इत्यनिर्दिष्टनिर्देशः, त्रिविधा नार्यः, नारीभिः संयोगा नारीसंयोगाः, मैथुनसंसर्गा इत्यर्थः, 'पूयणा पिट्ठतो कत'त्ति पूयणा नाम वस्त्रान्नपानादिभिः स्नानाङ्गरागादिभिश्च शरीरपूजनात्, उक्तं हि-"णो सायासोक्खपडिबद्धे भवेज्जा", अथवा त एव नारीयोगाः पूतना पातयंति धर्म्मात् पातयंति वा चारित्रमिति पूतनाः, पूतीकुर्वन्तित्यर्थः, पृष्ठतो कृता नाम उज्झिता, 'सव्वमेवं णिराकिच्चा' सर्वमिति येऽन्ये उपसर्गाः

कालपरा-क्रमादि

॥१२४॥

प्रत सूत्रांक ॥२२५-२४६॥

दीप अनुक्रम [२२५-२४६]

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१२५॥

क्षुत्पिपासासीतोष्णादयः निरा०नाम पृष्ठे कृत्वा, अथवाऽनुलोमाः प्रतिलोमाश्च, सोभणाए समाहिए ण उवसग्गेहिं खोहिज्जति, किं च 'एते ओहं तरिस्संति' सिलोगो ॥२४२॥ एते णाम जेहिं एते इत्थिपरीसहादयः उपसर्गा जिताः, द्रव्यौघः समुद्रः भावौघस्तु संसारः, तरिस्संति ते, नान्ये, न वा भावेन, दृष्टान्ते 'समुद्दं ववहारिणो' समुद्रतुल्यं समुद्रवत्, व्यवहरंतीति व्यवहारिणो–वणिजः पोतैस्तरंति, 'जत्थ पाणा विसण्णेसी' यस्मिन्–यत्र एते पाषण्डाः गृहस्थस्वभावं गताः विषयजिता विषण्णा आसंते गृहिणश्च, इह परत्र च 'किच्चंती सह कम्मुणा' कृत्यन्ते निपद्यंत इत्यर्थः, 'नं च भिक्खू परिण्णाय' सिलोगो ॥ २४३ ॥ दुविहाए परिण्णाए परिज्ञाय जाणणापरिण्णाए उवसग्गपरीसहे जाणित्ता पच्चक्खाणपरिण्णाए उट्ठितो ते अहियासेमाणु 'सुव्वते समिते चरे' समितिग्रहणात् उत्तरगुणा गृहीताः, मूलगुणा पुण इमे 'मुसावादं विवज्जेज्ज' कस्मान्मृषावादः पूर्वमुपदिष्टः? न प्राणातिपात इति, उच्यते, सत्यव्रतवतो हि व्रतानि भवंति, नासत्यव्रतो, अनृतिको हि प्रतिज्ञालोपमपि कुर्यात्, प्रतिज्ञालोपे च सति किं व्रताणामवशिष्टं?, तं मुसावादं विसेसेण वज्जए विवज्जए, अदिण्णादि च वोसिरे, अदिण्णमादि यस्याश्रवगणस्य सोऽयं अदिण्णाद्याश्रवगणः तं अदिन्नादि विवज्जए, तंजहा–पाणादिवादादि जाव परिग्रहं, प्राणातिपातप्रसिद्धये त्वपदिश्यते 'उड्ढे अहे तिरियं वा' सिलोगो ॥२४४॥ ऊर्ध्वमधस्तिर्यगिति क्षेत्रप्राणातिपातो गृहीतः, जे केई तसथावरा इति द्रव्यप्राणातिपातः''सव्वत्थे'ति प्राणातिपातभावश्च सर्वावस्थासु 'विज्जं' विद्वान् सर्वत्र विरतिं विद्वान् कुर्यात् इति वाक्यशेषः, विरति एव हि 'संति णिव्वाणमाहितं' विरतीउ वा विरतस्स वा संति णिव्वाणमाहितं, शान्तिरेव निर्वाणमाख्यातं संति णेव्वाणमाहितं, अहवा संतित्ति वा णिव्वाणंति वा मोक्खोत्ति वा कम्मखयोत्ति वा एगट्ठा, तेनापदिश्यते संति णिव्वाणमाहितं, उक्ता उपसर्गाः, ते च सर्व एव सोढव्याः, आत्म-

ओघतरणादि

॥१२५॥

प्रत सूत्रांक ॥२२५-२४६॥

दीप अनुक्रम [२२५-२४६]

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः स्त्रीप० अ० ४ ॥१२६॥

संचेतनीयोपसर्गापवादस्तु नोऽशरीरो धर्मो भवतीतिकृत्वा 'इमं च धम्ममायाय, कासवेण पवेदितं। कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ॥२४५॥ संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिणिव्वुडे। उवसग्गे णिराकिच्चा, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२४६॥ त्तिबेमि उपसर्गाध्ययनं समाप्तं ३॥ (ग्रन्थाग्रं ३०००)

इदाणिं इत्थिपरिण्णत्ति अज्झयणं, उवक्कमादि चत्तारि अणुयोगदारे परूवेऊणं अत्थाधियारो, सो दुविधो–अज्झयणत्थाधियारो उद्देसत्थाधियारो य, अज्झयणत्थाहियारो जाणणापरिण्णाए तिविधाउवि इत्थिगाउ जाणियव्वत्ति, पच्चक्खाणपरिण्णाए ताओ परिहरितव्वाओ, उद्देसत्थाधियारे इमा गाहा 'पढमे संथवसंलावाइएहिं' गाहा (५६) पढमे उद्देसए यथा–येन प्रकारेण संवाससंथवेण संबद्धवसधिमादीहि य दोसेहिं गमणागमणमादि पुच्छाहि य उल्लावसंलावभिण्णकथाहिं य इत्थीहिं सद्धिं सीलक्खलणं भवति, पढमुद्देसे विलंवणा उ लभति चोदिज्जंते, बितिए उद्देसए खलिंतो समणधम्माउ विलंवणा पाविज्जंति लिंगत्थओ होन्तो, स वा लिंगाओ अप्पं वा लिंगं वा सपक्खपरपक्खातो य हीलणं पावति। णामणिप्फण्णे णिक्खेवे इत्थि परिण्णा य दुपदं णाम, तत्थित्थीए 'दव्वाभिलावचिंधे'गाथा ॥५४॥ जाणगसरीर० भवियसरीर०, वतिरित्ता दुविधा–मूलगुणणिव्वत्तणाणिव्वत्तिया य उत्तरगुणनिवत्तणानिवित्तिया य, मूलगुणे इत्थिसरीरगं जढं जीवेणं, उत्तरगुणे कट्ठकम्मादिसु, अथवा दव्वित्थी तिविधा–एगभविया बद्धाऊ अभिमुहणामगोत्ता, अभिलावत्थी जहा साला माला वेला सिद्धी इत्यादि, वेदि(विंधि)त्थी अवगतवेतं इत्थिशरीरगं, तं पुण छउमत्थस्स केवलिस्स वा, वेदित्थी इत्थिवेदं वेयमाणी, भावित्थी आगमतो णोआगमतो य, आगमतो इत्थिवेदजाणओ तदुवउत्तो, (णोआगमतो) इत्थिवेदणामगोताइं कम्माइं वेयमाणो जीवो, इत्थि भणिया। इदाणिं परिण्णा, सा जहा

निक्षेपाः

॥१२६॥

अस्य पृष्ठे चतुर्थ अध्ययनं आरभ्यते

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१२७॥

सत्थपरिण्णाए, जहा संजताणं इत्थिपरिण्णा तथा संजतीणं पुरिसपडिण्णा, इत्थीपडिपक्खो पुरिसो, तेण तस्सवि णिक्खेवो भाणितव्वो 'णामं ठवणा दविए'गाथा ॥५५॥ णामे जहा घडो पडो कलसो, ठवणापुरिसो कट्ठकम्मादिकता जिणपडिमा वासुदेवपडिमा एवमादि, दव्वे जाणगसरीरादि जहा इत्थी तथा भणियव्वं, खेत्ते जो जत्थ खेत्ते पुरिसो, जहा सोरट्ठो सावगो मागधो वा एवमादि, यस्य वा यत् क्षेत्रं प्राप्य पुंस्त्वं भवति, अन्यत्र न भवति, कालपुरुषोऽपि यावंतं कालं पुरुषो भवति, जहा "पुरिसे णं भदंते ! पुरिसोत्ति कालओ केवइ चिरं होंति ?, जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं" यो वा यस्मिन् काले पुरुषो भवति(जहा कोइ एगंमि पक्खे पुरिसो)एगम्मि पक्खे णपुंसगो, प्रजन्यते अनेनेति प्रजननं तद्यस्यास्ति, केवलमस्ति न पुंस्त्वं स प्रजननपुरुषः, कम्मपुरुसो नाम यो हि अतिपौरुषाणि कम्माणि करोति यथा वासुदेवः स कर्म्मपुरुषः, भोगपुरिसो चक्कवट्टी, गुणपुरिसो णाम यस्य पुरुषगुणा विद्यंते इमे, तद्यथा–व्यायामो विक्रमो वीर्यं, सत्त्वं च पौरुषा गुणाः। कान्तित्वं च सुदुत्वं वि(च)विधक(व)त्वं च योषितां ॥१॥ भावपुरिसो आगमतो णोआगमतो य,आगमतो पुरिसो पुरिसजाणगो तदुवउत्तो, णोआगमतो पुरिसणामगोताइं कम्माइं वेदयंतो, दस एते पुरिसणिक्खेवा इति। 'पढमे संथव' गाथा ॥ जेऽभिहिता पढमे संथवसंलावादिगेहिं पुव्वुत्तं । 'सूरा मो मण्णंता'गाथा ॥५७॥ सूरा मो मण्णंता इत्थिहिं अपडिविरतित्ति वाक्यशेषः, कैतवं नाम माया कैतवयुक्ताः कैतविकाः, उवधी नाम अन्येषां वशीकरणं,अधिका कृतिः निकृतिः नियट्टी तत्प्रयोगात् गहिता तु अभयपज्जोतकूआधारा(कूलवाला)दिणो [सूरो पज्जोतो केतवयारो तवस्सी] एवमादिणो जीवा इत्थिदोसेण इह परभवे य णाणाविधाइं दुक्खाइं पावंति हत्थपायछेदादीणि, 'तम्हा ण उ वीसंभो गंतवो णिच्चमेव इत्थीणं। पढमुद्देसे भणिता जे दोसा ते गणंतेणं ॥५८॥ सुसमत्थाविऽसम-

निक्षेपाः

॥१२७॥

अस्य पृष्ठे चतुर्थ अध्ययनस्य प्रथम उद्देशक: आरभ्यते

त्था कीरंति अप्पसत्तिया पुरिसा। धर्मं प्रत्यसमर्थो, अपसत्तिया नाम परीसहभीरुणो, 'दिस्संति सूरवादी णारीवसगा ण ते सूरा ॥५९॥ रणसूरवादिणोऽवि णारीवसगा दीसंति जहा ते पज्जोदादयो, को पुण सूरो ?, उच्यते–धम्ममि जो दढमई सो सूरो सत्तिओ य वीरो य। ण हु धम्मि णिरुच्छाहो पुरिसो सूरो सुबलिओवि ॥६०॥ जो धम्ममि दढो सूरो सत्तिगो य,ण उ जो धम्मणिरुत्थाहो धर्मं प्रति सूरो भवति, यद्यपि बलवानसौ सरीरेण तथाप्यसौ दुर्बल एव, एते चेव य दोसा पुरिसपमादेऽवि इत्थिगाणंपि। तम्हा उ अप्पमादो विरग्गमग्गंमि तासिंपि ॥६१॥ पुरिसोत्तरिओ धम्मोत्तिकाउं तेण इत्थीपरिण्णा वुत्ता, इत्थीणवि एसा चेव विवरीता पुरिसपरिण्णा, गयो णामणिप्फण्णो। सुत्ताणुगमे सुत्तमुच्चरियव्वं अखलितादि जाव पंचधा वित्तिलक्षणमिति, सुत्तस्स सुत्तेण संबंधो–'आमोक्खाय परिव्वएज्जासि'त्ति पडिलोमे उवसग्गे अधियासेन्तो 'इमे'इत्यन्ये अनुलोमाः, उपोद्घात एव तस्योपदिश्यते–पूर्वं प्रव्रजति पश्चादुपसर्गान् सहतीतोऽपदिश्यते 'ये मातरं च पितरं च' वृत्तं ॥२४७॥ 'ये' इति अणिद्दिट्ठणिद्देसो चशब्दोऽधिकवचनादिषु, भ्रातरं भगिनीत्यादि, विविधं प्रधाय विप्रधाय तृणमिव पटांतलग्नं, पूर्वसंयोगो गृहसंयोगः, अथवा जातः सन् यैः पश्चात्सह संयुज्यते स संयोगः, स तु भार्याश्च पुत्रदुहित्रादि, अथवा सर्व एव पूर्वापरसहसंबंधः पूर्वसंयोगो भवति, अथवा द्रव्यभावतः पूर्वसंयोगो, द्रव्ये स्वजनसंथवो नोस्वजनसंस्तवश्च, स्वजने पूर्वापरसंस्तवः, नोस्वजनसंस्तवस्त्रिविधः–सचित्तादि, सचित्ते दुपदचतुष्पदापदं,द्विपदे दासीदासभृत्यमित्रवर्गादि, चतुष्पदे हस्तिअश्वगोमहिष्यादि, अपदे आरामोद्यानपुष्पपालादि,अचित्ते हिरण्णादि मिश्रे साधारणालंकारप्रहरणहस्त्यश्वादि, भावे मिच्छत्ताविरतिअण्णाणा 'एगे सहिते चरिस्सामि' एगो णाम रागदोसरहितो, सहितो णाणादीहि, आत्मनो वा हितः स्वहितः, चरति–गच्छति वर्तयतेत्ति एकोऽर्थः, विविक्तान्येपतीति विविक्तेसी

प्रत सूत्रांक ||२४७-२७७||

दीप अनुक्रम [२४७-२७७]

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१२९॥

मार्गयतीत्यर्थः विविक्तानां साधूनां मार्गमेषतीति विविक्तैषी, आरतमेहुणो नाम उपरतमैथुनः, कतर आरतः ? 'विवित्तेसी' विवित्तं द्रव्ये शून्याकारं स्त्रीपशुवर्जितं भावे तत्संकल्पवर्जनता, अथवा कर्मविवित्तो मोक्खो तमेवमेषतीति विवित्तमेसी,'सुहुमेणं तं परक्कम्मं' वृत्तं ॥२४८॥ सुहुमेनेति–निपुणेन, उच्यते येनेति वाक्यशेषः,'परक्कम्म'त्ति पराक्रम्य अभ्यासमेत्य वंदणपूर्वकेन सूक्ष्मेनोपायेन 'छन्नपदेने'ति अन्यापदेशेन, पुत्तकिडगा य णत्तुयभातीकिडगा य पीतकिडगा य। एते जोव्वणकीडगा पच्छन्नपती महिलियाणं ॥१॥ अथवा 'छन्नपदेने'ति छन्नतरैरभिधानैराकारैश्चेमं अभिमर्षति, तद्यथा 'काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेहांधकारासु च सर्वरीषु। मिथ्या न भाषामि विशालनेत्रे !, ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु ॥१॥ जाणंति ता उवायं च, उपायो नाम विविक्तविश्रंभरसो हि कामः, स तु एको आत्मद्वितीयो वा, गच्छगतस्य किं करिष्यति ?, तस्यैव देशकालं छकं(न्नं)च 'जह लिस्संति'त्ति येन प्रकारेण लिश्यन्ते संबध्यंत इत्यर्थः, एके, न सर्वे, अन्ये हि स्त्रीजनालिङ्गिताः अपि न तामिः संबध्यंते, पवनबलसमीरिता वह्निज्वाला इव चैनां मन्यन्ते, ते तूपाया इमे—यथा यथा ह्यग्निः सन्निकृष्टो भवति तथा तथा दहति, इत्येवं मत्वा 'पासे भिसं णिसीयंति' वृत्तं ॥२४९॥ भृशं नाम अत्यर्थे, प्रकर्षेण उरुणा ऊरूं अक्कमिया, दूरगता हि नातिस्नेहमुत्पादयन्ति विश्रंभदा, तेण अद्धासणे णिसीदंति, सन्निकृष्टा वा परिभुंजमाणा पुसा पुष्यन्तेऽनेनेति पोषकं तन्निमित्तं वा कामिभिर्वस्त्रान्नपानादिभिः पुष्यत इति पोषकं–पोसं, वत्थं णाम णिवसणं, तमभीक्ष्णं अभीक्ष्णमायासबद्धमपि शिथिलीकृत्वा परिहिति, णिविट्ठा उट्ठित्ताउ य आसन्नगताउ य होइऊण 'कायं अधिविदंसेन्ति' जंघा दुन्निवि हुद्धक्खणे वा जणणेण ट्ठिता वा संती णिवेयंति गुह्यमिति प्रकाश्य पुनर्बालमवेति, बाहु उद्धट्टु नाम उत्सृज्य कक्षां परामृशति, एवमादीनि अन्यान्यपि भ्रूकटाक्षविक्षेपादीनाकारान् करोति,

विविक्तैषि-तादि

॥१२९॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१३०॥

किं च–'**सयणासणेहि जोगे**' वृत्तं ॥५०॥ तमेकाकिनं व्याकुलसखायं वा मत्वा सयणे णिमंतेति, सयणं णाम उवस्सयो, सीतं इदाणिं, साहु अंतो, अतीवगिम्हे वा मत्वा सयणे णिमंतेति, धूलिं वा कतवरं वा उवसग्गाउ णीणेंति, अण्णतरं वा संमज्जणवरिसीयणाति उवसग्गपरक्कमं करेति, '**आसणेणं**'ति पीढएण वा कट्ठमएण वा आसंदएण णिमंतेति, '**योग्य**'मिति यस्मिन् काले हितं निवातं प्रवातं वा स्यात्, किमासां भिक्षुणा प्रयोजनं? नन्वासामन्ये कामतंत्रविदः तत्प्रयोजननिश्च गृहस्था विद्यन्ते, उच्यते हि कुयोषितो विधवा विप्रवसितधवाः, तासां हि विरूपोऽपि तावद्वयोस्थोऽतिकाम्यो भवति, दुर्मुखोऽप्यघार्थिकोऽपि एकान्तरुचिरपि, किमु यः सरलः सुरूपो विचक्षणः, उक्तं हि–"माधुर्यं प्रमदाजने च ललितं०" ता हि सन्निरुद्धाः सधवा विधवा वा, आसन्नगतो हि निरुद्धाभिः कुब्जोऽन्धोऽपि च काम्यते, किमु यो स कोविदः, उक्तं हि—"अंबं वा निंबं वा अभ्यासगुणेण आरुभति वल्लीं।" दूरस्थं चैनं मत्वा ब्रूयात्–अम्हे हि ण सक्केमो सकम्मा दिणओ वंदितुं णमंसितुं वा, इमाणि अम्ह सयणाणि वा, अथवा योग्यग्रहणात् उच्चारपासवणचंकमणत्थाणज्झाणओयणभूमीओ घेप्पंति, सा जइ कदाइ सड्ढी भवेज्जा जाणइ जाइं साधुजोगाइं '**इत्थी एगता णिमंतेंति**' एकस्मिन् काले एकदा, यदा यदा स एकाकी भवति व्याकुलसखायो वा, अथवा वरिसारत्तादिसु जत्थ सयणासणोवयोगो भवति, सयणमिति संथारगो घेप्पति, उवस्सओवि,'**एताणि चेव से जाणे पासा उ विरूवरूवाइं**' एतानीति यान्युपदिष्टानि शयनासननिमन्त्रणानि स भिक्षुः पासयंतीति पासा त एव हि पासा दुच्छेद्याः, न केवलं हावभावभ्रूविभ्रमेंगितादयः, न हि शक्यमुल्लंघयितुं, न तु ये दानमानसत्काराः शक्यन्ते छेत्तुं, उक्तं हि–"जं इच्छसि घेतुं जे पुव्विं ते आमिसेण गिण्हाहि। आमिसपासणिवद्धो काही कज्जं अकज्जंपि ॥१॥" '**विविधरूवाइं**' ताइं पुण पासाणि विरूवरूवाणि, संवधनउपगूहनआलिंगना-

स्त्रीकृतनिमंत्रणादि

॥१३०॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१३१॥

दीणि, जहा ताणि परिहरणीयाणि तथा तब्भयादेव सयणासणणिमंतणादीणि परिहरितव्वाणि, ताणि पुण कहं परिहरितव्वाणि ?, उच्यते **'णो तासि चक्खु संधेज्जा'** सिलोगो ॥२५१॥ चक्षुसंधणं णाम दिट्ठिए दिट्ठिसमागमो, अकुट्ठउ विकट्ठओवि य तासु णिचं भवेज्जा, कार्येऽपि सति अस्निग्धया दृष्ट्या अस्थिरया अवज्ञया चैतां ईषन्निरीक्षते, **'साहस'**मिति परदारगमनं, नह्यसाहसिकस्तत्करोति, संग्रामावतरणवत्, तत्र हि सद्यो मरणमपि, स्यात् हस्तादिछेदबंधघातो वा, स्वदारमपि तावदीक्षितस्य साहसं, किमु परदारगमनं ?, अथवा साहसं-मरणं, प्राणान्तिकेऽपि न कुर्यात्, अथवा यदसौ स्त्री चापल्यात् साहसं कुर्यात्तदस्या न समनुजानीयात्, उक्तं हि-"पुरुषे विद्यते सत्त्व"मिति, **'न सज्झियंपि विहरेज्जा नेति** प्रतिषेधे,**'सज्झियं'**ति ताहिं सह, गामाणुगामं ण विहरेज्ज, जत्थ वा ताओ ठाणे अच्छंति तत्थ ण चिट्ठितव्वं, कयाइ पुव्विं ठितस्स झत्ति एज्जा ततो णिग्गंतव्वं, क्षणमात्रमपि न संवस्याः, **'एवमप्पा रक्खितु सेउ'**त्ति आत्मेति सरीरमात्मा च, स इह परे च लोके अतिरक्षितो भवति, ये इह मैथुनानाचारदोषास्तस्य न भविष्यंतीत्यतो निरीक्षितो भवति, पुनरिदानीं पाशाः **'आमंतिय ओसवियं वा'** वृत्तं ॥२५२॥ काचित् सन्निकृष्टगृहवासीनी सेज्जायरी प्रातिवेशिकी वा अहनि विरहाद्यलंभात् ब्रूयाद्-अहं निश्यागमिष्यामि, नास्ति मेऽहनि क्षणो विरहो वा, तद् अस्या न समनुज्ञाणीयात्, धर्म्मं श्रोतुमितरप्रयोगेन वा, यदि चेत् मम भर्तुः शंकसे तत एनमहं आमन्त्र्य नाम पुच्छिउं तत्प्रयोजना वसितं स्थापयित्वा, अथवा ब्रूयात्-असावहनि कृष्यादि कर्मपरिश्रान्तः भुक्तः सन् निपन्नमात्र एव मृतवच्छेते, भद्रक एवासौ, न मम रुस्सिहितित्ति, जइवि मं परपुरिसेण सह गच्छमाणिं पेच्छति तहावि नवि रूसेज्जा, अथवा संकेतेत, ननु ते भर्त्ता न विरूप्येत ?, सा ब्रवीति-आमंतिय ओसवियाणं, आमंतिय ओसविया च तमहमागता, तुब्भे वीसत्था होह, विविक्तविश्रंभरसो हि

दृष्टिपरिहारादि

॥१३१॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१३२॥

कामः, यच्च पृच्छसि किमागताऽसि अकाले इति? तं धर्म्मं श्रोतुं, ब्रूयाद्वा ममाऽऽणत्तियं देह यन्मया कर्त्तव्यमिति, शुश्रूषापादशौचम्रक्षणादि, यद्वा किंचिदसद्गृहेऽस्ति तत्सर्वमहं च भवत्संतकं 'आयसा' नाम आत्मसा, अप्पाणंवि णिमंतेति तुब्भं चयं इमं शरीरगं, अहं ते चलणोवधानकारिया, एवं भिन्नकहादीहिं सम्बन्धः, सम्बधनालिङ्गनउपगूहनकंठवलंबणादीणि वा कुर्वती निवारिता ब्रूयात्–'कुत्र वा ममान्यत्रोवयोगो,'एतानि चेव से जाणि सद्दाणि' एतानीति यान्युद्दिष्टानि 'से' इति स भिक्षुः, शब्दा नाम ये शब्दादिविषयाः कथिता, न केवलं गीतातो शब्दा वर्जा, आत्मनिमन्त्रणादयो हि सुदुस्तराः शब्दाः, अथवा यानि सीत्कारादीनि सद्दाणि कज्जंति तान्येवैतानि विद्धि निमन्त्रणादीणि शब्दानि, पढंति च–'सद्दाणि विरूवरूवानि' तासु हि पंचलक्खणा विसया संति विभासियव्वा, विविधं विसिट्ठं वा रूवं, विरूवाणि रूवाणि जेसिं ताणिमाणि विरूवरूवाणि–'णाह पिय कंत सामिय दइत वसुल होलगोल! गुणलेहि। जेणं जियामि तुब्भं पभवसि तं मे सरीरस्स ॥१॥ इमानि चान्यानि शब्दानि 'मणबंधणेहि णे' वृत्तं ॥२५३॥ मनसो बंधनानि मनोबंधनानि, तानि तु गतयश्च निरन्तरा रूवमंदा यस्मिन् करुणमाकारतो वाक्यतश्च, विनीतवत् वन्दनपूजनं पादादिसंबाधनं 'उपकत्ता' अल्लिइत्ता 'अदु मंजुलाइं भासंति' मणसि लीयते मनोऽनुकूलं वा मंजुलं, मदनीयं वा मंजुलं, मितमधुररिहितजंपुल्लएहि ईसी कडक्खहसितेहिं। सविकारेहि विरागं हितयं पिहितं मयच्छीए ॥ १ ॥ भेदकरी कथा भिण्णकहा, तंजहा–तुमंसि किं वत्तवीवाहो पव्वइतो ण वत्ति, वृत्तवीवाह इति चेत् कथं सा जीवति त्वया विनैवंविधरूपेनेति, कुमार इति चेत्, अनपत्यस्य लोका न संति, किं ते तरुणगस्स पव्वज्जाए?, दारिका वरिज्जसु, मया वा सह भुंज भोए, स्यात्कथं वैराग्यं वा? कामभोगपरंपराज्ञः, भुक्तभोगः कुमारगो वा तत्प्रयोजनात्यन्तपरोक्षः आनम्यते, कथं? 'सीहं जहा व कुणिमेणं' वृत्तं ॥२५४॥

शरीरार्पणादि

॥१३२॥

येन प्रकारेण यथा सहस्रिकोऽपि स्कन्धावारः सिंहेनैकेन भज्यते, क्वचिच्च पन्थाः सिंहेन दुर्गाश्रयेण निःसंचरः कृतः, स च तद्व-हणोपायविद्भिः पुरुषैः छगलकं मारयित्वा तद्गोचरे निक्षिप्य पाशं च दद्यात्, तेन कुणिमकेन बध्यते, एकचारी नाम एक एवासौ चरति, न तस्य सहायकृत्यमस्ति, उक्तं हि–'न सिंहवृन्दं भुवि दृष्टपूर्वं''एवेत्थिया बंधंति' भाववंधेन, द्रव्यसंवृत्तो हि समुद्र-कूर्मो, पिहिता आश्रवा यस्य भावतः, स तु संवृत्तः भावैकचरः, द्रव्यतो भाज्याः, पाशाः कूटादयः, भावपाशास्त्विमे–गतिविभ्रमे-र्गिताकारहास्यादयः, यैर्भावो पाश्यते, संवृतोऽपि तावद्बध्यते,किन्तु योऽल्पवृत्तिरिति,'अह तत्थ पुणो नमयंति'सिलोगो॥२५५॥ तस्मिन्निति तत्र, मूर्च्छित इति वाक्यशेषः, असंजमनतं पुनरनेकैरुपायैर्नमयन्ति यद्यदिच्छंति तत्कारयन्ति, यथा रथकारः नेमिकाष्ठं तक्षन् क्रमशो, यदि स एवं नतः 'बद्धे मिए व पासेण' यथाऽसौ मृगः पाशेन बद्धः मुमुक्षुः स्पन्दमानोऽपि न मुच्यते एवम-सावपि विषयदानैर्बद्धः कुकुटुम्बकुतश्चीहिं व्याप्रियमाणोऽपि पुनर्विजिहीर्षुरपि न शक्नोत्यवसर्पितुं क्रव्यगृद्ध इव सिंहः, भावगार्द्ध्यं, कुकुटुम्बव्यापारैः कृष्यादिभिः व्याप्तः, कर्म्मभर्च्छिताः 'अह सऽनुतप्पती पच्छा' वृत्तं ॥ २५६ ॥ यथा कश्चिज्जनो जानन् अजानन् वा विषमिश्रं पायसं भुक्त्वा तत्परिणामे वेदनोदये भृशमनुशोचते,'एवं विवागमणिस्सा' एवमिति योऽयमुक्तः विवागो दारभरणादिपरिक्लेशः, विवेग इति चेत् भवति विवेच्यते येन भवः कर्म वा स विवेगः–संयमः एवं विवेगमातात, स्त्रीभिः संगमो न कार्यः, काष्ठकर्मादिस्त्रीभिरपि तावत्संवासो न कल्पते, किमु सचेतनाभिः ?, दविओ नाम रागदोसरहितो, एगतो वासः संवासः तदासणे वा संवसतो संथवसंलावादि, दोसा असुभभावदर्शनं भिन्नकथा वा स्यात्, उक्तं हि–'तदिन्द्रियालोचनसक्तद्रव्याः०''तम्हा उ वज्जए इत्थी' वृत्तं ॥२५७॥ तस्मात्कारणात् इत्थी तिविधा, कथं वज्जए ? 'विसलित्तं कण्टगं णच्चा' विषेण दिग्धो विष-

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१३४॥

दिग्धः आगंतुना सहजेन वा, अविपदग्धोऽपि तावत् परिहियते, किं पुनः सविष इति, स तु मरणभयात् परिहियते, स्त्रियस्तु संयममरणभयात्, किंच-'ओये कुलाणि वसवत्ति' ओयो णाम रागदोसरहितो, वसे वर्त्तत इति वशवर्त्तीति, पूर्वाध्युषित्वात् यदुच्यते तत्कुर्वन्ति ददति वा, स्त्रियो वा येषां वशे वर्तन्ते, किं पुनः स्वैरस्त्रीजनेषु, वश्येन्द्रियो वा यः स वशवर्ती, गुरूणां वा वशे वर्त्तते इति वशवर्ती, आघाति नाम आख्याति गत्वा २ धर्म्मं निष्केवलानां स्त्रीणां असहितानां पुंसां, असावपि तावन्न निर्ग्रन्थो भवति, किमु यस्ता भिन्नकथं कथयति ?, यदा पुनर्बद्धा सहागता पुरुषमिश्रा वा वृन्देन वा गच्छेयुः तदा स्त्रीनिन्दां विषयजुगुप्सां अन्यतरं वा वैराग्यकथं कथयति, कदाचिद् ब्रूयात्-यदिवा गृहमागंतुं न कथयसि तो भिक्खपाणगादिकारणेणं एज्जह, दृष्टिविश्रामनामपि तावत्त्वां दृष्ट्वा करिष्यामः, अपश्यंत्या हि मे त्वां शून्यमेव हृदयं भवति, एवमुक्त्वा वा 'जे एवं इच्छं अणुगिद्धा' वृत्तं ॥ २५८ ॥ जे इति अणिद्दिट्ठणिद्देसो, एतदिति यदुक्तं गिहिणिसेज्जे, जे वा एवंविधाणि इच्छंति गवेसंतेत्यर्थः, अणुप्रयायंते, एतदपि तावद्भवतु यदि रहो नास्ति समागमो वा, 'अण्णयरा उ ते कुसीलाणं' पासत्थादीणं कुत्सितसीला कुशीला पासत्थादयः पंच णव वा, पंचत्ति स पासत्थउसण्णकुसीलसंसत्तअहछंदा, णवत्ति एते य पंच इमे य चत्तारि-कायिकः मामकः प्राश्निकः संप्रासारिकः, स्त्रीसमागमाद्वा को दोषः ?, उच्यते, 'सुतवस्सिएवि भिक्खू' अथवा अन्यतरो वा भवति कुशीलानां सुष्ठु तपस्सिनः सुतपस्सिनः योऽपि ताव तपोनिष्टप्तविग्रहः स्यात् मासोपवासी वा द्विमासोपवासी वा अथवा श्रुतमाश्रृतः सुतमहिज्जंतो गणी वायगो वा, नो प्रतिषेधः, विहारो नाम नक्तं दिवा वा शून्यागारादि पइरिक्कजणे वा स्वगृहे 'सहणं'ति देसीभासा सहेत्यर्थः, एवं ज्ञात्वा स्त्रीसंबद्धा वसधी वर्ज्या, कूटचारो दृष्टान्तः, कतरा स्त्रियो वर्जा ?, उच्यते, असंकनीया अपि तावद्वर्जाः, किमु शङ्क-

वशवर्त्तितादि

॥१३४॥

नीयाः, तद्यथा-'अवि धूअराहिं सुण्हाहिं' सिलोगो ॥ २५९ ॥ अवि विसेसणे धूयरो पुत्तिया ताहिं, पुत्तबहुणो सुण्हा, जइ नाम सुण्हा, धीयत इति धाती, दासीग्रहणं व्यापारक्लेशोपलक्षणार्थं दास्योऽपि वर्ज्याः, किमुत स्वतन्त्रा स्वैरसुखोपेता, 'महल्लीहि वा कुमारीहिं' महल्ली वयोऽतिक्रान्ताः वृद्धाः, कुमारी हि अप्राप्तवयसा भद्रकन्यकाः, संथवो उल्लावसमुल्लावहास्यकन्दर्पक्रीडादि, मातृभिर्भगिनीभिश्च, नरस्यासंभवो भवेत् । बलवानिन्द्रियग्रामः, पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति ॥ १ ॥ स्यात्किमत्र ?, 'अउ णातीणं च सुहीणं च'वृत्तं ॥२६०॥ अदुरिति अथवा णातीणं वा णातयो णाम कुलघरे वसंतीए पितृभ्रात्रादयः, अथवा स्त्री येषां दीयते त एव तस्याः सगोत्रा भवन्ति ज्ञातकाश्च, सुहिणो णाम जे सन्नायका मित्राः, तेषामप्रियं भवति, यद्यपि प्रतिषेधयंति 'एकदा' कदाचित्, उम्मामिकेयं उक्ता वा ब्रूयात्-एष पुत्रमस्तको यथा, नैतत्सत्यं, सा च तस्मिन्नर एवातिमूर्च्छिता ब्रूयात्-मा मे पुनरेवं वक्ष्यसि, गिद्धत्ति पासत्ति वा मुच्छिएत्ति वा एगट्ठा, ब्रूयादिति वाक्यशेषः, ब्रूयात् अहो इमीसे वयं रक्खपोसणे करेमो, इमो पुण सेसमणुओ मणुस्सकज्जं करेइ, भणिज्ज वा-हे खमण ! इमीसे रक्खणपोसणं करेहि, त्वमेवास्या मनुष्यः इति, एस तुमे सद्धिं दिवसं उल्लाविंती अच्छइ, अयमपरः कल्पः-हे खमण ! रक्खणपोसणे मणुस्सो भवति, न कहाहिं, किंच-अन्येनाप्युदरे कृते दंडायाः सोऽपदिश्यते-तत्त्वमेवास्या रक्षणपोषणं कुरु, मनुष्योऽसि, राउले च ते कड्ढामो, अथवा भणेज्ज-हे साधु ! एसा अम्हच्चिया गिद्धा सत्ता तुमंसि अम्हे णो आढाति णो परिजाणति, नरकस्त्वं, एनां रक्षणेन पोषणस्त्वमेणां, पोषणेन मनुष्यस्त्वमस्याः, किंच-'समणंपि दट्ठुदासीणं' वृत्तं ॥ २६१ ॥ कदाचिदसौ तस्मिन् रूपवति साधौ गृद्धा स्वरसौष्ठवोपेते वा गृद्धा तच्चित्ता तम्मणा अच्छेज्ज, अभिक्खणं वा अभिक्खणं तम्मि तेण दीसेज्ज पडिचोदिज्जंति वा अच्छीयमाणी, तथैवाह-सयणं दट्ठुदासीणं,

एकान्त-विषमता

तमपि तथैव तच्चित्तं तन्मणं स्वाध्यायध्यानप्रत्युपेक्षणादिसंयमकरणोदासीणं तिष्ठन्तं दृष्ट्वा जानानाश्च यथैपोऽस्याः निमित्तेन संयम-करणोदासीणो चिट्ठति, तत्थवि ताव एगे कुप्पंति, भणंति वा–किमेवं अज्ज लक्खसि?, अन्यथा च पठ्यते 'समणंपि दट्ठु-दासीणिं उदासीणी णाम येषामप्यसौ भार्या न भवति, बान्धवीया अपि पदार्थादिषु तां च पोषितुं, किमु यस्यासौ भार्या बान्धवी वा तामगणयंती, अथवा 'उदासीन'मिति उदासीनमपि भावात् श्रमणं दृष्ट्वा स्त्रीसहगतं एके कुप्यंते, किमु सविकारप्रा-यमिति, 'अदु भोयणेहिं णत्थेहिं' न्यस्तानि–उपनीतानि उपेत्य नीतानीत्यर्थः, न गृहिणो, तस्स हत्थाओ वा, सो य धणग-समणगो गिहिणीसेज्जवाही वा भिक्खाए आगतो, अथवा न्यस्तमिति तद्गतमनसं दट्ठुं कूरो दत्तो न तावद् व्यञ्जनं, स वाऽऽगतः स तत्रातिसंभ्रमेणातुरीभूता सावातकस्यान्यस्य वा दातव्यं तं न प्रयच्छति, अन्यस्मिँश्च दातव्ये कर्त्तव्ये वा अन्यत्प्रयच्छति करोति वा, निदर्शनं जहा–कहिंचि गामे पदोसे णट्ठे णट्ठेण तालिते मद्दले काइ वधू ससुरादीए परिवेसंती भायणेसु दिण्णेसु कूरमानेति, ताए य तण्डुला इतिकाऊण राइआउ अवस्सीयाउ, ततो णाए कूरोत्तिकाउं ससुरस्स उक्किण्णाउ, सो य आणक्खेतुं तुसिणीओ, महत्थिया संचिट्ठति, पतिणा से अस्सादेतुं पिट्ठिता, एवं तंपि साधुणिमित्तं संभंतं दट्ठूण गृहिषु आत्मसु वा नाद्दतां तस्याः भीत-काया इत्थीदोससंकिणो भवंति, इत्थीदोसो णाम व्यभिचारिणी, स्यादेवंविधाः अपि दोषाः कस्यचित् दृष्टा अभूवन् भवन्ति वा?, ओमित्युच्यते, 'कुव्वंति संथवं ताहिं' वृत्तं ॥२६२॥ संथवो णाम गमणागमणदाणसंप्रयोगप्रेषणादिपरिचयः,'ताभि'-रिति ताभिः स्त्रीभिः, पव्भट्ठा णाम णाणदंसणचरित्तजोगेहिं, जओ एते दोसा 'तम्हा समणा उ जहाहि' तस्मात् कारणात् श्रमण इत्यामन्त्रणं अथवा श्रमणस्त्वं किं तवैवंविधैर्व्यापारैः?, एते गार्हस्थानामेव युज्जंते, तुर्विशेषणे, जहाहि, पठ्यते च 'तम्हा

औदासी-न्यादि

॥१३६॥

श्रीसूत्र कृताङ्गचूर्णिः ॥१३७॥

समणा ण समिन्ति आतहिओ' न इति प्रतिषेधे, समिति समन्तात्, न समग्रमित्यर्थः, अथवा ण समेन्ति—ण समुपागच्छंति, आत्मने हितं आत्महितं आत्मनि वा हितं आत्महितं, तासिपि अविरतियाणं तं हितं इह परलोगे य, सण्णिसेज्जा णाम गिहिसेज्जा संथवसंकथाओ य, स्यात् प्रव्रज्यामुपेत्यापि एवं कुर्यात् ?, ओमित्युच्यते,'बहवे गिहाणि अवहट्टु' वृत्तं ॥२६३॥ प्रभृताः अपहृत्यापहृत्य उत्सृज्येत्यर्थः, दव्वलिंगेण समणावि 'मिस्सीभावपण्हया' मिश्रीभावो नाम द्रव्यलिङ्गमिति, न तु भावः, अथवा पव्वज्जाए गिहवासेऽवि पण्हता णाम गौरिव प्रस्नुता एवमेषां, कर्मभयाद्वा मिश्रीभावः, प्रियतत्त्वे कतरः पक्षः ?, विसयसायासोक्खपडिबंधेणं भणंति—लिंगछेयणमेव, अवधाणं चिरं, पण्होमित्तावि कंखामोहणिज्जकम्मदोसेण कयाइ अधेसत्तमीओ अबंधेज्ज इति, अण्णे पुण अट्टदुहट्टवसट्टा असमाधिगता त एवं पंडितत्तणेण धुवमग्गमेव भासिंसु, धुवमग्गो णाम संजमो वेरग्गमग्गो वा, तंजहा—बहुमोहेनि णं पुव्वं विहरित्ता अह पच्छा संवुडे कालं करेज्जा आराधए भवति, तं तेसिं वायावीरियमेव, केवलं ढक्करिपुत्तणं, न तु करणवीरियं, उक्तं हि—'जो जत्थ होति भग्गो ओवासं०'गाथा, वायावीरियं णाम जो भणति ण य करेति भिल्लगजकुनवत्, अथवेदं वायावीरियं 'शुद्धं रवति परिसाए' वृत्तं ॥२६४॥ सुद्धमिति वेरग्गं, अथवा शुद्धमिति शुद्धमात्मानं, ततः पूजासत्कारहेतोः परिषदि रौति—भाषत इत्यर्थः, 'अथ रहस्संमि दुक्कडं करेंति'त्ति एवमुक्त्वा रहस्संमि दुक्कडं करेइत्ति, दुक्कडं णाम पावं, अथवा दुक्खं तल्लिङ्गस्थैः क्रियत इति दुक्कडं, किंच 'जाणंति य णं तहावेदा' स हि जाणीते—स मां कश्चित् जानाति, अथ चैनं तथावेदा जाणंति, तथा वेदयंतीति तथावेदाः, कामनच्चविद इत्यर्थः, ते हि कामयमानं आकारविकारैर्जानंति, उक्तं हि—"अकामिनां कामविघातुराणि, तनूनि गात्राणि च कामुकानां।" नखदशनच्छेदनैर्वा सूच्यन्ते यथैतेऽकृत्यकारिणः, यथा-

मिश्री-भावादि

॥१३७॥

प्रत सूत्रांक ॥२४७-२७७॥

दीप अनुक्रम [२४७-२७७]



ऽध उच्चाराद्युत्सृजन् दृश्यमानोऽपि परैर्मन्यते न मां कश्चित्पश्यति एवमसावपि रागद्वेषान्धो जानीते न मां कश्चित्पश्यति, ज्ञायते च परीव्रजन्, जलभृतवत्, अथवा यो यथावस्थितो भावतः तं तथावेदाः–प्रत्यक्षज्ञानिनः, ते हि आवीकम्मं रहोकम्मं सव्वं जाणंति, ये पुनस्ते तद्विधाः ते ब्रुवते–अहो इमो माइल्लो महासढो जो णाम इच्छति अम्हेवि पत्तियावेतुं,'णवि लोणं लोणिज्जति ण य तोपिज्जइ घयं च तेल्लं वा। किह सक्का वंचेतुं अत्ता अणुहूयकल्लाणी? ॥१॥ 'सयदुक्करं अवदते' वृत्तं ॥२६५॥ एवं तावदसौ स्वयं दुक्कडकारिणं आत्मानं न वदति यथाऽहं दुक्कडकारीति, जोऽवि य गूहायारं प्रवचनवात्सल्यात् तद्धितमिच्छन्वा चोदयति तत्थवि णिण्हवति, आकुट्टो नाम चोदितः आघातः अभिशास्तो वा, कत्थ श्लाघायां, भृशं कत्थयति श्लाघत्यात्मानमित्यर्थः, अहं नाम अमुगकुलपसूतो अमुगो वा होंतओ एवं करेस्सामि?, येन मया कनकलता इव वातेरिता मदनविसविकंपमाना भार्या परित्यक्ता सोऽहं पुनरेवं करिष्यामि?, "यदि संभाव्यपापोऽहमपापेनापि किं मया?। निर्विषस्यापि सर्पस्य, भृशमुद्विजते जनः ॥ १ ॥" अपापे ब्रूयाद्वा–को ब्रवीति? यथाऽहमेवंकारीति, स भावेन च ह्येवंकारी, उक्तं हि–"स्तेनानुमानेन परं मनुष्याः०" राउले वा णं कड्डामि,'वेदाणुवीयी कामासि' वेदः वेद इव वेदः तस्यानुवीचिः–अनुलोमगमनं मैथुनगमनमित्यर्थः, तस्यानुलोमं मा कार्षीः प्रतिलोमं कुरु, एवं चोदितो माणुक्कडताए सम्मचिट्ठोऽवि च किलामिज्जति, ग्लै हर्षक्षये, दैन्यमायातीत्यर्थः, किमेप मामेवं चोदयतीत्यर्थः,'उसिनावि इत्थिपोसेहिं'वृत्तं ॥२६६॥ उसिता नाम वसिता, पोषयतीति पोषाः–भगं स्त्रियो वा पुष्णंतीति पोषकाः–भुक्तभोगिनः, इत्थिवेदो हि फुंफुमअग्गिसमाणो अविदूसो, नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां, नापगानां महोदधिः। नांतकृत्सर्वभूतानां, न पुंसां वामलोचनाः ॥१॥ स्त्रियो वा येन वेद्यन्ते स स्त्रीवेदो भवति, वैशिकतन्त्रेऽप्युक्तं "एता हसंति च रुदंति च अर्थहेतोः, विश्वा-

दुष्कृतावदनं

॥१३८॥

सयंति च नरं न च विश्वसंति। स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं, निष्पीलितालक्तकवत् त्यजंति ॥१॥"तथा अण्णे भणंति–पुरतो अण्णं पासे (अण्णं पिट्ठे) णिवज्जमाणीओ। अण्णं च तास हिअए जं च खमं तं करेंति महिलाओ ॥१॥" प्रज्ञया समन्विताः लोकलोकोत्तरशास्त्रविदः उत्पत्त्यादिबुद्धियुक्ता, एके, न सर्वे, णारीण वसं उवणमिंति, दृष्टान्तो वैशिकपाठकः, एगो किल जुआणो वेसियअहिज्जणणिमित्तं गिहातो णिग्गतो, पाडलिपुत्तं गच्छंतो अन्तरा एगंमि गामे एगाए इत्थीए भण्णति–सुकुमालसरीरो तुमं कत्थ वच्चसि ?, तेण भण्णति–वेसियसत्थं सिक्खगो वच्चामि, ताए भण्णइ–अधिज्जितुं मज्झेण एज्जाधि, सो तं अधिज्जिउं तीए समीवमागतो, सा य संभमेण उट्ठिता, तन्प्रयोजनार्थानि चाकाराणि दर्शयति, अब्भंगुव्वलणण्हागाणि उव्वरगे काउं जहिट्ठपाणभोयणं भुंजावेन्ती ते आगारे करेति, तेण मं इच्छतित्तिकाउं हत्थे गहिता, तीए धाहा कतो, जणो पुच्छितो, गताउलो, गलंतिउदगं तस्सुवरि पक्खिविऊण भण्णति–एस गले लग्गएणं मरणं ण गतो, पच्छा जणे गते भणति–किं ते अधीतं ?, को इत्थीणं भावं जाणितुं समत्थोत्ति विसज्जितो गतो, 'अदु हत्थपादछेज्जाइं' वृत्तं ॥ २६७ ॥ अथेत्यानन्तर्ये परदारप्रसक्ता हि नरा नार्यश्च अपि तच्छेदं 'अदुवा वद्धमंस'ति पृष्ठौ वद्धाणिवत्कृत्यन्ते मांसानि चोत्कृत्य काकिणीमांसानि खाधिज्जंति,'अउ तेयसाभितवणाइं' तेजः–अग्निः तेनाभितप्यन्ते, तच्छेत्तुं वासीए सत्थएण वा खारेण उस्सिंचंति कलकलेण व 'अउ कण्णच्छेज्ज'वृत्तं ॥ २६८ ॥ कण्णा छिज्जंति णासाउ छिज्जंति कंठे छिज्जंतित्ति गलच्छेदः, तितिक्खंति पुरुषो वा ता वा स्त्रियः सहंत इत्यर्थः, एवं विलविज्जंतोवि, 'इति एत्थ पावसंतत्ता' अस्मिन् पापे संतप्ताः, पापं मैथुनं परदारं वा,'ण य बेंति पुणो ण करिस्सामो' का तर्हि भावना ?– अपि मरणमप्युपगच्छंति न च ततः पापाद्विनिवर्त्तंते, अपरः कल्पः–यदाऽसौ स्त्री केनचि उक्ता भवति त्वमेवं अकार्षीरिति पश्चा-

दमौ ब्रवीति–अउ हत्थपादछेज्जाइं इमे मे पादे छिंदाहि, जीवितस्यापि, मा च मे तं वयणं ब्रूहि, पट्ठिवद्धाणि व मे उक्कंताहि, कागणिमंसाणि च मे खावेहि, मा य मे असब्भावं भणाहि, अउतेयसा ता तिवणहि कडग्गिणा च मे डहाहि उम्गुएण वा मे डंभेहि, कुंभियाएण मे पयाहि, तच्छेऊण वा मे गाताइं खारेण सिंचाहि, कण्णं णासं कंठं वा मे छिंदाहि, मा एतं वितियं भणाहि एत्तोवि मे वियंगणाओ वेदणाओ वा खलियतरं अब्भाइक्खणं, तृतीयो विकल्पः–अभिशप्ता वाऽसौ ब्रूयात्—हस्तौ वा मे पादौ वा मे छिंदाहि पृष्ठीवद्धाणि वा मे उत्कृत्त काकीणिमांसाणि वा मे खादय वा, अउतेयसाभितवणाइं, तेयसा वा मां तृणैरावेष्ट्य अभितापय, शस्त्रेणान्यतरेण वा मे गात्राणि तक्षित्वा खारेण सिंच अउ कर्णौ छेद कर्णौष्ठौ वा नासां वा छिन्द कर्णं वा छिन्द इति, 'एत्थ पावसंसत्ता' पापं तदेव परदारगमनं तत्राऽऽसक्ताः, स्त्रियः, ण य वेन्ति पुणो न काहंति, अतीव हि ममासौ मनोऽनुकूलः, तस्य वाऽहं, नाहं तेण विना क्षत्रमात्रमपि जीवितुमुत्सहे, तं पुण मे वसयंसि जं जाणसि तं करेहि, एमेव पुरुषा अपि कामसंतप्ताः निवार्यमाणा ब्रुवते 'सुयमेवमेगेसिं' वृत्तं ॥२६९॥ श्रूयते स्म श्रुतं, श्रुतमिति विज्ञानं, लोकश्रुतिष्वपि तत् श्रूयते यथा स्त्रियश्चलस्वभावा दुर्भगाः संचया अदीर्घप्रेक्षिण्यो लहुसिकाः गर्विताः, एवं लोके आख्यायिकासु आख्यानकेषु च श्रूयते, इत्थिवेदो नाम वैशिकं, तत्राप्युपदिष्टं–'दुर्विज्ञेयो हि भावः प्रमदानामिति, "दुर्ग्राह्यं हृदयं यथैव वदनं यद्दर्पणान्तर्गतं, भावः पर्वतमार्गदुर्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते। चित्तं पुष्करपत्रतोयचपलं नैकत्र संतिष्ठते, नार्यो नाम विषाङ्कुरैरिव लतादोषैः समं वर्द्धिताः ॥१॥" अपि च–"सुट्ठुवि जियासु सुट्ठुवि पियासु सुट्ठुवि पलद्धपसरासु। अडईसु महिलासु य वीसंभो भे ण कायव्वो॥ १॥ हक्खुवउ अगुलिं ता पुरिसो सव्वंमि जीवलोअंमि। कामेन्तएण लोए जेण ण पत्तं तु वेमणसं॥२॥ अह एताणं पगतिया सव्वस्स

करेंति वेमणस्साइं। तस्स ण करेज्ज मंतुअ जस्स अलं चेव कामेणं ॥३॥ एवंपि ता वदित्ताणं यदा तु प्रस्थिता निवारिया भवति मैवं कार्षीः तदा न तु भूयः करिष्यामीति 'एवंपि ता वदित्ताणं अह पुण कम्मुणा अवकरेति' अपकृतं नाम यथा प्रतिपन्नं प्रतिज्ञातं वा न कुर्वन्ति, तासां हि अयमेव स्वभावः,'अण्णं मणेण चिन्तेंति'वृत्तं ॥२७०॥ कथं ?, क्षणरागत्वात्, तद्यथा–'आचार्या मर्कटा बालाः, स्त्रियो राजकुलानि च। मूर्खा भंडाश्च निवा(विप्रा)श्च, विज्ञेयाः क्षिप्ररागिणः॥१॥' यतश्चैवं तस्मा णो सद्दहेयव्वं, यदि नाम हावभावादीनाकारान् कुर्यात्, वायाए वा पत्तियावेज्ज, एवमादि तासां विज्ञाप्यं श्रद्धेयं, दत्तो वैशिकः किल एकया गणिकया तैस्तैः प्रकारैर्निमन्त्रीयमाणोऽपि नेष्टवान् तदाऽसावुक्तवती-त्वत्कृतेऽग्निं प्रविशामीति, तदाऽसौ यद्यत्तयोच्यते तत्र तत्रोत्तरमाह–एतदप्यस्ति वैशिके, तदाऽसौ पूर्वं सुरंगामुखे काष्ठसमूहं कृत्वा तं प्रज्वाल्य तत्रानुप्रवेश्य सुरुंगया स्वगृहमागता, दत्तकोऽपि च एतदप्यस्ति वैशिके, एवं विलपन्नपि भूत्तैर्वार्तिकैश्चितकायां प्रक्षिप्त एव, तस्मा तु णो सद्दहियव्वं 'जुवती समणं बूया'वृत्तं ॥२७१॥ चित्राणि अन्यतरवर्णोज्ज्वलानि अनेकवर्णानि वा, सा हि वस्त्राद्यलङ्कारविभूषिता श्रमणसमीपमागत्य 'विरता चरिस्सऽहं लूहं'णिव्विण्णाऽहं समणा घरवासेणं, भर्त्ता मे न प्रशक्तः, तस्य चाहमनिष्टा, स च ममेति, तेन विरता भूत्वा चरिष्याम्यहं लूहं, लूहो नाम संयमः, तं धर्म्मं तावदाचक्षस्वेति, भयाचायतीति भयंतारः, एवं संभाषमाणा प्रीतिविश्रंभावुत्पादयति, 'अदु साविया पवादेण' वृत्तं ॥२७२॥ श्राविकासु विश्रंभ उत्पद्यन्ते, नीषिधिकयाऽनुप्रविश्य वंदित्वा विश्रामणालक्ष्येण संबाधनादि कूलवारकवत्, काइ तु लिंगत्थिगा सिद्धपुत्ती वा भणति–अधं साधम्मिणी तुब्भंति, स एवमासन्नवर्त्तीनिभिः श्लिष्यते ॥ २७३ ॥ दृष्टान्तो जतुकुम्भः, जतुमयः कुम्भः जतुकुम्भः, जतुलिप्तो वा ज्योतिषः समीपे उपज्योति गलतीति वाक्यशेषः, एवं संवासेण विदुरपि सीदति, किं

क्षण-रागत्वादि

॥१४१॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१४२॥

पुनरविद्वानिति ?, उक्तं हि–तज्ज्ञानं तच्च विज्ञानं, स(तत्)तपः स च निश्चयः। सर्वमेकपदे नष्टं, सर्वथा किमपि स्त्रियः॥१॥" एवं तावदासन्नेभ्यः प्रतिवेश्मकस्त्रीभ्यो दोषः, एकतस्तु संवासे शीघ्रमेव विनाशः, जहा जतुकुम्भो जोतिं उपगूढः अग्गावाहितः अग्निमध्यमितो वा समंततो भस्त्राभिः प्रज्वलितेनासु अतितप्तो नाशमुपयाति, 'एवित्थिगाहिं अणगारा' आत्मपरोभयदोषैः आसुचारित्रतो विनश्यंति, किंच–'कुव्वंति पावकम्मं' ॥ २७४ ॥ पापमिति मैथुनं परदारं वा, एगपुरिसे ण, संघसमितीए वा आहंस्युरिति आख्यान्ति–णाहं करेमि पावंति, एषा हि मम दुहिता भगिणी नत्ता वा, अंके सेत इति अंकशायिनी, पूर्वाभ्यासादेवैषा ममांके शेते निवार्यमाणा पर्यंकेन, 'बालस्स मंदयं बितियं' वृत्तं ॥ २७५ ॥ द्वाभ्यामाकलितो बालो, मंदो दव्वे य भावे य, दव्वे शरीरेण उपचयावचए, भावमंदो मंदबुद्धी अल्पबुद्धिरित्यर्थः, मंदता नाम बालतैव, कोऽर्थः ?–तस्य बालस्य बितिया बालता यदसौ कृत्वाऽवजानाति–नाहमेवं कारीति, ण वा एवं जाणामि, दुगुणं करेति से पावं, मेथुणं पावं, बितियं पुणो पूयासक्कारणिमित्तं, अविय अबलमिति सक्कारणिमित्तं, मा मे परोपरा भविस्सति, विसण्णो–असंजमो तमेसति विसण्णेसी 'संलोकणिज्जमणगारं' वृत्तं ॥२७६॥ संलोकणिज्जो णाम द्रष्टव्यो दर्शनीयो वा, तत्थ कोइ मुच्छिता आतगतं णाम अप्पाणएणं णिमंतेति, अथवा आत्मगतः तस्य अशुभो भावः, संबंधामि ताव णं, ततो काहति वयणं–आहंसुत्ति आहु 'वत्थं च ताति पातं वा' त्रायतीति तातो अण्णं वा पाणं वा यच्चान्यदिच्छसि तत्तदहं सदैव दास्यामि इत्येवं संबद्धो ण तरिति उव्वरितुं, भगवान् भणति–'णीयारमेव बुज्झेज्ज' वृत्तं ॥२७७॥ निकरणं निकार्यते वा निकरः, यदुक्तं भवति–निकीर्यते गोरिव चारी, जहा वा सूकरस्स धण्णकुडगं कूडादि णिगिरिज्जति, पुट्ठो य वहिज्जति, गलो वा मत्स्यस्य यथा क्रियते एवमसावपि मनुष्यसूकरकः वस्त्रादिनिकरणेन णिमंतिज्जति पच्छा संय-

जतुकुंभ-दृष्टान्तादि

॥१४२॥

मजीवियाओ वयरोइज्जति, वक्ष्यमाणान्यपि च नानाविधानि अकृत्यानि कारयंति, यतश्चैवं तेण संसारबद्धं संसारपासं च भावनिक-रमेतत् बुद्ध्वा दूरतः तद्धामं णगरं वा जत्थ णिमंतिज्जति तं परिहरंतो 'णो इच्छेज्जा अगारमागंतुं' इति अगारत्वं अथवा आगा-रमावत्तं आगारमेवावर्त्तः आगारमावर्त्तः कारणे कार्यवद् उपचारात् संसारावर्त्तः, यः पुनरत्र संबध्यते, संबंधो विसयदामेहिं, महि-समयूरादीणं वग्घादीनि दामकानि वा, नरसूकराणं तु विसयदामगाणि, दाम्यन्ते एभिरिति दामकानि, बन्धनानीत्यर्थः, तैः बद्धः, 'मोहमावज्जति पुणो मंदो' मोहः–संसारस्तमेवागच्छतीति, अथवाऽनुकम्पया मन्दः स वराको मन्दो विषयपराजितः प्राप्यापि प्रव्रज्यां पुनरपि मोहमागच्छतीति चतुर्थे इति प्रथम उद्देशः ॥

स एवाधिकारोऽनुवर्त्तते, प्रथमोद्देशकोक्तैराकारैराकृष्टा इहैव स्खलितधर्माणो णाणाविधाइं खलीकरणाइं पाविज्जंति, वक्ष्यमाणमपि सुहिरीमणावि ते संता, संबंधो हि द्विविधः, तद्यथा–अनन्तरसूत्रसम्बन्धः परम्परसूत्रसम्बन्धश्च, णीयारमन्तं बुज्झेज्जा, बुद्धः ओयाभूतो भविज्जासित्ति, ओजो–विषमः यदा बद्धस्तु भोगकामी पुणो विरज्जेज्ज, परंपरसूत्रसम्बन्धस्तु संलोकणिज्जमणगारं कदाचिन्निमन्त्रयति, तत्र यः ओजः स सदा न रज्जेज्जा, अनोज इतरस्तु कदाचित् रज्जेज्ज, द्रव्यभावसम्बन्धस्य तु इहैव वाहनताडणादयो विलंबनाप्रकारा भवन्ति, तादृसस्य वा बन्धनादयो दोषाः कर्मबन्धाच्च नरकादिविपाकः, एवं विपाकं मत्वा 'ओए सदा ण रज्जेज्ज' वृत्तं ॥२७८॥ द्रव्योजो हि असहायत्वात् परमाणुः, भावोजो रागदोसरहितो, स एवमोजः रागदोसरहितः पूर्वापरसंस्तवं जहाय ण तेसु अण्णत्थ वा पुणो रज्जेज्ज, भोगकामी पुणो विरज्जेज्ज–णिज्झेज्जा, अथवा यद्यपि भोगकामी स्यात् तथापि पुणो विरज्जेज्ज, मा भूत् अत्य-न्तरागवान् स्यात्, ते य 'भोगे सण्णाण सुणेह' भोगा न किलैषां ते निश्चयेन, गृहिणामपि भोगा विलंबना, किमु लिंगिनां ?,





॥१४३॥


अस्य पृष्ठे चतुर्थ अध्ययनस्य द्वितिय उद्देशक: आरभ्यते

ते य सुणेह, एगे न सव्वे, एगे किल जहा भुंजंते, केइ आउक्कायरियसायासोक्खपडिबंधेणं लिंगगच्छत्तणं करेंति, ण तु मोहदोसेणं। 'अथ नं तु भेदमावण्णं' वृत्तं ॥२७९॥ अथेत्यानन्तर्ये, तु विशेषणे, भावभेदं–चरित्रभेदमावण्णं, ण तु जीवितभेदं शरीरभेदं लिंगभेदं वा, मुच्छियं कामेसु दव्वभिक्खुं, कामेसु अतिअट्टं–कामेसु अतिगतं कामेसु अनिवत्तमाणं पलिभिन्दियाण–पडिसारेऊण मए तुज्झ अप्पा दिण्णो सर्वस्वं जनश्चावमानितः, ण इमो लोगो जातो ण परलोगो, तुमंपि णवरं खीलगघातो, मज्जायं जातिं वा ण सारेति, अप्पयं ताव अप्पएण जाणाहि, कस्स अण्णस्स मए मोत्तूण तु कज्जं कतं?, लुत्तसिरेण जल्लमइलितंगेणं दुग्गंधेणं पिंडोलएणं कक्षावक्षोवस्तिस्थानयूकावसथेन, स एवं पडिभिण्णो तीसे चलणेसु पडति, ताहे सा पडंतं मा मे अछियसुत्ति वामपादेणं मुद्दाणे पणहति, अणोयिंधणोऽवि ताव तस्मिन्काले हन्यते, किं पुण उयिंधणो?, उक्तं च–"व्याभिन्नकेसरवृहच्छिरसश्च सिंहा, नागाश्च दानमदराजिकृशैः कपोलैः। मेधाविनश्च पुरुषाः समरे च शूराः, स्त्रीसन्निधौ क्वचन कापुरुषा भवंति ॥१॥ कयाइ सा आगारी भणेज्ज पुव्वभज्जा व से अण्णा वा काचि 'जइ केसियाए मए भिक्खू' वृत्तं ॥ २८० ॥ केशाः अस्याः सन्तीति केशिका, जइ मए केसइत्तीए हे भिक्खू! णो विहरेज्ज 'सहणं'ति सह मया, कोऽर्थो?–जइ मए सवालिआए लज्जसि ततो 'केसेवि अहं लुंचिस्सं' तत्थ त्वं मए सह विहरेज्जासित्ति, मा पुणो इमं छड्डेऊण अण्णत्थ विहरेज्जासित्ति, एवमसौ ताव एव बद्धो तदनुरक्तः तीसे णिद्देसे चिट्ठति, ततोऽसौ 'अथ णं से होति उवलद्धे' वृत्तं ॥२८१॥ उवलद्धो नाम यथैषो मामनुरक्तो णिच्छुब्भंतोऽवि ण णस्सइत्ति 'ततो णं देसेंति तहारूवेहिं' तहारूवाइं णाम जाइं लिंगत्थाणुरूवाइं, न तु कृष्यादिकर्म्माणि गृहस्थानुरूपाणि, अलाउच्छेदं णाम पिप्पलगादि, जेण भिक्खाभायणस्स मुक्खं छिज्जति, जेण वा णिमोइज्ज वाहिरा वा तया अवणि-

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१४५॥

ज्जति, वग्गुफलाणित्ति वग्गु णाम वाचा तस्याः फलाणि वग्गुफलाणि, धर्मकथाफलानीत्यर्थः, तुमं दिवसं लोगस्स बोल्लेण गलएण धम्मं कहेसि, जेसिं च कहेसि ते ण तरसि मग्गिऊणं ?, अथवा जोइसकोंटलवागरणफलाणि वा **'दारुगाणि अण्णपाणा या'** वृत्तं ॥ २८२ ॥ दारुगाणि आणय, आनीत्य विक्रीर्णाहि, अण्णपाणाय पदममालिया वा उवक्खडिज्जइत्ति, दोच्चगं वा परिताविज्जिहिति सीतलीभूतं, तेहिं 'पज्जोतो वा भविस्सति रातौ' भृशमुद्योतः, दीवतेल्लंपि णत्थि तेहिं उज्जोए सुहं अच्छिहामो, वियावेहामो वा, पाताणि य मे रयावेहि, का मम अणिअल्छियाए इहं पाताणि ते, तेण तुमं चेव आलत्तगं आणेहि, अथवा पायाइंति भायणाइं, लेवो छादगो, एवं कस्सइ णेमि सयं छाणतरंगेहिं लिंपावेहि ठाणं, एहि अतो मे पट्टिं उम्माहे, पुरिल्लं कायं अहं सक्केमि उवहेतुं, पिट्ठं पुण ण तरामि, 'वत्थाणि य मे पडिलेहे' वृत्तं ॥ २८३ ॥ इमाणि वत्थाणि पेच्छ सुत्तदरिद्दयं गयाणि णिग्गियाहं जाया, अहवा किण्ण पस्ससि मइलीभूताणि तेण धोवेमि रयगस्स वा णं णेहि य, अहवा वत्थाणि मे पेहाहित्ति जओ लभेज्ज, अहवा एयाइं वत्थाइं वेंटियाए पडिलेहेहि, मा से उगारियाइं खज्जेज्ज, तहा रूवगवातएण वा भणेज्ज—मम वत्थाणि पडिलेहेहि, अण्णपाणं वा मे आहएहि, णाहं सक्केमि हिंडिउं,'गंधं च रयोहरणं च' गंधाणि ताव कोट्ठादीणि आहोहित्तुण्णाणि जेण गायाइं भुरुकुंडेत्ता, पठ्यते च 'गंथं च रयोहरणं वा' ग्रन्थ इति ग्रन्थः संघाडी रयहरणं सुन्दरं मे आणेहि, कासवगं—ण्हाविय्यमाणयाहि, ण तरामि लोयं कारवेत्तए,'अउ अंजणिं अलंकारं' वृत्तं ॥२८४॥ अंजणवाणियंमि अंजियं आणेहि, अलंकारे हारकेशाद्यलङ्कारं वा, सक्केसियाण कुकुहमो णाम तंबलीणा 'लोद्धं लोद्धकुसुमं च' लोध्रं कषायणिमित्त, लोद्धस्सेव कुसुमं तं तु गंधसंजोए उवणजति, वेलुपलासी णाम वेलुमयी सण्हिगा कंपिगा, सा दंतेहि य वामहत्थेण घेत्तूणं दाहिणहत्थेण य वीणा इव वाइ-

दारुयाचनादि

॥१४५॥

प्रत सूत्रांक ||२७८-२९९||

दीप अनुक्रम [२७८-२९९]

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१४६॥

जइ, पिच्छोला इत्यर्थः, एकता व ओसहगुलिया अत्थगुलिया अगतगुलिया च 'कोट्ठं तगरं अगरुं च' वृत्तं ॥२८५॥ हरिवेरं णाम उसीरं, सेसाणि कंठाणि, एतानि हि प्रत्येकशः गंधंगाणि भवंति, समं हरिवेरेणंति संयोगश्च भवति, 'तेल्लं मुहभिलंगाय' मुहमक्खणयं तेल्लं आणेहि, भिलंगायत्ति देसीभासाए मक्खणमेव, वेलुफलाइंति—वेलुमयी संबलिका संकोपेलिया करंडको वा, सण्णिधाणाएत्ति-तत्थ सण्णिधेस्सामो किंचि पोत्तं वा पत्तं वा ॥ २८६ ॥ णंदीचुण्णगं नाम जं समोइमं उड्डमक्खणगं येन तेन वा प्रकारेण भृशं आहराहि, अथवा चुण्णाइं वट्टमाणाइं, वरिसारत्ते वा गिम्हे वा छत्तगं जाणाहि उवाहणाउ वा, जाणाहित्ति—आणेहि, जतो जाणासि ततो, ते किं मए एतमवि जाणेतव्वं जहा णत्थित्ति, 'सत्थं च सूवच्छेदाए' सत्थं आसियगादि, सूवं णाम पत्रशाकं, जेण तं छिज्जति, आनीलो नाम गुलिआ साथालिया, एतेण साडिगा सुत्तं कंचुगं वा रावेहि, णीले रागे वा इमं वत्थं छुहाहि, अथवा कुसुंभगादिरागेण जाणति वत्थाणि रावेतुं तेण अप्पणो वा कज्जे वत्थरागं मग्गति, जेसिं वा रइस्सति मोल्लेण 'सुफणितं सागपाताए' वृत्तं ॥२८७॥ फणितं णाम पक्कं रद्धं वा, सुखं फणिज्जति जत्थ सा भवति सुफणी, लाडाणं जहिं कड्ढति तं सुफणित्ति वुच्चति, सुफणी वराडओ पत्तुल्लओ थाली पिउडगो वा, तत्थ अप्पेणवि इंधणेणं सुहं सीतकुसुणं उप्फणेहामो, सूवपागाएत्ति सूवमादि कुसुणप्पगारा सिज्झिहिन्ति, सुक्खकूरो णाम हिंडंतेहिवि लब्भति, आमलगा सिरोधोवणादी भक्खणार्थं वा, उक्तं हि—"भुक्त्वा फलानि भक्षयेद् बिल्वामलकवर्जानि, दगहरणी णाम कुंडो कलसिगा वा, दगधारणी अलुगा अरंजरगो वा, चशब्दात्तेल्लघतहरणिं च, तेसिं वा उद्धाइयाणं सव्वं णवगं संठवणं कायव्वंति तेण सव्वस्स घरोवक्खरस्स कारणा तं वड्ढेइ, सो य तं सव्वं हट्ठतुट्ठो करेति, 'तिलकरणिं अंजणिं सलागं'ति तिलकरणी णाम दंतमइया सुवण्णगादिमइया वा सा रोयणाए

कोष्ठपुरादि

॥१४६॥

अण्णतरेण वा जोएणं तिलगो कीइ, तत्थ च्छोढुं भमुगासंगतगस्स उवरिं ठविज्जति तत्थ तिलगा उट्ठेति, अथवा रोचनया तिलकः क्रियते, स एव तिलककरणी भवति, तिला वा जत्थ कीरंति–पिस्संति वा, अंजनि—अंजनमेव श्रोतांजनं जात्यञ्जनं कज्जलं वा, अंजनसलागा तु जाए अक्खि अंजिज्जंति, 'धिंसुरि'ति गिम्हासु मम घम्मार्त्तायाः वीजनार्थं विधूवणं जाणाहि, विधूयतेऽसौ विधूयते वा अनेनेति विधूवनः–तालियंटो वीयणको वा, **'संडासगं च फणिगं च सेहलिपासयं च'** वृत्तं॥ २८८॥ संडासओ कप्परुक्खओ कज्जति सोवण्णिओ जस्स वा जारिसो विभवो, अथवा संडासगो जेण णासारोमाणि उक्खणंति, फणिगाए वाला जमिज्जंति उल्लिहिज्जंति जूगाओ वा उद्धरिज्जंति, सीहलिपासगो णाम कंकणं, तं पुण जहाविभवेण सोवण्णिगंपि कीरति, सिहली णाम सिहंडओ, तस्स पासगो सिहलीपासगो, आतंसगं पयच्छाहि, आयंसगं नामेके जणा पारिवेसिगघराउ वा जत्थ अप्पाणं मंडेत्ता मुहं पेसामि, पेच्छंती वा सुहं मुहं मंडेहामित्ति, दंतपक्खालणं वा इहेव पवेसेहि, वरं मुहं खाइत्तुं णिगच्छंतीहिं **'पूयाफलतंबोलं च'** वृत्तं ॥२८९॥ पूयाफलग्रहणात् पंचसोगन्धिकं गृह्यते, **'सूचिं जाणाहि सुत्तगं'** सुत्तगं णाम सिव्वणादोरगं, अप्पणो कंचुगं सार्डिं वा सिवामि, कदाइ सा कंचुगा सीविगा चेव होज्जा ते परेसिं, कोसे णाम मत्तओ, मुच्यत इति मोयं–कायिकी, मिह सेचने, मेहं मोचं च अमोयं मोयं मोक्खंतं कासकोसं मोयमेहार्थे मोयमेहं, सूप्पं णाम सूर्प्पं, उक्खलं मुसलं च, खारं च खारगलणं च जाणाहि, **'चंदालगं च करगं च'** ॥ २९० ॥ चंदालको नाम तंबमओ करोडाओ येनार्हदादिदेवतानां अच्चणियं करेहामि सा मधुराए वं(चं)दालउ वुच्चति, करकः करक एव, सो य करको मधकरको वा चक्करिकरको वा, वच्चघरं पच्छन्नं करेहि कूबिं चऽत्थक्खणाहि, आउसोत्ति आमन्त्रणं हे आयुष्मन्!, सरपादगं च जा ताए सरो अनेन पात्यत इति शरपातकं, धणुदुल्लकं, जायत

इति जातः-पुत्रः जातार्थः, जाताया वरं मे एस पुत्तो धणुदुल्लएण रमं, गोरहगो णाम संगाडिला, मेल्लिया पुत्तिगा, श्रामण्यापत्यं श्रामणेरः तस्मै श्रामणेराय कुरु, रथे सुद्धं, तत्थ विलग्गो चेडरूवेहिं समं रमंतो, एवमादिरथकारकता भवति 'घडिकम्मेहिं डिंडिमएणं' ॥२९१॥ गडिगा णाम कंडुल्लिगा चेडरूवरमणिका, डिंडिमगो णाम पडिहिका डमरूगो वा, चेलगोलो णाम चेलमउ गोलओ तन्तुमओ, स तेनाप्यादिश्यते किमेसो रायपुत्तो ?, सा भणति—माता हता रायपुत्तस्स, एसो मम देवकुमारभूतो, देवतापसादेण चेवाहं देवकुमारसच्छहं पुत्तं पसूता, मा हु मे एवं भणेज्जासु,'वासं इमं समभियावण्णं' अभिमुखं आपन्नं अभिआवण्णं तेण णिवायं णिप्पगलं च आवसहं जाणाहि भत्ता !, जेणं चत्तारि मासा चिक्खिल्लं अच्छंदमाणा सुहं अच्छामो, उक्तं च-"मासैरष्टभिरह्ना च, पूर्वेण वयसाऽऽयुषा। तत्कर्त्तव्यं मनुष्येण, यस्यान्ते सुखमेधते ॥१॥" इधइं वा इमो आवसहो सडितपडितो एतं संथवेहित्ति। 'आसन्दियं च णवसुत्तं' ॥२९२॥ आसंदिगा णाम वेत्तमणगं, णवसुत्तगो णवएण सुत्तेण उणद्धियापट्टेण चम्मेण वा, पाउल्लगा इति कट्ठपाउगाओ, ताहि सुहं चिक्खिल्ले संकमिज्जति, रत्तिं विरत्तेसु संकमं वा करेमि चिक्खल्लस्स उवरिं 'अउ पुत्तदोहलट्ठाए' जाहे सा गुव्विणी तईयमासे दोहिलणिगा भवति तो णं दासमिव आणवेति आगलफलाणि च मग्गइत्ति भत्तं ण मे रुच्चइ अमुगं मे आणेहि, जइ णाणेहि ता मरामि, गब्भो वा पडिहिइत्ति, स चापि दासवत्सर्वं करोति आणत्तियं, जेवि इह ण करिज्जंति तेऽवि संसारे णाणाविधाइं दुक्खाइं पाविज्जंति विलंबणाओ य,'जाते फले समुप्पण्णे'वृत्तं ॥२९३॥ फलंकिल मनुष्यस्य कामभोगाः तेषामपि पुत्रजन्म, उक्तं च-"इदं तु स्नेहसर्वस्वं, सममाढ्यदरिद्राणाम्। अचंदनमनोशिरं, हृदयस्यानुलेपनम् ॥१॥ यत्तच्छपनकेत्युक्तं, बालेनाव्यक्तभाषिणा। हित्वा सांख्यं च योगं च, तन्मे मनसि वर्तते ॥२॥ लोके पुत्रमुखं नाम, द्वितीयं

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१४९॥

मुखमात्मनः। साऽध जाहे किंचि अणता आवण्णसत्ता भवति ताहे भणति, दारके वा महत्थे तुमं चेव करेहित्ति णिब्बंधवा, तस्स अणेणं भण्णति–एस ते गेण्हाहि व छड्डेहि व णं, अण्णगत्थ व रोसिता भणति–एस मए णवमासे कुच्छीए धारितओ तं दाणिं एस ते गिण्हाहि व णं छड्डेहि वा णं, एतस्स पेयालं गहिएल्लयं, एवं वुच्चमाणो एस णिब्भत्थिज्जमाणो वा ण णासति 'अह पुत्तपोसिणो एगे' पुत्रं पोषयतीति पुत्रपोषणः, जाहे गामंतरं कयाइ गच्छति तावदंतारगं उक्कखरं वा वहंतो 'भारवाहो भवति उट्ठो व लट्ठित्तओ' गामतराओ धण्णं वा भिक्खं वा वड्ढाहिं करंकाहिं गोरसं वा वहंतो लट्ठितगो भारवाहो भवति उट्ठो वा, अण्णे पुण केइ अणंतसंसारिया तं पुरिसं साडेउं उट्ठवेउं वा अप्पसागारियं णिक्खणिउंकामा वा वहंतकामा खंधा भवंति, पूर्वं हि प्रतिपालणोक्ता, इदानीं तत्प्रतिक्षभूता अप्रतिपालना, एतं पुण पडिपक्खेण गतं, अह पुण पोसिणो एगेत्ति, 'राओवि उट्ठिता संता' ॥२९४॥ दारगं सण्णावेति, धावइ वा, यदा सा रतिभरश्रांता वा प्रसुप्ता भवति, इतरहा वा पसुत्तलक्खेण वा अच्छति, वेयेन्तिया वा गव्वेण लीलाए वा दारगं रूअंतंपि न ण्हाणेति ताहे सो तं दारगं अंकधाविविव णाणाविधेहिं उल्लावणएहिं परियंदन्तो उ सोवेति, 'सामिओ मे णगरस्स य णक्कउरस्स य हत्थवग्घगिरिवट्टणसीहपुरस्स य उण्णतस्स निण्णस्स य कण्णउज्जआयामुहसोरियपुरस्स य 'सुहिरिमाणावि ते संता' ह्री–लज्जायां, लज्जालुगावि ते भूत्वा कोट्टवातिगामस्पृशिनो वा शौचवादिका गृहवासे प्रव्रज्यायां वा सुट्ठुवि आतट्ठिया होऊण एगंतसीला वा सूयगवत्थाणि धोयमाणा वत्थधुवा भवंति, 'हंसो वा' हंसो नाम रजकः, दारुगरूवेण वाउहण्णविउहणा संमद्दमाणे धुवमाणो य 'एतं बहूहिं कडपुव्वं' वृत्तं ॥ २९५ ॥ एतदिति यदुक्तं तीसे णिमित्तेण दारगणिमित्तेण वा तीसे णिमित्तेण जाव चंदालयं च करगं च सरपादयं च जाताएत्ति दारगणिमित्तं, तथा पुत्तस्स दोहलट्ठाते, जाए फले समुप्पण्णे,

पुत्रपोषादयः

॥१४९॥

सूत्रकृ-ङ्गचूर्णिः ॥१५०॥

अह पुत्तपोसिणो एगे, राओवि उट्ठितो संतो, सुहिरीमाणावि, एतं पुत्तणिमित्तं, अहवा सव्वंपि तंणिमित्तमेव, 'बहूहिं'ति बहूहिं कृत-पूर्वमेतत् तथा कुर्वन्ति करिष्यन्ति च, ते तु के ?, जे 'भोगत्थाए इत्थियाभिआवण्णा' अभिमुखं आवण्णा, सो पुण जो तासु अभितावण्णो सो तेसिं 'दासे मिए व पस्सेवा' दासवद्भुज्जते, मृगवच्च भवति, यथा मृगो वशमानीतः पाठ्यते मार्यते वा मुच्यते वा, प्रेष्यते णाणाविधेसु कम्मेसु, पशुभूता इति पशुवत् वाह्यते, न च मदांधत्वात् कृत्याभिज्ञो भवति, पशुभूतत्वान्मृगभू-तत्वाच्च 'न वा केयि'त्ति एभ्योऽप्यसौ पापीयान् संवृत्तः यस्य न केनचिच्छक्यते औपम्यं कर्तुं, अथवा 'ण वा केति'त्ति नासौ प्रव्रजितो न वा गृहस्थो जातः, नापि इहलोके नापि परलोके, 'एवं(यं)खु तासि वेणद्धं(तासि वेणप्पं)' वृत्तं ।।२९६ ॥ एत-दिति एतान् ज्ञात्वा इहलोगपरलोगिए दोसे तेण संथवं संवासं चत्ता हि भवेज्ज, संथवो णाम उल्लावसमुल्लावादाणग्गहणसंपयोगादी, संवासो एगगिहे तदासन्ने वा, एतदेव तासि वेणप्पं जो ताहिं संथवो संवासो वा, संथवसंवासेहिं चेव इतरावि विण्णत्ती भवति, 'तज्जाइया इमे कामा' तज्जातिया णाम तद्विधजातिया, चतुर्विधा कामा, तंजहा–सिंगारा कलुणा रोद्दा बीभत्था, तिरिक्ख-जोणियाणं च, पासंडीणं च, एतदुक्तं भवति–बीभत्सं सेवेमानानां तेषां बीभत्था एव कामा, अकारी हि विगमं तं चेव, अथवा तदेव जनयन्तीति तज्जातिया मैथुनं ह्यासेवते, तदिच्छाए च पुनर्जायन्ते, उक्तं हि–"आलस्यं मैथुनं निद्रा, सेवमानस्य वर्द्धते । 'वज्जकरि'त्ति वज्जमिति कम्मं वज्जंति वा पावंति वा चोण्णंति वा, तत्कुर्वन्तीति वज्जकरा, एवमाख्यातः तीर्थकरैः 'एवं भयण्ण सेयाए' वृत्तं ।।२९७।। इहलोकेऽपि तावद् भयमेतत्, कुतस्तर्हि परलोके ?, यत एव च भयंकरा इत्यतो श्रेयसे न भवंति, तेन श्रेयः कामेभ्यः अप्पाणं निरुंभित्ता, इहलोकेऽपि तावद् णिरुद्धकामेच्छस्स श्रेयो भवति, कुतस्तर्हि परलोकः ?, उक्तं हि–"नैवास्ति

स्वयमि-ग्राप्तिः

॥१५०॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१५१॥

राजराजस्य तत्सुखं नैव देवराजस्य । यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य ॥ १ ॥ तणसंथारणिविण्णोऽवि मुणिवरो भग्गरागमयदोसो । जं पावति मुत्तिसुहं ण चक्कवट्टीवि तं लभति ॥ २ ॥ स तु कथं निरुध्यते आत्मकामेभ्यः?, उच्यते, 'णो इत्थिणो पसू भिक्खू' इत्थी-मणुस्सी, पसुत्ति सव्वा एव तिरिक्खजोणीओ, 'णो सयं पाणिणो णिलेज्जेज्ज'त्ति हत्थकम्मं न कुर्यात्, विलंवनं नाम करणं, अथवा स्वेन पाणिना तं प्रदशमपि न लीयते, जहा पाणिसंहरिसोवि न स्यादिति, कुतस्तर्हि करणं?,'सुविसुद्धलेस्स'वृत्तं ॥२९८॥ सुविसुद्धे लेसे सुविसुद्धलेसे, सुविसुद्धलेसे नाम सुक्कलेसो, परिकिरिया नाम नो इत्थियाए आमज्जेज्ज वा वा पमज्जेज्ज वा संवाहणत्ति जाव छत्तमउडंति, चशब्दादात्मक्रियां च वर्जयेत्, सिया से इत्थी पाये आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा तहावि दोसो 'मणसा वयसा कायेणं'ति ओरालिए कामभोए मणसा ण गच्छति ण गच्छावेति गच्छंतं णाणुजाणइ एवं वायाए काएणवि, एवं दिव्वेवि, एते अट्ठारस भेदा, एवं जहा इत्थिफासं मणसा वयसा काएणंति वज्जेति एवमन्येऽपि फासे सीतोसिणदंसणमसगादि अधियासेज्जासि 'इच्चेवमाहु से वीरे'वृत्तं ॥२९९॥ इति एवं इच्चेवं, एवमाहुः स भगवान् वीरः स्त्र्यादिषु रागवस्तुषु धूतमेवे(रए)ति धूतरागमार्गमेवाहु, सोभणो भिक्खू सभिक्खू, अथवा भिक्खग्गहणे असावपि भगवान्, न तु यथा पंडरंगाणं महेश्वरः सराग आसीत् सभार्यश्च, ते किल निर्युक्ताः, उक्तं च—"क्षितौ वासः सुरेष्वाज्ञा०" यतश्चैवं 'तम्हा अज्झत्थविसुद्धे' अज्झत्थं णाम संकप्पतो विसुद्धं संकप्पविसुद्धं-रागद्वेषविमुक्तं समो मानावमानेषु समं दुःखसुखे पश्यति आत्मानं परं च मन्यते तुल्यं, तथा चोक्तम्-कस्य माता पिता चैव, स्वजनो वा कस्य जायते । न तेन कल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि ॥१॥ आमोक्खाए परिवएज्जासित्ति बेमि यावन्मोक्षं न प्राप्नोपि तावद्विहरेज्जासित्ति ब्रवीमि ॥ स्त्रीपरिज्ञाध्ययनं समाप्तं ४ ॥

भयादि

॥१५१॥

प्रत सूत्रांक ॥३००-३२६॥

दीप अनुक्रम [३००-३२६]

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१५२॥

णिरयविभत्तिए अज्झयणस्स चत्तारि अणुयोगदारा, ते परूवेऊण अज्झयणत्थाहिगारो णरगावासो जाणितव्वो णेरइया य, जो णरगाणं णिरयागमणं, स वा उद्देसत्थाधिगारो दोसुवि उद्देसएसु णेरइयाणां णाणाविधाओ वेदणाओ, णामणिप्फण्णो णिक्खेवो णरगस्स छक्को, तथा चाह–'णिरए छक्कं' गाथा (६२) दव्वणिरओ तु इहेव जो तिरियमणुएसु असुद्धठाणा चारगादिखडाकडिल्लमटंगावंसकडिल्लादीणि असुभाइं ठाणाइं, जाओ य णरगपडिसूचियाओ वियणाओ दीसंति, जहा कालसोअयरिओ चारगादि मरितुकामो वेदणासमण्णाओ अङ्गारसकम्मकरणाओ वा वाधिरोगपरपीलणाओ वा एवमादि, अथवा कम्मदव्वणरगो णोकम्म० वा, तत्थ कम्मदव्वणरगो णरगवेदणिज्जं कम्मं बद्धं ण ताव उदिज्जति तं पुण एगभविय बद्धाउओ य अभिमुहणामगोयं, णोकम्मदव्वणरगो य, तत्थ णोकम्म० णाम जे असुभा इहेव सद्दफरिसरसरूवगंधा, खेत्तणरगो णरगावासा चउरासीति णरयावाससतसहस्सा, कालणरगा वा जस्स जेचिरं णरगेसु ट्ठिती, भावणरगो जे जीवा णरगाउयं वेदंति णरगपयोगं वा जं कम्मं उदिण्णं, अथवा ससत्तसहस्सा कालेण, णरगा वा रूवरसगंधफासा इहेव कम्मुदयो णेरइयपायोग्गो जहा कालसोयरियस्स इह भवे चेव ताइं कम्माइं नेरइयभावभवितारं भावनरकः, सोऊण णिरयदुक्खं तवचरणे होइ जइयव्वं, उक्ता नरकाः। इदाणीं विभत्ती, सा णामादि छव्विधा, तंजहा–णामविभत्ती ठवणाविभत्ती० णामविभासा कंठ्या। ठवणविभत्तिम्मि भासावत्तव्वता, दव्वविभत्ती दुविधा-जीवविभत्ती अजीवविभत्ती य, जीवविभत्ती दुविहा तंजहा-संसारत्थजीवविभत्ती असंसारत्थजीवविभत्ती य, असंसारत्थजीववि० दुविधा, दव्वे काले, दव्वतो य तित्थसिद्धादि पंचद(म)भेदा कालओवि पढमसमयसिद्धादि,संसारत्थजीवविभत्ती तिविधा,तंजहा-इंदियविभत्ती काय०भवतो विभत्ती, सा समासतो एगिंदिविभत्ती पुढविकायियादि, भवतो णेरइयभवादि। अजीवविभत्ती दुविधा–रूवयाजीवयविभत्ती अरूविया० य,

नरकादि-निक्षेपाः

॥१५२॥

अस्य पृष्ठे पंचम अध्ययनं आरभ्यते

रूविया जीवविभत्ती चउव्विधा, तंजहा–खंधा खंधदेसा खंधपएसा परमाणुपोग्गला, अरूवियजीवविभत्ती धम्मत्थिकायस्स धम्मत्थिकाए देसो पदेसा एवं अधम्म आगास अद्धासमये दसविधा, खेत्तविभत्ती चउव्विहा–ठाणाओ दिसओ दव्वओ सामित्तओ, ठाणओनि लोगविभत्ती विमाणिंदगणिरइंदजंबुद्दीवसमुद्दकरणादिविभासा, दिसओ पूर्वस्यां दिशि०, क्षेत्रं चतुर्विधं, दव्वओ सालिखेत्तादि, सामितो देवदत्तस्य क्षेत्रं यज्ञदत्तस्य चेति, अथवा क्षेत्रं–आयरियं अणारियं च, अणारियं सगजवणादि, आयरियं अद्धछव्वीसतिविधं रायगिहमगहादि, कालविभत्ती तीताणागतवर्त्तमानसुसमसुसमादिओ दिवसरत्ति युगपदयुगपत् क्षिप्रमक्षिप्रमित्यादि, अथवा समयादि वा, समयस्स परूवणा तुण्णागदारगादि, भावविभत्ती दुविधा–जीवभावविभत्ती य अजीवभावविभत्ती य, जीवभावविभत्ती उदयगादि, तत्थोदइओ गतिकसायलिंगमिच्छादंसणऽण्णाणऽसंजआसिद्धलेसाओ जहासंखेण चतुचतुतिण्णिएक्केक्केक्कछभेदा, गती णारगादि चतुर्विधा, कसाया कोहादओ, लिंगभेदा थीपुरिसणपुंसगा, लेस्सा कण्हलेस्सादि ६, सेसा एगभेदा, सो एक्कवीसइभेदो उदइओ भावो, उवसमिओ दुविहो–उवसमिओ य उवसमणिप्फण्णो य, उपशमश्रेण्यादयः, ज्ञानाज्ञानदर्शनदानलब्ध्यादयश्चतुस्त्रितिपंचभेदाः सम्यक्त्वचारित्रे संयमासंयमश्च, णाणं चउव्विहं मतिसुतावधिमणणाणाणि, अण्णाणं तिविहं–मतिसुतिअण्णाणविभंगाणि, दंसणं त्रिभेदं–चक्षुःअचक्खुओहिदंसणाणि, लद्धी पंचभेदा-दानलाभभोगोपभोगवीरियलब्धिरिति, संमत्तं चारित्तं संयमासंयम इति, एस अट्ठारसविधो खओवसमिओ भावो, जीवभव्याभव्यत्वादीनि, जीवत्वं अभव्यत्वं भव्यत्वं चेत्येते त्रयः पारिणामिका भावा भवन्ति, आदिग्रहणेण अस्तित्वं अन्यत्वं च कर्तृत्वं च भोक्तृत्वं गुणवत्त्वं च असर्वगत्वं च अनादिकर्मसंतानबद्धत्वमसंख्यप्रदेशकत्वं अरूपित्वं नित्यत्वं एवमादयोऽप्यनादिपारिणामिका जीवस्य भावा भवन्ति, संनिवातिको दुसंयोगादिओ, गता



॥१५३॥

अस्य पृष्ठे पंचम अध्ययनस्य प्रथम उद्देशक: आरभ्यते

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥१५४॥

जीवभावविभत्ती, अजीवाणं मुत्ताणं वण्णादि ४, अमुत्ताणं गतिठितिअवगाहादि, एताए एव छव्विधाए विभत्तीए जं जत्थ जुज्जति तं तत्थ जोइतव्वं। केरिसं तत्थ वेदणं वेदेति ?, उच्यते 'पुढविफासं अण्णण्णकक्कसं'गाथा ॥६७॥ केरिसं पुण पुढविफासं ?, से जहा णामए असि० विभासा, तीसु पुढविसु णेरइया उसिणपुढविफासं वेदेंति, अण्णण्णुक्कमो णाम मोग्गरमुसुंढिकरकय०, अथवा लोहितकुंथुरूवाणि छट्ठीसत्तमीसु पुढवीसु विउव्वंति, णिरयपाला णाम अंबे अम्बरिसी चेव०, ते पुण जाव तच्चा पुढवी, सेसासु पुण अणुभाववेदणा चेव वेदेंति, अणुभावो णाम 'इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णारया केरिसयं फासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ?, से जहाणामए–असिपत्तेति वा, से जहाणामए अहिमडेति वा गोमडेइ वा, वण्णा काला कालोभासा, एवं उस्सासे, अणुभावे सव्वासु पुढवीसु, णिरयवालबंधणंति वुत्तं, ते इमे पण्णरस परमाधम्मिया णिरयपाला, तं०–**अंबे अंबरिसी चेव, सोमे सबलेत्ति यावरे। रुद्दोवरुद्दो काले य, महाकालेत्ति यावरे ॥६८॥ असिपत्ते धणु कुंभे, वालू वेतरणीति या। खरस्सरे महाघोसे, एता पण्णरसाहिते ॥६९॥** जो जारिसवेदणकारी सो तेण अभिधाणेण अभिधीयते,'अंबरादीणं'ति तत्थ अंबरं–आगासं विउव्वंति, तत्थ णेरइए 'धाडेन्ति' गाथा ॥ ७० ॥ विंधंति णस्समाणे य सरेहिं णिसुंभंतित्ति, आघ दूरपतिट्ठाणे अच्च(न्ध)-तमसे, केइ पुण साभाविगे चेव आगासे अंबरतले वा सत्तट्ठतलप्पमाणमेत्ताइं उव्विहित्ता पाडिन्ति अंबरिसाओ, हत उवहते य णिहते० गाथा ॥ ७१ ॥ उपेत्य हता–ताडिता, णिस्सण्णा नाम मूर्च्छावशान्निःसंज्ञीभूताः, भावे णिचेयणे चेव भूमितलगते कप्पणीहिं मंसमिह कप्पेन्ति सागटिका वा रथकारा वा जहा कुहाडेहिं तच्छंति, विदलको नाम विदलं जहा फोडेंति दिग्वचउ-गच्छेएण कड्ढेंति। 'साडणपाडणतोडण'गाथा ॥७२॥ ते अंगोवंगाइं साडेन्ति, संधीओ त्रोडंति, तुत्तएण तुदंति, सूईहिं विन्झ-

विभक्तिः

॥१५४॥

गीहि य विंधंति, रज्जेहिं बंधंति, ताडेन्ति लत्ताहिं लउडेहि या, करतलकोप्परपहारेहि य संभग्गमहिए करेइ, सबला पुण सबलगुणरूवाइं विउव्विऊण, विउव्वेइ वा णेरइए।'अंतगयफिप्फिसाणि य०'गाथा ॥७३॥ कंठ्या, रुद्दा णाम असिसत्तिकोंततोमरसूलति-सूलसूईसु हली (चियगा)सु। पोएंति कंदमाणे णेरइए (रुद्दकम्मा उ नरयपाला) तहिं तहिं रुद्दा ॥७४॥ उवरुद्दा णाम भंजंति अंगमंगे उरुबाहुसिराणि तहय करचरणे। कप्पंति कप्पणीसु(हिं) उवरुद्दा पावकम्मरया ॥७५॥ सुंठीसु मिरा ॥७६॥ पुण कालं कालो कालोभासं अग्गिं विउव्वित्ता सुंठएसु य कंडूसु य पयणगेसु य पयंति कुंभीसु य लोहीसु य पयंति का'ला उ णेरइए खीलगेण णिक्खिवित्ता णेरइए मीरासु पयंति। महाकाला पुण 'कप्पेंति कागिणीमंसगा' छिंदंति सीसपु-च्छाणि। खावेंति य णेरइए महाकाला पावकम्मरता ॥७७॥ महल्ले तवगे चुल्लीसु य दहंति, अच्छिण्णे अभिण्णे य णेरइए तत्थारुभेत्ता महदवग्गाविव दुधिगेव पउल्लेत्ता पच्छा कप्पणीहिं कप्पेऊण कारा(गा)णि मंसाणि खावेंति, कागिणिमंसा णाम कागिणिमेत्तं मंसं छेत्तुं पउलेउं खावेंति। असी णाम 'हत्थपादे उरू'गाथा ॥७८॥ ते असी विउव्वेत्ता तेसिं णेरइयाण हत्थपादमादीणि छिंदंति, असिपत्ता णाम 'कण्णोट्ठणास'गाथा ॥ ७९ ॥ ते असिपत्तवणं विउव्वित्ता तओ तत्थ छायाबुद्धीए पविसंति, पच्छा वातं विउ-व्वंति, पच्छा वातकंपितेहिं असिपत्ते छिज्जंति, ण केवलं तत्थ असिसरिसाणि चेव पत्ताणि, अण्णाणिवि खुरूप्पपरसुकरुसमादिसरि-साइं, तेसिं कन्नणासउट्ठि(ओट्ठे)छिन्दंति, उक्तं हि–'छिन्नपादभुजस्कन्धाः, छिन्नकर्णोष्ठनासिकाः। भिन्नतालुशिरोमेण्ढ्राः, भिन्ना-क्षिहृदयोदराः ॥१॥' कुंभी णाम 'कुंभीसु पयणेसु लोहीसु य०'गाथा ॥८०॥ ते कुंभकारोविव णाणाविहाइं कुंभिलोहिमाइं भायणाणि विउव्वित्ता कीलगरतओ अपुन्नेसु नेरइए पक्खिवंति। वालुगा णाम 'तडतडतडस्स भज्जंति०' गाथा ॥ ८१ ॥ ते

केवलं च वालुगं विउव्वंति, केवलं च वालुगा णाम कलंबगपुप्फमिव उट्ठुसिताओ, सो जहा पुप्फरुहं सिंगा मुम्मुरभूता, तत्थ घोसाए दुक्खं खुप्पंति वाउड्डताए य अंगमंगेसु णिवयमाणेसु मुंमुरेण व अंगमंगाइं डज्झंति, पाडेऊणं च तत्थेव लोलाविज्जंति। वेतरणी णाम पूयरुहिरकेसट्ठि० गाथा ॥८२॥ वेगेण तरंति तामिति वेतरणी, ते अणोरपारं गंभीरतरं णदिं विउव्वंति, तीसे पुण पावियं पूयअरुहिरं। खरसरा णाम कप्पंति करकएहिं० गाथा ॥८३॥ ते जंतेऊणं व कट्ठं जहा फाडेंति कप्पेंति करकएहिंति परोप्परं च जुज्झावेंति, सिंखलिगं विउव्विचा तत्थारुभिऊणं कड्ढंति, अंछमाणेसु य खरं रसंतो, महाघोसा णाम भीते पलायमाणे सम्मं-ततो० ॥८४॥ गोवालेवि य गाविओ णियत्तेति य एकतो खुत्ते य कड्ढेंति चारो य पक्खिवंति, णामणिप्फण्णो गतो। इदाणिं सुत्ताणुगमे सुतमुच्चारेयव्वंति 'पुच्छिस्सु तं केवलियं महेसिं' वृत्तं ॥ ३००॥ सुधम्मसामी किल जंबुसामिणा णरगे पुच्छितो, केरिसा णरगा? केरिसएहिं वा कम्मेहिं गम्मइ? केरिसाओ व तत्थ वेदणाओ?,ततो भण्णते-पुच्छिसुहं पृष्टवानहं भगवंतं यथैव भवन्तो मां पृच्छंति, केवलमेवैकं तस्य ज्ञानमित्यतः केवली अथवा कृत्स्नः प्रतिपूर्णं केवलमित्यर्थः, संपूण्णं ज्ञानी केवली, महरिसी तित्थ-गरो, कथमिति परिप्रश्ने अभिमुखं भृशं वा तापयन्तीति अलोपात्, भीता वा, नीयंते तस्मिन् पापे कर्मणे इति न रमंति वा तस्मि-न्निति नरका, पुरस्तादिति इह पापकर्तुस्ते परस्ताद्भवन्ति भावनरकान् पृच्छति, द्रव्यनरकास्तु इहैव दृश्यन्ते, अविजाणतो मे मुणी ब्रूहि, हे ज्ञानिन्! नाहं जाने–कैः कर्मभिः कथं वा नरकेषूपपद्यन्ते तद्यैः कर्मभिर्यथा चोपपद्यन्ते तमजानतो ममोच्यतां 'एवं मया पुट्ठो महाणुभागे'वृत्तं ॥३०१॥ एवमनेन प्रकारेण, पुट्ठो णाम पुच्छितो, महानस्यानुभागः, द्रव्याणुभागो हि आदित्यस्य प्रकाशः, तदनुभागाद्धि चक्षुष्मतः अहिकंटकाः अग्निपातादीनि च परिहरंति, मोक्षसुखं च अनुभवंति, अनुभवनमनुभावः, महांति वा ज्ञानादीनि

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१५७॥

भजति सेवत इत्यर्थः, इदमब्रवीत्, यद्वक्ष्यमाणः काश्यपगोत्रो भगवान्, असौ पुण्णेति न पुच्छितो चिंतेति, आसु एव प्रजानीते प्रज्ञ एवं पृष्टो मया–पवेदइस्सं दुहमट्ठ दुग्गं साधु वेदयिष्ये प्रवेदयिष्ये, प्रदर्शयिष्यामीति इत्यर्थः, दुःखस्यार्थं दुःखमेवार्थः दुःख-प्रयोजने वा दुष्कृतकारिणं दुःखनिमित्तो वा अर्थः दुहमट्ठं, तस्य दुःखस्य कोऽर्थः?, वेदना, शरीरादिसुखार्था हि देवलोकाः, दुःखार्था नरकाः, दुर्गं नाम विषमं, आदीनिकं अथवा आदीनं नाम पापं दुष्कृतकारिणं दुःखोत्पादकानां, पुरस्तादिति अग्रतः, अथवा आदिनिकं दुष्कृतिणं पुरस्तेति तेसिं आदीणिगपापकम्मदुक्कडकारिणं पुरस्तात्पूर्वभवदुष्कृतकारिणामित्यर्थः, दुक्कडंति महारंभादीहिं। जे केइ बाला इह जीवितट्ठी' वृत्तं (३-२)'जे'त्ति अणिद्दिट्ठणिद्देसो, द्वाभ्यामाकालितो बालः, ये केचन बाला, इहेति तिरियमणुएसु असंजमजीवितट्ठी तत्प्रयोगजीवितार्थी च, कूराइं कम्माइं करेंति रोद्दा कूराइं हिंसादीणि रौद्राध्यवसायाः रौद्राकाराश्च रौद्राः ते घोररूवे तमसंधयारे कुंभी वेतरणी यत्र हण छिन्द मिन्द इत्यादिभिर्भयानकैर्घोररूपो घोररूपा वा ते नरका जत्थ सो उववज्जति, तमसंधकारो नाम जत्थ घोरविरूविणं पस्संति, जं किंचि ओहिणो पेक्खंति तंपि कागदूसणियामणिया सरिसं पेच्छंति तैमिरिका वा, कण्हलेसे णं भंते! णेरइए कण्हलेस्सं णेरइयं पणिधाय ओहिणा सव्वओ समंता समभिलोएमाणा केवतियं खेत्तं जाणति? केवइयं खेत्तं पासंति?, गोयमा! णो बहुतरयं खेत्तं जाणइ णो बहुतरयं खेत्तं पासति, तिरियमेव खेत्तं पासति जह लेसुद्देसए तिव्वाणुभावेत्ति अनुभवनमनुभावः तीव्रवेदनानुभावात्, कथमुपैति 'से जहा णामए पवगे पवमाणे' ते तु कैः कर्मभिर्यान्ति 'तिव्वंति से पाणिणो थावरे य' वृत्तं ॥३०३॥ तीव्राध्यवसिता जे तसथावरे पाणा हिंसंति न चानुतप्यन्ते, ये तु मन्दाध्यवसायाः त्रसस्थावरान् प्राणा हिंसंति ते त्रिषु नरकेषूपपद्यन्ते, अथवा तीव्रमिति तीव्राध्यवसायाः तीव्रमिथ्यादर्शनिनश्च तीव्रमिथ्याध्यवसिता संसारमोचका

दुखार्थ-दुर्गादि

॥१५७॥

याज्ञिकादयश्च, थावरे पुरदाहगादिः, आत्मसुखार्थं आत्मसुखं पडुच्च, यदपि हि परार्थं हिंसति हि तत्रापि तेषां मनःसुखमेवोत्पद्यते पुत्रदारे सुखिनि अप्यत्र वा, जे लूसए होंति अदत्तहारी लूसको नाम हिंसक एव, जो वा अंगं पच्चंगं भिन्दति भंजति वा, अदत्तं हरतीति अदत्तहारी, सो य विगयसंजमः, सिक्खा गहणसिक्खा आसेवणासिक्खा वा न किंचिदपि आसेवते संयमठाणं तस्स एगपाणाएवि दंडेण णिक्खित्तो 'पगब्भि पाणे बहुणंति'वृत्तं ॥३०४॥ तस्य तं कर्तुकामस्य कृत्वा वा किंचन मार्दवमुत्पद्यन्ते यथा सिंहस्य कृष्णसर्पस्य वा, बहूणं वेदेति मत्स्यबन्धाद्याः स्वयंभुरमणमत्स्या वा येषां वाऽन्या वृत्तिरेव नास्ति वग्घसिंहनागादीनां, त्रिभ्यः पातयती त्रिभिर्वा पातयति मनोवाक्काययोगैरित्यर्थः, एवं परिग्रहोऽपि वक्तव्यः अणिव्वुडे अणुवसंते आसवदारेहिं स एव दाहिणगासि गामिए अधम्मा पक्खिएसु बहुं पावकम्मं कलिकलुसं समज्जिणित्ता 'से जहा णामए अयगोलेति वा' इत्तो चुए घातगतिं उवेंति घातगामिनामिव गतिर्वेदनागतिरित्यर्थः, घातकानां वा गतिः घंतगतिं गच्छति, अंतकालो नाम जीवितान्त कालः निधौ गति रधोगतिः अधो भवद्भिः शिरोभिर्न्यग्भवद्भिः शिरोभिः, तओ तं अप्पकाशं अधो गच्छदन्धकारमित्यर्थः, अन्तकालो नाम जीवितान्तकालः अधोशिरा इति, उक्तं हि-जयतु वसुमती नृपैः समग्रा, व्यपगतचौरभयानुदेव ! शोभा। जगति विधुरवादिनः कृतान्तः(ग्रन्थाग्रं ३४००) नरकमवाङ्शिरसः पतंतु शाक्याः॥१॥ दूरोत्पतने हि शिरसो गुरुत्वात् अवाङ्शिरसः पतंति, स एव विचारः इहानुगम्यते, तेषां तस्यामवस्थायां शिरो विद्यत एव इति, एकसमयिकदुसमयिकगतितिगसमएण वा विग्गहेण उववज्जंति, अंतोमुहुत्तेण अशुभकर्मोदयात् शरीराण्युत्पादयंति, निर्लूनांडजसन्निभानि निजपर्याप्तिभावमागताश्च शब्दान् शृण्वंति 'हण छिन्दध भिंदह णं दहह'वृत्तं ॥३०५॥ कण्ठ्यं, ततस्तान् शब्दानाकर्ण्य मुखात् भैरवान् श्रुत्वा तद्भयात्पलायमानाः 'इंगालरासिं जलितं सजोतिं

लूषकादि

॥१५८॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१५९॥

वृत्तं ॥३०६॥ जहा इंगालरासी जलितो धणधणेति एवं ते णरकाः सभावोष्णा एव, ण पुण तत्थ बादरो अग्गी अत्थि, विग्गहगतिसमावण्णएहिं, ते पुण उसिणपरिणता पोग्गलगा जंतवाडचुल्लीओवि उसिणतरा, ततोवमं भूमि अणोक्कमन्ता तत्रायसकवल्लतुल्लं ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, कलुणं दीणं, स्तनितं नाम प्रततश्वासमीषत्कूजितं यल्लाडानां निस्तनितं, अरहस्सरा णाम अरहतस्वराः अनुबद्धस्सरा इत्यर्थः, चिरं तेसु चिट्ठंतीति चिरट्ठितीया, जहण्णेणं दस वाससहस्साइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं, त एवं प्रतिपद्यमाना न द्यां पश्यंति 'जइ ते सुता वेतरणीतिदुग्गा'वृत्तं ॥३०७॥ यद् त्वया श्रुतपूर्वा वैतरणी नाम नदी, लोकेऽपि ह्येषा प्रतीता, वेगेन तस्यां तरतीति वैतरणी, अभिमुखं भृशं वा दुर्गाऽतिदुर्गा गम्भीरतया परमाधार्मिकैः कृता, केचिद् ब्रुवते-स्वाभाविकैवेति, खुरो जहा णिसिओ यथा क्षुरो निशातश्छिनत्ति एवमसावपि, जइ अंगुली चुंभेज्ज ततः सा तीक्ष्णश्रोतोभिः छिद्यते,तीक्ष्णता वा गृह्यते यथा क्षुरधारा तीक्ष्णवेगा, ततस्ते तृष्णादिना प्रतप्ताङ्गारभूतां भूमिं विहाय खिन्नासवः पिपासवश्च तत्रावतरन्तीति, अवतीर्य चैनां मार्गातिदुर्गां प्रतरन्ति नरकपालैरसिभिः शक्तिभिश्च पृष्ठतः प्रणुद्यमाना उत्तितीर्षवश्च ततः शक्तिभिः कुन्तैश्च तत्रैव क्षिप्यन्ते 'कीलेहि विज्झंति असाधुकम्मा'वृत्तं ॥३०८॥ ततो परमाधम्मिएहिं णावाउवि विउव्वियाओ लोहखीलगसंकुलाओ ते ताओ अल्लियंता पुव्वाविलग्गेहि णिरयपालेहि विज्झंति, कोलं नाम गड्डं, उक्तं हि–कोलेनानुगतं बिलं, भुजंगवदसाधूनि कर्म्माणि येषां ते इमे असाधुकर्म्माणः, णावं उवेतिं उवल्लियंति तेसिं तेण पाणिएण कलकलभूतेण सव्वसोत्ताणुपवेसणा सत्ति पूर्वमेव नष्टा, पुनः कोलैर्विद्धानां भृशतरं नश्यति, भिन्नेति सूलाहित्ति सूलयाहिं त्रिशूलिकाभिर्दीर्घाभिः अहे हेट्ठतो जलस्स अधो मुखे वा, ततः कथंचिदेव चिरा उत्तीर्णाः सन्तः नरकपालैर्विकुर्वितां नरकभूमिमुपयन्ति, कतरियं ?'आसूरियं णाम'वृत्तं ॥३१०॥ यत्र शूरो नास्ति

अंगार-राइयादि

॥१५९॥

प्रत सूत्रांक ॥३००-३२६॥

दीप अनुक्रम [३००-३२६]

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥१६०॥

अथवा सर्व एव नरकाः असुरिकाः महन्ततावं णाम कुंभीपाकसदृशं महानतितापो यस्मिनीध तमोभूतं यथा जात्यन्धस्य अहनि रात्रौ च सर्वकालमेव तमः एवं तत्रापि, स तु आगाधगुहासदृशः दुःखं तत्थ पावेयुरिति दुखन्तरं, महान्त इति विस्तीर्णा, उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु ऊर्ध्वमिति उवरिल्ले तले अधे भूमीए तिरियं कुड्डेसु, तत्थ कालोभासी अचेयणो अगणिकायो समाहितो सम्यक् आहितो समाहित एकीभूतो निरन्तरमित्यर्थः, पच्यते च-**समूसिते जत्थ अगणी झियाति** समूसितो नाम उच्छ्रितः सो पुण जं भट्ठीचुल्लीतो उसिणतरो जंसि 'जंसि गुहा जलणातियट्टे' वृत्तं ॥३११॥ गुहाए गतो दारा विउव्विता, किण्हा गणणा ऊऊयमाणी ऊऊयमाणी चिट्ठति, जलणं अति अतो जलणतियट्टे, **अविजाणतो डज्झति लुत्तपण्णे** अविजाणतो णाम नासौ तस्यां विजाणाति कुतो द्वारमिति, अथवाऽसौ जानाति अवमे उसिणपरित्ताणं भविष्यति, इह वाऽसौ अविज्ञायक आसीत्, यस्तु द्विधानि कर्माण्यकरोत् लुप्ता प्रज्ञा यस्य स भवति लुत्तपण्णा-न जानाति कुतो निर्गन्तव्यमिति, ग्रहासौ वा वेदनाभिर्वाऽस्य प्रज्ञा सर्वाहता, अथवा अहिते हि पण्णाणे इदमन्यद्वेदनास्थानं-**सदा कलुणं** पुण घम्मट्ठाणं सदेति नित्यं, न कदाचिदपि तस्मिन् हर्षः ग्रहासो वा, घर्मणः स्थानं घर्मस्थानं, सर्व एव हि उष्णवेदना नरकाः घर्मस्थानि, विशेषतस्तु विकुर्वितानि स्थानानानि दुक्खनिष्क्रमणप्रवेशानि गातं उण्हं दुःखोवणितं गाढैर्वा दुर्मोक्षणीयैः कर्मभिस्तत्रोपनीता स वा तेषामुपनीतः अथवा गाढमिति निरन्तरमित्यर्थः, गाढवेदणं अतिदुक्खधम्मंति, धर्मः स्वभाव इत्यर्थः, स्वभावप्रतिपेषु तेषु तत्थवि **'चत्तारि अगणिओ समारभित्ता'** वृत्तं ॥३१२॥ अथवा इदमेव तत् घर्मस्थानं यदुत चत्तारि अगणीओ समारभित्ता चउद्दिसं अगणिं, समारभित्ता णाम समुद्दीवेत्ता, जहिंति यत्र क्रूराणि कर्माणि यैः पूर्वं कृतानि क्रूरकर्माणः नारकाः, अथवा ते क्रूरकर्माणोऽपि णरयपाला जे णरयग्गितत्तेवि तर्पंति तापयंति

महा-तापादि

॥१६०॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१६१॥

यत एव हि मंदा नरकपाला मंदबुद्धय इत्यर्थः, नरकप्रायोग्यान्येव कर्माण्युपचितवंत इति, भृशं तप्यमाना अतितप्यमाना, जीवंति मे जीवं, स एव ज्योतिषः समीपे गओ य जोतिपत्ता समीपगता भिन्ना पवने मत्स्यास्तप्यन्ते, किमंग पुण तत्ते, त एव च्छूढा अयोकवल्ले वा, सीतयोनित्वाद्धि मत्स्यानां उष्णदुःखानभिज्ञत्वाच्च अतीवाग्नौ दुःखमुत्पद्यते इत्यतो मत्स्यग्रहणं । किंचान्यत्–संतच्छणं णाम ॥३१३॥ समस्तं तच्छणं णाम जत्थ विउव्वियाणि वासिपरसुमादियाणि तं बलिओ जहा खयरकट्ठं तच्छेति एवं तेवि वासीहिं तच्छिज्जंति, अन्ने कुहाडएहिं कट्ठमिव तच्छिज्जंति, महन्ति तावं णाम महंताणिवि तत्ताणि तच्छणाणि भूमीवि तत्ता, असाधूणि कम्माणि जेसिं ते असाधुकम्मी, हत्थेहि य पादेहि य बंधिऊणं, रज्जूहि य णियलेहि य अउआहि य कडिकडिगाबंधेणं बंधिऊणं मा पलाइस्संति उड्ढंसेन्ति वा तधा पुरकवालफलग इव कुहाडहत्था तच्छेंति, ते एवं संतच्छिता 'रुहिरे' वृत्तं ॥३१४॥ रुहिरे पुणो चेव समूसितं, गोरुधिरं जंते छिज्जंताणं परिगलति, पुव्वं च तेषां वर्चस्फुटितान्यंगानि ते वर्चसा आलित्तांगाः कुहाडपहारएहिं, भण्णंति–भंगे अयकवल्लेसु, तम्मि चेव णियए रुधिरे उव्वत्तेमाणा परियत्तेमाणा य पयंति, ण णेरइए फुरंते उक्कारिगा च, धूवं च जहा सिलिसिलेमाणा पुरुफुरुते य, सज्जो मच्छे व अयोकवल्लेसु पयंति सज्जो मच्छेति जीवंते, अथवा सज्जो कमच्छे सज्जो हते, अध णिज्झिगाए चेव वसाए, अयोकवल्लीणीत्ति अयोमयाणि पात्राणि, एवमपि ते छिन्नगात्रास्ताड्यमाणाः पाट्यमानाश्च 'ते तत्थ मसीभवंति'वृत्तं ॥३१५॥ छारीभवंति वा, न म्रियंते, तिव्वा अतीववेदनानुबन्धा न लोमं देवं गतं, इतरहा तु अतितिव्ववेदणा इति, पच्चते–कम्माणुभागं, सीतं उसिणाणुभागं वेदेंति, भूयो २ वेदेंती भूअणूवेदयंति, तेण दुक्खेणं दुक्खंति, सोयंति जूरंति इह दुक्कडेहिं अट्ठारसहिं ट्ठाणेहिं 'तेहिंपि ते लोलुअसंपगाढा' वृत्तं ॥३१६॥ तस्मिन्नपि ते पुनर्लोलुगसंपगाढे अण्णं

उपज्योतिरादि

॥१६१॥

पगाढतरं सुत्तं तं विउव्विपलयं अगणिं गाढं डाणं वयंति, लोलंति येन दुक्खेन तल्लोलगं, भृशं गाढं प्रगाढं निरन्तरमित्यर्थः, गाढतरं सुट्ठुतरं गाढं सुतत्तं, ततो विसाला विगतो णरगउसिणगाओ अधिकतरं, अथवा सा अगणिणा तत्तं सीतवेदणिज्जावि लोलुगा तेसुवि णेरइया सीएण हिमकडअउणपक्खित्ताइं च भुजंगा ललकारेण सीतेणं लोलाविज्जंति, अण्णेसिं पुण णरगाणं वा, लोलुअग्गित्ति णाम, जहा लोलुए महालोलुए, तत्थ सादं लभंतीति दुग्गे निरयपालो महत्तरेणापि तावत् ण तत्थ सायं लभति, उक्तं हि–'अच्छिणिमीलियमेत्तं णत्थि सुहं किंचि कालमणुबद्धं०' अतिदुग्गे वा, भृशं दुर्गे वा, ण चेव तत्थ कासइ समा भूमी अत्थि, अरिहिता अभिभावः तस्मिन्नपि अरिहते अभितावो तहावि तं विज्जंति अयोकवल्लादिसु तेषां नरकाणां गण्डस्योपरि पिटका इव जाताः ते ते स्वाभाविकेन नरकदुक्खेण विशेषतश्च नरकपालोदीरितेन पुनः पुनः समाहता हन्यमानाः स्वयं वेदनासमुद्घातैरिव कालं गमयंति, तत्र पुनर्महाघोषनरकपालोदीरितैस्तेषां च परस्परतो हनछिन्दभिंदमारयातिकूपितस्तनितशब्दैश्च 'से सुव्वती गामवधे व सद्दे०'वृत्तं ॥३१७॥ से जहा नामए अयघाते वा णरघाए वा सर्वस्वहारे च वन्दिग्रहे वा महाणगरडाहे वा उक्किरिज्जंतेसु वा णगरेसु गामेसु वा समंता हाहाकारा रवा अमानुषपुत्राः श्रूयंते, एवं तेष्वपि उदिण्णकम्माए पयायति णरगपा(लाव)याए णरगलोगस्स महाभैरवसद्दो सुव्वते, उदिण्णाकम्माण तेसिं असातावेदणिज्जादिगा ओसण्णं असुभाओ कम्मपयडीओ उदिण्णाओ, असुरकुमाराणवि तेसिं मिच्छत्तहासरतीओ उदिण्णाओ इत्यवस्थे उदिण्णकम्मा, णेरइयाणं शरीराणीति वाक्यशेषः, उदीर्णकर्माणोऽसुराः, पुनः पुनरिति अनेकशः,संघातमारणाणि सह हरिसेण सहरिसं दुक्खापयंति दुहंति विहंसंति वा, पठ्यते 'पाणेहिं णं पाव विजोजयंति'वृत्तं ॥३१८॥ प्राणाः शरीरेन्द्रियबलप्राणाः ते पापास्तैस्तैर्वेदनाप्रकारैः बलभेदप्रकारैश्च वियोजयंति विश्लेपयन्तीत्यर्थः, स्वात्किमर्थं तेषां वेदनामुदीरयंति ? कीदृशीं

लोलनादि

॥१६२॥

श्रीसूत्र ताङ्गचूर्णि ॥१६१

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१६३॥

वा ?, उच्यते 'भेऽदं पवक्खामि जहातहं'ति जहित्ति इहं येन प्रकारेण पावाइं कम्माइं ते तहिं तहेव वेयणाओ पाविजंति, का तहिं भावना ?, तीव्रोपचितैस्तीव्रवेदना भवंति मन्दैर्मन्दा मध्यैर्मध्या नरकविशेषतः स्थितिविशेतश्च, अथवा जहा तहत्ति राजत्वे वा राजामात्यत्वे चारकपालत्वे लुब्धकत्वे वा सौकरिकमत्स्यबन्धत्वे वा वधघातमांसापरोधपारदारिकयाज्ञिकसंसारमोचकमहापरिग्रहेत्येवमादयो दण्डा यैर्यथा कृतास्तान् तत्थेव दंडे तत्थ सारयंति–बोलंति, ते च यथाकृतैर्दण्डैः स्मारयन्ति याच्यमानाः, सरयंतित्ति सारयंति, न तथा छिद्यन्ते एव, मार्यन्ते वध्यन्ते सह्यते, एवं यावंतो यथा दण्डप्रकाराः कृतास्तावद्भिस्तथा च स्मारयंति 'ते हम्ममाणा णरगं उवेंति'वृत्तं ॥३१९॥ त एवं बालाः हन्यमाना इतश्चेतश्च पलायमाणा णिलुक्कणपथं मग्गंता नरकमेवान्यं भीमतरवेदनं प्रविशंति, जहा इह चारेहिं चोरा चारिज्जंति, कडिल्लमणुप्रविशंति, तत्रापि सिंहव्याघ्राजगरादिभिः खाद्यंते, एवं ते ते बाला पलायमाणा नरकपालभयात् नरकं पतंति अण्णं पुण्णं उरुअस्स, उरूअं णाम उच्चारपासवणकद्दमो, से जहा णामए अहिमडित्ति वा मतकुहितविणट्ठकिमीएणं, तदपि उरूअं तप्तं महत्ति,ताव तत्थ चिट्ठंति उरूवभक्खी, उरूवं भक्षयन्तीति उरूवभक्खी, ते णिरयपालेहि उरूवं खाविज्जंति, तुद्यत इति तुद्यमानाः कर्मभिः, कर्मावशा णाम कर्म्मयोग्या कर्मवशगा वा, तत्थ दूरे चेव विट्ठाकृमिसंस्थाणा विउव्विया किमिगा तेहि खज्जमाणा चिट्ठंति, गुणमारगा य तत्थ किच्छाहिं गच्छंति, परिसंता य तत्थेव लोलमाणा किमगेहिं खज्जंति, छट्ठसत्तमासु णं पुढवीसु णेरइया मत्तमहन्ताइं लोहितकुंथुरूवाइं विउव्वित्ता अण्णमण्णस्स कायं समतुरंतेमाणाअणुखायमाणा चिट्ठंति। किंचान्यत्–'सदा कसिणं पुण घम्मट्ठाणं०' वृत्तं ॥३२०॥ सदेति नित्यं, कसिणं णाम संपूर्णं, तत्तोण्णं कुंभीपागअणंतगुणाधियं, जोवि तत्थ वातो सोऽवि लोहारधमणी वा अणंतगुणउसिणाधिको, गाढेहिं कम्मेहिं तत्तेपामुपनीतं, ते वा तत्थुवणीता अवा-

यथ

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१६४॥

यानीह गाढान्युपणस्थानानि इष्टपाकादीनि तैस्तदुपमीयते, उपनीयतेत्ति वा उवपदरिसतेत्ति वा एगट्ठं, अतिदुःखस्वभावं अतीदुःखधर्मं, तथावि अतिदुक्खधम्मे आगंम परिकप्पयंति, वालिं हत्थं कसुं पक्खिविऊण विहणंति, विणिहणित्ता खीलगेहिं चम्ममिव ततो वितडितसरीराणं वेधेहिं विंधंति सिराणि, तेसिं वध्यस्थानानि येषु वेधेषु ते वेधाः, तद्यथा अक्षिकर्णनासामुखानि, अदान्तेन्द्रियाणां पूर्वत एव एतानि पूर्वमदान्तान्यभूवन्, सांप्रतं दामन्यते, अथवा सीसावेढेण तावेन्ति–सीसं दुक्खावेंति, किंचान्यत्–तत्रासिपत्रा नाम नरकपाला 'छिंदंति बालस्स खुरेण णक्कं, उट्ठेवि छिंदंति दुवेवि कण्णे' वृत्तं ॥ ३२१ ॥ एतानि हि पूर्वमच्छिन्नदोपान्यभूवन् अच्छिन्नतृष्णानि चाऽऽसन्, तत्साम्प्रतं स्वयमेव छिद्यन्ते, जिब्भं विणिकिस्स विहत्थिमेत्तं, एया हि पूर्वं नसारित्तनी अलीकभाषिणी चासीत्, परस्परं विकुव्वितेहिं छिन्दंति, बालस्स खुरेण णक्कं तिक्खाहिं सूलाहिंति, लोहखीलगाः, ते च कायं यावत् कक्कटिकातो निर्गता, निपातयतीत्ति विंधंति, त एवंविद्धा तो 'ते तिप्पमाणा तलसंपुड(ब)चा' वृत्तं ॥ ३२२॥ विनितप्यमानाः तिप्पमाणाः पीड्यमाना हेरिकादिपु तलसंपुलिता णाम अयतबंधा हस्तयोः कृता, यथैषां करतलं चैकत्र मिलति, एवं पादयोरपि, अथवा करतलेन किंचि जोड्यमानाः, एवं तेषां च घडगेहिं जंतेहि य तलसंपुडियचा, अचा सरीरं भण्णति, रातिंदियं तत्थ थणंति मंदा रात्रिंदिनप्रमाणमात्रं कालं णिच्छणंते अच्छंति, मंदा नाम मंदबुद्धयः, लीना वा समीरिता, सर्वतो रुधिरं गालाविता इत्यर्थः, सर्वतश्च मांसैरवकृष्टैः अनायभूमीय थरथरायंतो, अण्णावक्कथलं वंगाइं देहोऽवि खंडखंडाइं केसिंचि काउं पज्जोवितितो, सव्वओ पलीवित्ता वेढेऊण केइ खारेण पत्तच्छिन्नंगा वासीमादीहिं तच्छेतुं खारेण सिंचंति, किं च–जइ ते सुत लोहितपागपायी, तेयगुणा परेणं यदि त्वया कदाचित् श्रुता, लोकेऽपि ह्येषा श्रुतिः प्रतीता, तत्र कुंभीओ विज्जंति, लोहितस्यापाकः लोहित-

इष्टापाकादि

॥१६४॥

पाकः पच्यते यस्यां सोऽयं लोहितपाकपायी, वाह्यबलस्य ह्यग्नेः अधिकस्तापो भवति, परिशुष्केन तस्याभिनवप्रज्वलितस्य, स हि अधिकं दीप्यते दहति च, तेयगुणा एत्तोवि परं अणंतगुणा, उण्हो—अग्गी, कुंभी महती कुंभप्रमाणाधिकप्रमाणा कुंभो भवति, जाहेवि चउसुवि पासेसु प्रज्वालितेनाग्निना तप्तलोहिका तेसु, ताम्रपूर्णो दुरासयो, एवं ताओवि कुंभिकेहिं णिरयपालेहिं विउव्विताओ कुंभीओ महंति, महंतीओ पुरुषप्रमाणानीति अधियपोरुसीओ, यथाऽस्यां प्रक्षिप्तो न नारकः पश्यतीति, ण वा चक्केइ कण्णेसु अवलंबिउं उत्तरित्तए, अद्दहिता—लोहितपूयमादीणं असुभाणं सरीरावयवाणं पुण्णा, अथवा कुंभी उट्टिगा, अधिया पोरिसेसु वा ऊणा कीरंति तत्थ विच्छोभणा भवति,'पक्खिप्प तासु' वृत्तं ॥ ३२४ ॥ अट्टस्सरेत्ति आर्त्तस्वरमिति, आर्त्तो हि यावत्प्रमाणं रसति, नासौ लज्जां धैर्यं वा तस्मिन्काले गणयति॥'अप्पेण अप्पं इह वंचइत्ता' वृत्तं ॥३२५॥ अप्पं णाम आत्मानं इहेती इह मनुष्यलोके वंचइत्ता कूडतुलादीहिं, अथवा अप्पाणं, परोवघातसुहेण अप्पाणं वंचइत्ता भवाधमो, भवाधमो णामाधर्मः अतस्तस्मिन् भवाधमेअधर्मे पुवसते सहस्सेति जाव तेत्तीसं सागरोवमाइं, चिट्ठंति तत्था बहुकरकम्मा। जहाकडं कम्म तहासिभारे बहूणि क्रूराणि कम्माणि येषां ते बहुक्रूरकर्मा, कम्मा जे य पज्जंति, जे य पचंति सव्वे ते बहूतरकम्मा, जहाकडं कम्मेति यथा चैषां कृताणि कर्माणि तथैवैषां भारो वोढव्यः इत्यर्थः, विभत्ती विज्जते नासौ भारः, का तर्हि भावना?—यादृशेनाध्यवसायेन कर्माण्युपचिनोति तथैवैषां वेदनाभारो भवति, उत्कृष्टस्थितिर्वा मध्यमा जघन्या वा, ठितिअ अणुरूवा चेव वेदना भवति, अथवा यादृशानीह कर्माण्युपचिनोति तथा तत्रापि वेदनोदीर्यते तेषां स्वयं वा परतो वा उभयतो वा, उभयकरणेण, तद्यथा—मांसादा स्वमांसान्येवाग्निवर्णानि भक्ष्यन्ते, रसरुधिरं कलकलीकृतं तउतंवाणी य द्रवीकृतानि, व्याधघातसौकरिकादस्तु तथैव विध्यन्ते मार्यते

सूत्रकृ-चूर्णिः १६६॥

च, चारकपाला अष्टादशकर्मकारिणः कार्यंते च, आनृतिकानि जिह्वा नक्ष्यंते त्रुट्यन्ते च, चोराणां अंगोपांगान्यपहियंति, पिण्डीकृत्य चैनां ग्रामघातेष्विव वधयंति, पारदारिकाणां वृषणा छिद्यन्ते अग्निवर्णाश्च लोहमय्यस्ते स्त्रियः अवगाहाविज्जंति, महापरिग्रहारम्भैश्च येन येन प्रकारेण जीवा दुःखापिताः सन्निरुद्धा जोतीता अभियुक्ताश्च तहा तहा वेयणाओ पाविज्जंति, क्रोधनशीलानां तत्क्रियते येन येन क्रोध उत्पद्यते, तेणं एवं रुसिज्जति, इदानीं वा किं तत् क्रुध्यसे ? किं वा क्रुद्धः करिष्यसि ?, माणिणो हि लज्जंति, मायिणो असिपत्तमादीहिं सीतलच्छायासरिसेहि य तउतंबएहिं प्रवच्चिज्जंति, लोभे जहा परिग्गहे, एवमन्येष्वपि आश्रवेष्वयोग्यमित्यतः साधूक्तं जहा कडे कम्मे तहा से भारयति। **'समज्जिणित्ता कलुसं अणज्जा'** वृत्तं ॥३२६॥ जहा अधम्मपक्खे वुच्चिहिन्ति अधम्मिए अधम्माणुएत्ति हण छिंद भिंद वयंतएत्ति जाव णरगतलपतिट्ठाणे भवति, कलुपमिति कर्म्मैव, चिरस्य हि तत्प्रसीदेति, हिंसादि अणारिया कम्मा अणारिया, इष्टा शब्दादयः, कमनीयाः कान्ताः, त एव विषयाः, अथवा कान्तावंधे वा, तैर्विप्रहीणाः, अहवा णेत्तिआ, इइ हि इट्ठाणि य कांताणि य पियाणि य तेहिं विप्पहीणा, तओ रसगंध उरुतकद्दमे य पूयवसारुहिरकद्दमे या, 'से जहा णामए अहिमडेति वा' कसिणे–संपुन्ने असुभभावेण स्पृशंतीति स्पर्शाः, चशब्दात् सद्दे रूवे रसे गंधे फासेत्ति, रयणप्पभाए अणिट्ठा फासादयो, सेसासु कमेसु अणिट्ठतरा, कर्मयोग्याः कर्मपयोगाः, जारिसा कम्मा कया, तिविहं तिव्वा, सकुणिमेत्ति न कश्चित् तत्र मेध्यो देशः, सव्वे चेव मेदव्वसामंसरुहिरपुव्वाणुलेवणतलाओ, स्थितिपरिसमाप्तेः वसंतीत्यावसंत इति **प्रथमोद्देशकः** ॥

स एव भावनरकाधिकारः, यानि दुःखानि प्रथमे उक्तानि द्वितीयेऽपि तादृशान्येवोक्तानि, नरकपालकृतैस्तु परस्परकृतैश्च विशेष

क्रूरकर्मादि

॥१६६॥

अस्य पृष्ठे पंचम अध्ययनस्य द्वितिय उद्देशक: आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥३२७-३५१॥

दीप अनुक्रम [३२७-३५१]



उच्यते 'अहावरं सासतदुक्खधम्मं' वृत्तं ॥३२७॥ अथेत्यानन्तर्ये, अपर इत्यतो विकल्पः, शाश्वतमिति नित्यकालं यावदासुः 'अच्छिणिमीलितमेत्तं०' गाथा, दुःखस्वभावं दुःखधर्म्मा। तं ते पवक्खामि भृशं विविधं प्रकारैर्वा वक्ष्यामि पवक्खामि, अथवा आदितः इदानीं वक्ष्यामि प्रवाचयिष्यामि, यथेति येन प्रकारेण, सर्वज्ञो हि यथैवावस्थितो भावः तथैवैनं पश्यति, तथा तेनैव, वक्ति, बाला यथा दुक्कडकम्मकारी येन प्रकारेण यथा, कुत्सितं कर्म्म दुक्कडं, दुक्कडाइं कम्माइं करेंति दुक्कडकम्मकारिणः, हिंसादीनि महारंभादीणि च, वेदेंतित्ति–अणुभवंति, पुरेकडाइंति यन्मनुष्यत्वे त्रिविधकरणेनापि निकाचितानि, तानि तु स्वयं वेदयंति निरयपालैश्च वेदाविज्जंति, 'हत्थेहिं पादेहि य बंधिऊणं'वृत्तं ॥३२८॥ जहा इह राया रायपुरिसा वा अवकारिणो खंधे बंधित्वा सरेहिं विंधंति एवं तेवि णरयपाला खंधेसु बद्धाणं पाडिताणं वा हत्थपादं तडयित्ताणं उदराइं फोडेंति खुरेहिं तेसिं, खुरेहिं वासेहिं वा, असिता–णिसिता तिण्हा, अथवा णिसिता मुंडा इत्यर्थः, कृष्णा वा, तेहिं मुंडेहिं दुःखाविज्जंति मारिज्जंति च, त्वया उदरनिमित्तं हतानि सत्त्वानि, अथवा खुरासिगेहिं खुरेहिं असिगएहि य अण्णे पुण गेण्हित्तु बालस्स विहण्ण देहं गृहीत्वेति णस्समाणं वा वशमानयित्वा, विहण्णेति-विहिणित्ता खीलएहिं बज्झं पिट्ठतो उद्धरंति स्थिरा नाम अत्रोडयन्तः, पृष्ठतो नाम पण्हिगाओ आरद्धं जाव कृगालिकातो उद्धरंति–उप्पाडेंति, एवं पार्श्वतोऽपि, किंचान्यत्' बाहू य कत्तंति य मूलतो से'वृत्तं ॥३२९॥ बाधयति तेनेति बाहू, मूलतो नाम उद्गमादारभ्य उवकच्छगमूलतो प्रारभ्य, लोहकीलएणं चतुरंगुलप्रमाणाधिकेणं थूलं मुहं विगसावेऊणं, थूलमिति महत्, मा संवुड्ढेहिंति वा रडिहिन्ति, आरसतोऽपि न तस्य परित्राणमस्ति, तथाप्यातुरत्वादारसंति आडहंतीत्ति वुच्चंति, किंच–रहंसि जुत्तं सरयंति बालं सरयंतीत्ति गच्छंति वाहेंतीत्यर्थः, पापकर्माणि च स्मारयन्ति, त एव च बालास्तत्र युक्ता ये

प्रत सूत्रांक ॥३२७-३५१॥

दीप अनुक्रम [३२७-३५१]

॥सूत्रकृ-ङ्गचूर्णिः ।१६८॥

चैनां वाहयंति त्रिविधकरणेनापि ते यस्य रूविणो, रथे सगडे वा, गुरुगं विउव्वितं रथं, अवधंता य तत्रारैरिव आसज्ज वींधंति, आरुहा विंधंति, तुदंतीति तुदा–तुत्रकाः गलिबलीवर्द्दवत्पृष्ठे, सा च भूमी 'अयं च तत्तं'वृत्तं ॥३३०॥ तप्तं हि किंचिदयः कृष्णमेव भवति, सा तु भूमी ज्वलितलोहभूता सज्योतिषा सद्यज्वलितेन ज्योतिषा तप्ता, न तु केवलमेषोष्णा, तज्ज्योतिषापि अणंतगुणेहिं उष्णा सा, तदस्या औपम्यं तदोपमा, अणुक्कमंतो णाम गच्छंता, ते डज्झमाणा कलुणंति ते य इंगालतुल्लं भूमिं पुणो खुंदाविज्जंति, आगतगताणि कारविज्जंता य अतिभारोक्कंता डज्झमाणा कलुणाणि रसंति, इषुभिस्तुत्रकैश्च प्रदीप्तमुखैश्चोदिता तप्तेषु योगेषु युक्ता, तप्तानि वा युगानि येषां रथानां त इमे तप्तयुगाः, अतस्तेषु तप्तयुगेषु युक्ताः, त एवं 'बाला बला भूमिमणोक्कमंता'वृत्तं ॥३३१॥ बाला मंदा, बलादिति बलादनुक्कमंतो, बलात्कारेण, अथवा बला घोरबला इत्यर्थः, विविधेन प्रज्वलानामपि स्थूलेण पूयसोणिएण अणुलित्ता तला, विगतं ज्वलं विज्वलं जलेज्ज, विज्जलाविष्टनेन जलेण एव सोयपूयसोणितेणं, लोहमयः पथः लोहपथः, यथा लोहमयपथः तप्तः तथा सोऽपि, जंसीऽभिदुग्गे बहुकूरकम्मा अभिदुग्गं–भृशं दुर्गं वा, दंडलउडमादीहिं हत्वा हत्वा, पुनः पुनः प्रेष्यन्त इति प्रेस्या–दासा भृत्या च, पुरतः कुर्वन्तीति अग्रतः कृत्वा वाह्यंते गोणा इव अणिच्छन्ता पिट्टिज्जंति तुद्यन्ते च, किं च–'ते संपगाढंमि पवज्जमाणा' वृत्तं ॥३३२॥ नानाभिर्वेदनाभिर्भृशं गाढं संप्रगाढं निरन्तरवेदनमिति, अथवा संबंधैः पथः संप्रगाढः, ते अतिभारभराक्रान्ता शर्करापाषाणपथं प्रपद्यमाणाः 'सिलाहिं हंमंति निंतापिया(निपातिणी)हिं' शिलाभिर्विस्तीर्णाभिर्विक्रियादिभिरभिमुखं पतंतीति अभिपात्यमाना, नान्यत्र पतन्तीत्यर्थः, किंच 'संतावणी नाम चिरट्ठितीया' सर्व एव नरकाः संतापयन्ति, विशेषेण तु वैक्रियाग्निसंताविता चिरं तिष्ठंति, ते हि चिरट्ठितीया जहण्णेण दस-

भूमितापादि

॥१६८॥

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥१६९॥

वाससहस्साइं उक्कोसेणं तेत्तीससागरोवमाणि संतप्पते शरीरेण मणसा च, असाधूणि कर्माणि येषां ते इमे असाधुकर्म्मा, तस्मिन् चेव संतावणीसंज्ञके नरके 'कंडूसु पक्खिवप्प पयंति बालं' वृत्तं ॥३३३॥ अयाकोट्ठपिट्ठपयणगमणादीसु पयणगेसु पक्खिप्प बाला, ते च यतो भुज्जिगा इव डज्झमाणा उप्फिडंति, णेरइया पुणो पत्तोवद्दवं, पंचेव जोअणसयाइं, ते उट्ठकाएहिं विलुप्प-माणा उट्ठकाया णाम द्रोणिकाः, ते उप्फिडेन्तावि सन्तो उट्ठंकाएहिं विविधेहिं अयोमुहेहिं खज्जंति, खज्जमाणा भक्खितसेसा भूमि संपत्ता अवरेहिं खज्जंति सणप्फतेहिं, न शक्यते धारयितुमित्यर्थः, सिंहव्याघ्रभृगशृगालादयः विविधाः 'समूसितं णाम विधूमठाणं' तत्थ ते णेरइया समूसियाविज्जंति, ऊसवितं ऊसवितं विनाशितमित्यर्थः, विधूमोऽग्निस्थानं, विधूमो नामाग्निरेव, विधूम-ग्रहणात् निरिंधनोऽग्निः स्वयं प्रज्वलितः, सेन्धनस्य ह्यग्नेरवस्थमेव धूमो भवति, अथवा विधूमानां हि अंगाराणामतीव तापो भवति, यदि त्वापततु तं वा, यस्मिन् विकृत्यमानाश्च कलुणं थणंति, कलुणमित्यपरित्राणं निराक्रन्दमित्यर्थः, सपरित्राणा हि यद्यपि स्तनंति कूजंति वा तथापि तन्नातिकरुणं, अथवा यत्र उविग्गा वुसमाना इत्यर्थः, अथवा जेसिं उवकिता विविधमनेकप्रकारेण उत्क्रान्ता विउक्कंता, अधोसिरं कट्टु विगंतिऊण अधोसिरं काउं केइ विगित्तंति, केइ विगत्तिऊणं पच्छा अधोसिरं बंधंति, अयो छग-लगो, अयेन तुल्यं अयवत्, यथा अय इव कप्पणीकुहाडीहिं केइ कुत्सितं कथंचि चंकम्ममाणं फुरुफुरेंतं वा कप्पणिकुहाडीहिं हत्थेहिं समूसवेंति-छिंदंति, एवं कुसितं कुत्सितं वा छिंदंति, अथवा अयमिति लोहं, जहा लोहं तच्चेल्लयं छिज्जंति एवं वा। किंच 'समूसिता तत्थ विसूणितंगा' वृत्तं ॥ ३३५ ॥ समूसिता नाम खंभेसु उड्ढा बद्धा, तत्थ विसूणिताणि अंगाणि जेसिं तेमे विसूणितवेदना, त एवं सरसविसूणितंगा काकवृद्धादिभिर्भक्ष्यंति, संजीविणी णाम चिरट्ठितीया एवं यथोपदिष्टैर्वेदनाप्रकारै-

कंडूपच-नादि

॥१६९॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१७०॥

भक्ष्यमाणाश्च स्वाभाविकैर्निरयपालकृतैर्वा पक्ष्यादिभिः छिन्नाः कथिता वा मूर्च्छिता वा संतो वेदनासमुद्घातेन समोहता संतो मृतवदवतिष्ठंति, यथेह मूर्च्छिता उदकेन सिक्ताः पुनरुज्जीविता इत्यपदिश्यन्ते एवं ते मूर्च्छिताः सन्तः पुनः पुनः संजीवंतीति संजीविनः, सर्व एव नरका संजीवनाः, चिरट्ठितीया णाम जहण्णेण दसवाससहस्साणि उक्कोसेणं तेतीसं सागरोवमाणि, अथवा चिरं मृता हिंडं(चिट्ठं)तीति चिरट्ठितीया, नरकानुभावात्कर्मानुभावाच्च यद्यपि पिष्यन्ते सहस्रशः क्रिय(मार्य)न्ते तथापि पुनः संहन्यंते, इच्छंतोऽपि मृतिं तथापि न म्रियन्ते, पापचित्तत्ति पूर्वं पापचेता आसीत्, सा प्रजा सांप्रतमपि न तत्र किंचित्कुशलचेता उत्पद्यते येनापापचेता सा प्रजा स्यादिति, अयं वा परो यातनाप्रकारः 'तिक्खाहिं सूलाहिं वधेंति बाला'वृत्तं ॥ ३३६ ॥ लोहमयैः सूलैस्त्रिशूलैश्च यथा नामनिष्पन्ने निक्षेपे वधयतीति विंधति, वशं उपगता वशोपगा, शौकरिका इव वशोपगं महिषं व वधयंति, पठ्यते च–वशोपगं साबरिया(साचयंयं)व लद्धुं, सवरा–शवरा म्लेच्छजातयः, ते यथा कंदर्पात्कक्कटिकमादि विंधंति, गलगमादि वा, एवं तेवि तं नेरइयं छिंदंति भिंदंति, अत्र तु सौकरिकग्रहणं, ते हि तत्कर्म नित्यसेवित्वात् निर्दया भवन्तीत्यतः, ते शूलविद्धा कलुणं थणंति कलुणं नाम दीणं, थणंति नाम कंदंति, एक्कंतेनैव दुक्खं, दुहतित्ति अंतो बहिं च, जमकाइएहिं नेरइएहिं च, न तत्र समाश्वासो अस्ति, नित्यग्लाना इति, महाज्वराभिभूता इव निष्प्राणा निर्बला नित्यमेव च नारका दसविधं वेदणं वेदेंति, इदं चान्यत्–अमातं–दुक्खं धम्मं 'सदाजलं णाम णिहं महंतं'वृत्तं ॥३३७॥ सदा ज्वलतीति सदाज्वलं अधिकं तस्य (तत्र नि) हन्यत इति, ज्वरो उपानवस्थितं महदिति गंभीरं विस्तीर्णं च, यस्मिन्निति यत्र, विना काष्ठैरकाष्ठो, विक्रियकालभावा अग्नयः अघट्टिता पातालस्था अधःस्था, चिट्ठंति तत्था बहुक्रूरकम्मा नरकपालैः प्रक्षिप्ता, बहूनि क्रूराणि कम्माणि जेसिं ते बहुक्रूरकम्मा,

संजीवनादि

॥१७०॥

कूरं णाम निरनुक्कोसं हिंसादि कम्मं यत्कृत्वा, कृते च नानुतप्यते, अरहितः स्वरो येषां कूजतां उत्तारयति, अन्यैश्च बहुभिर्विलपैर्विलपंतो अरहितस्वराः, चिरं तिष्ठन्तीति चिरट्ठितीया, विविधेन सन्निरुद्धा वेदनार्दिताः ताहिं ताहिं चिरट्ठिति, किंच 'चिया महंतीउ समारभित्ता' वृत्तं ॥३३८॥ चीयंत इति चितकाः, महंतीओ नाम नारकशरीरप्रामाणाधिकमात्राः यत्र चानेकनारका मायन्ते, समारभंतित्ति तिविधेणवि डज्झंति, सव्व एव प्रक्षिप्ताः आवट्टंति तत्थ असाधुकम्मा, असाधूणि कम्माणि जेसिं पुर आसीत् ते असाधुकम्मा, सप्पंति–सर्पीयतां, यथा सर्पिः व्यूढः जोतिम्मि, णिद्धूमए खइरिंगालाणं खड्डाए भरिताए अग्गिवण्णे वा अयोकवल्लेणं चणंतीव, सर्पिग्रहणं तु इतरोऽपि सत्त्वो गृह्यते मत्स्यो वा, अयमपरो यातनाकल्पः 'सदा कसिणं पुण घम्मट्ठाणं' वृत्तं ॥३३९॥ सम्पूर्णदुःखस्वभावेन गाढैः कर्मभिस्तत्रोपनीताः, तद्वा तेषामुपनीतं अतिदुःखस्वभावं, हत्थेहिं पादेहि य विंधिऊणं चउरकप्पादं बद्धा सत्कुमिव निर्दयं हन्यते, वशीकृतः यथा न जीवतीति न वा सुम्रियते, मा भूद्वेदनां न प्राप्स्यतीति, समारभंतित्ति पिट्ठेंति, तं एवं हनंतो णिरयपाला 'भंजंति बालस्स वधेण पट्ठिं' वृत्तं ॥ ३४० ॥ लउडादिघातैर्यथा तैरन्यत्र भग्नानि पृष्ठानि एवं तेषामपि भंजंति अयोघणेहिं, अपि पदार्थादिषु, पट्ठिंपि भंजंति सीसंपि विंधंति अन्नावि अंगोवंगाणि संचुण्णितमोडितानि करेंति, ते भिण्णदेहा फलगावतट्ठी त एव भग्नाङ्गप्रत्यङ्गाः फलका इव उभयथा प्रकृष्टाः करकयमादीहिं तच्छिता मोग्गरेहिं पहता शीताभिरुष्णाभिर्वा वेदनाभिरभिभूतास्तप्ताभिर्दीर्घाभिराराभिर्विध्यन्ते, उत्तिष्ठोत्तिष्ठेति गच्छ गच्छेति, किंच– 'अभियुंजिया रोद्दअसाधुकम्मा' वृत्तं ॥३४१॥ अभियुंजिता तिविधेणवि रौद्रादीनि कम्माणि असाधूणि येषां ते रोद्दअसाधुकम्मा अभिसुंजते रौद्रैः, ते च रौद्राः पूर्वमभवन्, तत्रापि रौद्रा एव परस्परतो वेदनां उदीरयन्तः, हस्तितुल्यं वहन्तीति हस्ति-

सूत्रकृ-चूर्णिः ।१७२॥

वत्, हस्तितुल्यं भारं वहंतीत्यर्थः, हस्तिरूपं वा कृत्वा बाध्यन्ते, अश्वोष्ट्रखरादिरूपं वा, यैर्यथा वाहिताः। किंच 'एवं उरूहित्तु उवेतयो वा हस्त्यादिरूपं विकुर्वितं वा एवं वराकं अन्यो वा, गुरुत्वादवहतश्च गलिबलिवर्दानिव यातारो आरुह्य किं न वहसीति किं काणत्तो सित्ति कृकाटिकाए वेंधंति। किंच–बाला बला भूमि अणोक्कमंता, वृत्तं ॥ ३४२ ॥ बालाः इत्यजानकाः, बला इति न स्ववशा, बलादनुक्रम्यंते भूमिं पूयवसाशोणितप्रविज्वलं, लोहकंटकचितां, महंतीत्यनोरपारा०, न तत्रान्या भूमिर्विद्यते या एवंविधाया न स्यादिति। विचद्ध तप्पेहिं अन्ये पुनरगाढेषूदकेषु प्रगाहिताः पश्चाद्विपच्यन्ते त्रेपकेषु, त्रेप्यका नदीमुखेषु विदलकवंशफलीमया पिंडिगासंठिता कज्जंति, ताव ओसरंते उदगे ठविज्जंते हेट्ठाउत्ता, पच्छा मच्छगा जे तेहिं अक्कंता ते गलिते उदगे संयुजिता घेप्पंति, एवं तेऽपि बहवः त्रस्यंते, ततः निष्ठिते उदके सम्मीरिता नाम पिज्जं कुट्टित्वा कल्पनीभिः खण्डशो वलिं क्रियन्ते, अथवा कोट्टं णगरं वुच्चति, णगरबली विक्रियन्ते, किं चान्यद् ॥३४५॥ अन्तरिक्षः छिन्नमूल इत्यर्थः, आकाशस्फाटिकं वा न दृश्यते, अन्तकारत्वाद्वा न दृश्यते, किंच—आरुभणमार्गो न दृश्यते, हत्थपरिमोसक्काए एव, ततस्ते नारुभंति, आरुवहपथेण विलग्गाश्चेत्सर्वपर्वतः संहन्यते, अन्ये पुनः ब्रुवते–दृश्यत एवासौ, भूमिबद्ध एव चोपलक्ष्यते, न च संबद्धः, ततस्तेन संहतीभूतेन 'हंमंति तत्था बहुकूरकम्मा बहूनि क्रूराणि हिंसादीनि कर्माणि जेसिं, परं सहस्राणीत्यर्थः, मुहूर्त्तस्य हन्यन्ते पुनः पुनः संहन्यमानेऽनेन वियुज्यमाने च, ते एवं ते संहन्यमानाः 'संबाधिता दुक्कडिणो थणंति' वृत्तं ॥३४६॥ संबाधिता नाम स्पृष्टा, अहश्च रात्रौ च विरहो नास्ति वेदणाए, त्रिभिस्तप्यमानाः परितप्यमाना, एगंतकूडे णरए महंते, अथवा अदीणियं दुक्कडिणो थणंति अत्यर्थं दीनं २, आदीनं दुष्कृतानि येषां सन्तीति ते इमे० दुक्कडिणो, अरहितस्वरं चिरं तिष्ठंतीति, तत्थ य

हस्ति-वाहनादि

॥१७२॥

चिट्ठंति चिरं सदाविंता, किंच–एगंतकूडे णरए महंते एगंतकूडो णाम एकान्तविषमो, न तत्र काचित् समा भूमिर्विद्यते यत्र ते गच्छंतो न स्खलेयुरिति, न प्रपतेयुर्वा, महदिति क्षेत्रतः कालतश्च, खेत्ततो जहण्णेणं जंबूदीवप्पमाणमेत्तं उक्कोसेणं असंखिज्जाइं जोअणाइं, कालओ जहण्णेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाणि, तथावि तंमि निरयो कूडो तत्थ २ देसे २, सउत्तारेंता, णिग्गमपवेसेसु य अदृश्यानि कूटानि यत्र ते पाटयंते, मृगा इवासकृद्वध्यन्ते, तत इतरेण कप्पणिकुहाडिहत्थगता मृतानिवैतान् कल्पयन्ति, ये इह व्याघ्रादयो आसीरन्, विषमः स एव नरकः, यत्र वा तानि कूडानि, रयितापि उत्तारोणे(त्त)रे पथनिर्गमणपथे वाहेंता इति ता। किंच–'अणासिया णाम महासिलाया'वृत्तं ॥ ३४६ ॥ तान् हि कूडैर्वद्धान् बद्धान् न असितः अनसितः क्षुधित इत्यर्थः यथा इह क्षुधिताः शृगालाः किंचित्सिंहादिशेषं मृगादिरूपं भक्षयन्ति लक्कलक्काहिं एवं तेऽपि, महानिति अतिमहच्छरीरा, पगब्भिता इति प्रधृष्टा, रौद्ररूपा निर्भयं सदैभिर्भक्षयित्वा न तृप्ता भवन्ति, सदा वा अवकोपा, अनिवार्या अप्रतिषेध्या इत्यर्थः, कर्पापणो अकोप्य इत्यपदिश्यते, अथवा अकोप्यन्ते कुप्पितुं इत्युक्तं भवति, खायंति तत्था बहुकूरकम्मा बहुकूरकम्मा इत्युभयावधारणार्थं, ये च खादयन्ति ये च खाद्यंते, लोहसंकलाबद्धा खादंति केऽवि खैरा प्रधावंतोऽनुधावंतो, अनुधावितुं पाटयित्वा खादंति, महाघोषा छिच्छीकरंति, अण्णे सलक्खगं धारेंति। किंच–'सया जला' वृत्तं ॥३४७॥ सयज्जला णाम णदीऽभिदुग्गा सदा जलतीति सदाज्वला, अभिमुखं भृशं दुर्गा वा अभिदुर्गा, प्रविसृतजला पविजला, विस्तीर्णजला उत्तानजलेत्यर्थः, न तु यथा वैतरणी गंभीरजला वेगवती च, सा हि उत्तानजला, लोहविलीनसदृशोदका, लोहानि पंचकाललोहादीनि जंसी दुग्गं पवज्जमाणा अभिसुखं दुग्गा भृशं दुग्गा वा अभिदुग्गा, प्रपद्यमाना गच्छंत इत्यर्थः, एकतिका असहा इत्युक्तं, अल्पसहाया इत्यर्थः,

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥१७४॥

अनुक्रमंतीत्यनुक्रमणं । एतानि फासाणि फुसंति० वृत्तं ॥३४८॥ एतानीति यान्युद्दिष्टानि द्वयोरप्युद्देसकयोः, फुसंतीति फासाणि, एगगहणे गहणं, सद्दाणि विरूवरसगंधफासाणीति, स्पर्शग्रहणं तु ते त्रोटकाः दुःखतमाश्च निरन्तरमिति 'अच्छिणिमीलियमेत्तं णत्थि सुहं णिच्चमेव अनुबद्धं। णरए णेरइयाणं अहोणिसं पच्चमाणाणं ॥१॥' चिरट्ठितीति उक्ताः, ण हम्ममाणस्स तु अत्थि ताणं न तत्र हन्यमानस्य पिट्टमाणस्स वा किंचित् त्राणमस्ति, प्रत्युत भणंति–हण छिन्द भिन्द धत्ति मार तेपिथ पठवेहत्ति, एवं यां यां कारणां कश्चित्कारयति तां तामनुवृंहयंति बुभू(सुस्मू)र्षंति च, एगो सयं पच्चणुहोति दुक्खं एक एवासौ स्वयं अशुभकर्मफलमनुभवति, अनु पश्चाद्भावे, पूर्वं तन्निमित्तं तदन्येषु भवति पश्चादसावनंतगुणं तदनुभवति, तं पूर्वं कृतं प्रत्यनुभवति, 'जं जारिसं' वृत्तं ॥ ३४९ ॥ जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं जारिसाणि तिव्वमंदमज्झिमअज्झवसाएहिं जहण्णमज्झिमुक्किट्ठितीयाणि कम्माणि कयाणि तं तहा अणुभवंति, संपरागो णाम संसारः, संपरीत्यस्मिन्निति संपरायः, कर्मफलोदयेन वा नरगं संपरागिज्जतीति संपरागस्ततः कर्मावशेषात् तिर्यङ्मनुष्येष्वपि एगंतदुक्खं भवमज्जिणित्ता, कतरं भवं ?, णरगभवो, पच्छा सो वेदेति ?, गोयमा ! अणंतकालं प्रभूतं, तम्हा 'एतानि सोच्चा णरगाणि धीरो' वृत्तं ॥ ३५० ॥ एतानीति यान्युद्दिष्टानि, दधातीति धीरः श्रुत्वोपदेशात् तद्भयाच्च णो हिंसए कंचण सव्वलोए किंचिदिति सव्वं, हिंसका हि नरकं गच्छन्तीत्यतः, सव्वलोकेत्ति छज्जीवणिकायलोके णवएण भेदेण प्राणवधं न कुर्यात्, एगंतदिट्ठी अपरिग्गहे य, एकान्तदृष्टिरिति इदमेव णिग्गंथं पावयणं, अपरिग्गहेत्ति पंचमहव्वयग्रहणं तद्ग्रहणात् मध्यमान्यपि गृहीतानि, बुज्झेज्जत्ति अधिजेज्ज, अधीतं च सुणेज्ज, से न बुज्झेज्ज, 'लोभस्स वसं ण गच्छेज्जत्ति कसायणिग्गहो गहितो, सेसाणवि कोहादीणं वसं ण गच्छेज्ज, अट्ठारसवि पावट्ठाणाइं, एताइं

स्पर्शादि

॥१७४॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ६ अध्य० ॥१७५॥

सोचा णरगाइं धीरे दुक्खाइं मणुस्सेसुवि देवेसुवि 'एवं तिरिक्खेसुवि' वृत्तं ॥३५१॥ चतुरंते अणंतकालं तदणुव्वियगं कर्मणां स सव्वमेवं इह वेदइत्ता 'स' इति स साधुः जो पुव्वं वुत्तो वुज्झेज्ज तिउट्टेज्जत्ति, सर्वमिति यैः कर्मभिः नरके गम्यते संसारो वा याश्च तत्र वेदनाः, सावशेषकर्मोद्वर्त्तनया वा पुनरपि हिंसादिप्रसंगान्नरको वेदनाश्च, एवमिदं सव्वं वेदयित्वा ज्ञात्वेत्यर्थः, अथवा वेदयित्वेति क्षपयित्वा नरकप्रायोग्यं कर्म कंखेज्ज कालं धुवमायरेज्जत्ति वेमि, सर्वं कर्मक्षयकालं, यो वाऽयो पण्डितमरणकालः, धूयतेऽनेनेति, कर्मधुता चारित्रमित्युक्तं, आचार इति क्रियायोगं आचरन् आचरंते वेति कर्माचरणमिति। नरकविभक्त्यध्ययनं पंचमं समाप्तं ॥

इदाणीं महावीरत्थवोत्ति अज्झयणं, तस्स चत्तारि अणुयोगदाराणि, एगसरंति काउं अज्झयणत्थाहिगारो, उद्देसत्थाहिगारो णत्थि, अज्झयणत्थाहिगारो तु महावीरवद्धमाणगुणत्थयेणेति, णामणिप्फण्णे महावीरत्थयो, महा णिक्खिवितव्वो वीरो णिक्खिवियव्वो थवो निक्खिवियव्वो। 'पाहण्णे महसद्दो' गाथा ॥ ८३ ॥ महदिति प्राधान्ये बहुत्वे च, प्राधान्येनाधिकारो, तस्स नामादि छव्विहो णिक्खेवो, णामठवणाओ गयाओ, दव्वे वइरित्तो तिविहो—सचित्तादि ३, सचित्तो तिविहो, दुवदेसु तित्थगरचक्कियलदेववासुदेवा, चतुप्पदेसु सीहो हत्थिरयणं अस्सरयणं, अपदेसु परोक्खेसु रुक्खेसु णाता अदुक्कडसामली, प्रत्यक्षे इहैव ये वर्णगन्धरसस्पर्शैरुत्कृष्टाः, वर्णे तावत्पौण्डरीकं, वक्ष्यमाणमपि च, पुप्फेसु य अरविंदं वदंति त एव च गंधतो, गोशीर्षचन्दनानि च, रसतः पणसादि, स्पर्शतः बालः कुमुदपत्रशरीपकुसुमादि, अचेतणेसु वेरुलियादयो मणिप्रकाराः, वनस्पतिद्रव्याणि च अचेतनानि वर्णगन्धरसस्पर्शैरायोज्यानि, मीसगाणं संयोगेण भवति, अथवा अलंकितविभूसितो तित्थगरो, खेत्तओ सिद्धखेत्तं, धम्म-

तिर्यक्त्वादि महन्तिक्षेयश्च

॥१७५॥

अस्य पृष्ठे षष्ठं अध्ययनं आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥३५२-३८०॥

दीप अनुक्रम [३५२-३८०]

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१७६॥

चरणं वा प्रति महाविदेहं, स्वतन्त्रसौख्यं च प्रति मनुष्येषु देवकुर्वादौ भवति, काले सुसमादि, जहिं वा काले धम्मचरणं पवत्तति, भावमहं खाइगो भावः, औदयिकभावमपि तीर्थकरादिशरीराद्यौदयिकभावः, भावमहताऽधिकारः क्षायिकेनौदयिकेन च। वीरः वीर्यमस्यास्तीति वीर्यवान्, वीरस्स पुण णिक्खेवो चतुर्विधो, वतिरित्तो दव्ववीरो यद्यस्य द्रव्यस्य वीर्यं सचेतनस्याचेतनस्य वा, मिश्रस्य द्विपदस्य, यथा तीर्थकरस्यैव असद्भावस्थापनातः, स हि तिन्दुकमिव लोकं अलोके प्रक्षिपेत्, मन्दरं वा दंडं कृत्वा रत्नप्रभां पृथिवीं छत्रकवद्धारयेत्, चक्कवट्टिस्स-दो सोला बत्तीसा सव्वबलेणं तु संकलिणिबद्धं। अंछंति चक्कवट्टिं अगडतडंमि य ठितं संतं ॥१॥ घेत्तूण संकलं सो वामगहत्थेण अंछमाणाणं। भुंजेज्ज व लिंपेज्ज व चक्कहरं ते ण चाएन्ति ॥२॥ सोलस रायसहस्सा सव्वबलेणं तु संकलनिबद्धं। अंछंति वासुदेवं अगडतडंतिय ठितं संतं ॥३॥ घेत्तूण संकलं सो० गाथा ॥४॥ जं केसवस्स उ बलं तं दुगुणं होइ चक्कवट्टिस्स। तत्तो बला बलवगा अपरिमितबला जिणवरिंदा ॥५॥ संगमएणवि भगवतो कालचक्कं मुक्कं, तंपि भगवता शारीरवीरियेणं चेव सोढं, चउप्पदव्व वीरियं यथा सिंहसरभाणं, अपदाणं पसत्थं अपसत्थं च, अपसत्थं विसमादीणं, पसत्थं संजीवणिओसधिमादीणं, अचित्तं खीरदधिघृताहारविसादीण य, संजोइमं अगदादीणं, एवमादि जस्स वीरियं अत्थि स द्रव्यवीरो भवति, खेत्तवीरो यथा यत्र स एव वीरो अवतिट्ठति वर्ण्यते वा, यद्वा यस्य क्षेत्रमासाद्य वीर्यं भवति, एवं कालेवि तिण्णि पगारा, भाववीरस्तु क्षायिकवीर्यवान्, भाववीरः असौ, भावः क्षायिकः परीषहैरुपसर्गैर्वा शक्यते नान्यथा कर्तुं, अथवा दव्वादि चतुर्विधो वीरो, दव्वे वतिरित्तो एगभवियादि, खेत्तं जत्थ वण्णिज्जति तिट्ठति वा, काले यस्मिन् काले यच्चिरं वा कालं, भाववीरो दुविधो-आगमतो णोआगमतो य, आगमओ जाणए उवयुत्तो, णोआगमतो भाववीरो वीरणामगुत्ताइं कम्माइं वेदयंतो, तेण अहि-

वीरनिक्षेपः

॥१७६॥

प्रत सूत्रांक ॥३५२-३८०॥

दीप अनुक्रम [३५२-३८०]



यारो, स तु भगवानेव। अथो णामादिचतुर्विधो—आगंतुअभूसणेहिं केसालंकारादीहि, अथवा सचित्ताचित्तमीसो, सचित्ते पुष्पादि, अचित्ते हाराद्धहारादि, मिश्रो स्रग्दामादि, भावे सद्भूतकित्तणाए, भावेण अहियारो 'पुच्छिसु जंबुणामो अज्जसुधम्मो ततो कहेसीय। एव महप्पा वीरो जतमाहु तहा जतेज्जाह ॥ ८५॥ णामणिप्फण्णो गतो। सुत्ताणुगमे सुत्तमुच्चारेयव्वं जाव 'पुच्छिसु णं समणा माहणा य' वृत्तं ॥३५३॥ एतान्नरकान् श्रुत्वा भगवदार्यसुधर्मसकाशात्तद्दुःखोद्विग्नमानसाः कथमेतान्न गच्छेयाम इति ते पार्षदा भगवन्तमार्यसुधर्माणं 'पुच्छिसु णं समणा माहणा य' अनेनाभिसम्बन्धेन,पदच्छेदविग्रहसमासान् कृत्वा अयमर्थः—पुच्छिसु णंति—पृष्टवन्तः, पुच्छिसुत्ति वत्तव्वे नकारः पूरणे देसीभाषतो वा, समणा जंबुणामादयः, जेसिं भगवं ण दिट्ठो, दिट्ठो व ण पुच्छितो, न य ते गुणा यथार्थतः उपलब्धाः, माहणाः—श्रावकाः ब्राह्मणजातीया वा, अकारिणस्तु क्षत्रियविट्शूद्राः, परतीर्थकाश्चरकादयः, चग्गहणादेवाश्च, से के इमं णितियं (णेगंतहियं) (हितयं) धम्ममाहु स इति सः परोक्षनिर्देसे, कोऽसाविमं धर्ममाख्यातवान्, इममिति योऽयं भगवद्भिः कथितः यत्र च भगवान् अवस्थित इति, नितिकं—नित्यं सनातनमित्यर्थः, हितगं च पठ्यते, धारयतीति धर्मः, आहुरिति एके अनेकादेशात् आत्मनि गुरुषु बहुवचनं वन्धानुलोमाद्वा, अथवा किमेक आहुः?, एकारो यदि बहुत्वे भवति यथा के ते, एकत्वेऽपि यथा के सो,'अनेलिस'मिति खराक्षरं विपर्यस्य न एलिसं अनेलिसं, अतुल्यमित्यर्थः, धर्म इति वर्तते, साधु प्रशंसायां, सम्यक् ईक्षित्वा समीक्षि(क्ष्य)केवलज्ञानेन, परिसदाए दरिसति—सुखसमीक्ष्यदेशकः साधुसमीक्ष्यदेशकः उत(अंतजः)आत्मागमादेवेदं कथयसि?, आह—नन्वागमात्कथयामि, आप्तागमात्, आप्तो—भगवान् श्रीवर्द्धमानस्वामी तेन भाषितं अनुभाषयामि, ततस्ते जम्बुनामाद्याः श्रोतारः पुनरूचुः—परोक्षे नः स

भगवान्, तद्गुणांस्तावत्कथयस्व,'कथं च णाणं कथ दंसणं से'वृत्तं ॥३५३॥ कथं परिप्रश्ने, कथमसौ ज्ञातवान्, एवं दर्शनेऽपि कथं दर्शे(दृष्ट)वानिति, शीलमिति चरित्रमेतान् यथोद्दिष्टान् जाणासि णं भिक्खु जहा तहा णं हे भिक्षो! त्वया ह्यसौ दृष्टश्चाभाषितश्च इत्यतो यथा तद्गुणा बभूवुः तथा त्वं जानीषे, जानानस्तान् अहासुतं ब्रूहि जहा णिसंतं यथा निशान्तं च, निशान्तमित्यवधारितं, किंचित् श्रूयते न चोपधीयते इत्यतः अहासुतं ब्रूहि जहा णिसन्तं तद्यथा भवता निश्रुत्वा निशमितं तथाऽपदिश्यतां, इति भगवान् पृष्टः भव्यपुण्डरीकानामुत्सृज्य सन्मुखीभूतानां कथितवान्, स हि भगवान् 'खेत्तण्णे कुसले आसुपण्णे' वृत्तं ॥ ३५४ ॥ क्षेत्रं जानातीति क्षेत्रज्ञः, कुशलो द्रव्ये भावे, द्रव्ये कुशान् लुणातीति द्रव्यकुशलाः एवं भावेवि, भावकुशास्तु कर्म, अथवा कुत्सितं शलांति कुत्सिताद्वा शलांति कुशला, केवलज्ञानित्वात् आशुप्रज्ञो आसु एव जानीते, न चिन्तयित्वा इत्यर्थः, महेसी अनन्तज्ञानीति केवलज्ञानी अनन्तदर्शनीति केवलदर्शनी जसंसिणो चक्खुपहेट्ठितस्स यशः अस्यास्तीति यशस्वी सदेवमणुआसुरे लोगे जसो, पश्यतेऽनेनेति चक्खु सर्वस्यासौ जगतश्चक्षुःपथि स्थितः, चक्षुर्भूत इत्यर्थः, यथा तमसि वर्त्तमाना घटादयः प्रदीपेनाभिव्यक्ता दृश्यन्ते, न तु तदभावे, एवं भगवता प्रदर्शितानर्थान् भव्याः पश्यन्ति, यच्च असौ न स्यात्तेन जगतो जात्यन्धस्य सतो अन्धकारं स्यात्, तेनादित्यवदसौ जगतो भावचक्षुःपथे स्थितः, स्यादेतदुक्तमपि जानीहि जानस्व, किंच यो धर्मः धृतिः प्रेक्षा वा अचिन्त्यानीत्यर्थः, क्षायिको धितिवज्रकुड्यसमापेक्खा केवलणाणं, अथवा किंचित्सूत्रमतिक्रान्तं निकाचयतीतिकृत्वा ते पुव्वका भवंति, अजसुहम्मं भगवं तुमं तस्स जसंसिणो चक्खुपथेस्थितस्स जाणाहि धम्मं धितिं प्रेक्षां च, पथं जारिसो तस्स सव्वलोगचक्खुभूतस्स, उक्तं च "अभयदए मग्गदए" इत्यतः चक्षुर्भूतः, तस्स जारिसो धम्मो वा धिती वा पेहा

वा तं तुमं अवितहं जाणाहि, जाणमाणो कहेहेत्ति णं वाक्यशेषः, स च कथयत्येवं 'उड्ढे अहे वा तिरियं दिसासु' वृत्तं ॥३५५॥ येषामूर्ध्वलोके स्थानं यतः प्रभृति वोर्ध्वो भवति एवमधः तिर्यगिति चतस्रो दिशस्तासु, दीवसमुद्दा इति अस्मिन् त्रिलोकेऽपि ये स्थावराः त्रिप्रकारैर्ये च त्रसास्त्रिप्रकारा एव, से णिच्चणिच्चे य समिक्खपण्णे स इति भगवान्, नित्यानित्य इति भावा अपि हि केनचित् प्रकारेण नित्याः केनचिदनित्याः, कथमिति चेत् द्रव्यतो नित्या भावतोऽनित्याः, द्रव्यं प्रति नित्यानित्याः, एवमन्यान्यपि द्रव्याणि यथा नित्यान्यनित्यानि च तथा सम्यक् ईक्ष्य प्रज्ञया, तथा आहेति वक्ष्यमाणान्, दीवसमो दीवभूतः, दीवो दुविधो–आसासदीवो पगासदीवो य, उभयथापि जगतः आसासदीवो ताणं सरणं गतिप्रकाशकरो आदित्यः सव्वत्थ सम्मं पगासयति चण्डालादिसुवि, एवं भगवान् दीवेण समो, समियाएत्ति सम्यक्, ण पूयासक्कारगारवहेतुं, 'जहा पुण्णस्स कत्थति तहा तुच्छस्स कत्थति, 'से सव्वदंसी अभिभूयणाणी' वृत्तं ॥३५६॥ सव्वं पासतीति सव्वदंसी, केवलदर्शनीत्युक्तं भवति, चत्तारि ज्ञानानि त्रीणि दर्शनानि भास्कर इव सर्वतेजांस्यभिभूय केवलदर्शनेन जगत्प्रकाशयति ज्ञानीति, एवं केवलज्ञानेनापि अभिभूय इति वर्त्तते, उभाभ्यामपि कृत्स्नं लोकालोकमवभासते, अथवा लौकिकानि अज्ञानान्यभिभूय केवलज्ञानदर्शनाभ्यां खद्योतकानिवादित्यः एकः प्रकाशते 'णिरागमगंधे धितिमं ठितप्पा' निरामोऽसौ निर्गन्धश्च, आम इति उद्गमकोटिः, धृतिरस्यास्तीति संयमे धृतिः, संयम एव यस्य स्थित आत्मा, धर्म्मे वा सोधितव्याः 'अणुत्तरं सव्वजगंसि विज्जं' नास्योत्तरं सर्वलोके यः कश्चिद्विद्यानित्यतः सर्वलोकं स विद्वान् विज्जं, न मायाविद्वान्, ग्रन्थादतीतेति गंथातीते, दव्वगंथो सचित्तादि भावे कोहादि, द्विधा अप्यतीतः निर्ग्रन्थ इत्यर्थः, अथवा ग्रन्थनं ग्रन्थः स्वाध्याय इत्यर्थः तमतीतः, कोऽर्थः ? नासौ श्रुतज्ञानेन जानीत

इत्यर्थः, अभय इति अभयं करोत्यन्येषां न च स्वयं बिभेति, अनायुरिति नोऽस्यागमिष्यं जन्म विद्यते आगमिष्यायुष्कबंधो वा, 'से भूतिपण्णे अणिएतचारी' वृत्तं ॥ ३५७ ॥ भूतिर्हि वृद्धौ मङ्गले रक्षायां च भवति, वृद्धौ तावत्प्रबृद्धप्रज्ञः अनन्तज्ञानवानित्यर्थः, रक्षायां रक्षाभूतस्य सर्वसत्त्वानां वा, मङ्गलेऽपि सर्वमंगलोत्तमोत्तमाऽस्य प्रज्ञा, अनियतं चरतीति अनियतचारी, ओघो द्रव्योघः समुद्रो भावौघः संसारः तं तरतीति ओघंतरः, धिया राजतीति धीरः, अणंतचक्षुरिति अणंतं केवलदर्शनं तदस्य चक्षुर्भूतः, अणुत्तरं तपइति सूर एव, न हि सूर्यादन्यः कश्चित्प्रकाशाधिकः, एवं भट्टारकादपि नान्यः कश्चिद् ज्ञानाधिकः, णाणेण चेव ओभासति तपति भासेति, अथवा सेसं च कर्म्म तपति, आदित्य इव सरांसि तपति औषधयो वा, वैरोयणेंदो वा रूवदित्तो विविधं रुचतीति वैरुचनः अग्निः, स हि सर्वदीप्तिमतां द्रव्याणामिन्द्रभूत इत्यतो वेरोचनेंद्रः, स यथा आज्याभिक्तः सन् तमः प्रकाशयति एवं भगवानप्यज्ञानतमांसि प्रकाशयति। 'अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं' वृत्तं ॥३५८॥ नास्योत्तरा अन्ये कुधर्मा इत्यनुत्तरं, जिनानामिति अन्येषामपि जिनानां अयमेव धर्मः अतीतानामागमिष्यतां च एष भगवतां धर्मः, अयमेव भगवान्नयतीति नेता, कोऽर्थः ?, जहा ते भगवन्तो नीतवन्तः तथा अयमपि नयति, काश्यपगोत्रः काश्यपमुनिः, केवलज्ञानित्वात् आसुप्रज्ञः आसुरेव प्रजानीते, न चिन्तयित्वेत्यर्थः, इंदेव देवाण महानुभागे इंदेण तुल्यं इंदवत्, अनुभवनमनुभावः, सौरूयं वीर्यं माहात्म्यं चानुभावाः, सहस्रमस्य नेत्राणां सहस्रनेत्ता, अनेकानां वा सहस्राणां नेता नायक इत्यर्थः, दिवि भवा दिविनः सर्वेभ्यो दिविभ्यः स्थानरिद्धिस्थितिद्युतिकान्त्यादिभिर्विशिष्यते इति विशिष्टः, किमुतान्येभ्यः ?, किंच–'से पण्णसा(या)अक्खयसागरे वा' वृत्तं ॥३५९॥ ज्ञायतेऽनेनेति प्रज्ञा ज्ञानसंपत्, न तस्य ज्ञातव्येऽत्यर्थे तुष्टिः परिक्षीयते प्रतिहन्यते वा सादी अपज्जवसितो कालतो,

दव्वखेत्तभावेहिं अणंते, दृष्टांतः स्वयम्भुरमणसागरः, एकदेशेन हि औपम्यं क्रियते, यथाऽसौ विस्तीर्णगंभीरजलो अक्षोभ्य एव-मस्यानन्तगुणा प्रज्ञा विशाला गंभीरा अक्षोभ्या च अणाइले से अकसाए य भिक्खू परीषहोपसर्गोदयेऽप्यनातुरः, अकसाय इति क्षीणकषाय एव, न उपशान्तकषायः, निरुत्साहवत्, इह कश्चित् सत्यपि बले निरुद्यमत्वात् उपचारेण निरुत्साहो भवति, अन्यस्तु क्षीणविक्रमत्वान्निरुत्साहः, एवमसौ क्षीणकषायत्वान्निरुत्साहः, सत्यप्यसौ क्षीणान्तरायिकत्वे सर्वलोकपूज्यत्वे च भिक्षा-मात्रोपजीवित्वाद्भिक्षुरेव, नाक्षीणमहानसिकादिसर्वलब्धिसम्पन्नोऽपि सन् तामुपजीवतीत्यतो भिक्षुः, सक्केव देवाधिपती जुती-मंति द्युतिमानित्यर्थः, स हि तुल्यः स्थित्यापि सामानिकत्रायस्त्रिंशकेभ्यः इन्द्रनामगोत्रस्य कर्मण उदयात् स्थानविशेषाद्वाऽधिकं दृश्यते 'से वीरिएणं पडिपुन्नवीरिए'वृत्तं ॥३६०॥ वीरं औरस्यं धृतिः ज्ञानं वीर्यः, क्षायोपशमिकानि हि वीर्याणि अप्रतिपूर्णानि, क्षायिकत्वादनन्तत्वाच्च प्रतिपूर्ण, सुदंसणे वा णगसव्वसिट्ठे शोभनमस्य दर्शनमिति सुदर्शनो-मेरुः सुदर्शन इत्यपदिश्यते, यथा असौ सुदर्शनः सर्वपर्वतेभ्यो विशिष्यते तथा भगवानपि वीर्येण सर्ववीर्येभ्यो विशिष्यते, इदानीं सर्व एव सुदर्शनो वर्ण्यते, सुरालए वावि मुदाकरेसु सुराणां आलयः, मुद हर्षे, सुरालयः-स्वर्गः स यथा शब्दादिविषयसुखः एवमसावपि स्वर्गतुल्यः शब्दादिभिर्विषयैरुपपेतः, देवा अपि हि देवलोकं मुक्त्वा तत्र क्रीडंति, न हि तत्र किंचिच्छब्दादिविषयज्ञानं यदिन्द्रियवतां न मुदं कुर्यात् इति, विविधं राजते अनेकैर्वर्णगन्धरसस्पर्शप्रभाकान्तिद्युतिप्रमाणादिभिर्गुणैरुपपेतः सर्वरक्त(मुदा)करः, तस्य हि प्रभा-वेण गाथा भवति-'सुंदरजणसंसग्गी सीलदरिद्दंपि कुणइ सीलड्ढं । जह मेरुगिरिविवूढं तणंपि कणयत्तणमुवेति ॥१॥'तस्य तु प्रमाणं 'सतं सहस्साण तु जोअणाणं'वृत्तं ॥३६१॥ त्रिः काण्डान्यस्य संतीति त्रिकंडी, तंजहा-भोमे वज्जे कंडे जंबूणए कंडे वेरुलिए

कंडे, पंडगविजयन्ते पंडगवणेण शिखरेण चान्यपर्वतान् वनानि च विजयत इति पण्डकविजयंतः, से जोयणे णवणउतिं सहस्से ऊर्ध्वं उत्सृत्वा उड्ढसिते, पठ्यते च–उड्ढं थिरे, तिष्ठतीति स्थिरः, शाश्वतत्वं गृह्यते निश्चलत्वं च, अधे सहस्सावगाढो, 'पुट्ठेण ते भे चिट्ठति' वृत्तं ॥३६२॥ भूमीए ट्ठिए उड्ढलोगं च फुसति अहोलोगं च, एवं तिण्णिवि लोगे फुसति, जं सूरिया अणुपरियट्टयंति, से हेमवण्णे हेममिति जं प्रधानं सुवर्णं निष्टप्तजंबूनंदीरुचि इत्युक्तं भवति, बहून्यत्राभिनन्दनजनकानि शब्दादिविषयजातानि बहूनां वा सत्त्वानां नन्दिजनकः, महान्तो इन्द्रा महेन्द्राः–शक्रेशानाद्याः, ते हि स्वविमानानि मुक्त्वा तत्र रमन्ते 'से पव्वते सद्दमहप्पगासे' वृत्तं ॥३६३॥ मन्दरो मेरुः पर्वतराजेत्यादिभिः शब्दैः प्रकाशः–सर्वलोकप्रतीतिः सुरालयः तस्स सद्दा सव्वलोए परिभमंति विरायते कंचणमट्ठवण्णे मट्ठेति 'अट्ठे सण्हे लण्हे जाव पडिरूवे' णो णाफरुसफासो विसमो वा इत्यर्थः, अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे सर्वपर्वतेभ्योऽनुत्तरः, दुःखं गम्यत इति दुर्गः–अनतिशयवद्भिर्न शक्यते तं आरोढुं 'गिरीवरे से जलिते व भोम्मे' से जहा णामए खइलिंगाराणं रत्तिं पज्जलिताणं अथवा जहा पासओ पज्जलितो केवि पव्वते वा उड्ढरत्ते 'महीय मज्झम्मि ठिते णगिंदे' वृत्तं ॥३६४॥ रयणप्पभाए महीए मज्झे ठिते, प्रज्ञायते नाम ज्ञायते सर्वलोकेन, अधसूरीयलेस्सभूतेत्ति ज्ञायते, अचिरुग्गयहेमंति सूरियालेस्सभूतो, यदिवा मध्याह्नकालस्य भूतोऽभविष्यत् देवदुरासओऽभविष्यत्, एवं सिरीए उ स भूतिपण्णे कायाश्रितया पर्वतश्रिया, भूतिवर्ण इत्यर्थः, मणोरमे मणंसि, अत्र मनश्चित्त रमत इति मणोरमे भवति अचीसहस्समालिणी एस दस दिसो द्योतयति, एस दिट्ठंतो 'सुदंसणस्सेस जसो गिरिस्स' वृत्तं ॥३६५॥ यशः प्रतीतः, सर्वलोकप्रकाशः भृशं उच्यते पवुच्चते, महोंतस्स महन्तः एतोवमे समणे णायपुत्तो जात्याः सर्वजा-

तिभ्यः यशसा सर्वयशस्विभ्यः दर्शनेन सर्वपर्वतेभ्यो मन्दरः श्रेष्ठः अवशेषाणां जाइवन्तं प्रति 'गिरीवरे वा निसढायताणं' वृत्तं ॥३६६॥ न कश्चित्तस्मादाययततमो वर्षधरोऽन्यः, इह चान्येषु वा द्वीपेषु, वेलायायताणं उरूगपव्वतो स हि, स अस्सासदीवस्स बहुमज्झदेसभागे माणुसुत्तर इव वट्टे वलयागारसंठिते असंखेज्जाइं जोयणाइं परिक्खेवेणं, ततोवमे से जगभूतिपण्णे ताभ्यां निषधरुचकाभ्यां औपम्यं क्रियते ततोवमे, स इति स भगवान्, जायत इति जगत्, भूता प्रज्ञा यस्य जगत्यसावेको भूतप्रज्ञः, नान्ये कुतीर्थाः, आवेदयन्ति तेनेत्यावेदः यावद्वेद्यं तावद्वेदयतीत्यावेदः श्रुतज्ञानमित्यर्थः, तं उदाहु मुणीण आवेदं उदाहु, पण्णे प्रगतो ज्ञः प्रज्ञः 'अणुत्तरं धर्ममुदीरइत्ता'वृत्तं ॥३६७॥ नास्योत्तरा ये अन्ये कुधर्माः उदीरयित्वा–कथयित्वा प्रकाशयित्वा अणुत्तरं ज्ञानवरं झियाति उत्पन्नज्ञानो हि भगवान् द्वे ध्याने ध्यायितवान्, यावत्सयोगी तावत्सुहुमकिरियं अणियट्टिं, रुद्धयोगी तु स समुच्छिन्नकिरियं अप्पडिवादि, तत्र वर्णतः एवं प्रकारं सुसुक्कसुक्कं अप्पगंडसुक्कं सुट्ठु सुक्कं सुसुक्कं, यथा किं सुक्कं स्यात्?, यथा अप्पगंडं, अप्पं गंडं अप्पगंडं उदकफेनवदित्यर्थः, शरन्नदीप्रपातोत्थं, अप्पेव, संखेन्दु एकांतेन अवदातसुक्कं संखेंदुव एगंतावदातसुक्कं, अवदातं अतिपण्डुरं स्निग्धं वा निर्मलं च, पठ्यते च 'संखेंदुवेगंतावदातसुक्कं' इव औपम्ये, संखेंदुव एगंतऽवदातसुक्कं तदेव ध्यानं, एवंविधं झाणवरं झियातिता,'अणुत्तरग्गं परमं महेसी'वृत्तं ॥३६८॥ णाणेण सीलेण य दंसणेणं अणुत्तरं च तत् अग्गं च अणुत्तरग्गं–सर्वसुखानामग्र्यभूतं सर्वस्थानानां वा अणुत्तरं, अग्रे च लोकाग्रे, महॉश्चासौ ऋषिश्च महऋषिश्च, तत् केन गतः?, शीलेन णाणेण य दंसणेणं, अथवा अणुत्तरं अग्गाणं–परमसुखानां सिद्धिमिति, असेसं णिरवसेसं कम्मं स इति भगवान्, अथवा अट्ठविहं कम्मं खवगसेढीए, विसोधइत्ता णाम खवइत्ता, सिद्धिं गतिं साइयणंत पत्तो



॥१८३॥

सेधनं सिद्धिः सिद्धेर्गतिः सिद्धिगतिः अतस्तं, सादि अणंतपत्ते-सादि अपज्जवसितं प्राप्तः, केण? णाणेण शीलेन य दंसणेणं चशब्दात् शीलं दुविहं तवो संजमो य, णाणदंसणे णिब्भेदे। 'रुक्खेहि णाता महकूडसामली' वृत्तं ॥ ३६९॥ ज्ञायत इति सर्ववृक्षेभ्योऽधिको लोकेनापि ज्ञातं, अहवा णातं आहरणंति य एगट्ठं, सर्ववृक्षाणां असौ दृष्टान्तभूतः, अहो अयं शोभनो वृक्षः ज्ञायते सुदर्शना जंबू कूडसामली वेति, कूडभूताऽसौ शाल्मली च, यस्यां रतिं वेदयन्तीति, शोभनानि वर्णानि एषां सुवर्णानां, वर्णमिति पिच्छस्याख्या, एवं ताव लोकसिद्धा, अस्माकं तु शोभनवर्णा सुवर्णा, तत्थ वेणुदेवो वेणुदाली पवसंति, तयोर्हि तत् क्रीडास्थानं, 'वाणेसु या णन्दणमाहु सिद्धं(द्धं)'नन्दंति तत्रेति नन्दनं, सर्ववनानां हि नंदनं विशिष्यते प्रमाणतः पत्रोपगाढमुपभोगतश्च, तथा भगवानपि शीलेनानुत्तरज्ञानेन तु भूतिप्रज्ञः 'थणितं च वासाण अणुत्तरे उ' वृत्तं ॥३७०॥ थणंतीति थणिताः, प्रावृट्काले हि सजलानां घनानां स्निग्धं गर्जितं भवति, अभिनवशरद्घनानां च, उक्तं च-'सारतघणथणितगंभीरघोसि' चंदे व ताराण महाणुभागे' कंठयं, चंदणं तु गोसीसचंदणं मलयोद्भवं, सेट्ठो मुणीणं अप्पडिण्णमाहु श्रेष्ठो मुनीनां तु अप्रतिज्ञः नास्येह लोकं परलोकं वा प्रति प्रतिज्ञा विद्यत इति अप्रतिज्ञः 'जहा सयंभू उदधीण सेट्ठे'वृत्तं ॥३७१॥ उदधिः न तस्मादन्योऽधिकः णागेसु वा धरणमाहुः न तेषां किंचिज्जलं थलं वा अगम्यमिति नाम, 'खातोदए रसतो वेजयंते' खातोदगं णाम उच्छुरसो, दगरसमुद्रस्य, अथवा इक्षुरसो मधुर एव, सव्वे रसे माधुर्येण विजयत इति वेजयन्तः, तथेति तेन प्रकारेण, उपदधातीत्युपधानं, तपोपधानेन हि भगवान् सर्वतवोवधानतो, विजयन्त इत्यतः वेजयन्तः, तपःसंयमोपधानं जं कुणति मुनिरिति भगवानेव विजयन्तो जयन्त इत्यर्थः। 'हत्थीसु एरावणमाहु णाए' वृत्तं ॥३७२॥ सर्वहस्तिभ्यो हि एरावणः प्रज्ञायतेऽधिकः तेन चान्येषामुपमानं

क्रियते, सिंहस्तु मृगेभ्योऽधिको ज्ञायते, सलिलाभ्यो गंगा, सलिलवद्भ्यः सलिला, गाढं गता गच्छंति वा गंगा, पक्खीसु आ गुरुले वेणुदेवे लोकरूढोऽयं शब्दः, विनताया अपत्यं वैनतेयः, णिवाणवादीणिह णातपुत्ते श्रेष्ठ इति वर्त्तते, 'जोधेसु णाते जह वीससेणे' वृत्तं ॥३७३॥ युध्यत इति योधः विश्वा–अनेकप्रकारा सेना यस्य स भवति विश्वसेनः, हस्त्यश्वरहपदात्याकुला विस्तीर्णा, स तु चक्रवर्त्ति, अहवा विश्वक्सेनः वासुदेवः, पुष्पेसु वा अरविंदमिति पद्मं सहस्रपत्रं सतसहस्रपत्रं वा, तद्धि वर्णगन्धादिभिः पुष्पगुणैरुपेतं न तथाऽन्यानि, खत्तीण सेट्ठो क्षतात् त्रायत इति क्षत्रियः दम्यते यस्य वाक्येन शत्रवः स भवति दान्तवाक्यः, अनृतपिशुनपारुषकल्पादिभिः वाक्यदोषः संयुज्यते, उक्तं हि–'मितमुंजलपलावहसित जाव सचवयणा' इसीण सिट्ठे तध वद्धमाणे। दाणाण सेट्ठं अभयप्पदाणं' वृत्तं ॥ ३७४ ॥ दीयत इति दानं, 'जो देज्ज मरंतस्सा धणकोडिं०' गाथा, रायावि मरणभीतो० गाथा, अत्र वध्यचोरदृष्टान्तः, जहा कोई राया चउहिं पत्तीहिं परिवतो पासादावलोअणे णगरभवलोवयंतो अच्छति, एगो य चोरो रत्तं एगसाडगं पडिहितो रत्तचंदणाणुलित्तगत्तो रत्तकण्णवीरकण्ठेगुणो वज्झंतवज्झपडहे बहुजणपरिकरितो अवउडबंधेण बद्धो रायपुरिसेहिं पिउवणं जओ णिज्जति, ततो ताहिं राया भणिओ–को एसत्ति ?, रायणा भणियं–एस चोरो, वहणाय णीणिज्जति, तत्थेगा भणति–महराय ! तुब्भेहिं मम पुव्वं वरो दत्तो तं देह, रण्णा आमंति पडिस्सुतं, ततो ताए सो चोरो चतुर्विधेणावि ण्हाणादिअलंकारेण अलंकितो, वितियाए सव्वकामगुणभोयणं भोयावितो,ततियाए स बहुधणादिणा भरितो, भणितो य–जस्स ते रोयति तस्स देहित्ति, चउत्था तूसिणीता अच्छति, राइणा भणिता–तुमंपि वरं वरेहि, जं एतस्स दादव्वंति, सा भणति–णत्थि मे विभवो, जेण सि पियं करेहामित्ति, राइणा भणिता–णणु ते सव्वं रज्जं अहं च आयत्तोत्ति, तं जं ते रोयति तमेव



॥१८५॥

तस्स देहित्ति, ताए अभयो तस्स दत्तो, पितिपितुणामं सादेतुं तासिं चउण्हवि कलहो जातो, एक्केक्का भणति–एस चेव पुच्छिज्जतु, ततो सो पुच्छितो भणति–ण याणामि केणवि मे किंचि दत्तं, मुक्को यथा मे अभयो दत्तः, इत्यतो दाणाण सेट्ठं अभयप्पदाणमिति 'सच्चेसु आ अणवज्जं वदंति' अनवद्यमिति यद्यन्येषामनुपरोधकृतं, सावद्यं हिंसेत्यपि, गरहितं, कौशिकरिषिवत्, लोगेऽवि पयरती सुती–जह किर सचेण कोसिओत्ति रिसी णिरए णिरभिगमो पडितो वधसंपयुत्तेणं, अण्णं च 'तहेव काणं काणेत्ति, पंडगं पंडगत्ति वा। वाहियं वा विरोगित्ति, तेणं चोरोत्ति णो वए ॥१॥' इत्यादि, सत्यमपि गर्हितं, किमेवंविधेण सत्येनापि यत्परेषां परितापनं 'तवेसु आ उत्तम बंभचेरं' येन तपो निष्टप्तो, देहस्यापि मोहनीयं भवति, तेन सर्वतपसां उत्तमं ब्रह्मचर्यं, अन्ये त्वेवं सम्प्रतिपद्यंते—एकरात्रोपितस्यापि, या गतिर्ब्रह्मचारिणः०' तथा सर्वलोकोत्तमो भगवान् 'ठितीण सिद्धा लवसत्तमा वा' वृत्तं ॥३७५॥ जे हि उक्कोसिए ठितीए वट्टंति अणुत्तरोपपातिका ते लवसत्तमा इत्यपदिश्यन्ते, जइ णं तेसिं देवाणं एवतियं कालं आउए पहुप्पंतो ता केवलं पाविऊण सिज्झंता, पंचण्हंपि सभाणं सभा सुधम्मा विसिट्ठा, सा हि नित्यकालमेवोपभुज्जते, तत्थ माणवगमहिंदज्झयपहरणकोसचोपालगा, न तथा इतरासु नित्यकालोपभोगः, 'णिव्वाणसिट्ठा जह सव्वधम्मा' निव्वाणश्रेष्ठा हि सर्वे धर्माः, निर्वाणफला निर्वाणप्रयोजना इत्यर्थः, कुप्रावचनिका अपि हि निर्वाणमेव कांक्षंते इति, ण णातपुत्ता परमत्थि णाणी जहा वा एते सर्वे लोका श्रेष्ठा अणुत्तराः एवं ज्ञातपुत्रान्न परोऽस्ति कश्चित् ज्ञानी, स एव सर्वज्ञानिभ्योऽधिकः, स एव भगवान् सर्वलोकेऽपि भूत्वा 'पुढोवमे धुणतीति विगयगेधी' वृत्तं ॥३७६॥ जहा पुढवी सव्वफाससहा तहा सोऽवि धुणीति अष्टप्रकारं कर्मेति वाक्यशेषः, बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु विगता यस्य गृद्धी स भवति विगतगृद्धी, सन्निधानं सन्निधिः द्रव्ये

आहारादीनां भावे क्रोधादीनां, कर्म वा सन्निधिः, यत्साम्परायिकं बध्नातीत्यर्थः, **तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं** यथा तीर्त्वा समुद्रं कश्चिन्निर्भयो भवति एवं स भगवान् कर्मसमुद्रमिति, अभयं करोतीति अभयङ्करः, केषां ?, सत्त्वानां, विराजयति विदालयतीति वा वीरः, अणंतचक्खुरिति अनन्तदर्शनवान्, 'कोहं च माणं च तहेव मायं' वृत्तं ॥३७७॥ आध्यात्मिका ह्येते दोषाः, बाह्या गृहादयः, एतानि वन्ता अरहा महेसी एते जे उद्दिट्ठा, वन्ता णाम उज्झित्वा क्षपयित्वेत्यर्थः, अर्हतीत्यर्हा, महांश्चासौ रिषिः, न स्वयं पापं हिंसादि संपरायिकं वा करोति कारयति इति। किंच 'किरियाकिरियं वेणइयाणुवातं' वृत्तं ॥३७८॥ एतेषां वादिनामुपरिष्टात्कांश्चिद्विशेषान् वक्ष्यामः, दुवालसंगं गणिपिडगं वादो सेसाणि तिण्णि तिसिट्ठाणि अणुवादो, थोवं वा अणुवादो, से सव्ववादं इति वेदइत्ता स इति स भगवान्, सर्वे वादाः सर्ववादा, इहास्मिँल्लोके, वेदयित्वा ज्ञात्वेत्यर्थः, उवट्ठिते सम्मस(संजम)दीहरायं उपस्थितो मोक्षाय सम्यगुपस्थितः, न तु यथाऽन्ये, उक्तं हि–'यथा परे सं(पां)कथिका विदग्धाः, शास्त्राणि कृत्वा लघुतामुपेताः। शिष्यैरनुज्ञामलिनोपचारैर्वक्तृत्वदोषास्त्वयि ते न संति ॥ १ ॥' दीहरातं णाम जावज्जीवाए, 'से वारिया इत्थि सराइभत्तं' वृत्तं ॥३७९॥ वारिया णाम वारयित्वा, प्रतिषेध्यते च, इत्थिग्रहणे तु मैथुनं गृह्यते, सराइभत्तेति वारयित्वेति वर्त्तते, एतच्चात्मनि वारयित्वा, न ह्यस्थितः स्थापयतीतिकृत्वा, पश्चात् शिक्षां धारितवान्, अट्ठितो ण ठावते परं, उपधानवानिति न केवलं निरुद्धाश्रवः, पूर्वकर्मक्षयार्थं तपोपधानवानप्यसौ अतः, स्यात्–किं निमित्तं तवोवधानवानासीत् ?, उच्यते–दुक्खक्खयत्थं, लोगं विदित्ता अपरं परं च अपरो लोको मनुष्यलोकः, परस्तु नरकतिर्यग्देवलोको, यत्स्वभावावेतौ लोकौ यैश्च कर्मभिः प्राप्येते इति, सव्वं पभू वारिय प्रभवतीति प्रभुः, वशयित्वेत्यर्थः, अथवा सव्वं पाणाइवादादीनि दव्वओ, प्रभुः

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ७ अध्य० ॥१८८॥

ज्ञेयं प्रति, प्रधानत्वाच्च वारितवान् शिष्यान् हिंसानृतस्तेयपरिगृहेभ्य इति, मैथुनरात्रिभक्ते तु पूर्वोक्ते, सर्वसादक्रत्यात् आत्मानं शिष्यांश्च वारितवानिति, सर्ववारी सर्ववारणशील इत्यर्थः, इदानीं सुधर्मा तीर्थकरगुणान् कथयित्वा श्रोतृनाह—**सोचा धम्मं अरहंतभासियं'** वृत्तं ॥३८०॥ श्रुत्वेति निशम्य, इमं धंममिति योऽयं कथितः अर्थतो वा भाषितः गणधराणामित्यर्थः, सम्यक् आहित समाहितः सम्यगाख्यात इत्यर्थः, अर्थवन्ति पदानि, अथवाऽर्थैश्च पदैश्च उपेत्यशुद्धं, तं सद्दहंता य तमिति योऽयमुपदिष्टः श्रुत्वा श्रद्धानपूर्वकमादाय, आदाय नाम गृहीत्वा च, जना नाम बहवो जनाः अनायुषः संवृत्ता इति वाक्यशेषः, सिज्झन्तीत्यर्थः, जे तु ण सिज्झंति ते इंदा भवंति देवाधिपतयः, आगमिष्येनेति आगमिस्सेण भवेण सुकुलुप्पत्तीए सिज्झिस्संति॥ **महावीरस्तवाध्ययनं षष्ठं समाप्तम्॥**

इदानीं कुशीलपरिभासितंति जत्थ कुसीला सुसीला य परिभासिज्जंति, कुसीला गिहत्था अण्णउत्थिया य पासत्थादिणो य, तेषां कुत्सितानि शीलानि अनुमतकारितादीणि परिभासिज्जंति जहा य संसारं परिभमंति, तस्स इमानि चत्तारि अनुयोगद्दाराणि, पुव्वाणुपुव्वीए सत्तमं, अत्थाहिगारो सीलाणं कुसीलाणं च सब्भावं जाणित्ता कुत्सिता कुत्सितसीलाइं असीलाइं च वज्जेयव्वाइं, जे य तेसु वट्टंति ते वज्जेतव्वा, णामणिप्फण्णे सीलंति एगपदं णामंति, तत्थ गाथा **'शीले चउक्क दव्वे पाउरणाभरणभोयणादीसु भावे तु ओघसीलं अभिक्ख आसेवणा चेव ॥७४॥** सीलं णामादि चउव्विहं, णामंठवणाओ गयाओ, दव्वे वतिरित्तं, दव्वसीलो यथा प्रावरणसीलो देवदत्तः, प्रलंबप्रावरणशीलो वा, तथा नित्यभूषणशीला नित्यं मण्डनशीला ते भार्या, अपिच चोद्यते शीलवती वा, तथा नित्यभोजनसीलोऽसि तथा मृष्टभोजनशीलो न चोपार्जनशीलोऽसि, यो वा यस्य द्रव्यस्य

शील-निक्षेपाः

॥१८८॥

अस्य पृष्ठे सप्तमं अध्ययनं आरभ्यते

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१८९॥

स्वभावः तद्द्रव्यं च तच्छीलं भवति, यथा मदनशीला मदिरा, मेध्यं घृतं सुकुमारं वेत्यादि, भावशीलं दुविधं तं०—ओहशीलं अभिक्खासेवणसीलं च, तत्थ 'ओहे सीलं' गाथा ॥८७॥ ओहो णाम अविसेसो जहा सव्वसावज्जजोगविरतो विरताविरतोवि, एवं ता पसत्थं ओहसीलं, अप्पसत्थओहसीलं तु तद्विधर्म्मिणी अविरतिः सर्वसावद्यप्रवृत्तिरिति, अथवा भावसीलं दुविहं—पसत्थं अपसत्थं च, एक्केकं दुविहं—ओहसीलं अभिक्खासेवणसीलं च, प्रशस्तौघशीलो धर्मशीलो, अभिक्खासेवणाए णाणशीलो तवशीलो, णाणे पंचविधे सज्झाए उवयुक्तो, अभिक्खणं २ गहणवत्तणाए अप्पाणं भावेति एस णाणसीलो, तवेसु आतावणअणसणाअणहिकरणसीलो, एवं दुविधो वित्थरेणं, जोएतव्वमिति, अप्पसत्थ भावओ ओहसीलो पावसीलो उड्डसीलो एवमादि, अप्पसत्थे अभिक्खआसेवणाभावसीलो कोहसीलो एवं जाव लोभसीलो चोरणसीलो पियणसीलो पिसुणसीलो परावतावणसीलो कलहसीलो इत्यादि, अथ कस्मात् कुसीलपरिभाषितमित्यपदिश्यते ?, उच्यते, जेण एत्थ **'परिभासिता कुसीला'** गाथा ॥ ८९ ॥ येनेह सपक्खे परपक्खे य कुसीला परिभासिता, सपक्खे पासत्थादि परपक्खे अण्णउत्थिया **जावंति अविरता केयित्ति**, सव्वे गिहत्था असीला एव, **सुत्ति पसंसा** सुरिति प्रशंसायां निपात इति यः शुद्धशील इत्यपदिश्यते, दुः कुत्सायां अशुद्धशील इत्यपदिश्यते, कथं कुसीला ? **'अप्फासुयपडिसेवी य'** ॥८९॥ जे अफासुयं कयकारियं अणुमतं वा भुंजंति ते यद्यपि ऊर्ध्वपादा अधोमुखं धूमं पिबंति मासान्तश्च भुंजते तहावि कुसीला एव, जे अफासुगाइं आहारोवधिमादीणि पडिसेवंति असंयता असंयमत्ता अणगारवादिणो पुढविहिंसगा णिग्गुणा अगारिसमा, णिद्दोसत्ति य मइला, साधुपदोसेण मइलतरा, फासुं वदंति सीलं, जे संजमाणुवरोधेण अफासुयं परिहरंता ते फासुभोअणसीला इत्यपदिश्यते, जे पुण ते अफासुयगभोई असीला कुसीला य ते इमे **जह णाम गोत-**

शीलनि

॥१८९

सूत्रकृ-तचूर्णिः १९०॥

मारादेवता' गाथा ॥९०॥ गोतमा णाम पासंडिणो मसगराजातीया, ते हि गोणं णाणाविधेहिं उवाएहिं दमिऊण गोतपोतगेण सह गिहे गिहे धण्णं ओहारेंता हिंडंति, गोवतिगावि धीयारप्राया एव, ते च गोणा णत्थितेल्लगा रंभायमाणा गिहे गिहे सु(गो)धेहिं गहितेहिं धण्णं उहारेमाणा विहरंति, अवरे चंडदेवगा चरकप्राया, वारिभद्रगा प्रायेण जलसक्कारहत्थपादपक्खालरता ण्हायंता य आयमंता य संक्कांतिसु तिहिसु य य जलणिबुड्डा अच्छंति परिव्वायगादि, अण्णे अग्गिहोमवादी तावसा धीयारा, धीयारा अग्गिहोत्तेण सग्गं इच्छंति, जलसोयं केइ इच्छंति, भागवता दगसोयरियादि तिण्णि तिसट्ठा पावादिगसता, जे य सलिंगपडिवण्णा कुसीला अफासुयगपडिसेवी। गतो णामणिप्फण्णो णिक्खेवो, सुत्ताणुगमे सुत्तमुच्चारेयव्वं जाव 'पंचहा विद्धि लक्खणं'ति, इदं सूत्रं 'पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ तणरुक्खबीया य तसा य पाणा'॥३८१॥ तणरुक्खबीयत्ति वणस्सइकायभेदो गहितो, एक्केको दुविधो, अबीजाद् बीजाद्वा प्रसूतिः, पच्छाणुपुव्वी वा गहिया, जहा वणस्सतिकाइयाणं भेदा तहा पुढविमादीणवि भेदो भाणियव्वो, तंजहा-'पुढवी सक्करा वालुगा य०'एवं सेसाणवि भेदा भाणियव्वा, तसकाइयाणं तु इमो भेदो सुत्ताभिहित एव, तं०-जे अंडया जे य जरायु पोता अंडेभ्यो जाता अण्डजाः-पक्ष्यादयः, जरायुजा णाम जरावेढिया जायंते गोमहिष्याजाविकामनुष्यादयः, संखेदजाः गोकरीषादिषु कृमिमक्षिकादयो जायन्ते जलूगामंकुणलिक्खादयो य, रसजा दधिसोवीरकमजा(तक्रा)दिषु, रसजा इत्यभिधानत्वं जेसिं रसजा इत्यभिधानं वा, 'एताइं कायाइं पवेइताइं'वृत्तं ॥३८२॥ एतानि यान्युद्दिष्टानि कायविधानानि, प्रवेदितानीति प्रदर्शितानि अर्हत्प्रभृतीनां, 'एतेसु जाण' एतेत्ति ये उक्ताः, जानन्तीति जानकाः प्रत्युपेक्ष्य सातं सुखमित्यर्थः, कथं ? पडिलेहेति, जध मम न पियं दुक्खं सुहं चेट्ठं एवमेषां पडिलेहित्ता दुःखमेषां न कार्यं णवरण भेदेण, जे पुण एतेसु काएसु य

जीवभेदाः

॥१९०॥

प्रत सूत्रांक ||३८१-४१०||

दीप अनुक्रम [३८१-४१०]

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१९१॥

आतदण्डे कुशीलः अशीलो वा एषां कायानां आताओ दंडेइ, अथवा स एवात्मानं दंडयति य एषां दंडे णिसरति स आत्मदंडः, एतेष्वेव पुनः विप्परियासुविन्ति विपर्यासो नाम जन्ममरणे, संसारो विपर्यासो भवति, अथवा सुखार्थी तानारभ्य तानेवानुप्रविश्य तानि तानि दुःखान्यवाप्नोति सुखविपर्यासभूतं दुःखमवाप्नोति, विपरीतो भावो विपर्यासः, धर्मार्थी तानारभमाणः संसारमाप्नोति, एवं सो अविरतो लोगो अव्रतलोकः कुशीललोकात् मनुष्यलोकात् प्रच्युतः तानेव कायान् प्राप्य 'जाईचहं अणुपरियट्टमाणे' वृत्तं ॥३८३॥ जातिश्च वधश्च जातिवधौ–जन्ममरणे इत्युक्तं भवति, समन्ताद्वर्त्तते अनुपरिवर्त्तते, ते पुण छवि काया समासओ दुविहा भवंति, तंजहा–तसा थावरा य, थावहा तिविहा–पुढवी आऊ वणस्सई, तसा तिविहा–तेउ वाऊ ओराला य तसा, तेसु तसत्थावरेसु विणिग्घातमिति अधिको णियतो वा घातः निघातः विविधो वा घातः शरीरमानसदुःखोदयो अट्ठपगारकम्मफलविवागो वा 'से जातिं जातिं परियट्टमाणे से इति स कुसीललोकः जाति जातीति वीप्सार्थः, तासु तासु जातिसुत्ति तसथावरजातिसु अणिसं निरंतरं कूराणि हिंसादीणि कम्माणि बहून्यस्य क्रूरकर्मेति बहु आरंभो विविधभंगा यद्यदकरोत्तेन कर्मणा मीयते, मी हिंसायां वा, मार्यत इत्यर्थः, म्रियंत इत्यर्थः, मज्जते वा निमज्जत इत्यर्थः, भावमन्दस्तु कुशीललोको गहितो गिही पासंडी वा यत्पापं करोति तत्किमिह वेद्यते?, अनेकान्तः, 'अस्सिं च लोगे अदुवा परत्थ' वृत्तं ॥३८४॥ कथं?, इहलोगे दुच्चिण्णा कम्मा०, इहलोगो असुभफलविवागो, इहलोए दुच्चिण्णा कम्मा परलोए असुभफलविवागा, परलोके दुच्चिण्णा कम्मा परलोए असुभफलविवागा, कथं?, उच्यते–केनचित् कस्यचित् इहलोगे शिरश्छिन्नं तस्यापत्येन छिन्नं एवं इहलोगे, कथं इहलोगे न फलति?, णरगाइसु उव्वण्णस्स, परलोए कतं इहलोगे फलति, जहा दुहविवागेसु मियापुत्तस्स, परलोए फलति, दीहकालट्ठितीयं कम्मं

विपर्यासादि

॥१९१॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१९२॥

अण्णम्मि भवे उदिज्जति, अथवा इहलोक इव चारकबन्धः अनेकैर्यातनाविशेषैः तद्वेदयति, तदन्यथा वेदितं कस्यचित्परलोके, तेन वा प्रकारेण अन्येन वा प्रकारेण विपाको भवति, तथा विपाकस्तथैवास्य शिरश्छिद्यते तत् पुनरनन्तशः सहस्रशो वा, अथवा असकृत्तथा सकृदन्यथा, अथवा शतशश्छिद्यते अन्यथेति सहस्से वा, अथवा शिरश्छिन्वानः शिरश्छेदमवाप्नोति हस्तच्छिदं वा अन्यतराङ्गछेदं वा प्राप्नोति, सारीरमाणसेण वा दुक्खेण वेद्यते, एवं यादृशं दुःखमात्र परस्योत्पादयति तत्र मात्रतः शतशो मात्राधिगं तं प्राप्नोति अन्यथा वा, त एवं कुशीला **संसारमावण्णा** परंपरेण संसारसागरगता इत्यर्थः, **परंपरेणेति** परभवे, ततश्च परतरभवे, एवं जाव अणंतेसु भवेसु बध्नंति वेदेंति य दुण्णिताइं दुष्ठु नीतानि दुर्निंतानि कुत्सितानि वा नीतानि कर्माणीत्यर्थः, एवं ताव ओघतः उक्ताः कुशीला गृहिणश्चेति, इदानीं पाषंडलोककुशीलाः परामृश्यन्ते, तद्यथा–**'जे मातरं च पितरं च हेच्चा'** वृत्तं ॥ ३८५ ॥ 'जे' इति अणिद्दिट्ठणिद्देसो, एते हि करुणानि कुर्वाणा दुस्त्यजा इत्येतद्ग्रहणं, शेषा हि भ्रातृभार्यापुत्रादयः सम्बन्धात् पश्चाद्भवन्ति न भवंति वा इत्यतो मातापितृग्रहणं, चग्रहणात् भ्रातृभगिनी जाव सयणसंगंथसंथवो थावरजंगमं रज्जं च जाव दाणं दाइयाणं परिभाएत्ता, तेसु च जं ममत्तं तं हेच्चा, हेच्चा नाम हित्वा, श्रमणव्रतिनः श्रमण इति वा वदंति अग्निं चारभंते, नत्वेकस्यान्यतमेन अन्यतमाभ्यां अन्यतमैर्वा, अथाह स लोगो अणन्यधर्म्मे, अथ प्रश्नानन्तर्यादिषु, आहेति उक्तवान्, स इति भगवान्, लोकः कथं समारभंते पंचाग्नितापादिभिः प्रकारैः पाकनिमित्तं च **'भूयाइं'** वृत्तं, **भूताइं जे हिंसति आतसाते** भूतानीति अग्निभूतानि चान्यानि अग्निना वध्यंते, आत्मसातनिमित्तं आत्मसातं तद्यथा तपनवितापनप्रकाशहेतुं **उज्जालिया पाणइवातयंति** णिव्वाविय अगणि निपातएज्जा उज्जालयन्तस्ते पृथिव्यादीन् प्राणान् त्रिपातयन्ति, त्रिभ्यः मनोवाक्कायेभ्यः पातयन्ति त्रिपात-

इह परलोकवेदनं

॥१९२॥

यन्ति, आयुर्बलेन्द्रियप्राणेभ्यो वा पातयंति तिपातयंति, उक्तं च–तणकट्ठगोमयस्सिता०, णिव्वावियंति वा अगणिमेव निपातयंति, उक्तं हि–"दो भंते ! पुरिसा अण्णमण्णेण सद्धिं अगणिकायं समारभंति तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेति एगे पुरिसे अगणिकायं णिव्ववेइ, तेसि णं भंते! पुरिसाणं कयरे २ पुरिसे महाकम्मतरए पण्णत्ते ?, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं णिव्ववेइ से पुरिसे अप्पकम्मतराए, से केणट्ठेणं ?, (भंते! एवं वुच्चइ) गोयमा ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ से णं पुरिसे बहुतरागं पुढविकायं वायु आउ० वणस्सइकायं तसकायं० अप्पतरागं अगणिकायं समारभति, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं णिव्ववेति से णं पुरिसे अप्पतरागं पुढविकायं समारभति जाव अप्पतरागं तसकायं समारभति बहुतरागं अगणिकायं समारभति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति", अपि चोक्तं–भूताणमेस आघातो, हव्ववाहो ण संसयो" यस्माच्चैवं 'तम्हा उ' वृत्तं तम्हा उ मेधावी समिक्ख धम्मं ण पंडिए अगणि समारभेज्जा, कंठयं, तु विसेसणे, अहिंसाधम्मं समीक्ष्य, समारंभो हि तपनिपातनप्रकाशहेतुर्वा स्यात्, कतरान् जीवानाघातयंति ?, अस्यारम्भप्रवृत्ताः कुसीला उच्यन्ते, 'पुढवीवि जीवा आऊवि जीवा' ॥ ३८७ ॥ अपि पदार्थसंभावने, पुढवी जीवसंज्ञिता, ये च तदाश्रिताः वनस्पतित्रसादयः, एवमाऊवि तदाश्रिताः प्राणाश्च, संपतन्तीति सम्पातिनः–शलभवाय्वादयः, कट्ठस्स संस्सिता य, संस्वेदजाः, करीपादिष्विन्धनेषु धुणपिपीलीकाण्डादयः, एते दहे अगणि समारभंता एवं तावदग्निहोत्राद्यारंभा तापसाद्याः अपदिष्टाः, एके निवृत्ताश्च शाक्यादयः, इदानीं ते चान्ये च वणस्सइसमारंभान्विताः परामृश्यन्ते, 'हरितानि भूतानि विलंबगाणि' वृत्तं ॥३८८॥ हरितग्रहणात् सर्व एव वनस्पतिकाया गृह्यन्ते, नीला हरिताभा आर्द्रा इत्यर्थः, हरितादयो वा वनस्पतयः, भूतानि जंगमाणि, विलंबयंतीति विलम्बकानि भूतस्वभावं भूताकृतिं

दर्शयन्तीत्यर्थः, तद्यथा–मनुष्ये निषेककललार्बुदपेशिन्यहगर्भप्रसवबालकौमारयौवनमध्यमस्थावियन्तो मनुष्यो भवति, एवं हरितान्यपि शाल्यादीनि, जातानि–अभिनवानि सस्यानीत्यपदिश्यन्ते, संजातरसाणि यौवनवंति, परिपक्वानि–जीर्णानि, परिशुष्कानि मृतानीति, तथा वृक्षः अङ्कुरावस्थो जात इत्यपदिश्यते, ततश्च मूलस्कन्धशाखादिभिर्विशेषैः परिवर्द्धमानः पोतक इत्यपदिश्यते, ततो युवा मध्यमो जीर्णो मृतश्चान्ते, स इति एवंभूतं विलंवितं कुर्वंति, कारणेन कार्यवदुपचारात् आहारमया हि देहा देहिनां, अन्नं वै प्राणा, आहाराभावे हि वृक्षा हीयन्ते म्लायंते शुष्यंते च मंदफला हीनफलाश्च भवंति, पुढो सिताणि पृथक् २ श्रितानि, न तु य एव मूले त एव स्कन्धे, केषांचिदेकजीवो वृक्षः तद्वधुदासार्थं पुढोसिताइं, तान्येवं–संखेज्जजीवितानि असंखिज्जजीवितानि अणंतजीवितानि वा, जो छिंदति आतसातं पडुच्च, आत्मपरोभयसुहदुःखहेतुं वा आहारसयणासणादिउवभोगत्थं, प्रागल्भ्राज्ञो नाम निरनुक्रोशमतिः, उपकरणद्रव्याण्येतानि, बहुणंति एगमपि छिंदन् बहून् जीवान्निपातयति, एगपुढवीए अणेगा जीवा, किंच—'जाइं च वुड्ढिं च विणासयंते' वृत्तं ॥ ३८९ ॥ जातिरिति बीजं, तं मुशलोदुखलास्पन्दि(स्यादि)भिर्विनाशयन्ति यत्रकैश्च, जातिविनाशे हि अंकुरादिविवृद्धिर्हता एव, जात्यभावे कुतो वृद्धिः?, अथवा जातीपि विनासेति बीजं, सुट्ठु विणासेइ अंकुरादि, बीजादीति बीजांकुरादिक्रमो दर्शितः, पच्छाणुपुव्वी च दशविधाणं, स एवं असंयतः आत्मानं दण्डयति परं वा अधाहु से लोए अणज्जधम्मे अथेत्यानन्तर्ये आहुस्तीर्थकराः, स इति स पाखण्डी, अनार्यो धर्मो यस्य स भवति अणज्जधम्मो, जहावादी तहाकारी न भवति, जो हि बीजादि हिंसति आत्मसातनिमित्तं, इत्येवं तान् प्राप्तवयसो वा वृक्षादीन् हत्वा ते कुशीलाः मानुष्यात् प्रच्युताः प्राप्य 'गब्भायि मिज्जंति पुव्वच्छ(वुया वु)याणा'वृत्तं ॥३९०॥ गर्भानिति वक्तव्ये गर्भादि इति यदपदिश्यते

तद्गर्भाद्यवस्थानिमित्तं, तद्यथा–निषेककललार्बुदपेशित० स हि मासं गर्भाद्यवस्थानिमित्तं, तस्यामन्यतमस्यां कश्चित् म्रियते, अथवा मासिकादि, गर्भावस्थासु नवमासान्ते तेनान्यतरस्यां म्रियते, गतगर्भा विगर्भा, ते तु ब्रुवाणाश्च, ग्रन्थानुलोम्यात् पूर्वं(पूत् )कुर्वाणाः, इतरथाऽनुपूर्वं वा ण ब्रुवाणा इतियावत्, न मातापित्रादि व्यक्तया गिराऽभिधत्ते, ततः परं ब्रुवाणा, पंचशिखो नाम पंचसूडः कुमारः, अथवा पंचेन्द्रियाणि शिखाभूतानि बुद्धिसमर्थानि स्वे स्वे विषये तस्मात् पञ्चशिखो, तस्मिन्नपि कदाचित् म्रियते, युवाणगा मज्झिमा थेरगा य कंठचं चयंति सातितो भवतो वा, यः पश्चात्प्रलीयते, यैर्यथाऽऽयुर्निर्वर्तितं यैश्च यथा जीवोपघातादिभिरल्पान्यायूंषि निर्वर्तितानि सोपक्रमाणि निरुपक्रमाणि च, भणितं च–'तीहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताए कम्मं पकरेंति' एवं पंचेंदियतिरिएसुवि, गब्भादि मिज्जंति उ अवुयाणा, व्याधिभिरागंतुकैर्वेदनाप्रकारैर्म्रियन्ते, एगिंदिएसुवि तहाणुरूवं भाणितव्वं,'बुज्झाहि जंतो इह माणवेसु' वृत्तं ॥ ३९१ ॥ किं बोद्धव्यं ?, न हि कुशीलपाखंडलोकः त्राणाय, धम्मं च बुज्झह, तं च बोधिं बुज्झा जहा–माणुस्सखेत्तजाती कुलरूवारोग्गपाउअं बुद्धी । समणोगह सद्धा दरिसणं च लोगम्मि दुलभाइं ॥ १ ॥ जंतोरिति हे जन्तो, इहेति इह माणवेहिं दट्ठा भयानि इतश्च तस्य जातिजरामरणादीनि नरकादिदुःखानि च, तेण दट्ठुं भयं बालिएणं अलं भे बालभावो हि बालकं कुशीलत्वमित्यर्थः, नयते कुशीलं अग्रतः, एगंतदुक्खे जरिए उ लोगेत्ति णिच्छणयं संपडुच्च एगंतदुक्खो संसारः, तंजहा–'जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य । अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ किस्संति जंतवो ॥ १ ॥' तहा तण्हाति, तत्तपाणं करोति तस्स जरितेत्ति 'आलित्ते णं भंते ! लोए जराए मरणेण य' अथवा जेण सयं संतत्तं जरितमिव जगं कलहं गलेति, ज्वरित इव ज्वलितः, सारीरमाणसे हि दुःखादी, मणुस्से हि कषायैश्च नित्यप्रज्वलितवान्, ज्वरितः सकम्मुणा

विप्परियासुवेंतित्ति स्वकृतेन कर्मणा, नेश्वरादिकृतेन, विप्परियासेण गरादिनानाविधैः प्रकारैर्विपरीतमायाति, तदपि चोक्तं, उक्तः कुशीलविपाकः, पुनरपि कुशीलदर्शनान्येवाभिधीयंते, 'इहेग मूढा पवदंति मोक्खं'वृत्तं ॥ ३९२ ॥ इहेति पाखण्डिलोके मनुष्यलोकेऽपि, एके न सर्वे मूढा–अयाणगा स्वयं मूढाः परैश्च मोहिताः भृशं वदन्ति, आहियते आहारयति च तमित्याहारः, वृद्ध्यायुर्बलादिविशेषान् आनयति–आहारयतीत्याहारः, आहारसंपज्जणेण रसाद्याहारसंपदं जनयन्तीति आहारसंपज्जणं च तल्लवणं, अथवा आहारेणं समं पंचगं, आहारेण हि सह पंच लवणाणि, तंजहा–सैंधवं सोवचलं विडं रोमं समुद्र इति, लवणं हि सर्वरसान् दीपयति, उक्तं हि–'लवणविहूणा य रसा, चक्खुविहूणा य इंदियग्गामा ।' तथा चोक्तं–'लवणं रसानां तैलं स्नेहानां घृतं मेध्यानां'मित्यादि, केइ अट्ठुप्प लोणं ण परिहरंति, केचित्तदपि, अथवा आहारपंचगं, तद्यथा–'मज्जं लसुणं पललं खीरं करभं तधेव गोमंसं', वारिभद्दगा तु एगे य सीतोदगसेवणेण स्नानपानहस्तपादधावनेन सीतोदगसेवणं, तत्र च निवासः, सीतमिति अधिगतजीवं, अंगुट्ठामितप्तं वा, परिव्राट्भागवतादयोऽपि शीतोदकं सेवंति, हुतेण एगे तापसादयो हि इष्टैः समिद्घृताभिर्हव्यैः, हुताशनं तर्पयन्तो मोक्षमिच्छन्ति, तत्र कुंथ्वादीन् सत्त्वान्न गणयन्ति ये तत्र दह्यन्ते, मोक्षो ह्यविशिष्टः सर्वविमोक्षो वा दरिद्रादिदुःखविमोक्षो वा, ये कुलस्वर्गादिफलमनाशंस्य जुह्वति ते मोक्षाय, शेषास्तु अभ्युदयाय, तेषामुत्तरं 'पायोसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो' वृत्तं ॥३९३॥ प्रात इति प्रत्युषः, आदिग्रहणात् हस्तपादप्रक्षालनजलशयनानि, येन तदुदकं सचित्तं तदस्मिन् ये बहवे पाणा हम्मंति, किंच–'स्नानं मददर्पकरं, कामांगं प्रथमं स्मृतम्' खारो णाम अट्ठुप्पं तदादीन्यन्यानि पंच लवणाणि तेषामनशनेन मोक्षो भवति, ते मज्जं मंसं लवणं च भोच्चा ते इति कुसीला, मांसमिति गोमांसं, चग्रहणात् पल्यंडुं कारभं एतान्यभोच्चा कुशीलाः ॥१९६॥

सूत्रकृ-चूर्णिः १९७॥

कथमिहान्यत्रवासं परिकल्पयन्ति मूर्खाः, अन्यत्रवासो नाम मोक्षवासः, अथवा अन्यत्रवासो नाम यत्रेच्छति यदीप्सितं वा न तत्र वासं परिकल्पयन्ति, अत्रैव संसारे चेव, परिकल्पयंति नाम कुर्वन्ति, विशेषोत्तरं 'उदएण जे सिद्धिमुदाहरंति' वृत्तं ॥३९४॥ सायंति रात्रौ, पायंति पच्चूसे, सेसं कंठयं। किंच–यदुदकेन सिद्धिः स्यात् तेन 'मच्छा य कुम्मा य सिरीसिवा य' वृत्तं ॥ ३९५ ॥ मच्छा एव कुम्मा–कच्छभा, सीरीसवत्ति इह सिरीसिवा मगरा सुंसुमारा य, चतुष्पादत्वात् सिरीसृपा, मंगूणाम कामजगा, उट्टा णाम मज्जारपमाणा महानदीपु दश्यन्ते, उम्मज्जणिमज्जियं करेमाणा, दगरक्खसा मनुष्याकृतयो नदीपु समुद्रेषु च भवंति, एवमादयोऽन्येऽपि च जलचराः मत्स्यबन्धादयश्च यद्यद्धिर्मोक्षः स्यात्तेन सर्वे मोक्षमवाप्नुवन्तु, न चेदाप्नुवंति ण, अट्ठाणमेयं कुसला वदंति अस्थानमिति अनायतनं अनादेशः अभ्युदयनिःश्रेयसयोः कुशलास्तीर्थकरास्त एवं वदंति अस्थानमेतत् यदुदकेन शुद्धिर्भवति, 'उदकं जति कम्ममलं हरेज' वृत्तं ॥३९६॥ एवं पुण्यंपि, चन्दनकर्दमलिप्तं वा, नोचेत् ततस्ते इच्छामात्रमिदं, त एवं वराका जात्यन्धतुल्याः अंधं व णेतारमणुस्सरंता अन्धेन तुल्यं अन्धवत् यथा जात्यन्धो जात्यन्धं णेतारमणुस्सरंतो, अणुस्सरंतो णाम अणुगच्छंतो, उन्मार्गं प्राप्य विषमप्रपातादिकण्टकव्यालाग्निउपद्रवानासादयति क्लेशमिच्छन्ति न चेष्टां भूमिमवाप्नोति, एवं ते कुसीला अहिंसादिगुणजात्यन्धा इच्छंतोऽपि मोक्षार्थं अहिंसादीन् गुणानप्राप्नुवन्तः, स्वयं प्राणिनो विहेडयंति 'हेडृ विबाधने' बाधन्त इत्यर्थः, ये चान्ये जीवा अनाप्यास्तानाश्रयन्ति तेऽपि तथैव प्राणिनो विहेडयित्वा अनिष्टानि स्थानानि अवाप्नुवंति, किंच–'पावाइं कम्माइं पकुवतो हि' वृत्तं ॥ ३९७ ॥ कंठयं 'हुतेण जे मोक्खमुदाहरंति' वृत्तं ॥३९८॥ ये मोक्खं उदाहरंति नाम भासंति, सायं च पायं च अग्गिं फुसंति सायं रात्रौ, पायं प्रत्युषि, अग्निं स्पृशन्ति

कुशीलाः ॥१९७॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१९८॥

इति यथेष्टैर्हव्यैस्तत्पर्यंतैः, यदि तेषामेव सिद्धिर्भवति एवं सिया सिद्धि हवेज्ज कतरेषां ! अगणिं फुसन्ताण कुकम्मिणंपि कुकर्मणो मृक्ष्यटकारा कूटकारा वणदाहा वल्लरदाहकः, उक्तानि पृथकुशीलदर्शनाणि, एषां तु सर्वेषामेव अयं सामान्योपालम्भः- अपरिक्ख दिट्ठं ण हु एव सिद्धि, एहिन्ति ते घातमबुज्झमाणा। अपरिच्छेति अपरीक्ष्य, दृष्टिरिति दर्शनं, अपरीक्षित-दर्शनानामित्यर्थः, नैवं सिद्धिर्भवतीति वाक्यशेषः, किंतु एहिंति ते घातमबुज्झमाणाः, अपरिच्छेति अपरीक्ष्य, दृष्टिरिति दर्शनी, तैस्तैर्दुःखविशेषैर्घातयतीति घातः संसारः, धम्ममबुज्झमाणाः, तत्प्रतिपक्षभूताः सम्यग्दृष्टयः, ते तु भूतेहिं जाणं पडिलेह सातं भूतानि एकेन्द्रियादीनि, जानीत इति जानकः स जानको अत्तोवम्मेण भूते सातं पडिलेहेति 'जह मम ण पियं दुक्खं, जाणिय एवमेव सव्वसत्ताणं' एवं मत्वा यदात्मनो न प्रियं तद्भूतानां न करोति, एवं संमं पडिलेहणा भवति, विज्जं नाम विद्वान्, गहायत्ति एवं गृहीत्वा अत्तोवमेण इच्छितं सातासातं एवं गृहीत्वा नवकेन भेदेन तसथावराण पीडं, अथवा विज्जं, विज्जा णाम ज्ञानं तं गहाय, जाए तसथावरा णज्जंति, उक्तं च-'पढमं णाणं तओ दया, एवं चिट्ठति सव्वसंजए। अण्णाणी किं काहिति?, किं वा णाहिति छेयपावगं? ॥१॥' ये पुनः हिंसादिषु प्रवर्त्तन्ते अशीलाः कुशीलाश्च ते संसारे थणंति लुप्पंति वुत्तं ॥ ४०० ॥ णरगादिगतीसु सारीरमाणसेहिं दुःखेहिं पीड्यमाना स्तनन्ति, लुप्यन्त इति छिद्यन्ते, हन्यन्ते च, तसन्तीति नानाविधेभ्यो दुःखेभ्य उद्विजंते, कर्मण्येषां संतीति कर्मिणः, यतश्चैवं तेण पुढो जगाइं पुढो नाम पृथक् अथवा पृथु विस्तारो, सव्वजगाइं पुढो पडिसंखाएत्ति परिसंख्याय परिगण्येत्यर्थः 'भिक्षु'रिति सुसीलभिक्षुः तम्हा विदू विरते आतगुत्ते तस्मादिति यस्मान्निःशीलाः कुशीलाश्च संसारे परिवर्त्तमाना स्तनन्ति लुप्पंति त्रसंति च तम्हा विदुः विरतिं कुर्यात् पंचप्रकारां अहिंसादी, आतगुत्तो णाम आत्मसु

आत्मारंभाः

॥१९८॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥१९९॥

गुप्तः स्वयं वा गुप्तः कायवाङ्मनस्वात्मोपचारं कृत्वा अपदिश्यते आतगुत्तेति, दट्ठुं तसे य पडिसाहरेज्जा चशब्दात् स्थावरेऽपि, पडिसाहरेज्जत्ति इरियासमिति गहिता, अतिकम्मे संकुचए पसारए, इदानीं स्वलिंगकुशीला परामृश्यंते, तद्यथा–'जे धम्मलद्धं च णिधाय भुंजे' वृत्तं ॥ ४०१ ॥ जेत्ति अणिद्दिट्ठणिद्देसे; लद्धं, नान्येषामुपरोधं कृत्वा लब्धमित्यर्थः, बेतालीसदोसपरिसुद्धं, वा विभाषाविकल्पादिषु, असुद्धं वा लद्धं असणादि निधायेति सन्निधिं कृत्वा,, तं पुण अभत्तत्थं, दुचरित्तं भत्तसेसं वा अब्भत्तट्ठो वा मे अज्ज, एवमादीहिं कारणेहिं सन्निधिं काउं भुंजति, विगतेण य साहट्टुं विगतमिति विगतजीवं तेनापि च साहट्टुरिति साहरिग, फासुगे देसे जंतुवज्जिते संहृत्य यः स्नाति–प्रयत्नेनापि देशस्नानं वा सर्वस्नानं वा करोति, किं पुण अहिकडेण ?, जो धावती लूसयतीव वत्थं धावयति विभूसावडियाए, लूसयति णाम जो छिंदति, छिंदित्तु वा पुणो संधेति वा, पठ्यते च–लीस-एज्जावि वत्थं लीसए नाम सेवते, अथवा सुइठाणाइं कारेति, अप्पणो वा परस्स वा तमेव कुथाणं, भट्टारगो भणति–अधाट्ठ से णाअणियस्स दूरे नग्गभावो हि णागणिगं ततो दूरे वर्त्तते, निर्ग्रन्थत्वस्येत्युक्तं भवति, उक्ताः पासत्थकुसीला। इदाणिं सुसीला, 'कम्मं परिण्णाय दगंसि धीरे' वृत्तं ॥४०२॥ ण्हाणपियणादिसु कज्जेसु तिविधेन तु उदगसमारंभे य कम्मबंधो भवति तमेवं ज्ञात्वा संसारभीतो दुविधपरिण्णाए परिजाणेज्ज धीरो–जानको, यथा वा यैः प्रकारैः कर्म बध्यते तान् कर्मबन्धाश्रवान् छिंदित्वा न कुर्यादिति, एवं ज्ञात्वा वियडेण जे जीवति आतिमोक्खं विगतजीवं वियडं—तंदुलोदगादि यच्चान्यदपि भोजनजातं विगतजीवं संयमजीवितानुपरोधकृत् तेन जीवेयुः, केचिरं कालमिति जाव आदिमोक्खो, आदिरिति संसारः स यावन्न मुक्तः, ततो वा मुक्तः, यावद्वा शरीरं ध्रियते तावत्, किंच–प्रासुकोदकभोजित्वेऽपि सति ते बीजकन्दादि अभुंजमाणाः, आदिग्रहणान्मू-

सुशीलाः

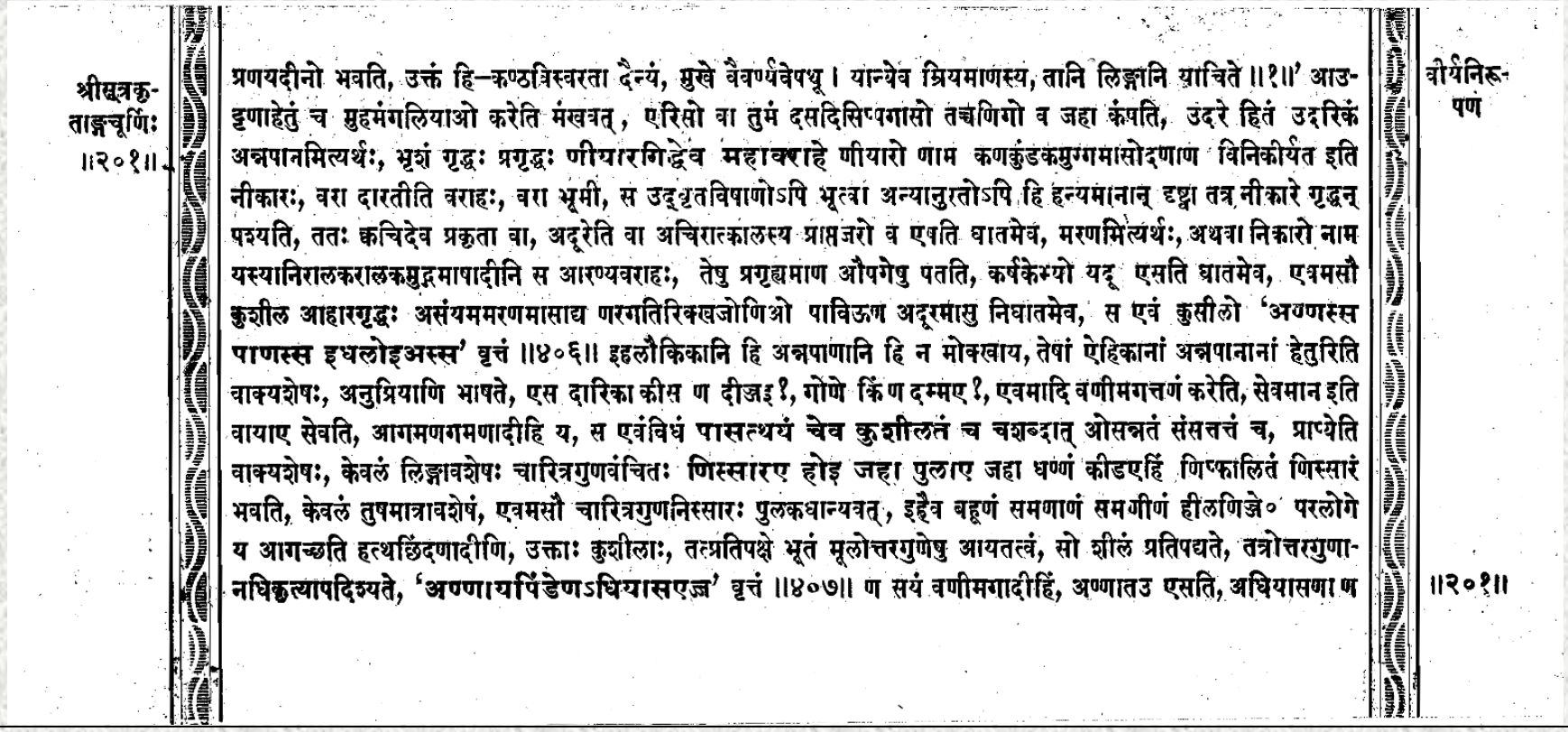
॥१९९॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२००॥

लपत्रफलादीणि गृह्यन्ते, विरता सिणाणा अउ इत्थिगाओ विरता अभ्यंगोद्वर्त्तनादिषु शरीरकर्मसु, निण्हति कर्मशरीरा, सुक्खा लुक्खा णिप्पडिकम्मसरीरा जाव अट्ठिचम्मावणद्धा एवं तावदहिंसा गृहीता, इत्थिग्रहणतो अन्येऽपि अवागृह्यंते रात्रिभक्तं च, ततोऽपि विरता, ये चैवं विरतास्तपसि चोद्यता ते संसारे न थर्णति, ण वा तत्र परिभ्रमन्ति, ण वा कुसीलदोसेहिं जुज्जंति, पुणरवि पासत्था कुसीला परायुस्संति–'जे मातरं च पितरं च हेच्चा' वृत्तं ॥४०३॥ गारं नाम घृहं पुत्रादि, पसवो हस्तश्वगोमहिष्यादयः, एवं कृताकृतं एतं संतं असंतं वा विहाय प्रव्रजितत्वात् आघाति धम्मं उदाराणुगिद्धो, हिंडंतो वा उपेत्य अकारणे वा गत्वा तन्निषेसु कुलेसु दाणभद्दयादिसु अक्खातित्ति आख्याति, धर्म्मा, उदारानुगृद्धो नाम औदारिकः उदरहेतुं धर्म्मं कहेति, उघाहु से सामणितं श्रमणभावो सामणियं तस्स दूरे वट्टति, कुलाइं जे धावति सादुगाइं० वृत्तं ॥४०४॥ एवंविधाइं कुलाइं पुव्वसंथुताइं पच्छा-संथुताणि वा जो गच्छति सादुगाइं, स्वादनीयं स्वादु स्वादु ददातीति स्वादुदानि, स्वदंति वा स्वादुकानि, अक्खाइयाओ अक्खाइ, धम्मकथाओ वा, जाहिं वा कहाहिं रज्जंते, उदाराओ गिद्धो पुन्नो, अथवा उदरग्रथिना आख्या ण वट्टइ काउं, इतरहा तु करे-जवि कुले जाणित्ता, से आयरियाणं गुणाणं सतंसे आयरिया चरित्तारिया तेसिं सहस्सभाए सो वट्टति सहस्सगुणपरिहीणो ततो य हेट्ठतरेण, जे लावए 'लपव्यक्तायां वाचि' लपतीति ब्रवीति जोवि ताव असणादिहेतुं, अण्णेण केइ लवावेति अहं एरिसो वा, सोवि आयरियाण सहस्सभागे ण वट्टइ, किमंग पुण जो सयमेव लवइ ?, एवं वत्थपत्तपूयाहेतुमवि । किंच–णिक्कम्मदीणे परिभोयणट्ठी० वृत्तं ॥४०५॥ जो अप्पं वा बहुं वा उवधिं च छड्डित्ता णिक्खंतोऽसौ सीलमास्थितः रूक्षान्नपानतर्जितः अला-भगपरीसहेण वा दीनत्तां प्राप्य जिब्भिंदियवसट्टो पंचविधस्स आजीवस्स अन्यतमेन आहारमुत्पादयति, सर्वोऽपि हि मोहत्थपर-

सुशीलाः

॥२००॥



श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२०१॥

प्रणयदीनो भवति, उक्तं हि—कण्ठस्त्रिस्वरता दैन्यं, मुखे वैवर्ण्यवेपथू । यान्येव म्रियमाणस्य, तानि लिङ्गानि याचिते ॥१॥' आउट्टणाहेतुं च मुहमंगलियाओ करेति मंखवत्, एरिसो वा तुमं दसदिसिप्पगासो तच्चणिगो व जहा कंपति, उदरे हितं उदरिकं अन्नपानमित्यर्थः, भृशं गृद्धः प्रगृद्धः णीयारगिद्धेव महावराहे णीयारो णाम कणकुंडकमुग्गमासोदणाण विनिकीर्यत इति नीकारः, वरा दारतीति वराहः, वरा भूमी, स उद्धृतविषाणोऽपि भूत्वा अन्यानुरतोऽपि हि हन्यमानान् दृष्ट्वा तत्र नीकारे गृद्धन् पश्यति, ततः क्वचिदेव प्रकृता वा, अदूरेति वा अचिरात्कालस्य प्राप्तजरो व एषति घातमेव, मरणमित्यर्थः, अथवा निकारो नाम यस्यानिरालकरालकमुद्गमाषादीनि स आरण्यवराहः, तेषु प्रगृह्यमाण औपगेषु पतति, कर्षकेभ्यो यद् एसति घातमेव, एवमसौ कुशील आहारगृद्धः असंयममरणमासाद्य णरगतिरिक्खजोणिओ पाविऊण अदूरमासु निघातमेव, स एवं कुसीलो 'अण्णस्स पाणस्स इधलोइअस्स' वृत्तं ॥४०६॥ इहलौकिकानि हि अन्नपाणानि हि न मोक्खाय, तेषां ऐहिकानां अन्नपानानां हेतुरिति वाक्यशेषः, अनुप्रियाणि भाषते, एस दारिका कीस ण दीजइ?, गोणे किं ण दम्मए?, एवमादि वणीमगत्तणं करेति, सेवमान इति वायाए सेवति, आगमणगमणादीहि य, स एवंविधं पासत्थयं चेव कुशीलत्तं च चशब्दात् ओसन्नतं संसत्तत्तं च, प्राप्येति वाक्यशेषः, केवलं लिङ्गावशेषः चारित्रगुणवंचितः णिस्सारए होइ जहा पुलाए जहा धण्णं कीडएहिं णिप्फालितं णिस्सारं भवति, केवलं तुषमात्रावशेषं, एवमसौ चारित्रगुणनिस्सारः पुलकधान्यवत्, इहैव बहूणं समणाणं समणीणं हीलणिज्जे० परलोगे य आगच्छति हत्थछिंदणादीणि, उक्ताः कुशीलाः, तत्प्रतिपक्षे भूतं मूलोत्तरगुणेषु आयतत्वं, सो शीलं प्रतिपद्यते, तत्रोत्तरगुणानधिकृत्यापदिश्यते, 'अण्णायपिंडेणऽधियासएज्ज' वृत्तं ॥४०७॥ ण सयं वणीमगादीहिं, अण्णातउ एसति, अधियासणा ण

वीर्यनिरूपण

॥२०१॥

अलंभमाणा, ण पूयणं तवसा अ, बहू जणे पूयासक्कारणिमित्तं तपः कुर्यादिति, निन्हवेज्ज वा, जो पूआसक्कारनिमित्तं तवं करेंति तेण सो तच्चाणि वाहितो भवति, तम्हा ण णिव्वहेज्जा, स एवं अण्णो य पाणे य अणाणुगिद्धो, जो हि अण्णायपिंडं एसए सो णियमा अण्णो य पाणे य अणाणुगिद्धो, अथवा अणु–पश्चाद्भाव इति, ण पुव्वभुत्तेसु अण्णपाणेसु अणुगिज्झेज्जा, एगग्गहणे गहणंति जहा रसेसु णियत्ति तहेव सव्वेसु कामेसु णियत्तिं कुर्यात्, सद्दरूवादिसु असज्जमाणे ण रागं दोसं वा गच्छे, कथं ?, 'सद्देसु य भद्दयपावएसु, सोतगहणमुवगतेसु। तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सदा ण होयव्वं ॥१॥'एवं सेसिंदिएसु, अहवा अपसत्थ-इच्छाकामेसु मदणकामेसु य, यथैव इन्द्रियजयं करोति तहेव **'सव्वाणि संगाणि अधि(इ)च धीरो'**वृत्तं ॥४०८॥ संगाः प्राणि-वधादयः जाव मिच्छादंसणंति ताणि अणिच्छिऊण सव्वाइं परीसहोवसग्गाइं दुक्खाइं खममाणे–सहमाणे, अखिलो णाम अखि-लेसु गुणेसु वर्तितव्यं, अथवा खिलमिति यत्र किंचिदपि न प्रसूते ऊखरमित्यर्थः, नैवं खिलभूतेन भवितव्यं, यत्र कश्चिदपि गुणो न प्रसूते, गुणा णाणादी, अगृद्धे आहारादिसु, ण सिलोयकामी परिव्वएज्जा, सिलोको नाम श्लाघा, सर्वतो वएज्ज, स्यात्तदज्ञातपिंडं किंनिमित्तमाहारयति ?, उच्यते–**'भारस्स जाता मुणी भुंजमाणे'** वृत्तं ॥४०९॥ भारो नाम संयमभारो, जाताएत्ति संयम-जाताएत्ति, संयमजाता मत्तो–णिमित्तं, संजमभारवहणट्ठताए 'सो हु तवो कायव्वो जेण मणो दुक्कडं ण उप्पज्जेज्ज', कंखेज्जा य उद्यानक्रीडातुल्यं तपो मन्यमानः कंखेज्जा य पावविवेगं नाम भिक्खू, पावं नाम कम्मं, विवेगो विनाश इत्यर्थः, सर्वविवेको मोक्षः, सेसो देसविवेगो, अथवा पापमिति शरीरं, कृतघ्नत्वादशुचित्वाच्च तद्विवेकमाकांक्षमाणः दुःखेण पुट्ठे धुतमातिएज्ज यदि पुनरसौ संयमं कुर्वाणः शारीरमाणसैः परीषहोपसर्गदुःखैरभिभूयते ततस्तैरभिभूतः धुतमादिएज्ज, धुअं–वैराग्यं चारित्रं उपशमो वा

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२०३॥

संजमो णाणादि वा, आदीएज्जत्ति तमादद्यात्, तेन तेषां जयं कुर्यादित्यर्थः, यथा भट्टारक एव, दमदन्तो वा संगामसीसे यथा दमितः वरो–योधः संगामशिरस्यपरान् दमयति, अभिहंतीत्यर्थः, एवं अट्ठविहं कम्मं जिणित्ता परीसहे अधियासेहि, किंचान्यत्– 'अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी'वृत्तं ॥४१०॥ यद्यप्यसौ परासहैर्हन्येत अर्जुनकवत्, अथवा फलकावदवकृष्टः क्षारेण लिप्येत सिच्येत वा तथापि अप्रदुष्टः अणिहम्ममाणो वा **समागमं कंखति अंतगस्स** सम्यक् आगमः समागमः, अन्तको नाम मोक्षः, अथवा अन्तं करोतीति अन्तकः, यथा 'नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां, नापगानां महोदधिः। नान्तकृत्सर्वभूतानां, न पुसां वामलोचनाः ॥१॥' स एवं निद्धूय कर्म्म–अंतकर्म्ममासाद्य निश्चितं निरवशेषं वा भूत्वा विधूय, किं? अष्टप्रकारं कर्म, नेति प्रतिषेधे, भृशं प्रपंचं प्रवंचं जातिजरामरणदुःखदौर्मनस्यादि नटवदनेकप्रकारः प्रपंचको दृष्टान्तः, अक्खक्खए व अश्नोतीत्यक्षः, अथवा न क्षयं जातीत्यक्षः, जहा अक्खक्खए सगडं समविषमदुर्गप्रपातोद्यानादिषु तेषु पुनः संखोभमिन्ति एवं स, एवं निद्धूय कर्म अचलं निर्वाणसुखं प्राप्य न पुनः संसारप्रपञ्चमाप्नोति। नयास्तथैव ॥ **कुसीलपरिभाषितं सप्तममध्ययनं समाप्तं** ॥

वीरियंति अज्झयणं, तस्स चत्तारि अणुयोगदारा, अहियारो–तिविधं वीरियं वियाणित्ता पंडियवीरिए जतितव्वं, गाथा 'वीरिए छक्कं' गाथा ॥९१॥ वीरियं णामादि छव्विहं, णामंठवणाओ गयाओ, वतिरित्तं दव्ववीरियं सचित्तादि तिविधं, सचित्तं दव्ववीरियं तिविधं–दुपद चउप्पद अपदं, दुपदाण वीरियं अरिहंतचक्कवट्टिबलदेववासुदेवाणं इत्थिरयणस्स य, एवमादीण वीरियं– जं जस्स जारिसं सामत्थं, चतुष्पदाणं तु अस्सरयणाईणं सीहवग्घवराहसरभादीण, सरभो किल हस्तिनमपि वृक इव औरणकं उक्खिविऊण अ वज्जति, एवमादि यस्य यच्च चतुष्पदस्य बोद्धव्यं वा सामर्थ्यं, अपदाणं गोसीसचंदणस्स उण्हकाले डाहं णासेति

वीर्यनिरूपणं

॥२०३॥

अस्य पृष्ठे अष्टमं अध्ययनं आरभ्यते

तहा कंबलरयणस्स सीयकाले सीतं उण्हकाले उण्हं णासेति, तहा चक्कवट्टिस्स गब्भगिहं सीते उण्हं उण्हे सीतं, एवं पुढवीमादीणं जस्स जारिसं संजोइमाणं असंजोइमाण य गदागदविसेसाण य 'अचित्तं पुण वीरियं' गाथा ॥ ९२ ॥ अचित्तं दव्ववीरियं आहारादीणं स्नेहभक्ष्यभोज्यादीनां, उक्तं हि—'सद्यः प्राणकरं तोयं०' आवरणाणं च वम्ममादि गुडादीणं च चक्करयणमादीणं अन्येषां च प्रासशक्तिकृणकादीणां, किंचान्यत्—जह ओसहाण भणियं वीरियं, विवागे तं विसल्लीकरणी पादलेवो, मेधाकरणीउ य ओसधीओ, विसघातीणि य दव्वाणि गंधआलेवआस्वादमात्रात् विषं णासेन्ति, सरिसिवमेत्ताओ वा गुलियाओ वा लोमुक्खेणामेत्ते खेत्ते विषं गदो वा भवति, अन्यं द्रव्यमाहारितं मासेणापि कलु(वपु)पि क्षुधां न करोति, न च बलग्लानिर्भवति, किञ्चकेषाञ्चिद्द्रव्यतो संयोगेण वत्ती आलित्ता उदकेनापि दीप्यते, कसीरादिषु च कांजिकेनापि दीपको दीप्यते, योनिप्राभृतादिषु वा विभासियव्वं। खेत्तवीरियं देवकुव्वातीसु सर्वाण्येव द्रव्याणि वीर्यवन्ति भवन्ति, यस्य वा क्षेत्रं प्राप्य बलं भवति, यत्र वा क्षेत्रे वीर्यं वर्ण्यते, एस चेव अत्थो णिज्जुत्तीगाथाए गहितो, 'आवरणे कवयादी चक्कादीयं च पहरणे होति। खेत्तम्मि जम्मि खेत्ते काले जो जंमि कालंमि ॥९४॥ कालवीरियं सुसमसुसमादिसु, यस्य वा यत्र काले बलमुत्पद्यते, तद्यथा—'वर्षासु लवणममृतं शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते। शिशिरे चामलकरसो घृतं वसंते गुडो वसन्तस्यान्ते ॥ १ ॥' 'भावे जीवस्स वीरियस्स' गाहा ॥९३॥ भाववीरियं जीवस्स सवीरियस्स लद्धीओ अणेगविधाओ, तंजहा- उरस्सबलं इंदियबलं अज्झप्पबलं, औरसि भवं औरस्यं, शारीरमित्यर्थः, तं पुण अणेगविधं, तंजहा—'मणवयणकाय'गाथा ॥ ९५ ॥ मणे ताव उरस्सवीरियं जारिसं मणपोग्गलगहणसामत्थं वयरोसभसंघातणादीणं जारिसे पढमसंघतणे मणपोग्गले गेण्हति, तं पुण दुविधं—संभवे य संभव्वे य, तित्थ-

गरस्स अणुत्तरोववाइयाणं च अतीपडुणि मणोदव्वाणि, संभावणीयं तु यो हि यमर्थं पटुमतिना प्रोच्यमानं न शक्नोति साम्प्रतं परिणामयितुं, संभाव्यते तु एष परिकर्म्ममाणं शक्ष्यत्यमुमर्थं परिणामयितुं, तंजहा–तवे तणुत्तए दुब्बले, विण्णाणणाण इत्यादि संभाव्यं, वायावीरियमवि दुविधं–संभवे य संभव्वे य, तत्थ संभवे य तित्थगरस्स जोअणनीहारिणी वाणी सव्वभासाणुगामिणी एतत्संभवति वाचावीर्यं तित्थकरे, येषां चान्येषां क्षीराश्रवादिवाग्विषयः, तथा हंसकोकिलादीनां सम्भवति स्वरसेन माधुर्यवीर्यं, सम्भाव्ये तु श्यामा स्त्री गाइतव्वे, तंजहा–'सामा गायति मधुरं काली गायति खरं च रुक्खं च'एवमादि, तथा संभावयाम एनं श्रावकदारकं अकृतमुखमप्यक्षरेषु यथावदभिलप्तव्येषु, तथा संभावयामः शुकमदनशलाका मनुष्यवक्तव्येन त्वेवं भासे सम्भाव्यते, कायवीरियं णाम औरस्यं यद्यस्य बलं, तदपि द्विविधं–सम्भवे सम्भाव्ये च, संभवे यदिवा चक्रवर्तिबलदेववासुदेवाणं यद्भाहुबलादि कायबलं, जहा कोडिसिला तिविट्ठुणा उक्खित्ता, अथवा 'सोलस रायसहस्सा' एवं जाव अपरिमितबला जिणवरिंदा संभवेयुः, सम्भाव्यते तीर्थकरा लोकं अलोके प्रक्षेप्तुं, तथा मेरुं दंडमिव गृहीत्वा छत्रवद्धर्तुं, तहा पभू अण्णतरो इंदो जंबुदीवं तु वामहत्थेण छत्तं जहा धरेज्ज करयलतो मंदरं घेतुं, तथा संभाव्यते आर्यदारकः परिवर्द्धमानः शिलामेनामुद्वर्तुं, अनेन मल्लेन सहायोद्धुमित्यादि, इंदियबलं पंचविधं सोइंदियादि, एक्केकं संभवे सम्भाव्ये च, संभवे यथा श्रोतस्स बारस जोयणाणि विसओ, एवं सेसाणवि जस्स जो, संभाव्येऽपि यस्यानुपहतमिन्द्रियं श्रान्तस्य वा पिपासितस्य वा परिम्लानस्य वा साम्प्रतमग्रहणसमर्थं, यथोद्दिष्टानामुपद्रवानां उपशमे सम्भाव्यते विषयग्रहणायेति, उक्तं इन्द्रियवीर्यं । इदानीं आध्यात्मिकं, तमनेकविधं 'उज्जमधितिधीरत्तं, ॥९६॥ उज्जमो णाम परीसहोवसग्गाणं जये, सोंडीरो णाम त्यागसंपन्नः अविसादिता, अहवा सोंडीरत्तं ज्ञाने-अध्येतव्ये तथैव वा

कर्त्तव्ये, न पराभियोग इव करोति, हर्षायमाणः, अवश्यं मया एतत्कर्त्तव्यं, न विषीदन्ति चलयंति वा, क्षमावीर्यं आक्रुश्यमानोवि न क्षुभ्यति, गंभीरो नाम परीषहैर्न क्षुभ्यते, दाउं वा काउं वा णो तुच्छो भवति, उक्तं च–'वुल्लुवुलेति जं होइ ऊणयं रित्तयं कणकणेइ। भरियाइं ण खुब्भंती सुपुरिसविण्णाणभंडाइं ॥१॥' उवयोगः सागारअणागारुवयोगवीरियं, सागारोवयोगवीरियं अट्ठविहं पंच ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानि, अणागारोवयोगवीरियं चतुर्विधं, येन स्वविषये उपयुक्तः यो यमर्थं जानीते द्रष्टव्यं च पश्यति, एकेकस्स मत्युपयोगादेः चतुर्विधो भेदो दव्वादि, एवं उवयोगवीरिए जाणति, जोगवीरियं तिविहं, मण्णमज्झप्पवीरियं अकुशलमणणिरोधो वा कुशलमणउदीरणं वा मणस्स एगत्तीभावकरणं वा, मणवीरिएण य णियंठसंयता वद्धमाणअवट्ठितपरिणामगा य भवन्ति, वइवीरिए भासमाणा अपुणरुत्तं निरवशेषं च भाषते वाग्विषयात्मोपयुक्तः, काये वीर्यं सुसमाहितपसन्नवदनः सुसहरितपादः कूर्मवदवतिष्ठते, कथं निश्चलोऽहं स्यां इत्यध्यवसितः, उक्तं हि–काएवि हु अज्झप्पं ते० तपोवीर्यं द्वादशप्रकारं यस्तदध्यवसितः करोति, एवं सप्तदशविधे संयमेऽपि, एकत्वाध्यवसितस्स संयमवीर्यं भवति, कथमहमतिचारं न प्राप्नुयामिति, एवमादि अध्यात्मवीर्यं, एवमादि भाववीर्यं वीरियपुव्वे वण्णिज्जति विकल्पसः, उक्तं च—"सव्वणदीणं जा होज वालुगा गणणमागता संती। तत्तो बहुतरो उ अत्थो एकस्स पुव्वस्स ॥ १ ॥ सव्वसमुद्दाण जलं जति पत्थमितं हवेज्ज संकलणं। तत्तो बहुतरो उ अत्थो एगस्स पुव्वस्स ॥२॥ सव्वंपि तयं तिविहं पंडियं बालं च बालपंडितं होइ, तत्थ बालयं तथा पंडितं च, मीसितं च, अथवा दुविधं, तं०–अगारवीरियं अणगारवीरियं, तत्थ पंडितवीरियं अणगाराणं, आगाराणं तु दुविहं–बालं च बालपंडितं चेति, तत्थ पंडितवीरियंपि सादीयं सपज्जवसितं च, बालवीरियं जहा असंजतस्स, विविधो तिट्ठाणा, तंजहा–अणादीयं अपज्जवसितं १ अणाइयं सपज्जवसियं



॥२०६॥

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥२०७॥

२ सादीयं सपज्जवसितं ३, णो चेव णं सादीयं अपज्जवसितं, अथवा सव्वं तु वीरियं तिविहं–खइयं उवसमियं खओवसमियंति, खइयं खीणकसायाणं, उवसमियं उवसंतकसायाणं, सेसाणं तु खओवसमियं, जत्थ सुतं–सत्थमेगे सुसिक्खंति, तत्थ गाथा 'सत्थं तु असियगादि',गाथा, सत्थं विद्याकृतं मन्त्रकृतं च, तत्थ विज्जा इत्थी भंतो पुरिसो, अथवा विद्या ससाधगा मंतो असाहणो, एक्केक्कं पंचविहं–पार्थिवं वारुणं आग्नेयं वायव्यं मिश्रमिति, तत्थ मीसं जं दुण्ह तिण्ह वा देवताणं, अथवा विज्जाए मंतेण य, एताणि अधिदेवगाणि, गतो णामणिप्फण्णो, सुत्ताणुगमे सुत्तमुच्चारेयव्वं–तं चिमं सुत्तं–'दुहावेतं समक्खातं' सिलोगो ॥ ४११ ॥ दुधावि एतं, द्विप्रकारं–द्विभेदं बालं पंडितं च, चः पूरणे, एतदिति यदभिप्रेतं, यद्वा इहाध्याये अधिकृतं वक्ष्यमाणं, जं वा णिक्खेवणिज्जुत्तीवुत्तं, सम्यक् आख्यातं समाख्यातं तित्थगरेहिं गणहरेहिं च, विराजते येन तं वीरियं, विक्रमो वा वीरियं, पकरिसेण वुच्चइ पवुच्चइ, भृशं साध्वादितो वा वुच्चति, किण्णु वीरस्स वीरत्तं केन वीरोत्ति वुच्चति, किमिति परिप्रश्ने, नु वितर्के, वीर्यमस्यास्तीति वीरः, किं तत् वीरस्स वीर्यं ?, केण वा वीरेत्ति वुच्चति, किणा वा कारणेन वीर इत्यभिधीयते ?, पृच्छामः, तत्थ वा करणं वीरियं जं पुच्छितं तदिदमपदिश्यते–'कम्ममेव परिण्णाय' सिलोगो ॥ ४१२ ॥ क्रिया कर्मेत्यनर्थान्तरं, क्रिया हि वीर्यं, एवं परिण्णाए एवं परिजानीहि, तस्सेगट्ठिया ओट्ठाणंति वा कम्मंति वा बलंति वा वीरियंति वा एगट्ठं, पठ्यते च–कम्ममेव पभासंति एवं प्रभाषन्ति कर्मवीर्यं, अथवा यदिदमष्टप्रकारं कर्म तत् औदयिकभावनिष्पन्नं कर्मेत्यपदिश्यते, औदयिकोऽपि च भावः कर्मोदयनिष्पन्न एव, बालवीरियं वुच्चति, वितियं अकम्मं वावि सुव्वता अकर्मवीर्यं तत्, तद्धि क्षयनिष्पन्नं, न वा कर्म बध्यते, न च कर्मणि हेतुभूतं भवति, सुव्रताः–तीर्थकराः, प्रभाषंत इति वर्त्तते, परिजानंत इति च वर्त्तते, तत्तु पंडितवीर्यमपदि-

कर्माकर्म-वीर्ये

॥२०७॥

श्यते एव, एते द्वे स्थाने, तं कम्मवीरियं च अकम्मवीरियं च, तत्र प्रमादात् कर्म बध्यते अप्रमादान्न बध्यते, अथवा द्वाविति बालं पंडितं च, बालं असंयताणं पंडितं संजयाणं, तत्र तावत् बालवीरियं अपदिश्यते, अथवा जम्म आदिश्यते वट्टमाणा भविया मणुस्सा, तत्कथं ?, उच्यते–पमादं कम्ममाहंसु सिलोगो ॥४१३॥ प्रमादात् कर्म भवति एवं वक्तव्यः, कारणे कार्योपचारात् प्रमादः कर्मेत्युच्यते, स च प्रमादः तहावि संभवे आदिश्ये पंडितं सादिं अपज्जवसितं, बालं तिविहं, अनादि अपज्जवसितं अभवियाणं, अणादि सपज्जवसितं भवियाणं, सादिसपज्जवसितं सम्मद्दिट्ठीणं, जं तं बालं कथं होज्जा ?, उच्यते 'सत्थमेगे सुसिक्खंति'सिलोगो ॥४१४॥ धनुरुपदिश्यते धनुःशिक्षामित्यर्थः, आलीढ० स्थानविशेषतः, एगे असंजता, न सर्वे, अथवा सर्वकारणा अस्त्रशास्त्राणि, अधीयते हि भीमासुरुक्खं कोडिल्लगं धर्मपाठका वैद्यकं वावत्तरिं वा कलाओ सुट्ठु सिक्खंति असुभेनाध्यवसायेन अतिवाताय पाणिणंति एवं पुरुषस्य शिरश्छेत्तव्यं एवं चार्थी प्रत्यर्थी वा दण्डयितव्यो नेत्रादिरागादिभिश्च कारी अकारी च ज्ञातव्यो, अमुकापराधे वाऽयं दण्डो हस्तच्छेदमारणेत्यादि, किंच-केइ मंते अधिज्जंति अमु मंते अभिचारुके अथर्ववेणे हृदयोण्डिकादीनि च अश्वमेधं सर्वमेव पुरुषमेधादि च मन्त्रानधीयते, भूतमन्त्रो धातुवादः विलवादादि, बहूणं पाणाणं भूताणं विहेडणं, विबाधन इत्यर्थः, उक्तं च–'पट्शतानि नियुंजते, पशूनां मध्यमेऽहनि। अश्वमेधस्य वचनात्, न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ १ ॥' ते तु अशुभाध्यवसिताः किंच–'माणओ काउ मायाओ' सिलोगो ॥ ४१५ ॥ तेण चाणक्ककोडिल्लईसत्थादी मायाओ अधिज्जंति जहा परो वंचेतव्वो, तहा वाणियगादिणो य उत्कोचवंचणादीहिं अत्थं समज्जिणंति लोभे तत्थ च उत्तरेति माणोवि, एवं मायिणो मायाहिं अत्थं उवज्जिणंति, यथेष्टानि सावद्यकार्याणि साधयन्ति, तत एषां कर्मबंधो भवति, कामभोगान् समाहरे कारणे कार्यवदुप-

चारः, अर्थ एव कामभोगाः तत्समाहरंति इति, पठ्यते च–आरंभाय तिउट्टइ आरंभा त्रिभिः कायवाङ्मनोभिः आउट्टती तिउट्टेति, बहवे जीवे एगिंदियादि जाव पंचिंदियत्ति वुच्चति य एवमादि आरभ्यते पापं, तं तु मणसा वयसा कायसा, णवएण भेदेणं जीवे हणंतो, बंधन्तो उद्धंसेन्तो आणवेन्तो कुट्टेन्तो अर्थोपार्जनपरो निद्दाय हंता गामादि छेत्ता भियपुच्छादि पकत्तिया हत्थिदंतादि हत्थादि वा, आतसाता मणसा 'कइया वच्चइ सत्थो०'। गाथा ॥४१६॥ कायेण किलिस्संतो, पढमं मणसा, पच्छा वायाए, अंतकाले काएण, आरतो सयं, परतो, सयं परतो, अण्णेण दुहावि, स एवं 'वेराणि कुव्वति वेरी' सिलोगो॥४१७॥ स वैराणि कुरुते वैरी, ततो अण्णे मारेति अण्णे बंधति अण्णे दंडेति अण्णे णिव्विसए आणवेति चोरपारदारियखूयचोपगादि बहुजणं वेरेति जेसु वा थाणेसु रज्जति सज्जति मज्जति अज्झोववज्जति, पठ्यते च–जेहिं वेरेहिं कज्जति, ततस्ते वैरिणः इहभवे, परभवे च करकयादीहिं किच्चंति, छिद्यन्त इत्यर्थः, जाणि वा करेति ताणि से से अहियतराणि पडिकरेंति, रामवत्, जहा रामेण खत्तिया ओच्छादिता, 'अपकारसमेन कर्मणा, न नरस्तुष्टिमुपैति शक्तिमान्। अधिकां कुरु वैरयातनां, द्विषतां जातमशेषमुद्धरन् ॥१॥ सुभोमेणावि तिसत्तखुत्तो णिव्वंभणा पुहवी कता, पापोपकाश्च आरम्भाः पापार्हाः पापोपगाः-पापयोग्याः, पापानि वा उपगच्छन्त्यारंभिणः, आरंभा हिंसादयः, दुःखस्पर्शा दुहावहाः दुःखोदयकरा इत्यर्थः, अन्ते इत्यर्थः, अन्ते इत्यन्तशः मृतस्य नरकादिषु 'पावाणं खलु भो कडाणं कम्माणं दुच्चिण्णाणं जाव वेदइत्ता मोक्खो, णत्थि अवेदइत्ता, तवसा वा जोसइत्ता' अष्टानामपि प्रकृतीनां यो यादृशोऽनुभावः स तथा फलति ॥४१७॥ किंच–संपरागः तेसु वा तासु गतिषु संपराणिज्जतीति संपरागः–संसारः, अथवा पर इत्यनभिमुखेन बध्यमानमेव वेद्यते, निगच्छंति–प्राप्नुवंति, आर्त्ता नाम विषयकषायार्त्ता, दुकडकारिणो

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥२१०॥

दुक्कडाणि–हिंसादीणि पावाणि कुर्वन्तीति दुक्कडकारिणः, किं निमित्तं? रागदोससिसिता बाला बालवीर्याः, स एव प्रकृतिः बहुं किर कालं ठितो मोहणीयस्स विभासा, ततस्तैः पापैः कर्मभिः साम्परायमेव णियच्छंति संसारमित्यर्थः, तत्र च नरकादिषु दुःखान्यनुभवन्ति। 'एतं सकम्मवीरियं'सिलोगो ॥४१९॥ सकर्मवीरियंति वा बालवीरीयंति वा एगट्ठं, इदानीं अकम्मवीरियंति वा पंडितवीरियंति वा एगट्ठंति, केरिसो पुण पंडितो?–'दविए बंधणुम्मुक्के' सिलोगो ॥४२०॥ रागद्दोसविमुक्को दविओ, वीतराग इत्यर्थः, अथवा वीतराग इव वीतरागः, बन्धनोऽल्पो मुक्तकल्पः, पंडितवीर्याचरणेभ्यः सव्वसो छिन्नबंधणेत्ति सिद्धस्तेन नाधिकारः, ये पुनः प्रमादादयो हिंसादयः रागादयो वा तेषु कार्यवदुपचारात् उच्यते–सव्वतो छिण्णबन्धणे, न तेषु वर्त्तत इत्यर्थः, कषायअप्पमत्तो वा सः अकर्म्मवीरः, एवं चेव अकर्म्मवीरियं वुच्चति, कथं अकर्म्मवीरियं?, यतस्तेन कर्म्म न बध्यते, न च तत्कर्मोदयनिष्पन्नं, येन कर्मक्षयं करोति तेन अकर्मवीर्यवान्, पणोल्ल पावयं कम्मं प्रमादादीन् पापकर्म्माश्रवान् तान् प्रणुद्य सल्लं कत्तेति अप्पणो भावकम्मसल्लं अट्ठप्पगारं तत्कृंतति छिनत्तीत्यर्थः, अन्तसोत्ति यावदन्तोऽस्य, निरवशेषमित्यर्थः, केन कृतन्ति? किं वा आदाय कृतन्तीति?, उच्यते–धम्ममादाय, कीदृशः धर्म्मः? णेयाउअं सुअक्खायं सिलोगो ॥४२१॥ नयनशीलो नैयायिको, कुत्र नयति?, मोक्षं, सुष्ठु आख्यातः सुअक्खाय, उपादाय–तं गृहीत्वा, सम्यक् ईहते समीहते ध्यानेन, किं ध्यायते?, धर्म्मं सुक्कं च, तदालंबणाणि तु भुज्जो भुज्जो दुहावासं भूयो भूय इति वीप्सार्थः, अतीतानागतानि अणन्ताइं भवग्गहणाइं, सकम्मवीरियदोसेण भूयो भूयो णरगादिसंसारे णाणाविधदुःखावासे सारीरादीणि दुक्खाणि भुज्जो २ पावंति, अशुभ-भावः अशुभत्तं तहा तहा तेन प्रकारेण यथा कर्म्म तथा तथा शुभं फलति, अथवा अशुभमिति अशुभभावना गृहीता, यथा शुभं

सकर्म-वीर्यादि

॥२१०॥

किं? सह कडेवर०, एवमनित्याद्याः, अशुभा अपि, द्वादश भावना गृहीता, तत्रानित्यभावना 'ठाणी विविधठाणाणि' सिलोगो ॥ ४२२ ॥ स्थानान्येषां सन्तीति स्थानिनः, देवलोके तावदिन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशाद्याः, मनुष्येष्वपि चक्रवर्त्तिबलदेववासुदेवमण्डलिकमहामण्डलिकादि, तिर्यक्त्वेऽपि यानीष्टानिष्टानि, विविधानीति उत्तममध्यमाधमानि, तेभ्यः स्थानेभ्यः सर्वस्थानिनः चइस्संति, नात्र संशयः उक्तं हि–'अशाश्वतानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि चेह च। देवासुरमनुष्याणां, ऋद्धयश्च सुखानि च ॥१॥' किंच–'अणितिए इमे वासे' जीवतोऽपि हि अनित्यः संवासो भवति, कैः?–ज्ञातिभिः, ज्ञातयो नाम मातापितृसंबंधाः, सुहृदः शेषा मित्रादयः, 'एवमादाय मेधावी' सिलोगो ॥४२३॥ एवमवधारणे, आदाएति एवं बुद्ध्या गृहीत्वा, यथा सर्वाणि अशाश्वतानि, पंडितगुणवीर्यगुणांश्च मोक्षे च शाश्वतं स्थानं आदाएत्ति, अथवा द्वादशसु भावनासु यदुक्तं तमादाय, उपधारयित्वेत्यर्थः, आत्मनैव आत्मनि गृद्धिमुद्धरेत् ममीकारमित्यर्थः, तं०–हत्था मे पादा मे जीविज्जामि, जेसु वा कलत्रस्वजनमित्रादिषु गृद्धिरुत्पद्यते तेभ्य आत्मनैव आत्मनि गृद्धिमुद्धरेत्, किञ्च–गिद्धिमुद्धरेमाणो आयरियं उवसंपज्जेज्ज, स्वाध्यायतपादौ उत्तरोत्तरगुणानुपसंपद्यमानः चरित्तारियं मग्गं उवसंपज्जेज्जा, आयरियाण वा मग्गं उवसंपज्जेज्ज, सर्वे धर्माः कुतीर्थिकानां ण अकोविता, अकोविता नाम ण केहिंवि कोविज्जति, कोवितो णाम दूषितः, कूटकार्षापणवत्, च्छेदो पुण ण कोविज्जइ, तं कथं उवसंपज्जइ?, दोहिं ठाणेहिं, 'सहसमुतिआए णच्चा' सिलोगो ॥ ४२४ ॥ शोभना मतिः सन्मतिः सहजात्ममतिः सहसन्मतिः स्वा वा मतिः सन्मतिः, सह मतीए सहस्संमतिगं प्रत्येकबुद्धानां निसर्गसम्यग्दर्शने वा, पित्तज्वरोपशमनदृष्टान्तसामर्थ्यात् आभिणिबोहियसुयं उग्घाडेति, जहा इलाइपुत्तेण, धम्मसारं सुणेत्तु वा, यथा तीर्थकरसकाशादन्यतो वा धर्म्म एव सारः धर्म्मसारः, धर्मस्य वा सारः धर्मसारः, चारित्रं

तं प्रतिपद्यते, पच्छा उ उत्तरगुणेसु परक्कमति पंडिवीरिएण पुव्वकम्मक्खयट्ठिताए, एवं सो दविओ, हिंसादि वा बन्धण विमुक्को अकम्मवीरिए उवट्ठिते य मेहावी पडिघातपावगे धम्मे उवट्ठिए अकम्मवीरिए वा वड्ढमाणपरिणामे मेहया धावतीति मेधावी प्रत्याख्याति हिंसादि अट्ठारस संयतविरतपडिहतपच्चक्खायपावकम्मे स एवमुत्तरगुणेसु पवड्ढमाणो 'जं किंचि उवक्कमं णच्चा' सिलोगो ॥ ४२५ ॥ यत्किंचिदिति उपक्रमाद्वा अवाएण वा, अहवा तिविहो उवक्कमो भत्तपरिण्णाइंगिणादि, आयुषः क्षेममित्या- रोग्यं, शरीरस्य च उपद्रवा आत्मन इत्यात्मशरीरस्य तस्सेव अंतरद्धा तस्सेति तस्यायुःक्षेमस्य, अन्तरद्धा इत्यन्तरालं, यावन्न मृत्युरिति, ये बद्धा मूढा संज्ञाः, खिप्पमिति खिप्पं, संलेहणाविधिं शिक्षेत्, सिक्खा दुविहा–आसेवणसिक्खा गहणसिक्खा य, ग्रहणे तावत् यथावन्मरणविधिर्विज्ञेयः, आसेवनया ज्ञात्वा आसेवितव्यं यद्यदिच्छति मनसा, आसेवणसिक्खा 'जहा कुम्मो सयंगाइं०' सिलोगो ॥४२६॥ मरणकाले च नित्यमेव यथा कूर्म्मः स्वान्यङ्गानि पंचस्वेव देहे समाहरति नाम प्रवेशयति, ततः शृगालादिभ्यः पिशिताशिभ्यः अभिगम्यो न भवति, एवं पावेहिं अप्पाणं, पावाणि हिंसादीनि कोहादीणि च,मरणकाले चाहारोपकरणसेवणव्यापाराच्च आत्मानं संहृत्य निर्व्यापारः संलेखनां कुर्यात्, आत्मानमधिकृत्य यः प्रवर्तते तदध्यात्मं, ध्यायो वैराग्यं एकाग्रता इत्यादिनाऽध्या- त्मेन पापात्समाहरेत्ति, तत्र त्रयाणां मरणानामन्यतमं व्यवस्यते, इह तु पाओवगमणमधिकृतं येनापदिश्यते 'संहरे हत्थपादे य' सिलोगो ॥४२७॥ हस्तपादप्रवीचारं संहृत्य निष्पन्दस्तिष्ठेत्, कायं च संहर उल्लंघनादिभ्यः, सर्वेन्द्रियाणि वा स्वे स्वे विषये संहर, रागद्वेषनिवृत्तिं कुरु,'पापगं च परीणामं'वृत्तं, णिदाणादि इहलोगासंसप्पयोगं च संहर इति वर्त्तते, भासादोसं च पावगंति वाग्गुप्तिर्गृह्यते, एवं भत्तपरिण्णाए इंगिणीएवि अयतत्तं साहर, जतं गच्छेज्ज जतं चिट्ठेज्जत्ति, दुर्लभं पंडितमरणमासाद्य कर्मक्षयार्थं

सदोपयुक्तेन मान्यं, तत्थ णं जइ अपदिश्यते 'अणु माणं च मायं च' ॥४२८॥ अथवा मरणकाले च सर्वकालमेव अणु माणं च मायं च संपरिण्णाय पंडिते, अणुरिति स्तोकोऽपि मानो न कर्त्तव्यः, किमु महान्?, अणुरपि च मायां न कारयेदिति पंडितः, पठ्यते च–अतिमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिते अतीव मानो यथा सुभोमादि, कोऽर्थः?–यद्यपि सरागस्य मानोदयः स्यात्तथापि उदयप्राप्तस्य विफलीकरणं कार्यं, सुतं मे इहमेगेहिं, एवं वीरस्स वीरियं श्रुतं मया तीर्थकरात् स्थविरेभ्यो वा इहेति इहलोके प्रवचने वा, एकेषां न सर्वेषां, तद्वीर्यवतो वीरस्य पंडितवीरियं यदुक्तं वीरस्य वीरत्तं इति, यथा वा स्याद्व्यवसानमिति तद् व्याख्यातं, स एवं मरणकाले अमरणकाले वा पंडितवीर्यवान् महाव्रतेपूद्यतः स्यात्, तत्राहिंसा प्रथमं, उड्ढमहे तिरियं दिसासु जे पाणा तमथावरा। सव्वत्थ विरतिं कुज्जा संतिनिव्वाणमाहितं, अस्य श्लोकस्य चर्चा उक्ता, किंच–'पाणे य णातिवाएज्ज अदिण्णंपि य णातिए। सातिं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमयो ॥४२९॥ एवं तावत् पाणातिवायं वज्जेज्ज, ण वा अदिण्णादाणं आदिएज्जा, सादियं णाम माया, सादिना योगः, सह सातिमा सातियं, न हि मृषावादो मायामंतरेण भवति, स चोत्कंचणकूडतुलादिसु भवति, सातियोगसहितो मुसावादो भवति, स च प्रतिपिध्यते, अन्यथा तु न मृगान् पश्यामि ण य वहिकाइयेसु सगुद्दिस्सामो एवमादि ब्रूयात्, येनात्र परो वंच्यते तत्प्रतिपिध्यते, कोहमाणामायालोभसहितं वचः, धर्म्मः योऽयं उक्त स्वभावः, वुसिमतां वसूनि ज्ञानादीनि। अयं भारवए णिचं भवे भिक्खू कण्ठ्यं,'अतिक्कमंति वाचाए मणसावि ण पत्थए'॥४३०॥ अतिरिति अतिक्रमणे, येनातिक्रम्यन्ते एतानि पञ्च महाव्रतानि सोऽतिक्रमः, तत्र प्राणातिपातमधिकृत्यापदिश्यते–तिपाद एव त्रिभ्यः पातयतीति तिपातः तन्मनसापि न प्रार्थयेत्, किंनु वचसा कर्मणा वा?, नवकेन भेदेन, एवं शेषा-

णामपि जाव परिग्रहः, एवं तावत्स्वयं न करोति व्रतातिचारं, योऽपि तमुद्दिश्यान्यैः प्राणातिपातः कृतः क्रियते वा तत्राप्ययमुपदेशः 'कडं च कीरमाणं च' सिलोगो ॥ ४३१ ॥ अहाकम्मादि कडं अगेण्हेमाणो णाणुजाणाति, कीरमाणमवि जं जाणति ममट्ठाए तं णिवारेति, णो खलु मम अट्ठाए किंचिवि करणिज्जं, एवं जोवि आत्मनिमित्तं असंजमस्तैः कृतः तद्यथा–शिशोः शिरश्छिन्नं छिद्यते वा वध्यो हतो हन्यते वा मांसाद्योपकानि सत्त्वानि तानि हन्यंते वा तमपि कडं च कज्जमाणं च णाणुजाणाति, आगमिस्सं च पावगंति जइणं कोइ भणिज्जा–अहं ते आउसंतो समणा ! अमणं वा ४ उक्खडेमि तंपि णिवारेति, णो खलु मम अट्ठाए किंचि करणिज्जं, एवं असंजतोवि जो जं हंतिकामे तंपि आगमिस्सं पावगं सव्वं तं णाणुजाणति, सर्वमिति तंनिमित्तं वा कयं कज्जमाणं वा णवगेण भेदेण णाणुजाणंति पंडिया, आत्मनि आत्मसु वा गुप्ता जितेन्द्रिया जीहादोषणियत्ता, अथवा सर्वमिति आहारोपकरणादि सेज्जाओऽवि बायालीसदोसपरिसुद्धाओ घेप्पंति, एवं ते भगवन्तः संयमवीरियावस्थिता नवकेन भेदेन तदाऽतिचारमकृतवन्तु, ये तु तद्विधर्मिणः बालवीर्यावस्थिता अपि गृहेभ्योऽपि निःसृताः सन्तः जे यावुद्धा महाभागा ॥४३२॥ जे (इति) अणिद्दिट्ठनिद्देसो अवुद्धा वादिणः, अथवा न बुद्धा अबुद्धा, बालवीर्यावस्थिताः सकम्मवीरिए वट्टंति, तहा पाणं न यतंति महाभागाः विज्जाए बलेण वा, यथा बुद्धः तपश्चि, निमित्तबलेन वा यथा गोशालाः, रायपव्वइगा वा बहुजणनेतारः बहुजनेनाश्रियन्ते, पूयासक्कारणिमित्तं विज्जाओ णिमित्तानि य पयुंजमाणा तपांसि च प्रकाशानि प्रकुर्वन्ति तेषां बालानां यत्किंचिदपि पराक्रान्तं तदशुद्धं भावोपहतत्वात्, नवकेनापि भेदेन अज्ञानदोषाच्च, एवमादिभिर्दोषैरशुद्धं तेसिं परक्कन्तं, अशुद्धं नाम यथोक्तैर्दोषैः, पराक्रान्तं चरितं वेष्टितमित्यर्थः, कुवैद्यचिकित्सावत्, सफलं होति सव्वसो फलं णाम कम्मबंधो, तत्तत्कर्मबन्धं प्रति सफलं भवति,

कृतादि निषेधादि

॥२१४॥

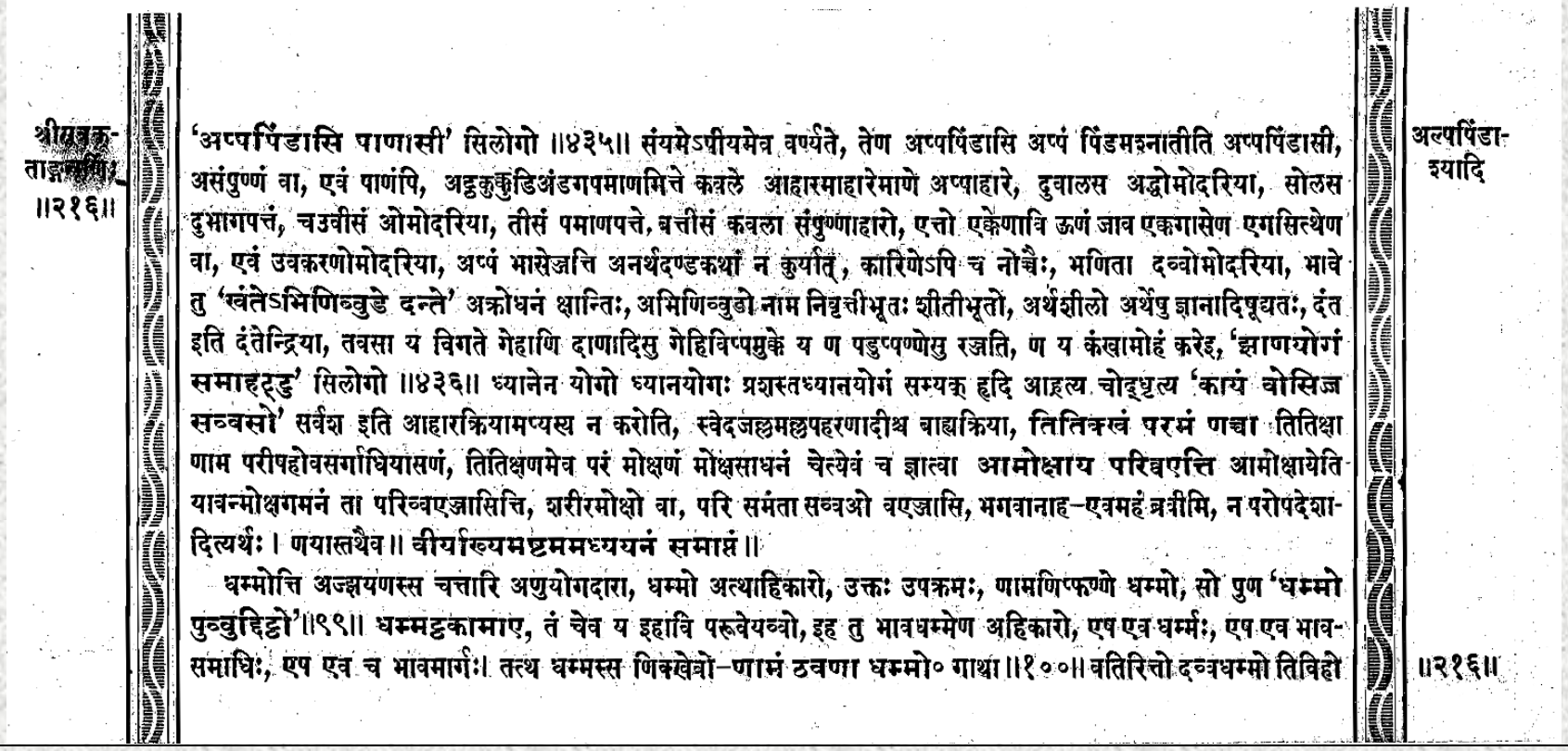
सर्वश इति सर्वाः क्रियास्तेषां कर्म्मबन्धाय भवन्ति, कथं ?, सर्वे हि कटुकविपाकं सुचरितमपि पुद्गलस्य मिथ्यादृष्टेः, निर्वाणं वा प्रत्यसफलं भवति, सर्वशः सर्वाः क्रियास्तद्विपरीताः सच्छासनप्रतिपन्नाः, जे तु बुद्धा महाभागा सिलोगो ॥४२३॥ स्वयं बुद्धास्तीर्थकराद्यास्तच्छिष्या वा बुद्धबोधिता गणधरादयः, महाभागा इति, चउरासीइ उसभसामिणो सिस्ससहस्साणि, उसभसेणस्स बत्तीसं समणसाहस्सीओ गणो आसी, एवं जाव वद्धमाणसामी, तत्संघस्स चतुर्विधस्य परिमाणं भासितव्वं, प्रत्येकबुद्धाः पुनः साम्प्रतं न महाभागाः, केचित्तु पूर्वमासीत्, ये चान्ये राजादयः पूर्वं महाभागाः आसीत्पश्चाद्वा जातास्ते वीरा इति–अकम्मं वीरिए वड्ढमाणा सरागा वीतरागा वा वीरा, तपसि णाणादीहि वा वीराजंतीति वीरा, विदारयन्तीति वा कम्माणि, सम्मं पस्संतीति सम्मत्तदंसिणो, तेसिं भगवंताणं शुद्धं तेसिं परिक्कंतं शुद्धं णाम णिरुवरोधं सल्लगारवकसायादिदोसपरिशुद्धं अनुपरोधकृत् भूतानां तव्विउपासणाविधे संजमे च पराक्रान्तिः अफलं होति सव्वसो फलं णाम कर्मबन्धनं तं प्रत्यफलं, कथं ?, संजमे अणण्हयफले तवे वोदाणफले, उक्तं च–निरासस्साइं निस्सुखदुःखं० कल्पनं धर्मसु, वाचा निष्फलं, मोक्षणं वा प्रति सफलं, एवं पूर्वं पश्चाद्वा महाजननेतॄणां महाजनविज्ञातानां च तेसिं तु तवो सुद्धो सिलोगो ॥४२४॥ तेषामिति जे जहुत्तकारिणो, जेति ता णिद्दिट्ठा, महं प्राधान्ये कुलं ईक्ष्वाकुकुलादि, केचिद्वा ज्ञातकुलीया अपि भूत्वा विद्यया तपसा सौर्याद् विस्तीर्णा भवन्ति नन्दकुलवत्, एत्थ चउभंगो, किंचि कुलतोवि महन्तं जणओवि एवं चउभंगो, एत्तो एगतराओवि णिक्खंतो महाकुलतो, महद्धा कुलमेषां महाकुलाः, भगवानेव छउमत्थो, छउमत्थकाले अवमाणते परेणं तु, ण सिलोगं वयंति ते सिलोगो नाम श्लाघा, अमुक राजा वा आसीदिति इभ्यो वा शालिभद्रादि तत्पूजासत्कारश्लाघादिनिमित्तं कुलं न कीर्त्तयितव्यं कुलादिकार्यनिमित्तं वा न कीर्त्तेत। किं वा–

सफलतादि

॥२१५॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता.....आगमसूत्र-[०२], अंग सूत्र-[०२] "सूत्रकृत" जिनदासगणि विहिता चूर्णिः

प्रत सूत्रांक ||४११-४३६|| दीप अनुक्रम [४११-४३६]



श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णौ ॥२१६॥

'अप्पपिंडासि पाणासी' सिलोगो ॥४३५॥ संयमेऽपीयमेव वर्ण्यते, तेण अप्पपिंडासि अप्पं पिंडमश्नातीति अप्पपिंडासी, असंपुण्णं वा, एवं पाणंपि, अट्ठकुक्कुडिअंडगपमाणमित्ते कवले आहारमाहारेमाणे अप्पाहारे, दुवालस अद्धोमोदरिया, सोलस दुभागपत्तं, चउवीसं ओमोदरिया, तीसं पमाणपत्ते, बत्तीसं कवला संपुण्णाहारो, एत्तो एक्केणावि ऊणं जाव एक्कगासेण एगसित्थेण वा, एवं उवकरणोमोदरिया, अप्पं भासेज्जत्ति अनर्थदण्डकथां न कुर्यात्, कारिणेऽपि च नोचैः, भणिता दव्वोमोदरिया, भावे तु 'खंतेऽभिणिव्वुडे दन्ते' अक्रोधनं क्षान्तिः, अभिणिव्वुडो नाम निवृत्तीभूतः शीतीभूतो, अर्थशीलो अर्थेषु ज्ञानादिषूद्यतः, दंत इति दंतेन्द्रिया, तवसा यं विगते गेहाणि दाणादिसु गेहिविप्पमुक्के य ण पडुप्पण्णेसु रज्जति, ण य कंखामोहं करेइ, 'झाणयोगं समाहट्टु' सिलोगो ॥४३६॥ ध्यानेन योगो ध्यानयोगः प्रशस्तध्यानयोगं सम्यक् हृदि आहृत्य चोद्धृत्य 'कायं वोसिज्ज सव्वसो' सर्वश इति आहारक्रियामप्यस्य न करोति, स्वेदजल्लमल्लपहरणादीश्च बाह्यक्रिया, तितिक्खं परमं णच्चा तितिक्षा णाम परीषहोवसर्गाधियासणं, तितिक्षणमेव परं मोक्षणं मोक्षसाधनं चेत्येवं च ज्ञात्वा आमोक्षाय परिव्वएज्जासि आमोक्षायेति यावन्मोक्षगमनं ता परिव्वएज्जासित्ति, शरीरमोक्षो वा, परि समंता सव्वओ वएज्जासि, भगवानाह-एवमहं ब्रवीमि, न परोपदेशादित्यर्थः। णयास्तथैव॥ वीर्याख्यमष्टममध्ययनं समाप्तं॥

धम्मोत्ति अज्झयणस्स चत्तारि अणुयोगदारा, धम्मो अत्थाहिकारो, उक्तः उपक्रमः, णामणिप्फण्णे धम्मो, सो पुण 'धम्मो पुव्वुद्दिट्ठो'॥९९॥ धम्मट्ठकामाए, तं चेव य इहावि परूवेयव्वो, इह तु भावधम्मेण अहिकारो, एष एव धर्मः, एष एव भावसमाधिः, एष एव च भावमार्गः। तत्थ धम्मस्स णिक्खेवो-णामं ठवणा धम्मो० गाथा॥१००॥ वतिरित्तो दव्वधम्मो तिविहो

अल्पपिंडा-श्यादि

॥२१६॥

अस्य पृष्ठे नवमं अध्ययनं आरभ्यते

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२१७॥

सचित्तादि, तत्थ सचित्तस्स जहा चेतना धर्मः, चेतना स्वभाव इत्यर्थः, अचित्ताण जहा धम्मत्थिकायस्स० जा जस्स धम्मता, जहा 'गतिलक्खणो तु धम्मो, अधम्मो ठाणलक्खणो। भायणं सव्वदव्वाणं, भणितं अवगाहलक्खणं ॥१॥' पोग्गलत्थिकायो गहणलक्खणो, मिस्सगाणं दव्वाणं जा जस्स भावना, यथा क्षीरोदकं सीतलं धातुरक्तवर्द्धकं काशायी यावन्न परिणमत्युदकं तावन्मिश्रं भवति, गृहस्थानां च यः कुलग्रामादिनगरधर्मः, दानधम्मोत्ति यो हि येन दत्तेन धर्मो भवति स तस्मिन् देयद्रव्ये कार्यवदुपचाराद्दानधर्मो भवति, यथा–अन्नं पानं च वस्त्रं च, आलयः शयनाशनम्। शुश्रूषा वन्दनं तुष्टिः, पुण्यं नवविधं स्मृतं ॥१॥''लोइय लोउत्तरिओ' गाथा ॥१०१॥ भावधम्मो दुविहो–लोइओ लोउत्तरिओ य, लोइओ दुविहो–गिहत्थाणं कुप्पासंडीणं च, लोउत्तरिओ तिविहो–णाणं दंसणं चरित्तं च, णाणे आभिणिबोधिगादिना दंसणे उवसामगादिना, चरित्ते पंचविहो सामायगादिना पाणिवधवेरमणादिना वा, चतुर्विधो वा चाउज्जामो, रातीभोयणवेरमणछट्ठो वा छव्विहो, पासट्ठभावधम्मट्ठितेहिं पासत्थो, अण्णादीहिं दाणग्रहणं ण कायव्वं, संसग्गी वा, तत्थ पासत्थोसण्णकुशीलसंथवो, एत्थ अत्थे गाथा 'पासत्थोसण्णकुसीलसंथवो ण किर वट्टते काउं। सूयकडे अज्झयणे धम्मम्मि णिकाइयं एयं ॥ १०२ ॥ णामणिप्फण्णो गतो। सुत्ताणुगमे सुत्तमुच्चारेयव्वं, 'कतरे धम्मे आघाते' सिलोगो ॥४३७॥ कतरे केरिसो वा, आघात इत्याख्यातो, माहन इति भगवानेव, समणेत्ति वा माहणेत्ति वा एगट्ठं, मन्यते अनयेति मतिः–केवलमिति, मतिरस्यास्तीति मतिमान्, अतस्तेन मतिमता, एवं जंबुणामेण पुच्छिओ सुधम्मो आह–'अज्जुधम्मो जहा तहा' अंजुरिति आर्जवयुक्तः, न दंभकव्वादिभिरुपदिश्येत, ते कुशीलाः बालवीर्यवन्तः, ते नार्जवानि ब्रुवते, ब्रुवते वा न वयं परिग्रहवन्तः आरंभिणो वा, एतत्सङ्गस्य बुद्धस्य उपासकानां वा इति, भागवतास्तु नारायणः करोति

द्रव्यधर्मादि

॥२१७॥

हरति ददाति वा, उक्तं हि–यस्य बुद्धिर्न लिप्येत, हत्वा सर्वमिदं जगत् । आकाशमिव पङ्केन, न स पापेन लिप्यते ॥१॥' नैवं भगवता अनार्जवयुक्तो धर्म्मः प्रणीतः, भगवता तु यो यथावस्थितस्तं तथैव मत्वा निरुपधो धर्म्मोपदिष्टः, न लोकपक्तिनिमित्तं, ग्लानाद्युपधिना वा किंचित्सावद्यमार्तेन वर्त्तव्यमित्युपदिष्टं, जिनानामिति षष्ठी, जिनानां संतकं तीतानागतानां, पठ्यते च 'जणगा तं सुणेह मे' यथोद्दिष्टधर्म्मप्रतिपक्षभूतस्त्वधर्म्मस्तत्र चामी वर्त्तन्ते । 'माहणा क्षत्रिया वेस्सा' सिलोगो ॥ ४३८ ॥ माहणा मरुगा सावगा वा, खत्तिया उग्गा भोगा राइण्णा इक्खागा, राजानः तदाश्रयिणश्च, अथवा क्षत्रेण जीवन्त इति क्षत्रियाः, वैश्या सुवर्णकारादयः,ते हि हवनादिभिः क्रियाभिर्धर्ममिच्छन्ति, चण्डाला अपि ब्रुवते–वयमपि धर्मावस्थिताः कृष्यादिक्रियां न कुर्म्मः, बोक्कसा णाम संजोगजातिः, जहा बंभणेण सुद्दीए जातो णिसादोत्ति वुच्चति, बंभणेण वेस्साए जातो अम्बट्ठो वुच्चति, तत्थ णिसाएणं अंबट्ठीए जातो सो बोक्कसो वुच्चति, एसिया वेसिया एंतीति एषिका–मृगलुब्धका हस्तितापसाश्च मांसहेतोर्मृगान् हस्तिनश्च एंति, मूलकन्दफलानि च, ये वा परे पाखण्डा नानाविधैरुपायैः भिक्षामेषंति, यथेष्टानि चान्यानि विषयसाधनानि, अथवैषिका वणिजः, तेऽपि किल कालोपजीवित्वाद्धर्म्मं किल कुर्वते, अथवा वैश्या स्त्रियो वैशिकाः, ता अपि किल सर्वा विशेषाद्वैश्यधर्मे वर्त्तमाना धर्मं कुर्वन्ति, शूद्रा अपि कुटुम्बभरणादीनि कुर्वंतो धर्ममेव कुर्वते, उक्तं हि–'या गतिः क्लेशदग्धानां, गृहेषु गृहमेधिनाम् । पुत्रदारं भरंतानां, ताङ्गति व्रज पुत्रक ! ॥१॥' ये अनुद्दिष्टा च्छेदनभेदनपचनादि दव्वे, भावे आरंभे णिस्सिता णियतं सिता णिस्सिता, 'परिग्गहे णिविट्ठाणं सिलोगो ॥४३९॥ परिग्गहो सचित्तादि ३, दव्वादिचतुर्विधो वा, तेसिं माहणादिकुशीलाणं परिग्गहे णिविट्ठाणंति उवज्जिणंताणं सारवंताण य णट्ठविणट्ठं च सोएन्ताणं, तेसिं पावं पवड्ढति, आउअवज्जाउ सत्त कम्मपगडीओ सिढिलबंधण-

बद्धाओ धणियबंधणबद्धाउ करेंति, एतेषां आरंभसंवुत्ता कामा, हिंसादिआरंभेन संवृत्ता, आरंभसंभुता कामा अथवा संमता नाम आरम्भ एषां संमतः, कथं आरंभि णिस्सिया तिष्ठन्ति, तालिसं, उक्तं हि–आरंभारंभकर्माणि, श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः। तथा न ते प्राणैरपि परिरक्षिता जराव्याध्युदये दुःखोदये वा मृतौ वा प्राप्ते तस्मान्दुःखान्मोचयन्ति, न च नरकादिषु प्राप्तस्य ततो नरकादिषु दुःखाद्विमोचयंति।'आघातं किच्चमाधेतुं'सिलोगो ॥४४०॥ आहन्यतेऽनेनेति आघाएत्ति, मरणमित्यर्थः, आघाते आघातस्य वा कृत्यं मरणकृत्यमित्यर्थः, आघाते शरीरं संस्कारयित्वा दहंति मृतकृत्यानि चास्य पितृपिंडादीनि आघाएत्ति तमाध्याय कुर्वंति, महिषच्छागाद्याश्च वध्यन्ते, करकतभक्तानि कुर्वन्ति, उक्तं हि—'अवहत्थेण य पिंडं परिपिंडेऊण पत्थरेंतस्स।' इत्यादि मरणकृत्यं, अथवा आधेतुं—काऊण तं पणिधाय, ये तस्य भ्रातृपुत्रादयो दायादाद्या जीवंति शब्दादिविषयैषिणो तेन मृतधनेन वयं भोगान् भोक्ष्यामहे, अज्ञातयोऽपि दासभृत्यमित्रादयः तत् च्युतं धनं तर्कयन्ति, अपुत्राणां च मृतकूटं राजा गृह्णाति, एवं वै राज्यादिसामन्यं, अण्णे हरंति तं वित्तं अन्य इति अन्य एव दायादाद्याः भृत्यराजचोरादयः, हरंति वा विभयंति वा णामेंति वा एगट्ठं, उक्तं च–'ततस्तेनार्जितैर्द्रव्यैर्दारैश्च परिरक्षितैः। क्रीडन्त्यनेन राजानः (न्ये नरा राजन्) हृष्टतुष्टा ह्यलंकृताः ॥ १ ॥' कर्म अस्यास्तीति कर्म्मी, तत्कर्माय स्वकर्मनिर्वर्तितां गतिं प्राप्य, तत्कर्मफलमन्वेषति। 'माता पिता ण्हुसा भ्राता' सिलोगो ॥४४१॥ उरसि भवा औरसाः औरसा अपि ताव तके न त्राणाय, किं क्षेत्रजातादयः ?,'णालं ते मम ताणाए' यथैव मात्रादयो न त्राणाय सम्बन्धेन तथैवारम्भपरिग्रहावपि न त्राणाय, विषयाश्च णालं भवते मम ताणाए, लुप्यमानस्येति शारीरमानसैर्दुःखैर्दौर्मनस्सु इहभवेऽपि न तावत्त्राणाय किमुत परभव इति, कालसोअरिअपुत्तो सुलसो अभयकुमारसखा श्रावक-

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२२०॥

दारको, श्रावकश्चासौ दारकश्च, दृष्टान्त 'एतमट्ठं सपेहाए' सिलोगो ॥४४२॥ अत्थमिति योऽयमुक्तोऽर्थः, न ह्यधर्मिकाणामिह परत्र वा लोके शरणमस्तीति, त्राणं वा, सम्मं पेहाए, परमः अर्थः परमार्थः मोक्ष इत्यर्थः, तं परमार्थं अनुगच्छन्ति परमट्ठाणुगामी, यथोदिष्टेषु मात्रादिषु वैराग्यमनुगच्छन्ति, ज्ञानादयो वा परमार्थानुगामिकाः, स एवं साधुः 'णिम्ममे णिरहंकारे' नास्य कलत्र-मित्रवित्तादिषु बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु ममता विद्यते इति निर्ममः, न चाहंकारः पूर्वैश्वर्यजात्यादिषु च सम्प्राप्तेष्वपि च तपःस्वा-ध्यायादिषु, चरेदित्यनुमतार्थः, जिणाहितं आख्यातं, मार्गमित्यर्थः, चारित्रं तपो वैराग्यं वा, त एवं मात्रादयो नाम सम्ब-न्धिनः न त्राणायेति इत्यतः 'चेचा पुत्ते य मित्ते य' सिलोगो ॥४४३॥ पुत्रे ह्यधिकः स्नेहः तेनादौ ग्रहणं क्रियते, मित्ता तिविहा-महजातकादयः, महजातकाः पूर्वापरसम्बन्धिनः, परिग्गहो हिरण्यादि, चेच्चाण अत्तगं सोतं त्यक्त्वा चेच्चाण आत्मनि भवं आत्मकं तत्र मित्रज्ञातयः परिग्रहाश्चैवं बाहिरंगं सोतं, मिच्छत्तं कसाया अण्णाणं अविरती य एतं अत्तगं सोत्तं, श्रोतद्वारमित्यर्थः, पलवते च-चेच्चाण अंतगं सोतं अण्णत्ता अणोण्णाविरती मिच्छत्तपज्जवा, उभयमवि वा, णिरवेक्खो परिवए औज्जुगं धम्ममणुपालेन्तो न पुत्रदारादीनि पुनरपेक्षते, उक्तं हि-'छलिता अवयक्खन्ता णिरवेक्खा गता मोक्खं' स एवं प्रव्रजितः स्वरुचिनाऽवस्थितात्मा अहिंसादिषु व्रतेषु प्रयतेत, तत्राहिंसाप्रसिद्धये जीवा अपदिश्यन्ते-पुढवी उ अगणि वाऊ' सिलोगो ॥४४४॥ कंठयं, सर्वेषां भेदो वक्तव्यः, अयथार्थं परिहर्तुं इत्यतो भेदः, एतेहिं छहिं कायेहिं० सिलोगो ॥४४५॥ एतेहिंति जे उदिट्ठा छकाया, त्रिज्ञामेति शिष्यनिर्देशः, विजतित्ति विद्वान्, स एव शिष्यो निर्दिश्यते तद्विद्वान्, परिजाणिया परिजाणिउं, परिण्णाए दुविधाए, मनसा कायवक्केणं णारंभी ण परिग्गही एक्केके काये णवगो भेदो, न च परिग्गहं कुर्यात्, परिग्गहनिमित्तो हि मा भूत्कायारम्भः,

परमार्थादि

॥२२०॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२२१॥

एवं सेसाणिवि वयाणि पालेजा, अण्णहा 'मुसावातं बहिद्धं च' सिलोगो ॥४४६॥ बहिद्धं मिथुनपरिग्रहो गृह्यते, तत्र वर्त्तमानोऽतीव धर्माद्बहिर्भवतीति बहिद्धं, उग्गहं जमजाइयमिति अदत्तादाणं, एताणि सत्थादाणाणि लोगंसि शस्यते अनेनेति शस्त्रं, शस्त्रस्य आदानानि शस्त्रादानानि, लूयंत इत्यर्थः, कस्य शस्त्रस्य ?, असंयमस्य, तदेतद् बिद्वत्परीजानीहि, अथवा उपदेशो भवति, तदेतद् विद्वान् परिजानीयात् । इदानीं उत्तरगुणः-पलिउंचणं च भयणं च' सिलोगो ॥४४७॥ सर्वतः कुंचनं पलिउंचणं माया, भंजणं भज्जते वाऽसाविति असंयतैर्भञ्जनः लोभः, स्थण्डिलास्थानीयं करोति, क्रोध एव स्थण्डिलः वपुर्वैवर्ण्यादि च, उच्छ्रयनप्रुच्छ्रयः उच्छ्रयणादिति, बहुवचनं जात्यादीनि अष्टौ मदस्थानानि 'धुत्तादानानि लोगंसि' धूर्त्तस्यायतनानि कर्मपसुतय इत्यर्थः, एवं यद्यदा वर्जयितव्यं तत्सर्वमिह श्रमणधर्मे वर्ण्यमानेऽपदिश्यते, उत्तरगुणाधिकारे च पठ्यते 'धावणं रयणं चेव' सिलोगो ॥४४८॥ धावणं वस्त्राणां, रयणं तेषामेव दन्तनखादीनां च, वमणं च विरेयणं, मुखवर्णसौरूप्यार्थं च वमनं करोति, विरेचनमपि बलाग्निवर्णप्रासादार्थं, वत्थिकम्मं सिरोवेधं, तं विद्वं परिजाणिया, वत्थिकम्मं अणुवासणाणि महावा, तत्थ पलिमंथो संजमस्स,'गंधमल्लसिणाणं च'सिलोगो ॥४४९॥ गन्धाश्चूर्णादयो, मल्लं गंधमादी, सिणाणं देसे सव्वे, दंतपक्खालणं दंतधोवणं जहा कुंचकुंचावेति, परिग्गहं हत्थकम्मं च, परिग्गहो सचित्तादि, इत्थी तिविहाओ, कम्मं हत्थकम्मं, स्यात्पूर्वं बहिद्धावर्जनमुपदिष्टं इत्यतः पुनरुक्तं, उच्यते, तद्भेददर्शनान्न पुनरुक्तं,'उद्देसियं कीतकडं'॥४५०॥ कंठो सिलोगो 'आसूणियं'॥४५१॥ आत्मनिकं णाम श्लाघा येन परैः स्तूयमानः सुज्झति यावत्थुणोति यावद्वाऽनुसरति तावत्सुज्झति मानेनेति इत्यात्मनिकं, अथवा जेण आहारेण आहरितेण सुणी होति, बलवन्तं भवति, व्यायामस्नेहपानरसायनादिभिर्वा अक्षिरागं अंजनं गृद्धिर्बाह्येऽभ्यन्तरे वा वस्तुनि, उपोद्घा-

मृषावादादित्यागः

॥२२१॥

प्रत सूत्रांक ||४३७-४७२|| दीप अनुक्रम [४३७-४७२]

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२२२॥

तकर्म णाम परोपघातः तच्च करोतीत्याह, जातितो कर्मणा सीलेण वा परं उवहणति, उच्छोलणं च हत्थपादमुखादीनां, कल्केन अद्गमादिणा हत्थपादमुपत्थगत्ताणि उव्वट्टेति तं विद्वान्परिजाणिया 'संपसारी कतकिरिए'सिलोगो ॥४५२॥ संपसारगो णाम असंजताणं असंजमकज्जेसु सामत्थं देति उवदेसं वा, कयकिरिओ णाम जो हि असंजयाणं किंचिदारम्भं कृतं प्रशंसति, तद्यथा–साधु गृहं कृतं, साधुश्चायं सदृशः संयोगः, पासणियो णाम यः प्रश्नं छेदति, तद्यथा–व्यवहारेषु मिथ्याशास्त्रगतसंशयिके व्यवहारे तावद्यदेष ब्रवीति तत्प्रमाणं, शास्त्रेष्वपि लौकिकशास्त्राणां व्याख्यानं ब्रवीति, भावछके वा साहति सागारियपिंडवत्, विज्जं परिजाणिया कंठयं। 'अट्ठापदं ण सिक्खेज्जा'सिलोगो ॥४५३॥ अट्ठापदं नाम द्यूतक्रीडा, न भवत्यराजपुत्राणं, तमट्ठापदं न शिक्षेत्, पूर्वशिक्षितं वा न कुर्यात्, वैधा नाम द्यूतं तच्च समूसितंगे, रुधिरं जंतछिज्जंति ण, हत्थकम्मं विवाहं च हत्थकर्म्म हस्तकर्म्मवत् 'हस्ते खण्ड०' गाथा, विवादो विग्रहः कलह इत्यनर्थान्तरं, स तु स्वपक्षपरपक्षाभ्यां विज्जं विद्वान्, परिजानीहि।'उवाहणाउ छत्तं च'सिलोगो ॥४५४॥ उपानहो पादुके च वर्जयितव्ये, छत्रमपि आतपप्रकर्षपरित्राणार्थं न धार्यं, नालिका नाम नालिकाक्रीडा कुदुकाक्रीडत्ति, परकिरिया अण्णमण्णं च, परकिरिया णाम णो अण्णमण्णस्स पादे आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा जहा छट्ठे सत्तिक्कते, अण्णमण्णकिरिया णाम इमोवि इमस्स पादे आमज्जति वा रएइ, इमोवि इमस्स, 'उच्चारं पासवणं' सिलोगो ॥ ४५५ ॥ कंठयं विगडं णाम विगतजीवं, विगतजीवेणापि तावत्तन्दुलोदगादिना न तत्र कल्पते आयमितुं, किमु अनवगतजीवेणं, एवमन्यत्रापि, अथंडिले पडिसिद्धं, साहट्टुरिति विगतजीवं साहरिऊण ताणि वा हरिताणि साहरितूणं। 'परमत्ते अण्णपाणं तु' ॥ ४५६ ॥ परस्य पात्रं गृहिमात्र इत्यर्थः, अथवा पडिग्गहधारिस्स पाणिपात्रं परपात्रं, पाणिपरिग्गहियस्सवि पडिग्गहो परपात्रो भवति, पर-

कल्कादिवर्जनं

॥२२२॥

वत्थं च अचेलतिएवि परस्य वस्त्रं गृहिवस्त्रमित्यर्थः, तत्तावत्सचेलो वर्जयेत्, मा भूत्पश्चात्कर्मदोषः हते दोषश्च, यद्यप्यचेलकः स्यात्, एवं तावत्सचेलकस्य, यः पुनरचेलकस्यात्मीयमपि वस्त्रं तत् परवस्त्रमेव, न हि तस्य तदनुज्ञातं, स्वयं चोत्सृष्टत्वादित्यतः परवस्त्रं 'आसंदी पलियंकं'सिलोगो ॥४५७॥ आसंदीत्यासंदिका सर्वा आसनविधिः, अन्यत्र काष्ठपीठकेन, पलियंकेन, पलियंकः पर्यंक एव, 'गंभीरविजया एते०' इत्यादयो दोषाः, गिहंतरे णिसेज्जं ण वाहेज्ज 'अगुत्ती बंभचेरस्स, पाणाणं च वधे वध' इत्यादयो दोषाः,'संपुच्छणं च सरणं वा' संपुच्छणं णाम किं तत्कृतं न कृतं वा स पुच्छावेति अण्णे, केरिसाणि मग अच्छीणि सोभंते ण वेति एवमादि, ग्लानं वा पुच्छति–किं ते वट्टति ? ण वट्टइ वा ?, सरणं पुव्वरत्तपुव्वकीलियाणं तं विद्वान् परिजानीहि। जसं किर्त्तिं सिलोगं च' सिलोगो ॥ ४५७॥ दानबुद्ध्यादिपूर्वं यशः तपःपूजासत्कारादि पश्चाद्यशः, यशः एव कीर्त्तनं जसकित्ती, सिलोगो णाम श्लाघा नीतितपोबाहुश्रुत्यादिभिरात्मानं श्लाघेत, वंदणपूयाउवि ण कामए, ण वा कज्जमाणासु रागं गच्छेज्जा, सव्वलोगंसि जे कामा कामा दुविहा इच्छामदनभेदात् पञ्चविधा वा, किंच–'जेणेहं णिव्वहे भिक्खू'सिलोगो ॥४५९॥ जेणेति जेण धम्मकहाए वा संथवेण वा, आजीववणीमगत्तेण वा, अन्नतरेण वा उवघातणादोसेणं, अण्णहेतुं वा पाणहेतुं वा पयुंजमाणेण इमा ओवम्मा, णिव्वहति नाम निर्गच्छति, तन्न कुर्यादिति, अथवा जे णिहं णिहं णिव्वाहेति येनास्य इहलौकिकं किंचित्कार्यं निष्पद्यते मित्रकार्यं, प्रति दास्यति वा मे किंचित्, परित्रास्यति वा, धरिस्सइ वा मे किंचित् उवगरणजातं, एवमादिकं किंचिदिहलोकिककार्यं निर्वाहकं साधकमित्यर्थः, तं पडुच्च अण्णं पाणं वा, सीलमंते सुसीलो वा, न पुनः परमार्थेन, शीलवन्तः साधुः तस्स मुधेव णिज्जराए दायव्वं, नत्विहलौकिकं किंचिन्निर्वाहकं प्रतीत्य दायव्वं, अथवा शीलवानिति श्रावकः, अशीला नाम मिथ्यादृष्टयः, तस्मिन् शीलवति वा

परवस्त्रादि-वर्जनं

॥२२३॥

दाणं विवज्जए। 'एवं उदाहु णिग्गंथे' सिलोगो ॥४६०॥ एवमवधारणे, उदाहृतवान् उदाहुः, नास्य ग्रन्थो विद्यत इति निर्ग्रन्थः महावीरः, स एव च महामुनिः, किं महं? यदसौ मनुते, अणंतं णाणदंसणं च, धम्मं देशितवान्, श्रुतमिति कम्मंतरं, धर्म्मं अनेन श्रुतधर्मेण चारित्रधर्मावशेषमेव श्रुतधर्मेणापदिश्यते 'भासमाणो ण भासेज्ज' सिलोगो ॥४६१॥ अथवा तेण भगवता भाषासमितेनायं धर्म उदिष्टः योऽप्यन्यं कथयति सोऽप्येवमेव कथयतु, भासमाणो ण भासेज्ज, यो हि भाषामितः सो हि भाषामाणोऽप्यभाषक एव लभ्यते, उक्तं च-'वयणविभत्तीइ कुसलो वयोगतं बहुविधं वियाणंतो। दिवसंपि जंपमाणो सोवि हु वइगुत्ततं पत्तो ॥१॥' जहाविधीए परिहरमाणो सचेलोवि अचेल एवापदिश्यते, जहा वा आकंडुअगो य णिट्ठुभगो य, अथवा भासमाणे ण भासेज्ज, ण रातिणियस्स अंतरं भासं करेज्जा, ओमरातिणियस्स वा, णो य वंफेज्ज मंमयं वंफेति णाम देसीए भासाए उल्लावो वुच्चति, तदपि च अपार्थकं अश्लिष्टोक्तं बहुधा तं वंफेतिचि वुच्चति, अथवा ण वंफेज्ज मम्मयंति, कथं?, जातिकुशीलतवेहिं मर्मकृत् भवतीति मर्मकं, मायाठाणं न सेविज्ज माया णाम गूढाचारतो कृत्वाऽपि निह्नवः, करिष्यमानश्च न तथा दर्शयत्यात्मानं, यदा वक्तुकामो भवति तदा पूर्वापरोऽनुचिंत्य वाहरे। किंच, 'संतिमा तधिया भासा' सिलोगो ॥४६२॥ सन्तीति विद्यन्ते, तथिका नाम सद्भूता इत्यर्थः, भाष्यत इति भाषा, अनेके एकादेशात् जं वदित्ताऽणुतप्पति स्वयमेव चौरः काणः दासस्तथा राजविरुद्धं वा लोकविरुद्धं वा एप वा इणमकासी, अनुपातो हि दोषं प्राप्य वा वन्धघातादि भवति, अप्राप्तस्य परं वा सागसं निरागसं वा दोषं प्रापयित्वा चानुतापो भवति, किंच-'जं छण्णं तं न वत्तव्वं' छण हिंसायां यद्धिंसकं तन्न वक्तव्यं, तद्यथा-क्रूयतां केदारः युज्यतां शकटानि गोर्वध्यतां निविश्यन्तां दारका इति, एसा आणा णियंठिया

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२२५॥

आज्ञा नाम उपदेशः, णियंठा इति निर्ग्रन्थः, एषा महाणियंठाण वा, एषा आज्ञा उपदिष्टा, किंच ॥४६४॥ होला इति देसीभाषातः, समवया आमन्त्र्यते यथा 'लायनं कोइ रे हेल्ल'त्ति, सहीवादमिति सखेति, सोलवादो प्रियभाष इव, गोत्रावादो वा पठ्यते, यथा किं भो! ब्राह्मण क्षत्रिय काश्यपगोत्र इत्यादि, तुमं तुमंति अपडिण्णे जो अ तुमंकारमिज्जे, वृद्धो वा प्रभविष्णुर्वा स न वक्तव्यः, अपडिण्णो णाम साधुरेव, सव्वसो तं ण वत्तए–सर्वशस्तन्न ब्रूयात्। किंच–यदुक्तं णिज्जुत्तीए–'पासत्थोसण्णकुसील-संथवो ण किर वट्टति' तदिदं–'अकुशीले सदा भिक्खू' सिलोगो ॥ ४६४ ॥ कुत्सितं शीलं यस्य स भवति कुशीलः, स तु पासत्थादीणं एगं, ततो पंचण्हवि, तन्न तावत् स्वयं कुशीलेन भाव्यं, णो य संसग्गियं भये न च तैः संसर्गी कुर्यात्, संसर्जनं संसर्गिः, आगमणदाणग्रहणसंप्रयोगान्मा भूत् 'अंबस्स य णिंबस्स य'त्ति तं न संसर्गिं तैर्भजेत् संसर्गिस्तद्भवं गमयति–कथं?– सुहरूवा तत्थुवसग्गा सुखरूपा नाम सुखस्पर्शाः, तद्यथा को फासुगपाणीएण पादेहिं पक्खालिज्जमाणेहिं दोसो?, तहा दंतपक्खालणे, उव्वट्टणे, एवं लोगे अवण्णो न भवति, अहवा सुख इति संयमः, संयमानुरूपा हि तत्रोपसर्गा भवन्ति, मणे वइं, त्रिविधेनापि करणेन सातिं मनुते, णणु को आहाकम्मे दोसो?, ण वा सरीरोऽधम्मो भवति, तेण शरीरसंधारणत्थं उपाहणसन्निधिमादिसु को दोसो?, उक्तं हि–'अप्पेन बहुमसेज्जा, एतं पंडितलक्खणं।' संपयं हि अप्पाइं संघयणाइं धितिओ य तेण एवमादिसु रूवेसु उवसग्गेसु पडिबुज्झेज, तेवि हु पडिबुज्झेज्ज णाम जाणेज्जा, जाणित्ता ण संसग्गिं कुज्जा, यदापि नाम स्यात् यदृच्छया तैः संसर्गी तदापि एवमादि सुहरूवे उवसग्गे पडिबुज्झेज, तेवि हु पडिबुज्झिऊणं ण सद्दहेज, यथाशक्तितश्च अभिहन्यात्। किंच–भिक्खादिनिमित्तं च गृहपतिमनुप्रविश्य तत्र 'नन्नत्थ अंन्तरायेण' सिलोगो ॥४६५॥ अंतरागं 'जराए अभिभूतो वा, वाहितो तपस्वी'

होलावाद-निषेधादि

॥२२५॥

इत्यादि, गामकुमारीयं किड्डं, ग्रामधर्म्मः क्रीडा, कुमारक्रीडा च गामकुमारीयं, किं तत्र ?, ग्रामक्रीडा हास्यकन्दर्पहस्तस्पर्शनालिंगनादि तामिः सार्द्धं, एवं वा स्त्रीभिः क्रीडते इति, पुंभिरिति सार्द्धं, कुमारकानां क्रीडा कुमारक्रीडा, तद् तंदुमआदालिंगादि, तं तु खुड्डगेहिं सार्द्धं गिहत्थकप्पट्ठगेहिं वा महंतेहिं वा सव्वकेली न कायव्वा, नचातीत्य वेलां हसे मुणी, वेला मेरा सीमा मज्जायत्ति वा एगट्ठं, नातीत्य मार्यादां हसे मुणी,'जीवे णं भंते ! हसमाणो वा उस्सुयमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?, गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा' इह हसतां संपाइमवायुवधो। किंच–'अणुस्सुओ'सिलोगो ॥४६६॥ अणिस्सि(णुस्सु)ए उरालेहिं, उराला नाम उदाराः शोभना इत्यर्थः, तेषु चक्रवर्त्यादीनां सम्बन्धिषु शब्दादिषु कामभोगेसु अन्यैश्वर्यवस्त्राभरणगीतगान्धर्वयानवाहनादिषु इह च परलोके वा अनिःसृतो अपमत्तो परिव्वए, अन्येषु वा आहारादिषु, चरियाए अप्पमत्तो, चरिया भिक्खुचरिया तस्यामप्रमत्तः स्याद्, यदि नाम तस्यामप्रमत्तः परीषहोपसर्गैः स्पृशेत् ततो समाधिमधियासए।'हम्ममाणो न कुप्पेज्ज'सिलोगो ॥ ४६७॥ वुच्चमाणो असिलोगो नाम असुस्सूस्समाणो निंदिज्जमाणो वा णिब्भत्थिज्जमाणो वा न संजले, न हि विदितः क्रोधमानाभ्यामिन्धनेनेव वाह्निं संजले, तं पुण समणो अहियासेज्जा, सुमणो नाम रागदोसरहितो, ण य कोलाहलं करे ण उक्कट्ठिं बोलं वा करेज्ज, राजसंपसारियं वा। किंच–'लद्धे कामे ण पत्थेज्जा' सिलोगो ॥४६८॥ लद्धा णाम जइ ण कोइ वत्थगंधअलंकारइत्थीसयणासणादीहिं णिमंतेज्ज तत्थ ण गिण्हेज्ज, जओ धावितो, अथवा लद्धे कामे तवोलद्धीओ आगासगमणविभुतादीओ अक्खीणमहाणसिगादीओ य ण दाव उवजीवेज्ज, ण य अणागते इहलौकिके एता एव वत्थगंधादीए, परलोगिगे वा, जहा बंभदत्तो तहा ण पत्थेज्ज, एवं ताव विवेगो आख्यातो भवति, किंच–आयरियाइं सेवेज्ज आचरणीयाणि आयरियव्वाणि दुविधा-

क्रीडा-वर्जनादि

॥२२६॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२२७॥

एवं सिक्खाए, केसामंतिगं ?–सुबुद्धाणं, सुट्ठु बुद्धा सुबुद्धा गणधराद्याः यथा यदा काले (द्वा ये यदा काले)आचार्या भवन्ति। किंच–'सुस्सूसमाणो उवेहेज्ज' सिलोगो ॥ ४६९॥ श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा, कोऽर्थः ?, पूर्वमुक्तं आयरियाइं सिक्खेज्ज सुबुद्धाणं, तेषां सकाशादिदानीं तदर्थसुश्रूषा तथैव, उपासित, सु पत्थं शोभनप्रज्ञं, सुप्रज्ञं–गीतार्थं प्रज्ञावन्तं, सुट्ठु तवस्सितं सुतवस्सितं, यदि चेत्संविग्ग इत्यर्थः, तत्र केवंविधाचार्याः शरणं ?, वीरा जे अत्तपण्णेसी वीराजन्त इति वीरा, आत्मप्रज्ञमेषन्तीति आत्मप्रज्ञैषिणः, आत्मज्ञानमित्यर्थः, कथं ?, येनात्मा ज्ञायते येन वाऽस्य निस्सरणोपायः संयमवृत्तिव्यवस्थित इति, पुरुषादानीयाः सेव्यंत इत्यर्थः, राजानो राजामात्यादिकाश्च पंडिता धर्मलिप्सवो वा, पुरुषादानीया यदा संवृता भवन्ति इत्यतः प्रव्रजंति, प्रव्रजितास्तु 'ते वीरा बंधणुम्मुक्का' ॥४७०॥ अहवा पूर्वं गृहवासे द्विविधमपि भावद्वीपं अदृष्टवन्तः प्रव्रज्यामुपेत्य पुरुषादानीयाः यदा संवृता भवन्ति धर्मं लिप्सुभिः पुरुषैरादानीयाः, अथवा ग्राह्याः पुरुषा इत्यादानीयाः, अथवाऽऽदानीय इत्यादानार्थिकः साधुः पुरुषासौ आदानीयश्च पुरुषादानीयः, ते धीरा इति आदानीयाः, वीराजन्त इति वीराः, बन्धनानि कालादीनि तेभ्यो मुक्ता बंधणुम्मुक्का, न तदसंजमजीवितं पुनरवकाङ्क्षते विषयकषायादिजीवितं वा, जं तं कषायादिजीवितं पासत्थादिजीवितं तदिदं। तंजहा–'अगिद्धे सद्दफासेसु' सिलोगो ॥४७१॥ मणुण्णेसु सद्देसु फासेसु य अगिद्धेण भवितव्वं, रूवेसु अमुच्छितेण भवितव्वं, एवं गंधरसेसु, अमणुण्णेसु य सव्वेसु देसो न कायव्वो, णिगमणमिदाणिं अपदिश्यते 'सव्वं तं समयातीयं' सव्वमिति यदिदं धर्मं प्रति इह मयाऽध्ययनेऽपदिष्टं, समय आरुहत एव, आदियंति भक्षणं, सामाभ्यन्तरकरणमात्रं, अद भक्षणे, समयेण अतीतं समयाभ्यन्तरे ण, समयेनावद्धमित्यर्थः, अथवा ये वा परे कुसमयास्तान् कुसमयान् तदतीतं, अज्ञानदोषाद्विपर्यलाभस्थावनतैराचर्यत

सुबुद्धश-श्रूषादि

॥२२७॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः १० समा० ॥२२८॥

इत्यर्थः, किं तत् ?, यदिदं लवितं बहु, लवितं नाम कथितमित्यर्थः, किंच–उक्तावशेषमिदमपदिश्यते 'अतिमाणं च मायं च' सिलोगो ॥४७२॥ अतिरतिक्रमणादिषु, अतिशयेन मानं अतिमानं, एवं मायामपि, चशब्दात् क्रोधलोभावपि, कोऽर्थः ?, यदपि च चेत् क्रोधोदयः स्यात्तथापि तस्य निग्रहः कार्यः न तु साफल्यं, एवं शेषाणामपि अज्झवसेया, यद्यपि मानार्हेष्वाचार्यादिषु प्रशस्तो मानः क्रियते सरागत्वात् तथापि तमतीत्य योऽन्यो जात्यादिमानः तं परिण्णाय–तं दुविधाएवि परिण्णाए परिण्णाय परिजाणेज्ज, शेषेष्वपि प्रयोजयितव्यं, **गारवाणि य सव्वाणि** इड्डीगारवादीणि, परिज्ञायेति वर्त्तते, **णिव्वाणं संधए मुणि** णिव्वाणमिति संयम एव, तं संयमं अच्छिण्णसंधणाए ताव संधेहि जाव परं संयमट्ठाणं संधितं, अथवा निर्वाणमिति मोक्षः संधित इति ॥ धर्माध्ययनं नवमं समाप्तं ॥

समाधित्ति अज्झयणस्स चत्तारि अणुयोगदारा, अहियारो से समाधीए, एसो य जाणितुं फासेतव्वो णामणिप्फण्णो, **'आदाणपदेणाधं गोण्णं णाम'** गाथा (१०३) यस्मादादौ व्यपदिश्यते 'आधंति मतिमं अणुवीति धम्मं' इतरथा त्वध्ययनस्य समाधिरिति संज्ञा, तेनैवार्थाधिकारः, जहा असंखयस्स आदाणपदेण असंखतंति णाम, तं पुण पमायापमादत्ति अज्झयणं वुच्चति, जेण तत्थ पमादो अप्पमादो य वण्णिज्जति, तहेव लोगसारविजयो अज्झयणं, आदाणपदेणं पुण आवंतित्ति वुच्चति, एवमादीणि अज्झयणाणि आदाणपदेण वुच्चंति, गुणणिप्फण्णेणं पुणाइं णामेण तेसिं णिक्खेवो भवति, एयस्स पुण गुणणिप्फण्णं णाम समाधिः, सा च षड्विधा भवति, **'णामं ठवणादविए'** गाथा (१०४) तत्थ दव्वसमाधी णं **'पंचसुवि य विसएसु'** गाथा (१०५) श्रोत्रादीनां पंचानामपि इन्द्रियाणां यथास्वं शब्दादिभिर्मनोज्ञैर्विपर्ययो तुष्टिरुत्पद्यते सा द्रव्यसमाधिः, अथवा दव्वं जेण तु दव्वेण

अतिमान-वर्जनादि

॥२२८॥

अस्य पृष्ठे दशमं अध्ययनं आरभ्यते

समाधी, साधितं च जं दव्वं सोभणवण्णादि सा दव्वसमाधिः, क्षीरगुडादीणां च समाधि अविरोध इत्यर्थः, दव्वेण समाधिरिति, जहा उपजुत्ताणं परिणामिगसमाधिरित्यादि, आहितं विच्यं ददति, जहा तु लोए आहितंति समं भवति, एसा दव्वसमाधिः, खेत्ततो समाहि खेत्तसमाही, जहा दुब्भिक्खहताणं सुभिक्खदेसं पाविऊण समाधी, तथैव चिरप्रवसितानां स्वगृहं प्राप्य, जत्थ वा खेत्ते समाधी वण्णिजति, कालसमाधी णाम जस्स जत्थ काले समाधी भवति, प्रशस्तावद्धानसंतानां वर्षासु नक्तमूलूकानां अहनि बलिभोजनानां वायमानां शरदि गवां, जस्स वा जच्चिर कालं समाधी,'भावसमाधी चतु०' ॥१०६॥ तंजहा–णाणसमाही दंसणसमाही चरित्तसमाही तवसमाही, णाणसमाही जहा जहा सुयमधिज्जति तथा तथाऽस्यातीव समाधिरुत्पद्यते, ज्ञानोपयुक्तो हि आहारमपि न कांक्षते, न वा दुःखस्योद्विजते, ज्ञेयार्थावलंबने चास्यातीव समाधिरुत्पद्यते, दर्शनसमाधिरपि जिनवचननिविष्टबुद्धिरिह निर्वातसरणप्रदीपवन्न कुमतिभिर्भ्राम्यते, चारित्रसमाधिरपि विषयसुखनिःसंगत्वात्परां समाधिमाप्नोति, उक्तं च–"नैवास्ति राजराजस्य तत् सुखं०"तपःसमाधिरपि नासौ तहा भावितत्वात् कायक्लेशक्षुत्तृष्णापरीषहेभ्य उद्विजते, तथैवाभ्यन्तरतपोयुक्तः ध्यानाश्रितमना निर्वाणस्य इव न सुखदुःखाभ्यां बाध्यते, गतो णामणिप्फण्णो। सुत्ताणुगमे सुत्तमुच्चारेयव्वं जाव 'आघं मतिमं अणुवीयि धम्मं' वृत्तं ॥ ४७३ ॥ सम्बन्धः अच्छिन्नं निर्वाणं, संधनेति वर्त्तते, स एवं भगवान् तस्यामच्छिन्ननिर्वाणसन्धनायां वर्त्तमान आघं मतिमं अणुवीयि धम्मं आघंति आख्यातवान्, मतिमानिति केवलज्ञानी, अणुवीयिचि अनुविचिंत्य कथयति, ग्राहकं ब्रवीति जहा 'णिउणे णिउणं अत्थं थूलत्थं थूलबुद्धिणो कथए' सुणेलूगावि चिंतेंति–मम भावमनुविचिन्त्य कथयन्ति, तिरियावि चिंतयंति–अम्हं भगवान् कथयति, आहाराद्या द्रव्यसमाधयः प्ररूप्य प्रशस्तभावसमाधिः अंजुमिति उज्जुगं न यथा शाक्या

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२३०॥

वृक्षं स्वयं न छिंदंति, भिन्नं जानीहि, तं छिदानं ब्रुवते तथा कार्षपणं न स्पृशंति, क्रयविक्रयं तु कुर्वते, इत्येवमादीभिः अंततो विक-रिपितव्यं, अपडिण्णो भिक्खू स समाधिप्रत्येकः समाधिप्राप्तः योऽप्रतिज्ञः इहपरलोकेषु कामेसु अप्रतिज्ञः अमूर्च्छित इत्यर्थः, अद्विष्टो वा, भिक्खू पूर्ववर्णितः तुर्विशेषणे भावभिक्खू विसेसिज्जति भावसमाधिरेव प्राप्तनिबन्धने न निदानभूतः, अनिदानभूतो नाम अना-श्रवभूतः सर्वतो व्रजेत् परिव्वए, अथवा अणिदानभूतेसु परिवएज्जा अनिदाणभूतानीति निदा बंधने अबन्धभूतानीति अनिदानतु-ल्यानीति ज्ञानादीनि व्रतानि वा तेसु परिव्वएज्जा, अथवा निदानं हेतुर्निमित्तमित्यनर्थान्तरं, न च कस्यचिदपि दुःखनिदानभूतो, जहा न तहा परिवएज्जा, काणि पुण णिदाणट्ठाणाणि ?, पावबंधादीणि, तत्थ पाणाइवातो चउव्विहो, तंजहा–दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ, तत्र क्षेत्रप्राणातिपातप्रतिषेधे प्रतिपादनार्थमपदिश्यते 'उड्ढं अहे या तिरियं दिसासु' वृत्तं ॥ ४७४ ॥ सव्वो पाणाइ-वातो कज्जमाणो पण्णवगादि संपडुच्च उड्ढं अहे य तिरियं वा कज्जति, तत्रोर्ध्वमिति अप्पणो यदूर्द्धमिति यदधः शिरसः, अधः इति अधः पादतलाभ्यां, शेषं तिर्यक्, तत्रोर्ध्वं संपातिमरजोवर्षोल्काप्रदीप्तगृहादीनि वायुवृक्षपक्षिमक्षिकाः ये वाऽन्ये वृक्षगृहाद्याश्रिताः, एव-मधस्तिर्यक् विभाषितव्याः, द्रव्यप्राणातिपातस्तु तसा य जे पाणा, भावप्राणातिपातस्तु हत्थेहिं पादेहि य असंजमतो, चशब्दात् अपि उच्छ्वासनिश्वासकासितवायुनिसर्गादिषु सर्वत्र संयमति, एवं समाधिर्भवति, एवं मायं माणं च संजमेज्जा, तथैव अदिण्णं ण गेण्हितव्वंति ततियं वतं, एवं सेसाणिपि अत्थतो परूवेयव्वाणि, ज्ञानदर्शनसमाधिप्रसिद्धये त्विदमपदिश्यते 'सुयक्खायधम्मे वितिगिच्छतिण्णे' वृत्तं ॥४७५॥ सुष्ठु आख्यातो धर्मः सम्भवति सुअक्खायधम्मे द्विविधो, वितिगिच्छातिण्णोत्ति दर्शनसमाधि गिहिता, निस्संकिय निक्कंखिय गाथा, जेण केणइ फासुगेणं लाढतीति लाढः सुत्तत्थतदुभयेहिं विचिचेहिं किसेवि देहे अपरितंते

अनि-दानादि

॥२३०॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२३१॥

लाढेत्ति, आयतुले पयासुत्ति प्रजायन्त इति प्रजाः पृथिव्यादयस्तासु यथाऽऽत्मनि तथा प्रयतितव्यं, न हिंसितव्या इत्यर्थः, आत्मतुल्या इति 'जह मम ण पियं दुक्खं०' एवं मुसावादेऽवि, जहा मम अब्भाइक्खिज्जंतस्स अप्पियं एवमन्नस्सापि, एवमन्येष्वपि आश्रवद्वारेषु आत्मतुल्यत्वं विभाषितव्यं, आयं ण कुज्जा इह जीवितट्ठी आयो नाम आगमः तमायं न इहलोकजीवितस्यार्थे कुर्यात्, अण्णपाणवत्थसयणपूयासक्कारहेउं वा चयं ण कुज्जा, चयो णाम सन्निचयं न कुर्याद्, अन्यत्र धर्मोपकरणं, शेषमाहारादि, वस्तुसञ्चयः सर्वः प्रतिषिध्यते, हिरण्यधान्यादिसंचयोऽपि प्रतिषिध्यते, येनानागते काले जीवका स्यादिति, तं प्रतीत्य भावसंचयो भवति, कर्मसंचय इत्यर्थः, तेण चयं ण कुज्जा सुतवस्सी-भिक्खू। किंच 'सव्विंदिया(याभि)णिव्वुडे पयासु'वृत्तं ॥४७६॥ सर्वेन्द्रियनिवृत्तो जितेन्द्रिय इत्यर्थः, प्रजायत इति प्रजाः-स्त्रियः, तासु हि पंचलक्खणा विषया विद्यन्ते, शब्दास्तावत्कलानि वाक्यानि विलासिनीनां, रूपेऽपि 'गतानि सव्वं व्यवलोकितानि, स्मितानि वाक्यानि च सुन्दरीणां०'रसा अपि चुंबनादयः, यत्र रसस्तत्र गन्धोऽपि विद्यते, स्पर्शाः सम्बन्धकुचोरुवदनसंसर्गादय इत्यतः सव्वेंदिया णिव्वुडो पयासु, सव्वओ विप्पमुक्क इति चरेत्, सर्वासमाधिविप्रमुक्तः सर्वबन्धनविप्रमुक्तः, किंच-स एवं विप्पमुक्तबन्धनः पासाहि पाणे य, पुढो णाम पृथक् २ अथवा पुढोत्ति बहुगे पाणे विविहेहिं दुक्खेहिं सण्णा विसण्णेहिं, विसंतो वा विसंतीति प्रविशंति संसारं नगरं परलोगं च, अथवा अयमाजवंजविभावो ज्ञायत एव, अट्ठविहकर्मोदयदुःखेन अट्टेति आर्त्तो, अथवा दुक्खट्टिता, अट्टत्ति आर्त्तध्यानोपगताः, मनोवाक्कायैः परितप्यमानो, 'एतेसु बाले तु पकुव्वमाणे' वृत्तं ॥४७७॥ एतेष्विति जे ते पुढो विसन्ना ये प्रकुर्वन्ते हिंसादीनि एतेष्वेव आवर्त्यते-कर्मणि पापकैः वध्यते च एवं बालो एवमित्यवधारने एवं हि बालः चौर्यपारदारिकादीनि इहैव हस्तादिच्छेदान् बन्धवधादींश्च प्राप्नोति,

आत्मतुल्यत्वादि

॥२३१॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२३२॥

एवं तु एवमनेन सामान्यतो दृष्टेनानुमन्ये यथा इह हिंसानृतचौर्याब्रह्मपरिग्रहादीन् प्रकुर्वन् दोषान् प्राप्नोति एवमेव परत्रापि नरकादिसु दुःखानि प्राप्नोतीत्यतः आउट्टति, आउट्टती नाम निवर्त्तते, वक्तारोऽपि च भवंति–आउट्ट समाउट्टो समाउट्टिंसु तु, इदाणिं बाला हि दृष्टापायाः प्रायसो निवर्त्तते, अपायोद्वेजिनां बालानां भीरूणां अपदिश्यते, तस्मात् कानि पापानि येभ्योऽसौ निवर्त्तते ?, अतिपातो कीरति अतिपतनमतिपातः प्राणातिपात इत्यर्थः, जेणं अप्पाणं वा परं वा जीविताओ ववरोवेति, नियतं युज्जते नियुज्जते, यथा राजादिभिर्भृत्यादयः युद्धाधिकरणाध्यक्षादिषु तेषु नियुंजते, एवं यावन्मिथ्यादर्शनादीनि, किंच–तिष्ठन्तु तावद्येऽतिपातं कुर्वन्ति, ये च भृत्यानुभृत्या वा तेषु तेषु कर्म्मसु नियुंजते अन्येऽपि पापं कुर्वते, तद्यथा–'आदीणभोईत्ति' वृत्तं ॥ ४७८ ॥ यावद्दैन्यं तावद्दीनः, कोऽर्थः ?–दीणकिवणवणीमगादि पावं करेंति, उक्तं हि–'पिंडोलगेवि दुस्सीले, नरगाओ ण मुच्चति' आदीणत्तणेण भुंजतीति आदीणभोजी, सो पुण कयाइ अलब्भमाणो असमाधिपत्तो अधे सत्तमाएवि उववज्जेज्जा, जहा सो राथगिहच्छणपिंडोलगो वेभारगिरिसिलाए घट्टितो 'मंता हु एवं' मत्वा एगन्तसमाहिमाहुः, द्रव्यसमाधयो हि स्पर्शादिसुखोत्पादकाः अणेकान्तिकाश्च भवन्ति, कथं ?, अन्यथा सेवनादसमाधिं कुर्वते, उक्तं हि—'तच्चेव होंति दुक्खा पुणोवि कालंतरवसेणं०' ज्ञानाद्यास्तु भावसमाधयः एकान्तेनैव सुखमुत्पादयन्ति हि, परवचः–एवं मत्वा संपूर्णं समाधिमाहुस्तीर्थकराः, स एवं बुद्धे समाधियरते बुद्ध इति जानको, भावसमाधीय रते, बुद्ध इति जानको भावसमाधी एव चतुर्विधो पडितो, दव्वविवेगो आहारादि, अट्ठकुकुडिअंडगप्पमाणमेत्तकवलेण०, एगे वत्थे एगे पादे, भावविवेगो कसायसंसारकम्माणं, दुविधे विरत्तो विवेगो एवमस्य समाधिर्भवति, पाणातिपाताओ णवएण भेदेणाविरमणा अविरति, लेश्या स्थिता यस्यार्चिः स भवति ठितच्चा, अवहितलेश्य इत्यर्थः, आवतादि ॥२३२॥

विसुद्धलेसासु ठितो सो 'सव्वं जगं तु' वृत्तं ॥ ४७९ ॥ जायंत इति जगत्, समता नाम 'जह मम ण पियं दुक्खं०' 'णत्थि य सि कोइ वेसो पिओ व०' अथवा अन्यस्य प्रियं करोति अन्यस्याप्रियमित्यतः, कोऽर्थो?—नान्यान् घातयित्वा अन्येषां प्रियं करोति, सूपकैः मार्जारपोषवत्, अथवा प्रियमिति सुखं सर्वसत्त्वानां, तदेषां प्रियं न कुर्यात्, न कस्यचिदप्रियं, मध्यस्थ एव स्यादित्यतः सम्पूर्णसमाधियुक्तो भवति, कश्चित्तु समाधि संधाय 'उट्ठाय दीणे तु पुणो विसण्णो' उत्थायेति समाधिसमुत्थानेन, दीन इत्यूर्जितो भोगाभिलाषी, सर्वो हि तर्कको दीनो भवति, ईप्सितलंभे च दीनेतरः, पुणो विमज्झेति गिहत्थीभूतो वा पासत्थभूतो वा, अयं तु पार्श्वोऽधिकृतः, पूयासक्कारामिलाषी वस्त्रपात्रादिभिः पूजनं च इच्छति, सिलोगो णाम श्लाघा यश इत्यर्थः, सो दुहसेज्जाए वट्टति, अभिलसमाणो असमाधिट्ठितो भवति, किमयं पुण पूयासिलोगकामी?, भणितं च—जातिं णिपीय पज्जं जति० 'अहाकडं चेव' वृत्तं ॥ ४८० ॥ आहाय कडं आधाकडं आधाकर्मेत्यर्थः, अथवा अन्यानपि जाणि साधुमाधाय कीडकडादीणि क्रियंते ताणि आधाकडाणि भवंति, अधिक कामयते—प्रार्थयतीत्यर्थः, अथवा णियमेण णिमंतणा, जो तं णियामणं णेच्छति सो णियायमाणे, जो पुण अहाकम्मादीणि कम्माइं सरति—सुमरइति निगच्छति गवेष(य)तीत्यर्थः, स पासत्थोसण्णकुशीलाणं विसण्णाणं संयमोद्योते मार्गं गवेषति, विषीदति वा, येन संयमि विसण्णो भवत्यसंयम इति, विसण्णमेपतीति विपण्णेपी, तहा तहा दीणभावं गच्छति शुक्लपटपरिभोगवत्, परिभुञ्जमाणा शुक्लपटवत् मलिनीभवत्यसौ, इत्थीहिं सत्ते य पुढो य बाले सत्ता रत्ता गृद्धा, पुढो इति पृथक् बहवः, स्त्रीनिमित्तमेव च परिग्रहं ममायमाणा, चतुर्विधपरिग्रहनिमित्तमेव 'आरंभसत्ता' वृत्तं ॥४८१॥ आरभसत्ता, आरभो दव्वे भावे य, तत्र सक्ताः असमाधि पत्ता णिचयं करेंति, हिरण्णसुवण्णादी दव्वणिचय, दव्वणिचयदो-

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२३४॥

सेणं अट्ठविधकम्मणिचयं करेति, इहलोक एव च असमाधिगुणं जानानः समाधिधर्मं वा समीक्ष्य चरेदित्यनुमत्यर्थः, सर्वेभ्योऽसमाधिस्थानेभ्यो विप्रमुक्तः आरभपरिग्रहादिभ्यः अणिस्सितभावविहारेण विहरमाणो। छंदे ण कुज्जा हित(इह)जीवितट्ठी' वृत्तं ॥ ४८२ ॥ छन्दः प्रार्थना अभिलाप इत्यनर्थान्तरं, पठ्यते च 'आयं ण कुज्जा' आयं गच्छतीत्यादयो हिरण्यादि सद्दादी वा, इहजीवितं णाम कामभोगादयः यशःकीर्त्तिरित्यादि, असंयमजीविताधिकारेसु तद्गृहकलत्रादिषु असज्जमाणो य परिवएज्जा, किंच-णिसम्मभासी य विणीतगेधी णिसंमभासी णाम पूर्वापरसमीक्ष्यभाषी, अहाअकम्ममोगी, स्वजनादिषु गिद्धी विनीता यस्य स भवति विनीतगिद्धी, हिंसया अन्विता कथ्यत इति कथा, कथं हिंसान्वितं ?, तस्मादश्नीत पिबत स्वादत मोदत हनताहिनत छिन्दत प्रहरत पचतेति, आहाकडं वा न निकामएज्ज ॥४८३॥ आहाकडं-औद्देशिकमित्यर्थः, ण अधिकामेज्जा ये तान् च कामयन्ति न तैः पार्श्वस्थादिभिरागमणगमादि तत्प्रशंसादिसंस्तवं च कुर्यात्, किंवा एवं समाधियुक्तः धुने उरालं तु अकंम्पमाणो उरालं णाम औदारिकशरीरं तत्तपसा धुनीहि, धुननं कृशीकरणमित्यर्थः, तस्मिंश्च धूयमाने कर्मापि धूयतेऽनपेक्षमाण इति, नाहं दुर्बल इतिकृत्वा तपो न कर्त्तव्यं, दुर्बलो वा भविष्यामीति, याचितोपस्करमिव व्यापारयेदिति, तत्र विशेषान् अनपेक्षमाणः वेचाय असमाधिः, श्रवतीति श्रोतस्तद्धि गृहकलत्रधनादि प्राणातिपातादीनि वा श्रोतांसि, तान्यनपेक्षमाणः धुनीहीति वर्त्तते, श्रोतांस्यप्यनपेक्षमाणः, स एव तेषु असज्जमाण इत्यर्थः, किंच-पेक्ष्य ने प्रार्थये तवो 'एगत्तमेव अभिपत्थएज्जा' वृत्तं ॥ ४८४ ॥ एकभाव एकत्वं, नाहं कस्यचिन् ममापि न कश्चिदिति, 'एक्को मे सासओ अप्पा, णाणदंसणसंजुतो। सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥ १ ॥' एवं वैराग्यं अणुपत्थेज्ज, अथ किमालंबन कृत्वा ? 'एवं पमोक्खे ण मुसंति

द्रव्यचयादिनिषेधः

॥२३४॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२३५॥

पासं' जं चेव एतं एकत्वं एस चेव पमोक्खो, कारणे कार्योपचारादेष एव मोक्षः, भृशो मोक्षो पमोक्खो, सत्यश्चार्यं, अथवा ज्ञानादिसमाधि प्रमोक्षं, असुसंति एतदपते, तदेकान्तसमाधिरेव प्रमोक्षः, अमुसंति अननृतः, अयं वा परमोक्षक इति,अक्रोधने; न केवलमक्रोधनः, एवं अथंभणे अवंकणो अलुब्भणे जाव अमिच्छादंसणो, सत्यो णाम संयमोऽनृतं वा, सत्ये रतः सत्यरत , सत्यो नाम संयमस्तस्मिन् , तपस्तपस्वी दुरुत्तरगुणाः, एते हि मूलोत्तरगुणा विचित्रा स्वर्गिव श्रीकृताः, तत्रोत्तरगुणा दर्शिताः, मूलगुणास्तु 'इत्थीसु या अरतमेहुणे या' वृत्तं॥ ४८५ ॥ तिविहाओ इत्थिगाओ, न रतः अरतः विरत इत्यर्थः, परिग्गहं चेव अमायमाणे एवं सेसावि अहिंसादयो मूलगुणाः, चउत्थपंचमयाण तु वयाणं भावणा–उच्चावएहिं अनेकप्रकाराः शब्दादयः, अथवा उच्चा इति उत्कृष्टाः, अवचा जघन्याः, शेषा मध्यमा, त्रायत इति त्राता, श्रि सेवायां, ते न संश्रियमानाः, असंश्रयमान एव च विषयान् भिक्षुः समाधिप्राप्तो भवति, इहैव 'नैवास्ति राजराजस्य तत् सुखं' परे मोक्ष इति, स एवं समाधिप्राप्तः 'अरतिं रतिं च अभिभूय' वृत्तं ॥ ४८६ ॥ केण ?, समाधीए, पतनादिफासंति, तणफासग्रहणेण कट्ठसंथारगइकडा य, समाधिसमाओगे हियाओ तत्थ तणेहि विज्झमाणे वा अत्थुरमाणे वा सम्मं अधियासंति, सीतं सीतपरीसहो, तेऊ उसिणपरीसहो, तणादिफासग्गहणेण दंसमसगादिपरीसहा गहिता, सद्ग्गहणेण सव्वे अक्कोसादिसद्दपरीसहावि गहिता, सुब्भिदुब्भिगहणेण इट्ठाणिट्ठविसया गहिता, किंच–'गुत्ते वईए य समाधिपत्ते' वृत्त ॥ ४८७ ॥ मौनी वा समिते वा भाषते, भावसमाधिपत्ते भवति, लेसं समाहट्टु तिण्णि लेस्साओ अवहट्टु तिण्णि पसत्थाओ उपहट्टु, सव्वतो व्रजेत् परिवएज्ज, किंच—गिहं ण छाए णावि छादएज्जा उग्ग एव परकृतनिलयः स्यात्, संमिस्सभावं प्रजायंतः प्रजाः-स्त्रियः, अथवा सर्व एव प्रजाः—

प्रमोक्षादि

॥२३५॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२३६॥

गृहस्थाः ये तैः सन्मिश्रीभावं पञ्जहे, संमिस्सिभावो णाम एगतो वासः, आगमणगमणाइसंथवो स्नेहो वा, एवं चारित्रसमाधिः परिगमाप्तः ॥ इदानीं दर्शनभावसमाधिः–'जे केइ लोगंमि तु अकिरिया य' वृत्तं ॥ ४८८ ॥ जेत्ति अणिद्दिट्ठणिद्देसो, अशोभनक्रियावादिनः पारतन्त्र्या अक्रियावादिनः क्रियातो, अक्रियो वाऽऽत्मा येषां, निश्चितमेव अक्रियात्मा नः, अन्येन केनचित्पृष्टाः– कीदृशो वा धर्म्म ?, धुतं आदियंतित्ति धुतवादिनो, धुतं नाम वैराग्यं, धुतमादियंति–धुतं पसंसेति, एवं ते धुतमपि आत्मीकुर्वतः आरंभसत्ता यथा शाक्या द्वादश धुतगुणा ब्रुवते, अथवा पचनादिद्रव्यारंभेऽपि सक्ताः समाधिधर्म्मेन जानंति, विमोक्षस्य हेतुः विमोक्षहेतुः तमेवं तत्त्वमुवदिसंति, 'तेसिं पुढोछन्दा' वृत्तं ॥ ४८९ ॥ पुढोछन्दाण णाणवाणं पृथक् पृथक् छंदा नानाछन्दा इत्यर्थः, केचित् क्रूरस्वभावा केचिन्मृदुस्वभावास्तथा केपांचिन्मंसं केचिन्मासमद्याशिनः तथा केचित् गीतनृत्यहसितप्रियाः केचित्परव्यसनरताः केचिन्मध्यस्था इत्यादि, तथा दृष्टिभेदमिति, प्रतिक्रियाणं वा, पुढो वा तं, यथैव हि नानाछन्दा कर्त्तव्यादिषु लौकिकाः तथैव हि किरिया अकिरियाणं वा पुणो पचादं उपादीयंत इत्युपादाः गृहा इत्यर्थः, अथवा उपवादो दृष्टिः, तद्यथा–केषांचिदात्माऽस्ति केषांचिन्नास्ति, एवं सर्वगतः नित्यः अनित्यः कर्त्ता अकर्त्ता मूर्त्तः अमूर्त्तः क्रियावन्निष्क्रियो वा, तथा केचित् सुखेन धर्ममिच्छन्ति केचिद् दुःखेन केचित् सौचेन केचिदन्यथा केचिदारंभेण, केचिन्निःश्रेयसमिच्छन्ति केचिदभ्युदयमिच्छंति, एकस्मिन्नपि तावच्छास्तरि अन्ये अन्यथा प्रज्ञापयंति, तद्यथा–शून्यता, अत्थि पुग्गले, णो भणामि णत्थित्ति पोग्गले, जंपि भणामि तंपि न भणामीत्यवचनीयं, अवचनीयं एव अवचनीयः, स्कन्धमात्रमिति, वैशेषिकाणामपि, अन्येषां न; द्रव्याणि नवैव, अन्येषां दश दशैव सांख्यानामपि, अन्येषां इन्द्रियाणि सर्वगतानि, एवं तेषां मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकं अनुसमय-

अक्रियावाद्यादि

॥२३६॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२३७॥

मेव कर्म्म बध्यते, दृष्टान्तो–जातस्स बालस्स पकुव्वदेहं जातस्येति गर्भत्वेनोत्पन्नस्य, तद्यथा–निषेकात्प्रभृतिरारंभः शरीरवृद्धेर्भवति, यावद्गर्भान्निस्सृतः, आबाल्याच्च प्रवर्द्धते यावत्प्रमाणस्थो, जातशरीरवृद्धिरिह कालक्षेत्रबाह्योपकरणात्मसानिध्यायत्ता यतः अत उच्यते–प्रकुर्व्व इव प्रकुर्व्वन्, यथा तस्यानुमामयिकी शरीरवृद्धिः एवं तेषामपि मिथ्यादर्शनप्रतिपत्तिकालादारभ्य तत्प्रत्ययिकं वैरं–प्रवर्द्धते कर्म, वैराज्जातं वैर, यथा वेरं दुःखोत्पादकं वैरिणा एवं कर्मापि, यद्यप्याकाशो निश्चल उपतिष्ठति अविरंतस्तथा अप्यस्य कर्म बध्यत एव,पब्भते च-जानाण बालस्स पगब्भणाए. जातानामिति गर्भपाकान्निस्सृतानां, प्रगल्भं नाम धाष्टर्यं, हिंसादिकर्म्मस्वभिगतिरतिनिवेशोऽभिसंगिता वा, इत्यतः पवद्धते वेरमसंजतस्स 'आयुक्खयं चेव अबुज्झमाणे' वृत्तं ॥४९०॥ स एवं हिंसादिकर्म्मसु पसज्जमानः कामभोगे तृपितः छिन्नह्रदमत्स्यवदुदकपरिक्षये आयुषः क्षयं न बुध्यते, उज्झेणीए वाणियो एगो रयणाणि कथं पविसिस्सामित्ति रजनिक्षयं न बुध्यते स, अंततो व्यग्रतया यावदुदिते सवितरि राज्ञा गृहीतः, यथा वा दिवि देवाः, दोगुंदुगा इव देवा गतंपि कालं ण णायंति, ममाई तद्यथा—मे माता मम पिता मम भ्रातेत्यादि सहस्माइं हिंसादीनि करोति मन्दमिति मन्दः, अहो य रात्तो परितप्पमाणे सर्वतस्तप्यमानः परितप्यमानः मम्मणवणिग्वत्, कायेण किस्संतो वायाए मणेण य आर्त्तध्यानोपगतः आर्त्तः द्रव्यार्त्तं चप्पडिज्जंति शकटवक्रं द्रव्यार्त्तो वा, भावट्टो रागदोसेहिं, सुट्ठु सद्दे संमूढो, सव्वत्थ वाणियगदिट्ठंतो वक्तव्यः,'अजरामरवद्बालः, क्लिश्यते धनकारणात्। शाश्वतं जीवितं चैव, मन्यमानो धनानि च ॥ १ ॥' एवमेतद्बनः मत्याऽ(नमत्य)जित्वा राजचौराग्निदायकाद्यविशेषं, अर्प्य च बहुं वा 'जहाय वित्तं पसवो य बंधवे' वृत्तं ॥४९१॥ जधायति त्यक्त्वा, वित्तं–धनं पशवो–गोमहिष्यादयः, बान्धवाः पूर्वापरसंबद्धाः, मित्राः सहजातकादयः, लालप्यती

शरीरवृद्ध्यादयः

॥२३७॥

अत्यर्थं लवति पुनः पुनर्वा लवतीति लालप्यते, हा मातः हा पितः हा विभवाः हा जीवलोक अट्टदुहट्टविसट्टा कुतीर्थिकाः राजादयश्च अपि, रूपवानपि कोण्डरीकपौण्डरीकसरिसो, धनवान्नंदसरिसो, धान्यवान् तिलगसेट्ठिसरिसो, तेऽवि सव्वे लालप्ययंता घतमुवेंति, घन्तः–संसारः, एवं ते यथा कर्मनिष्पन्ना प्रेत्य समाधिं न प्राप्नुवन्ति, यच्च तच्छाश्वतकारित्वेनाजरामरणेव अहन्यहनि उत्पद्यमानेन धनमुपार्जितं तदप्यस्याग्रे राजादयोऽपहरंति, एवं मत्वा पापाणि कर्माणि वर्जयेत् तपश्चरेत्, कथं?–सीहं जहा खुड्डमिया चरंता' वृत्तं ॥४९२॥ क्षुद्राः मृगाः क्षुद्रमृगा, व्याघ्रवृकद्वीपिकादयः, मृगा रोहितादयश्च, अथवा स एव क्षुद्रमृगः दूरेणेति अदर्शनेनागन्धेन वा तद्देशपरित्यागेन च, अपि वातकम्पितेभ्यः तृणेभ्योऽपि सिंहा भयादुद्विग्नाश्चरन्ति, एवं तु मेधावि समिक्ख धम्मं एवं–अनेन प्रकारेण मेधया धावतीति मेधावी सम्यक् ईक्षित्वा समीक्ष्य ज्ञात्वेत्यर्थः, असमाधिरुत्पादयति च पापाणि दूरेण विवज्जएज्जा। 'संबुज्झमाणो' वृत्तं ॥४९३॥ संबुज्झमाणो य, किं संबुज्झमाणो?, समाधिधम्मं, मतिरस्यास्तीति मतिमान् वड्ढमाणपरिणामो हिंसादिपापत आत्मनो निवृत्तिं कुर्यात्, निवृत्तेः करणमित्यर्थः, स्यात्–किं पापात्०?, हिंसापसूताणि दुहाणि मत्ता, हिंसातः प्रसूतानि हिंसापसूताणि जातिजरामरणाप्रियसंवासादीनि नरकादिदुःखानि च अट्ठविधकम्मोदयनिप्फण्णाणि, असमाधिं प्रसवतीति णिव्वाणभूते च परिव्वएज्जा, निर्वाणभूतः सर्वभूतानां निर्वृत्तिकरणमित्यर्थः, द्रव्यवलयं शंखकः भाववलयं माया, यथा वा निवृत्तोऽव्याबाधसुखप्राप्तस्तिष्ठति एवं भगवानपि अव्याबाधसुखनिस्संगो, अनिवृत्तोऽपि निर्वृत्तभूतः, सर्वतो व्रजेत् परिव्वएज्जा। मूलगुणाधिकारे प्रस्तुते 'सुसं ण वूया' वृत्तं ॥४९४॥ आत्मनिःश्रेयसकामी एवं णिव्वाणसमाधिर्भवति, कसिण इति सम्पूर्णः, संसारिकानि हि यानि कानिचित् स्नानपानादीनि निर्वाणानि तान्यसंपूर्णत्वात् नैकान्तिकानि नात्यंतिकानि च, वक्तारोऽपि च भवंति–

णच्चा णिण्हिं लद्धा० एवमन्येषामपि व्रतानामतीचारं सयं ण कुज्जा, ण य कारवेज्जा, करंतमण्णंपि य णाणुजाणेज्जा, एवं योगत्रिककरणत्रिकेन। इदानीं उत्तरगुणसमाधिं–'सुद्धे सेयो जायणंत सज्ज' (सुद्धे सिया जाइयमेसणिज्जं) वृत्तं ॥ ४९५ ॥ सुद्धे सिया जाइउं लद्धं एसणिज्जं च, अथवा सुद्धं अलेनकडं, एसणिज्जं आहाणा(अणाहा)दीणं गल्लं पासएज्जा, अमुच्छितो अणज्झोववण्णो गवेसणघासेसणासु विइंगालवीइधूमं, धितिमं विप्पमुक्के सुसंजमे धृतिमान् आगारबंधणविप्पमुक्के, ण पूजासक्कारट्ठी सिलोगोत्ति जसो णाणतवमादीहिं सिलोगो ण कामएज्ज 'निक्खंमं' वृत्तं णिक्खम्म गेहातो णिरावकंखी अप्पं वा बहुं वा उपधिं विहाय निष्क्रांतो मिच्छत्तदोसादीहिं गृहकलत्रकामभोगेसु णिरावकंखो, दव्वतो भावतो य कायं विसेसेण उत्सृज्य विउमज्जा, दव्वणिदाणं सयणधणादि भावणिदाणं कम्मं, णो जीवितं णो मरणाभिकंखी, वलयं वक्रमित्यर्थः, द्रव्यवलयं शङ्खकः भाववलयं अष्टप्रकारं कर्म्म, येन पुनः पुनर्वलति संसारे, वलयशब्दो हि वक्रतायां भवति च गतौ, वक्रतायां यथा वलितस्तंतुर्वलिता रज्जुरित्यादि गतौ च, वलति सार्थ इत्यादि, वलयविमुक्त इति कर्म्मबन्धनविमुक्तः, अथवा वलय इति माया तया च मुक्तः, एवं क्रोधादिमाणविमुक्ताः इति ॥ दशममध्ययनं समाप्तम् ॥

मग्गोत्तिअज्झयणस्स चत्तारि अणुयोगदाराणि, अधियारो मग्गपरूवणाए, पसत्थभावमग्गोयरणाए य, णामणिप्फण्णे मग्गो, 'णामंठवणादविए' गाहा ॥१०७॥ वतिरित्तो दव्वमग्गो अणेगविधो 'फलग लता अंदोलग०' गाथा ॥१०८॥ फलगेहि जहा दद्दरसोमाणेहिं, जहा फलगेण गम्मति वियरगादिसु, चिक्खल्ले वा, जहा वेत्तलताहिं गंगमादी संतरति, जहा चारुदत्तो वेत्तवतिं वेत्तेहिं उल्लंघिऊण परकूलवेत्तेहिं आलाविऊण अण्णाए उत्तिण्णो, अंदोलएण अंदोलारूढो एत्तिया, जं वा रुक्खमालं





अस्य पृष्ठे एकादशमं अध्ययनं आरभ्यते

अंदोलिएऊणं अप्पाणं परतो वच्चति, जहा लता तहा वेत्तेवि, अथवा लतत्ति आकंपिऊणं, अणाए लत्ताए लग्गवि रज्जुहि गंगं उत्तरति, दगं णदी, जायणं विलं दीवगेहिं पविसंति, रज्जुं वा कंडिए बंधिऊण पच्छा रज्जुं अणुसरंति केचिद् रसकूपिकादौ महत्यंधकारे; पुणो णिगच्छति गच्छति, स चेव पासमग्गो खीलगेहिं रुमाविसए वालुगाभूमीए चक्कमंति केचित्, रेणुप्रचुरे प्रदेशे कीलिकानुसारेण गम्यते, अन्यथा पथभ्रंशः, अयं पथो लोहबद्धः सुवण्णभूमीए एत्थं पक्खीणंति, जहा चारुदत्तो गतो, छत्तगमग्गो छत्तगेण धरिज्जमाणेणं गच्छति उपद्रवभयात्, जहा गणिगो पावातो, जलमग्गो णावाहिं, आगासमग्गो चारणविज्जाहराणं, 'खेत्तंसि जंमि खेत्ते०'गाथा ॥१०९॥ जंमि खेत्ते मग्गो, भूमिगोअराणं भूमीए मग्गो, देवाणं आगासे, खेचरविज्जाहराणं उभये, अथवा खेत्तस्स मग्गो जहा सो खेत्तमग्गो एवमादि, ग्राममार्गो नगरमार्ग इत्याहि, यथैष पंथा विदर्भायाः अयं गच्छति हस्तिनागपुरं, कालमग्गो जो जंमि काले मग्गो वहति यथा वर्षारात्रे उदगपूर्णानि सरांसि परिरयेण गम्यंते, व्याशुष्ककर्दमानि शिशिरे, ग्रीष्मे वा, उज्जुमग्गेण यस्मिन् वा काले गम्यते यथा ग्रीष्मे रात्रौ सुखं गम्यते, हेमंतेऽहनि, जचिरेण वा गम्मति यथा योजनिकी संध्या, भावमग्गो दुविधो पसत्थो अपसत्थो य, दुविहंमिवि तिगभेदो० गाथा ॥११०॥ अपसत्थभावमग्गो तिविधो, तंजहा–मिच्छत्तं अविरति अण्णाणं ३, पसत्थभावमग्गो तिविहो, तंजहा–सम्मणाणं सम्मदंसणं सम्मचारित्तं ३, तस्स पुण दुविहस्सावि मग्गस्स दुविहो विणिच्छयो, विनिश्चयः फलं कार्यं निष्ठेत्यनर्थान्तरं, पसत्थो सुग्गतिफलो, अप्पसत्थो दुग्गतिफलो, सुगतिफलेनाधिकारः, अप्पसत्थमग्गट्ठिताणं पुण दुग्गतिगामुगाणं दुग्गतिफलवातीणं ॥१११॥ तिण्णि तिसट्ठा पावादियसता, दव्वमग्गो पुण चतुविधो खेमे णामेगे खेमरूवे खेमे णामेगे अखेमरूवे अखेमे णामेगे खेमरूवे अखेमे अखेमरूवेत्ति, अदुग्गणिचोरे

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२४१॥

खेमे खेमरूवे च, एवं चउसुवि मग्गेसु योजयितव्यं, भावमग्गे एवमेव चतुभंगो, पढमभंगे भावदव्वलिंगजुत्तो साधू, अक्खेमरूवे कारणिओ दव्वलिंगरहितो साधू, अक्खेमा खेमरूविगा णिण्हगा, अण्णउत्थिय गिहत्था चरिमभंगे, **संमप्पणीतमग्गो०** गाथा ॥११२॥ जो सो पसत्थभावमग्गो सो तिविधो–णाणं तह दंसणं चरित्तं, तित्थगरगणधरेहिं साधूहि य अणुचिण्णो, तव्विवरीओ पुण मिच्छत्तमग्गो, सो चरगपरिव्वायगादीहिं अनुचिण्णो मिच्छत्तमग्गो, येऽपि सत्थासन्नं प्रतिपन्नाः **इड्ढिरससातगुरुगा०** गाथा ॥ २१३ ॥ इड्ढिरसगारवेहिं वा धम्मं उवदिसंति तेऽवि ताव कुमग्गमग्गस्सिता, किमंगं पुण परउत्थिगा तिगारवगुरुगा, छज्जीवकायवधरता जे उवदिसंति धम्मं संघभत्ताणि करेमाणा एवमादि कुमग्गमग्गस्सिता जणा, जे पुण तवसंयमप्पहाणा० गाथा ॥११४॥ सीलगुणधारी जे वदंति, सब्भावं णाम जहा वादी तहा कारी सव्वजगजीवहितं यं **तमाहु संमप्पणीतं**, अवि तस्स पुण एगट्ठियाणि णामाणि भवंति, तंजहा–पंथो णाओ मग्गो० गाथा ॥११५॥ सव्वा, णामणिप्फण्णो गतो। सुत्ताणुगमे सुत्तमुच्चारेयव्वं, अज्जसुधम्मं जंबू पुच्छति–'कतरे मग्गे अक्खाते०' सिलोगो ॥४९७॥ आघात इति आख्यातः, माहणेत्ति वा समणेत्ति वा एगट्ठं, भगवानेवापदिश्यते, मतिरस्यास्तीति मतिमान् तेन मतिमता, तत्थं ताव द्रव्यमार्गो वा अप्रशस्तभावमार्गो वा तेनाख्यातः, अवश्यं तु प्रशस्तभावमार्गः यमत्थो आख्यातः, किं तेहिं ?, तेण दिट्ठो उज्जुगो य तं मे अक्खाहि **जं मग्गं उज्जु**पवज्जिता ओघो द्रव्यौघः समुद्रः भावे संसारोघं तरति। 'तं मग्गं णुत्तरं सुद्धं०' सिलोगो ॥४९८॥ तमोघतरं महापोतभूतं नास्योत्तरा, अन्ये कुमार्गाः शाक्यादयः, शुद्ध इति एक एव निरुपहत्वाच्चैवं, अथवा पूर्वापराव्याहततया, बध्यदोषापगमा बुद्धाः, सर्वदुक्खविमोक्खणं अन्येऽपि ग्रामादिमार्गाश्चौरश्वापदभयोपद्रुता दुःखावहा भवंति, भूत्वा च न भवंति उदकाद्युपप्लवैः, अप्पगासे

द्रव्यमार्गादि

॥२४१॥

भावमार्गा अपि दुःखावहा एव ते, सम्यग्दर्शनज्ञानतपोमयस्तु प्रशस्तभावमार्गः, शुद्धः सर्वदुःखविमोक्षणः, तमेवंविधं जाणेहि णं जहा भिक्खू यथेति येन प्रकारेण, भिक्षुरिति भगवानेव, यथा स भिक्षुर्ज्ञानवान् तथाभूतं त्वमपि जानीषे तमेवं जानीते, अथवा हे भिक्षो! तमेवं ब्रूहि महामुणी, हे महामुने, स्वात्किमर्थमहं पृच्छामि ?, तत उच्यते–'जइ मे केइ पुच्छेज्जा०'सिलोगो ॥४९९॥ देवाश्चतुष्प्रकाराः एते प्रच्छाक्षमा भवंति, तिरिया मणुस्सा, उत्तरगुणलद्धिं वा पडुच्च तिरियं अपि, कश्चित् गिरा वत्ति वयसावि पुच्छेज्ज, तेसिं तु कतरं मग्गं तेषामजानकानां स्वयमजानकः कतरं मार्गं कथं वा ? कथयिष्यामि, अव्याबाधसुखादीनि आवहतीति सुखावहः, अथवाऽभ्युदयकं निःश्रेयसं च, इति पृष्ट आर्यसुधर्मा जम्बूस्वाम्याद्यान् साधून् प्रणिधाय सदेवमणुआसुरं च परिसं णिस्साए कहेति 'जइ वो केइ०'वृत्तं ॥५००॥ जइ वा केइ पुच्छेज्जा, जतित्ति अणिद्दिट्ठणिद्देसे, संसारभ्रांतिनिर्विण्णा देवा अदुव माणुसा। तेसिं तु इमं मग्गं आइक्खेज्ज सुणेध मे, पठ्यते च तेसिं तु पडिबो(सा)हेज्जा मग्गसारं सुणेह मे, साहितं प्रति अन्येषां साहंति–कथितं सत् पडिसाहेज्जा, मार्गाणां सारः मार्गसारः।'अणुपुव्वेण०'सिलोगो ॥५०१॥ कथं मार्ग-प्रतिपत्तिरेव तावद्भवति ?, उच्यते, अणुपुव्वेण महाघोरं, अणुपुव्वेणंति 'माणुस्स खेत्त जाती०'गाथा, अथवा 'चत्तारि पर-मंगाणि' सिलोगो, अथवा 'पढमिल्लुगाण उदये' गाथाओ तिण्णि, एवं 'कम्मक्खयाणुपुव्विं०'गाथा, जाव 'बारसविधे०' दुरन्तत्वात् महाघोराः, अणुपुंमिः दुस्तरं, महापुरिसा सुघोरमपि तरंति, घोरसंग्रामप्रवेशवत्, कासवेण प्रवेदितं प्रदर्शितमित्यर्थः, जमादाय इतो पुव्वं जं आयाय इति यमनुचरित्वा, इत इति इतस्तीर्थादवाक्, अद्यतनाद्वा दिवसादिति, समुद्रेण तुल्यं समुद्रवत्, व्यवहरंतीति व्यवहारिणः वणिजः, यथा तेऽतिक्रान्ते काले समुद्रं 'अतरिंसु०' सिलोगो ॥५०३॥ अतरिष्यन् तरंति तरिष्यन्ति

च, तदुत्तरसम्यग्मार्गमनुचर्य तीतद्धाए अणंता जीवा संसारौघमतरिंसु संख्येयाः तरंति साम्प्रतं अणंता तरिस्संति णागतंति, तं मोक्षा, तमहं श्रुत्वा भवदादीन् श्रोतॄन् प्रति वक्ष्यामि, जायंति जन्तवः, जम्बूस्वाम्यादीनां आमन्त्रणं हे जन्तवः !, तं सुणेह मे चरित्तमग्गं आइक्खिस्सामि, नन्दन(ज्ञानदर्शन)मार्गावपि तदन्तर्गतावेव, जेसु संजमिज्जति ते इमे, तंजहा-'पुढवी जीवा पुढो सत्ता०' सिलोगो ॥५०३॥ पृथक् इति प्रत्येकशरीरत्वात्, आउजीवा तहा अगणी पुढो सत्ता इति वर्त्तते, तेण रुक्खग्गहणेणं भेदो दरिसिते 'अहावरे०'सिलोगो ॥५०४॥ अहावरे तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया, एतावता जीवकाए, न हि असद्भूतो विद्यते जीवः ?, कायाः एते, 'सव्वासिं अणुजुत्तीहिं' सिलोगो ॥५०५॥ अनुरूपा युक्तिः, जहा 'पुढवीए णिक्खेवो परूवणा लक्खणं परीमाणं। उवओए सत्थे वेदणा य चवणा णियत्ती य ॥१॥' किंच-अङ्कुरवज्जीवत्वं पार्थिवानां विद्रुमलवणोपलादयः स्वस्वाश्रयावष्टाः सचेतनाः, कुतः ?, समानजातीयांकुरसद्भावात्, अर्शोविकाराङ्कुरवत्, 'भूमिक्खयसाभावियसम्भवतो ददुरं जलमुत्तं। अथवा मच्छो व सभाववोससंभूतपातातो ॥१॥ सात्मकं तोयं भौम, कुतः ?, समानजातीयस्वभावसम्भवात् ददुरवत्, अथवा अन्तरीक्ष्यमपि अभ्रादिविकारस्वभावसंभूतपातान् मन्यवत्, ग्रहणवाक्यं, इतरसंयोगात्तेजसां, तेजः सात्मकं आहारोपादाना उद्वृत्तविशेषोपलब्धेः हृद्विकारदर्शनाद् पुरुषवत्, ग्रहणवाक्यं, गतिमत्त्वाद् वायुर्जीवः प्रयत्नगतेः, यस्मादयं सविक्रम इव पुमान् तीव्रमन्दमध्यान् गतिविशेषान् स्वेन महिम्ना श्रयतीति, वेगवत्त्वाच्च वृक्षादीन् उन्मूलयति, इत्यतो गतिमत्त्वाद्वायुर्जीवः, सात्मकाश्च वनस्पतयः जन्मजराजीवणमरणसद्भावा स्त्रीवत्, आह-नन्वयमनैकान्तिको जातायारूपायाः विपक्षेऽपि दर्शनात्, तद्यथा-जातं दधि जीर्णं वासः संजीवितं विषं मृतं कुसुंभकमित्यादि, उच्यते, न, वनस्पतौ समस्तलिङ्गोपलब्धेः, दध्यादाव-

समस्तदर्शनादुपचारतः जातमिति, इतश्च सात्मका वनस्पतयः, क्षतसंरोहणादाहारोपादानदौहृदसद्भावात् रोगचिकित्सासद्भावात् (अशोक)दौ सम्भवः कुष्माण्ड्यादीनां विशेषपक्षः,विशेषश्चासौ पक्षश्च विशेषपक्षः,कर्त्तव्यः,'छिक्कापरोइता छिक्कमेत्तसंकोअतो कुलिङ्गो व । आसयसंचारातो जाणसु वल्लीविताणाइं ॥१॥' सात्मिकाः स्पृष्टप्ररोहिकादयः स्पृष्टाकुंचनात्कीटवत् आश्रयाभिसंसर्पणाद्वल्ल्यादयः 'सम्मादीया सावप्पबोहसंकोयणादितोऽभिमता । बउलादयो य सद्दादिविसयकालोवलंभातो ॥१॥' शम्यादयः स्वापप्रबोधसंकोयणादिसद्भावात् ,शब्दादिविषयोपलम्भात् वकुलासार(शो)कादयो देवदत्तवत् ,एवमाद्याभिस्सानुरूपाभिः सुयुक्तिभिः एगिंदिए पडिलेहिय जधेति जीवहिंसोपरतिः कार्या स्वकामतः अज्झोवगमियाओवक्कमियाओ वेदणाओ भणितव्वाओ, तत्थ मणुस्सपंचेंदियतिरियाण य दुविधा, सेसाणं उवक्कमिया, एवं मतिमं पडिलेहिता सव्वे अक्कंतदुक्खा य सारीरमाणसं अथवा सव्वेसिं अणिट्ठं अकंतं अपियं दुक्खं अत इत्यस्मात्कारणात् नवकेण भेदेन अहिंसणीया अहिंसका 'एतं खु णाणिणो सारं०'सिलोगो ॥५०६॥ न हि ज्ञानी ज्ञानादर्थान्तरभूत इतिकृत्वाऽपदिश्यते–एतं खु णाणिणो सारंति, कोऽर्थः ?, एष हि ज्ञानस्य सारः जं ण हिंसति कंचणं कञ्चनमिति केनचदपि भेदेन, अहिंसा समयंति समता 'जह मम ण पियं दुक्खं०'गाथा, अथवा यथा हिंसितस्य दुःखमुत्पद्यते मम एवमभ्याख्यातस्यापि, चोरियातो वाऽस्य दुःखमुत्पद्यते, एवमन्येषामपि इत्यतो अहिंसासमयं चेव, अथवा दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ हिंसा भवति, एवं शेषान्यपि, एतावाँश्चैव ज्ञानविषयः यदुत हिंसाद्याश्रवद्वारोपरतः, क्षेत्रप्राणातिपातं तु प्रतीत्यापदिश्यते,'उड्ढमहं तिरियं च०' सिलोगो ॥ ५०७ ॥ प्रज्ञापकं प्रतीत्य उड्ढं अहं तिरियं च पूर्ववत्, सव्वत्थ विरतिं कुज्जा इहापि तावत् निव्वाणं भवति, कथं ?, अहिंसकोऽयं न हि हिंसक इव सर्वस्योद्वेजको भवति, उपशान्तवैरत्वाच्च न कस्य-

जीव-लिंगानि

॥२४४॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२४५॥

चिदपि बिभेति, किंच-तणसंथारणिवण्णोऽवि मुणिवरो भट्टरागमयदोसो।'किम्?, मोक्खो,एवं निर्वाणं भवतीत्याख्यातं, 'पभू दोसे णिराकिचा०' सिलोगो ॥ ५०८॥ प्रभवतीति प्रभुः, वश्येन्द्रिय इत्यर्थः, न वा संयमावरणानां कर्मणां वशे वर्त्तते, अथवा स्वतंत्रत्वात् जीव एव प्रभुः, शरीर हि परतन्त्रं, मोक्षमार्गे वाऽनुपलाथितव्या प्रभुदोषाः क्रोधादयः, निरा इति पृष्ठतः कृत्वा, ण विरुज्झेज्ज केणइ न विरुध्येत केनचिदिति, अपि पूर्वशत्रूणामपि, अपि हास्येनापि विरोधे विग्रहः धंत इत्यर्थः, यद्वा यस्य प्रतिकूलं, मणसा वयसा चेवत्ति नवकेन भेदेन अन्तश इति यावज्जीवितान्तः, उक्ता मूलगुणाः। उत्तरगुणप्रसिद्धये त्वपदिश्यते 'संवुडे य महापण्णे' सिलोगो ॥ ५०९॥ हिंसाद्याश्रवसंवृत्तः इंदियभावसंवुडो वा, महती प्रज्ञा यस्य स भवति महाप्रज्ञः, धीर्बुद्धिरित्यनर्थान्तरं, आहारउवधिसेज्जाउ याचितद्रव्यं एषणीयं च चरति–गच्छति तं, चर्यत इत्येकोऽर्थः, एसणासमिते णिच्चं तिविधा एसणा–गवेसणा गहणेसणा घासेसणा, एवं सेसा ओवि समिईओ, तत्राधाकर्म सर्वगुरुअनेषणादोषः आद्यश्चेति तेन तन्निषेधार्थमपदिश्यते–'भूताणि समारंभ'सिलोगो ॥५१०॥ भूतानि तसथावराणि, कथमिति?, साधू निद्दिश्योपकल्पितं, तारिसं तु ण गेण्हिज्जा, एवं ओधिंपि, इत्येवं सार्वमार्गप्रतिपन्नो भवति, किंच-'पूतिकम्मं ण सेविज्जा' ॥५११॥ एस धम्मे वुसीमतोति, वुसिमानिति संयमवान्, वुसिमं च जं किंचि अभिसंकेज्जा सवसो तं ण भत्तए यदिति आहार उवधि सेज्जा अथवा यदिति यत्किंचित् दोषं, अभिसंकते पणगीसाए अण्णयर किमेतं एसणिज्जं अणेसणिज्जं?, सर्वश इति, यद्यपि प्राणात्ययः स्यात्, इदाणिं वायासमिती 'ठाणाइं' सिलोगो ॥५१२॥ ठाणाणि संति सड्ढीणं, श्रद्धावन्तं श्राद्धिनः, गामेसु नगरेसु वा जाव सन्निवेसेसु वा सम्मदिट्ठीणं मिच्छादिट्ठीण वा, तेहिं सड्ढेहिं पुव्विं णाम पुच्छगतो, परेणावि मिच्छादिट्ठीणा, मरुयस-

दोषनिराकरणादि

॥२४५॥

ड्डेण तच्चणियादिसड्ढेण वा, हेट्ठाऽधो, जमिदो अम्हे बाह्मणं भिक्खुं वा तर्पयामो, तत्र कश्चिद्धम्मं च मग्गट्ठितो मग्गचिट्ठ एवं पुट्ठो अत्थि धम्मोत्ति णवत्ति ?, 'अत्थि वा' सिलोगो ॥ ५१३ ॥ अथवा णत्थि पुण्णंति, स्याद्–अनुज्ञायां को दोषः प्रतिषेधे वा ?, उच्यते–'दाणट्ठताए जे सत्ता हम्मंति तसथावरा' ॥ ५१४ ॥ तंजहा–तणणिस्सिता कट्ठगोमयणिस्सिता संसेतया तसा थावरा य हम्मंते तेसिं सिलोगो तेसिं सारक्खणट्ठाए अत्थि पुण्णन्ति णो वदे मिच्छत्तथिरीकरणं च, तेणाहारेण परिवूढा करेस्संति असंयमं अप्पाणं परं वा बहूहिं भावेंति तदनुज्ञातं भवति, पडिसेधेवि जेसिं तं उपकप्पेंति अण्णं पाणं तधाविधं। तेसिं लाभंतरायन्ति, तम्हा णत्थित्ति णो वदे॥ कंठयं, तत्र का प्रतिपत्तिः? तुसिणीएहिं अच्छितव्वं, निब्बंधे वा ब्रवीति–अम्हं आधाकम्मादिवायालीसदोसपडिसुद्धो पिंडो पसत्थो, जं च पुच्छसि किमत्रास्ति पुण्यमित्यत्रास्माकं अव्यापारः, कथं ?,उभयथा दोषोपपत्तेः, कथं ?,'जे य दाणं पसंसंति, वधमिच्छंति पाणिणं। जे य णं पडिसेधेंति, वित्तिछेदं करेंति ते' ॥५१६॥ महाभट्टारकदृष्टान्तः, सर्वैः जलचरैः स्थलचरैश्च प्रतिबोधितः, अनुज्ञायामननुज्ञायां चोभयथापि दोषः, अथवा 'ग्रसत्येको मुञ्चत्येको, द्वावेतौ नरकं गतौ' एवमुभयथापि दोषं दृष्ट्वा 'दुहओ' सिलोगो ॥ ५१७ ॥ दुहतोवि जे ण भासंति अत्थि णत्थि वा पुणो ते भगवन्तः, अयं रयस्सा एतीत्यायमं रज इति रजइत्तं, रजसः आगमं हिंचा णिव्वाणंति ते इत्येवं वाक्यसमितिरुक्ता, तद्ग्रहणात् सेसावि समितीओ घेप्पंति, एवं वा णिव्वाणं भवतीति, भगवंतश्च 'णिव्वाणपरमा बुद्धा' सिलोगो ॥५१८॥ णिव्वाणं परमं जेसिं ते इमे णिव्वाणपरमा एते बुद्धा अरहन्तः तच्छिष्या बुद्धबोधिताः, परमं निर्वाणमित्यतोऽनन्यतुल्यं, नास्य सांसारिकानि तानि तानि वेदनाप्रतीकाराणि निर्वाणानि, अनन्तभागेऽपि तिष्ठन्तीति दृष्टान्तः मोक्ष एव, नक्खत्ताण च चंदि-

मा न क्षयं यातीति नक्षत्राणि तेभ्यः कान्त्या सौम्यत्वेन प्रमाणेन काशेन परमश्चन्द्रमाः नक्षत्रग्रहतारकेभ्य, एवं संसारसुखेभ्योऽधिकं निर्वाणसुक्खमिति, तम्हा सदा जते दन्ते मोक्षमार्गे पडिवण्णे उत्तरगुणेहिं वद्धमाणेहिं अच्छिण्णं संधणाए णिव्वाणं संधेज्जा, स एवं मिच्छत्तासंधनया निर्वाणं संधेमाणः उभयत्रापि 'वुज्झमाणाण पाणाणं' सिलोगो ॥५१९॥ संसारनदीश्रोतोभिरुह्यमानानां स्वकर्मोदयेन, ये उच्छुभं तीर्थकरत्वनाम तस्य कर्म्मण उदयात् अक्खाति साधु तं दीवं अक्खाति भगवानेव शोभनमाख्याति साधुराख्यातं, एतावता समणे वा माहणे वा जावऽत्थऽन्थुत्तरीए, दीपयतीति दीपः, द्विधा पिबति वा द्वीपः, स तु आश्वासे प्रकाशे च, इहाश्वासदीपोऽधिकृतः, यस्मादाह–उह्यमानानां श्रोतसा दीवो ताणं सरणं गति पतिट्ठा य भवति, एतदाश्वासद्वीपं प्राप्य संसारिणां प्रतिष्ठा भवति, इतरथा हि संसारसागरे जन्ममृत्युजलोर्मिभिरुह्यमानः नैव प्रतिष्ठां लभते, जं व मग्गं अणुपालेंतस्स अट्ठविधं कम्मं, प्रतिष्ठां गच्छन्ति, निष्ठामित्यर्थः, यथाऽऽख्याति तथाऽनुचरति सयं, अणुग्गहितमालविरतो जेण जीवो हिंडंतो प्रतिष्ठां लभते, एष प्रशस्तभावमार्गः इति लभ्यते, केरिसो पुण पसत्थभावमग्गगामी प्रतिष्ठां लभते ? कीदृशो वा भावाश्वासदीपो भवति ?, 'आयगुत्ते सदादंते' सिलोगो ॥५२०॥ आत्मनि आत्मसु वा गुप्त आत्मगुप्तः इंदियनोइंदियगुप्त इत्यर्थः, न तु यस्य गृहादीनि गुप्तादीनि, हिंसादीनि श्रोतांसि छिन्नानि यस्य स भवति छिन्नसोते, छिन्नश्रोतस्त्वादेव निराश्रवः, जे धम्मं सुद्धमक्खाति य एवंविधे आश्वासद्वीपे स्थितः प्रकाशद्वीपः अन्येषां धर्म्ममुपदिश्यति, प्रतिपूर्णमिदं सर्वसत्त्वानां हितं सुहं सर्वाविशेष्यं निरुपधं निर्वाहिकं मोक्षं नैयायिकं इत्यतः प्रतिपूर्णं, अथवा सर्वैर्दयादमध्यानादिभिर्धर्मकारणैः प्रतिपूर्णमिति, अनन्यतुल्यं अणेलिसं, योऽयमनन्यसदृशो धर्मोपदेशः । 'तमेव अविजानंता' ॥५२१॥ तमिति तद्विविधं प्रदीपभूतं धर्म्मं न बुद्धा-

सदाय-तत्त्वादि

॥२४७॥

बुद्धवादिनश्च बुद्धंमन्याश्चात्मानं बुद्धा मोत्ति य मन्नंता अण्णाणिणो अविरया तिण्णि तेसट्ठा पावाइयसया एवमस्माकं मोक्षसमाधिर्भविष्यतीति, 'दूरतस्ते समाधिए', कथमिह लोकेऽपि तावत् अनेकाग्रत्वात्समाधिं न लभते, कुतस्तर्हि परमसमाधिं?, मोक्षं, तद्यथा–शाक्याः अबुद्धा बुद्धवादिनः सुखेन सुखमिच्छंति, इहलोकेऽपि तावद् ग्रामव्यापारैर्न सुखमास्वादयंति, कुतस्तर्हि परमसमाधिसुखमिति?, उक्तं हि 'तत्रैकाग्र्यं कुतो ध्यानं, यत्राध्यानं यत्रारंभपरिग्रह'मिति, इत्यतस्ते चतुर्विधाए भावणाए दूरतः, इतश्च दूरतः 'ते य बीओदगं चेव' सिलोगो ॥ ५२२ ॥ बीयाणि सचेतणाणि, शाल्यादीनां, सूतमिति चोदकं सचेतनमेव, हरिद्राकक्कोदकवत्, तमुद्दिश्य च कृतं उपासकादिभिः स्वयं च पाचयंति पक्षचीरिकादयः, तेषां हि पक्षे चारिका भवंति, अनुज्ञाते च सुपक्कं सुभृष्टमिति, जीवेषु च अजीववुद्धयः अतत्त्वे तत्त्ववुद्धयः वराकास्तत्कारिणस्तद्वेषिणश्च संघभक्तानि गणयंतोऽतीतानागतानि च प्रार्थयन्तः झाणं णाम झियायन्ति णाम परोक्षस्तवादिषु तेऽपि नाम यदि ध्यायंति, को हि नाम न ध्यानं ध्यायति 'ग्रामक्षेत्रगृहादीनां, गवीनैष्यजनस्य च। यत्रप्रतिग्रहो दृष्टो, ध्यानं तत्र कुतः शुभम्?'॥१॥ इते, सचित्तकम्मा य तेसिं आवसहा, विहारकुडीउत्ति, मांसं कल्पिक इत्यपदिश्यते, दासी उ कप्पया रीउत्ति, यथा बर्ब्बरेण मांसस्य प्रत्याख्यानं अशक्नुवता तमनुग्रासयितुं भगमिति संज्ञाकृत्वा भक्षितं, किमसौ तद्भक्षयं निर्विशंको भवति?, लूता वा शीतलिकाभिधानेनाभिलप्यमाना किन्न मारयति?, एवं तेषां न संज्ञान्तरि परिकल्पितास्ते आरंभा निर्वाणाय भवंति, न च वैराग्यकरा भवंति, येऽपि तावद्भिक्षाहारा भवंति तेऽपि सविकारस्त्रीरूपसचित्तकर्म्मसु लेनेषु वसंति तेषामपि तावत्कुतो वा ध्यानं?, किमंगं पुनः कल्पिकारीर्व्यापारयन्तः पचनयाचनाप्रवृत्ताः, ता तनुमेव वानुप्रेक्षमाणानां कुतो ध्यानं?, न हि मोक्षमार्गस्य ध्यानस्य च शुद्धस्य अखेत्तण्णा अजाणगा, अस-

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२४९॥

माहिता णामासंवृत्ता, मनोज्ञेषु पानभोजनाच्छादनादिषु नित्याध्यवसिताः, कोऽत्थ संघभत्तं करेज्ज ? कोऽत्थ परिक्खारं देज्ज वस्त्राणि इत्येवं नित्यमेवार्त्तं ध्यायंति 'जहा ढंका' सिलोगो ॥ ५२३ ॥ जहा ढंका य कंका य पिलजा जलचरपक्षजाति खे मग्गुकाः काकमंगुवत् शिखी च जलचराः, एवं एते हि न तृणाहाराः, केवलोदकाहारवत् ते नित्यकालमेव मच्छेसणं झियायंति निश्चलास्तिष्ठंति जलमध्ये उदगमक्खोमेन्ता मा भून्मत्स्यादयो नक्ष्यंति उकसिष्यंते वा 'एवं तु समणा एगे'सिलोगो ॥ ५२४ ॥ एवंपि नाम श्रवणा वयं इति ब्रुवन्तः एके न सर्वे पचनादिषु आरंभेषु अशुभाध्यवसायेनैव वर्त्तमाना मिथ्यादृष्टयः चरित्तअणारीया आहारं परपूजासत्कारांश्च ध्यायंति सन्मार्गाजानकाः कुमार्गाश्रिताः मोक्षमिच्छंति, अपि संसारसागर एव निमज्जंतो दृश्यन्ते 'जहा आसाविणी णावं'सिलोगो ॥५२६॥ आश्रवतीत्याश्राविनी—सदाश्रवा शतच्छिद्रा, नयति नीयते वाऽतो, जाति य, एव जात्यन्धः पूर्वापरदक्षिणोत्तराणां दिशामार्गाणां गतेः गन्तव्यस्यानभिज्ञः एतावद्गतं एतावद् गन्तव्यं इच्छेज्जा पारमागंतुं अंतरा एव नदीमुखे पर्वते वा प्रतिभग्ने निमग्ने वा पोते अंतरा इति अप्राप्त एव पारं विसीदंति, एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः—'एवं तु समणा एगे'सिलोगो ॥५२७॥ एगे, ण सव्वे, अण्णाणमिच्छत्तमपडलमोहजातपडिच्छन्ना, अणारियाणाम अणारियचरित्ता, सोतं कसिणमावण्णा, श्रवतीति श्रोतः आश्राविनीनौ शनीय कुचरिकश्रोतमास्थाय कसिणमिति सम्पूर्णं कर्म ततो भवति, तदभावे तु न शेषाः आश्रवाः, यद्वाऽपि भवंति तथापि न सर्वा उत्तरप्रकृतयो बध्यन्ते, न वा सम्पूर्णाः, यस्मादुक्तं 'सम्मदिट्ठी जीवो', अथवा कसिणद्रव्यश्रोतः प्रावृषि वर्षासु वा नदीपूरः, एवं मिच्छत्तसहगता जोगा कसाया वा संपुण्णभावसोतं भवति, त एवं सोतमावण्णा आगंतारो महब्भयमिति संसारश्च जातिजरामरणबहुलो, तजहा—गब्भातो गब्भं जम्मतो

आर्त्त-वर्जनादि

॥२४९॥

जम्मं मारओ मारं दुक्खओ दुक्खं, एवं भवसहस्साइं पर्यापारितं बहून्यपि, पसत्थं चेव पसत्थभावमग्गो वण्णिज्जमाणो, पुव्वं वुत्तं जंकिंचि अभिसंकिज्ज सव्वसोतं ण भोत्तए एस उस्सग्गमग्गे इत्यादि, अतिप्रसक्तं लक्षणं निवार्यते, सर्वस्योत्सर्गापवादः, यथा चोत्सर्गः काश्यपेन प्रणीतः तथाऽपवाद इत्यतोऽपवादसूत्रं प्रारभ्यते, प्रत्ययश्च शिष्याणां भविष्यति यथाऽस्त्यपवादोऽपीति तेन तमाचरंतो नामाचारमात्मानं मंस्यते, तच्च शास्त्रमेव न भवति यत्रोत्सर्गापवादौ न स्तः तेनापदिश्यते–'इमं च धम्ममादाय'सिलोगो ॥५२८॥ धर्ममादाय धर्मं फलं च तीर्थकरः काश्यपः स एवं भगवान् किं प्रवेदितवान् ?–कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स पूर्ववत्, किंच–संखाय पेसलं धम्मं संख्यायेति ज्ञात्वा, पेसलं इति सम्पूर्णं, द्रव्यपेसलं धर्मं यद् द्विभेदं सुन्दरं मांसं, भावपेशलस्तु ज्ञानदयादिभिः सर्वैर्धर्मकारणैः सम्पूर्णो धर्म एव, तं ज्ञात्वा दृष्टिमानिति सम्यग्दृष्टिः, संख्याग्रहणा धर्मग्रहणा(ज्ञानं धर्मग्रहणाच्चारित्रं) दृष्टिग्रहणात्सम्यग्दर्शनं, एवं त्रीण्यपि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि गृहीतानि भवंति, तरे सोतं महाघोरं मार्गं एवानुवर्त्तते, तराहि सोतं महाघोरं, श्रवन्तीति श्रोतं, द्रव्ये भावे च जातिजरामरणाप्रियसंवासादिभिर्महाघोरं भावश्रोतः संसार अत्तत्ताएवित्ति अत्ताणं तरंतो परिव्वएज्जासि तमेव तरति 'विरते गामधम्मेहिं' सिलोगो ॥ ५२९॥ ग्रामधर्माः शब्दादयो, जे केइ जगती जगति जायत इति जगत् तस्मिन् जगति विद्यन्ते ये, जायन्त इति वा जगाः–जन्तवः, तेसिं अत्तुवमाणेण तेषां आत्मोपमानेन–आत्मौपम्येन, कोऽर्थः ? 'जह मम ण पियं दुक्खं०'धीमं कुव्वं परिव्वए'त्ति संयमचारियं भवति 'अतिमाणं च'सिलोगो ॥५३०॥ अथवा संयमवीरियस्स इमे विग्घकरा भवंति, तंजहा–अतिकोधो अतिमाणो अतिमाया अतिलोभो इत्यतः अतिमानं च मायां च, अतिक्राम्यते येन चारित्रं सोऽतिमाणं, अप्रशस्त इत्यर्थः, प्रशस्तोऽपि न कार्यः, किंतु तत्क्रि-

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२५१॥

यार्थमेव क्रियते, रजककूपखातकदृष्टान्तसामर्थ्यात्, यथा रजको मलदिग्धानि वस्त्राणि प्रक्षालयन् शुद्ध्यर्थं अन्यदपि मल औषधादिकं समादत्ते, एवं साधुरपि, कूपेऽप्येवं, न च नामावीतरागस्य मानादयो नोत्पद्यन्ते, ते त्वप्रशस्ताः, तेवि नरेण न कार्याः, एवं शेषा अपीति। दुविधाए परिण्णाए परिजाणाहि, किंच–ये केचित् क्रोधमानमायालोभाद्यन्यदपि दोषजातं **सव्वमेतं निराकिच्चा**, सव्वं निरवशेषं तं, एतदिति यदुद्दिष्टं, निरमिति स्पृष्टं, णिव्वाणं अच्छिण्णसंधणाए संधए, किंच–**'संधए साधुधम्मं वा'** सिलोगो ॥५३१॥ दसविहो चरित्तधम्मो णाणदंसणचरित्ताणि वा तं अच्छिन्नसंधणाए, णाणे अपुव्वगहणं पुव्वाधीतं च गुणाति, दंसणे णिस्संकितादि, चरित्ते अखंडितमूलगुणो, पठ्यते च–**'सद्दहे साधुधम्मं च'** पावधम्मो अण्णाणअविरतिमिच्छत्ताणि, अथवा पावाणं धम्मो, पापा मिथ्यादृष्टयः सर्वे गृहिणोऽन्यतीर्थिकाश्च, तेसिं धम्मं–समावं, निराकुर्यादिति पृष्ठतः कुर्यात्, तत्केन कुर्यात् को वा कुर्यादिति?, उच्यते, उवधानवीरिए भिक्खू उपधानवीर्यं नाम तपोवीर्यं स उपधानवीर्यवान् भिक्खू कोधं माणं न पत्थये न कुध्येत न माद्येत, न क्रोधमिच्छेदित्यर्थः, अक्रोधं तु प्रार्थयेत्, एवं शेषेष्वपि, स्यात् किमेवं वर्द्धमानस्वामी एतन्मार्गमुपदिष्टवान् उतान्येऽपि तीर्थकराः?, उच्यते, **'जे य बुद्धा अतिक्कंता'** सिलोगो ॥५३२॥ अतिकंता अतीतद्धाए अणंता, एतन्मार्गमुपादिक्ष्यंत, आचार्या वा मोक्षमिताः, साम्प्रतं पचदशसु कर्म्मभूमीषु संख्येया, अणागतद्धाए जे य बुद्धा अणागता संतित्ति **संति पतिट्ठाणं** गमनं शान्तिश्चारित्रमार्ग इत्यर्थः, एषा शान्तिः तेषां प्रतिष्ठा नामाधारः आश्रय इत्यर्थः प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा निर्वाणं वा शान्तिः तेषां प्रतिष्ठानि, को दृष्टान्तः?–**भूयाणं जगई जहा** जगतीनाम पृथिवी, यथा सर्वेषां स्थावरजङ्गमानां जगती प्रतिष्ठानं तथा सर्वतीर्थकराणामपि एष एव शान्तिमार्गः प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा, **'गहणं च तमावण्णं'**

कषाय-वर्जनादि

॥२५१॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः १२ अ० ॥२५२॥

सिलोगो ॥५३३॥ अथ पुनस्तं व्रतानि आपण्णं चारित्रमार्गप्रयातमित्यर्थः, पज्जते-अर्थेनं भेदमावण्णं भावभेदो हि संयम एव, कर्म्माणि भिनत्तीति भेदः फासा सीतउसिणदंशमशकादयः उच्चावचा अनेकप्रकाराः परीषहोपसर्गाः स्पृशेत् ण तेहिं विणिहम्मेज्जा ण तेहिं उदिण्णेहिवि णाणदंसणचरित्तेसुं जत्ताओ मग्गाओ विणिहण्णेज्जा, पुव्वीए जिणेत्ता संयमवीरियं उपादेज्जासित्ति, जहा ते गुरुगावि उदिण्णा लहुगा भवन्ति, दृष्टान्तः—आभीरयुवत्ति, जातमेत्तं वच्छगं दुण्णि वेलाए उक्खिविऊण णिक्खामेति, पीतं चैनं पुनः प्रवेशयति, तमेव क्रमशो वर्द्धमानं अहरहर्जयं कुर्वता जाव चउहायणंपि उक्खिवति, एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः—एवं साधुरपि सन्मार्गात् क्रमशो जयति उदीर्णैरपि परीषहैर्न विहन्यते, वातेण व महागिरिरिति मन्दरः संवुडे सि महापण्णे' सिलोगो ॥५३४॥ स एवं संवरसंवृतः प्रधानप्रज्ञः विस्तीर्णप्रज्ञो वा, दधाति बुद्ध्यादीन् गुणानिति बुद्धा, पाठान्तर धीरं, दत्तं एसणं चरेज्जासित्ति दत्तेसणं चरे, अथवा दत्तमेषणीयं च यश्चरति स भवति दत्तेषणचरः, णिव्वुडे कालमाकंखी शान्तसमितो णिव्वुडः शीतभूत इत्यर्थः, कालं कांक्षतीति कालकंखी, मरणकालमित्यर्थः, कोऽर्थः?—तावदनेन सन्मार्गेण अविश्रामं गन्तव्यं यावन्मरणकालः, एवं केवलिणो मतंति, जं तुमे अज्जजंबू पुच्छिते 'कतरे मग्गे' तदेतस्य केवलिनो मार्गाभिधानं कथितमनन्तरमाख्यातमिति ॥ इति मार्गाध्ययनं ॥

समोसरणंति अज्झयणस्स चत्तारि अणुओगदारा, अधियारो किरियावादिमादीहिं चउहिं समोसरणेहिं, णामणिप्फण्णो णिक्खेवो गाथा 'समोसरणंमि वि छक्कं' गाथा ॥११६॥ वइरित्तं दव्वसमोसरणं सम्यक् समस्तं वा अवसरणं, तं तिविधं—सचित्तं दुपदादि यत्रैकत्र बहवो द्विपदाः वा बहवो मनुष्या समवसरंति तं सचित्तं दव्वसमोसरणं दुपदसमोसरणं, जहा साधुसमो-

भावभेदादि समवसरणानि

॥२५२॥

अस्य पृष्ठे द्वादशमं अध्ययनं आरभ्यते

सरणं, चतुष्पदानां निर्वाणादिषु गवादीनां समोसरणं, अपदानां नास्ति स्वयं समोसरणं, गत्यभावात्, सहजानां वा स्वयमपि भवति वृक्षादीनां समोसरणं, अचेतनानां अभ्रादीनां, खेत्तसमोसरणं जंमि खेत्ते समोसरंति द्रव्याणि, जहा साधुणो आणंदपुरे समोसरंति, कालसमोसरणं वैसाहमासे जत्ताए समोसरंति, वासासु वा जत्थ समोसरंति, तहा पक्खिणो दिवाचरा वनखंडमासाद्य समवसरंति। 'भावसमोसरणं पुण०'गाथा ॥११७॥ तिण्णि तिसट्ठा पावादियसयाणि णिग्गंथे मोत्तूण मिच्छादिट्ठिणोत्तिकाऊण उदइए भावे समोसरन्ति, इंदियादि पडुच्च खओवसमिए भावे समोसरंति, पारिणामि जीवत्तं, एतेसु चेव तीसु भावेसु तेसिं सन्निवातिओ भावो जोएतव्वो, सम्मदिट्ठीकिरियावादी तु छसुवि भावेसु, उदइए भावे अण्णाणमिच्छत्तवज्जासु अट्ठसुवि कम्मगतीसु समोसरंति, एवं चरित्ताचरित्ती य जोएयव्वा, उवसमिएवि भावे समोसरंति, उवसामगं पडुच्च उपसममङ्गीकृत्य, यदुक्तं भवति–अस्मिन्नेव भंगद्वये भवंति, खओवसमिएवि भावे समोसरंति अट्ठारसविधे खओवसमिए भावे, तद्यथा–ज्ञानाज्ञानदर्शनदानलब्ध्यादयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च, णाणं चउव्विहं–मतिसुतओहिमणपज्जवाणि, अण्णाणं मतिअण्णाणं सुतअण्णाणं विभंगणाणं, ज्ञानाज्ञानमित्यत्राज्ञानमिति यदुक्तं तदेकभावापकर्षमङ्गीकृत्य, यद्वा सामान्येऽन्ये च, केवलिनो वा वदंति, दरिसणं तिविधं–चक्खु अचक्खु अवधिदंसणमिति, लब्धिः पञ्चविधा–दानलाभभोगोपभोगवीरियलद्धी इति, संमत्तं चरित्तं संयमासंयम इत्येतेऽष्टादश क्षायोपशमिका भावा भवंति, णवविधे खाइगे भावे समोसरंति, तद्यथा-'ज्ञानदर्शनलाभभोगोपभोगवीर्याणि च', णाणं–केवलणाणं, दंसणं केवलदंसणं, दाणलाभभोगोपभोगवीर्यमित्येतानि सम्यक्त्वचारित्रे च नव क्षायिका भावा भवन्ति, परिणामिएऽवि अणातियपरिणामियगे भावे समोसरंति, एवं सन्निवातिगेवि सण्णिकासो ओदयिकादयो द्विकादिधारणिकाः। अथवा

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२५४॥

भावसमोसरणं चतुर्विधं, तंजहा–किरियावादी अकिरियावादी अणाणीयवादि वेणइवादी, 'अत्थित्ति किरियावादी' गाथा ॥ ११७॥ तत्थ किरियावादी अत्थी आयादि जाव सुचिण्णाणं कम्माणं फलविवागो, तत्थावि ते मिच्छादिट्ठी चेव, जैनं शासनं अनवगाढा, तद्विधर्म्मवादिनो अकिरियावादिणो, तंजहा—णत्थि मातादि जाव णो सुचिण्णाणं कम्माणं सुचिण्णा फलविवागा भवंति, अणाणीवादित्ति किं णाणेण पढितेण ? सीले उज्जमितव्वं, ज्ञानस्य हि अयमेव सारः, जं शीलसंवरः, सीलेन हि तपसा च स्वर्गमोक्षे लभ्येते, वेणइयवादिणो भणंति–ण कस्सवि पासंडिणोऽस्स गिहत्थस्स वा णिंदा कायव्वा, सव्वस्सेव विणीयविणयेण होयव्वं।'असियसयं किरियाण'गाथा ॥११९॥ तंजहा–'णत्थि ण णिच्चो ण कुणइ कतं ण वेदेइ णत्थि णिव्वाणं' सांख्य-वैशेषिका ईश्वरकारणादि अकिरियवादी, चउरासीइ तच्चणिगादि, क्षणभंगवादित्वातु क्षणवादिणः, अण्णाणीयवादीणि सत्तट्ठी, ते तु मृगचारिकाद्या, वेणइयवादीण छत्तीसा दाणामपाणामादिप्रव्रज्या, तेसिं मताणुमतेणं पण्णवणा वण्णिता इहज्झयणे। सब्भावणिच्छयत्थं समोसरणं आहु तेणंति ॥१२०॥ तेषां क्रियावाद्यादीनां यद्यस्य मतं यस्यानुमतं तेषां समवायेन त्रीणि त्रिषष्टानि प्रावादुकशतानि भवति, तद्यथा–आस्तिकमतमात्माद्या नित्यानित्यात्मिका नव सं(भवं)ति। कालनियतिस्वभावेश्वरात्मकृतितः स्वपरसंस्थाः ॥ १ ॥ १८०, एवं असीतं किरियावादिसतं, एएसु पदेसु णवित्ति नव, जीव अजीवा आसव बंधो पुण्णं तहेव पावंति। संवरणिज्जरमोक्खा सब्भूतपदा णव हवंति ॥ १ ॥ इमो सो चारणोवाओ–अत्थि जीवः स्वतो नित्यः कालतः १, अत्थि जीवो सतो अणिच्चो कालतो २, अत्थि जीवो परतो निच्चो कालओ ३, अत्थि जीवो परतो अणिच्चो कालओ ४ अत्थि जीवो सतो णिच्चो णियतितो ५, एवं णियतित्तो स्वभावतो ईश्वरतः आत्मनः एते पंच चउक्का वीसं, एवं अजीवादिसुवि

त्रिषष्ट्यधिक त्रिशतपाखंडाः ॥२५४॥

वीसं वीसं, एताओ णव वीसाओ आसीतं किरियावादिसतं भवति। इदाणिं अकिरियावादि-कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्म-नश्चतुरशीतिः। नास्तिकवादिगणमतं न संति सप्त स्वपरसंस्थाः ॥१॥ इमेनोपायेन-णत्थि जीवो सतो कालओ १, णत्थि जीवो परतो कालओ २, एवं यदृच्छाएवि दो २ णियतीएवि दो २ इस्सरतोवि दो २ स्वभावतोऽपि दो २, सर्वेऽवि बारस, जीवादिसु सत्तसु गुणिता चतुरसीति भवंति। इदाणिं अण्णाणिय-अज्ञानिकवादिमतं नव जीवादीन् सदादियप्तविधान्। भावोत्पत्तिः सदसत् द्वेधाऽवाच्यं च को वेत्ति ? ॥१॥ ६७, इमे सत्तट्ठिविधाणा-सन् जीवः को वेत्ति ? किं वा णातेण ? १, असन् जीवः को वेत्ति ? किं वा तेण णातेण ? २ सदसन् जीवः को वेत्ति किं वा तेण णातेण ? ३ अवचनीयो जीवः को वेत्ति किं वा तेण णातेण ? ४ एवं सत् अवचनीयः ५ असत् अवचनीयः ६ सदसत् अवचनीयः ७, अजीवेऽवि ७, आश्रवेवि ७ संबंधेवे ७ पुण्णेवि ७ पावेवि ७ संवरेवि ७ णिज्जराएवि ७ मोक्खेवि ७, एवमेते सत्त णवगा सत्तट्ठी, इमेहिं संजुत्ता सत्तसट्ठी हवंति, तंजहा-सन्ती भावो त्पत्तिः को वेत्ति ? किं वा ताए णाताए ? असती १ भावोत्पत्तिः को वेत्ति ? किं वा ताए णाताए ? २ सदसती भावोत्पत्तिः को वेत्ति ? किं वा ताए णाताए ? ३ अवचनीया भावोत्पत्तिः को वेत्ति ? किं वा ताए णाताए ? ४, उक्ता अज्ञानिकाः। इदाणिं वैन-यिको-वैनयिकमतं विनयश्चेतोवाक्कायदानतः कार्यः। सुरनृपतियतिज्ञातिनृस्थविराधमातृपितृषु सदा ॥१॥ सुराणां विनयः कायव्वो, तंजहा-मणेणं वायाए काएणं दाणेणं, एवं रायाणं ४ जतीणं ४ णाणी(ती)णं ४ थेराणं ४ किवणाणं ४ मातुः ४ पितुः ४, एवमेते अट्ठ चउक्का बत्तीसं, सव्वेवि मेलिया तिण्णि तिसट्ठा पावादिगसता भवंति, एतेसिं भगवता गणधरेहि य सब्भावतो निश्च-यार्थं इहाध्ययनेऽपदिश्यते, अत एवाध्ययनं समवसरणमित्यपदिश्यते, ते पुण तिण्णि तिसट्ठा पावादिगसता इमेसु दोसु ठाणेसु

समोसराविजंति, तंजहा–संमवादे य मिच्छावादे य, तत्थ गाथा 'सम्मदिट्ठी किरियावादी' गाथा ॥ १२१ ॥ तत्र किरियावादित्तेऽपि सति सम्मदिट्ठीणो चेव एगे सम्मदिट्ठीवादी, अवसेसा चत्तारिवि समोसरणा मिच्छावादिणो, अण्णाणी अविरता परस्परं विरुद्धदृष्टयः, तेण मोत्तूण अकिरियावादं संमावादं लद्धूण विरतिं च अप्पमादो कायव्वो जहा कुदंसणेहिं ण छलिज्जसि, तेण धम्मे भावसमाधीए भावमग्गे अ घडितव्वमिति, णामणिक्खेवो गतो, सुत्ताणुगमे सुत्तं, अभिसंबंधो अज्झयणं अज्झयणेण तेण णिव्वुडेण पसत्थभावमग्गो आमरणन्ताए अणुपालेतव्वो, संसग्गे अप्पा भावेतव्वो, कुमग्गसिता य जाणिउं पडिहणेतव्वा, अतो चत्तारि समोसरणाणि, अथवा णामणिप्फण्णे वुत्तानि समोसरणाणि इमानीति वक्ष्यमाणाणि, प्रवदंतीति प्रवादिनो ते इमेत्ति, 'चत्तारि समोसरणाणि'सिलोगो ॥५३५॥ चत्तारित्ति संखा परवादिपडिसेधत्थं अंते चउण्ह गहणं, समवसरंति जेसु दरिसणाणि दिट्ठीओ वा ताणि समोसरणाणि, प्रवदंतीति प्रावादिका, पिधंपिधं वदंति पुढो वदंति, तंजहा–किरियं अकिरियं विणयं अण्णाणमाहंसु चउत्थमेव, तत्थ किरियावादीणं अत्थित्ते सति केसिंचि श्यामाकतन्दुलमात्रः केसिंचि हिययाधिट्ठाणो पदीवसिहो धम्मो(वमोजीवो)किरियावादी कम्मं कम्मफलं च अत्थित्ति भणति, अकिरियावादीणं केइ णत्थि किरिया फलं त्वस्ति, केसिंचि फलमवि णत्थि, ते तु जहा पंचमहाभूतिया चउब्भूतिया खंधमेत्तिया सुण्णवादिणो लोगाइतिगा य वादि अकिरियावादिणो, अण्णाणिया भणंति–जे किर णरए जाणंति ते चेव तत्थुववज्जंति, किं णाणेणं तवेणं वत्ति. तेसु मिगचारियादयो अडवीए पुप्फफलभक्खिणो इच्चादि अण्णाणिया, वेणइया तु आ(दा)णामपणामादिया कुपासंडा, तत्थ पुव्वं–'अण्णाणिया ताव कुसलावि सत्ता' वृत्तं ॥५३६॥ अकुशला एव धम्मोवायस्स, असंथुता णाम ण लोइयपरिक्खगाणं सम्मता, सव्वसत्थबाहिरा मुक्का, विति-

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥२५७॥

तिगिंछिएणवि वितिगिच्छा गाम मीमांसा, तिण्णत्ति तीर्णा, णत्थित्ति तेसिं वितिगिच्छा अण्णाणित्तणेणं, अथवा ससमएवि ताव केसिंचि वितिगिंछा उप्पज्जति, किं तर्हि परसमये ?, तं कतरेण उवदेसेण करेस्संति विचिकित्साऽभावं ?, जोऽवि तेसिं तित्थगरो तस्सवि सुत्तं, ण अत्थविचारणा, अथ अत्थि समयट्ठाणीत, एवं अकोविता, ण तं सयं अकोविदा, अकोविदानामेव कथयंति, को हि णाम विपश्चित् तान् अत्रवीत् जहा अण्णाणमेव सेयं अवद्धं कंमं च, अणाणुवीइत्ति अपूर्वापरतो विचिन्त्य यत्किंचिदेवा-सर्वज्ञप्रणीतत्वात् बालवत् मुसं वदंति, शाक्या अवि प्रायशः अज्ञानिका एव तेषामज्ञानोपचित्तं कर्म्म नास्ति, जेसिं च बालमत्त-सुत्ता अकम्मबद्धगा ते सव्व एव अण्णाणिया, सत्थधम्मता सा तेसिं जह चेव ठितेल्लगा तह चेव उवदिसंति, जहा अण्णाणेणं बंधो णत्थि, तह चेव ताणि सत्थाणि णिबद्धाणि 'सच्चं' (५३७) सव्वं मोसं इति चिंतयंता असाधुं साधुत्ति उदाहरंता सव्वंपि कताइ मोसं होज्जत्ति, एवं ते चिंतयंता सच्चंपि ण जाणंति, कथं ?, साधू दट्ठूण ण साधुत्ति भणंति, कयाइ सो साधु होज्ज कताइ असाधू, कयाइ चाउव्वओ कयाइ पावंचितो, चोरो वा कदाचि चोरः स्यात् कदाचिदचौरः, एवं स्त्रीपुरुषेष्वपि वैक्रियः स्यात् वेसकरणा वा योजइतव्वं, गवादिपु च यथासम्भवावस्थासु पुरुषादिपु च इत्येवं सर्वाभिशंकितत्वात् तदसाधुदर्शनं साधुत्ति ब्रुवते, साधुदर्शनं चासाध्विति, अथवा सच्चं मुसंति इति भासयंता, जो जिणपण्णत्तो मग्गो समाधिमग्गो तमेते अण्णाणिया सच्चमपि संतं असच्चंति भणंति, अथवा सच्चो संयमो तं सत्तदसप्पगारा य असच्चं भणंति असंयममित्यर्थः, जहा ते किल भणंति तहा सच्चं भणंति, अणुवातो सच्चं, तं च कुदंसणमण्णाणवादं साधुंति भणंति, असाधू अण्णाणियं साधूत्ति भणंति, तच्छासनप्रतिपन्नांश्च असाधून् साधून् ब्रुवते, वुत्ता अण्णाणिया। इदाणीं वेणइयवादि, जेमे जणा वेणइया अणेगे, पुट्ठावि भावं विणियं-

विचिकित्सादि

॥२५७॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२५८॥

सु णामा जेत्ति अणिद्दिट्ठणिद्देसे, जणा इति पृथग्जनाः, विनये नियुक्ताः वैनयिकाः, अनेगे इति बत्तीसं वेणइयवादिभेदा, ते पुट्ठा परेण अपिशब्दात् अपुट्ठावि विणयिंसु भावंति भावो नाम यथार्थोपलंभं विणयिंसु, तथा वा स्यात् अन्यथा वा, एवं ताव तेषां सत्यं भविष्यति, अथवा पुट्ठा वा–कीदृशो वा धर्म्मः ? इत्युक्ता ब्रुवते–सर्वथा परिगण्यमानः परीक्ष्यमाणः मीमांस्यमानो वा अयमस्माकं धर्म्मः, विणयमूलेण आरुहयधम्मगेण जणो णाधियो, कहं ?, जेण वयमपि विणयमूलमेव धम्मं पण्णवेमो, कथंचित्ते, येन वयं सर्वाविरोधेन सर्वविनयविनीताः मित्रारिसमाः, सर्वप्रव्रजितानां सर्वदेवानां च पुण्यं सत्कुर्म्मः, न च यथाऽन्ये वादिनः परस्परविरुद्धास्तथा वयमपि, अम्हं पुण पव्वइए समाणे जं जहा पासति इंदं वा खंदं वा जाव उच्चं पासति उच्चं पणामं करेति णीयं पासति णीयं पणामं करेति, उच्चमिति स्थानतः ऐश्वर्यतः तमुच्चं रायाणं अण्णतरं वा इस्सरं दट्ठूणं प्रणाममात्रं कुर्म्मः, णीयस्स तु साणस्स वा पाणस्स वा णीयं पणामं करेति, भूमितलगत्तेण सिरसा ग्रहाः प्रणमामहे, त एवं तालिशाः 'अणोपसंखा इति ते उदाहु'वृत्तं (५३८) संखा इति णाणं, संखाए समीवे उपसंखा, अणउपसंखा अज्ञाना इत्यर्थः, अनोपसंखया त एवमाहुः उदाहरेंतस्स उदाहुः अट्ठे स ओभासति, अर्थो नाम सत्यवचनार्थः, ओभासति उद्भवित्ति प्रगासति, एवं चेतसि नः प्रकाशयतीत्यर्थः, एवं च समीक्ष्यमाणं सत्यवचनं स्याद्, अन्यथा तु तथा चान्यथा च भवति, अथवा अट्ठे स नो भासतित्ति अर्थो नाम धर्मोऽर्थ एवं चेतसि नः प्रभासयति एवं च प्रकाशयति एवं दृश्यते युज्यमानः, आर्हतधर्म्मो ण, किल ज्ञानभासितेण तु सेसेहिं अण्णाणियकिरियावादिहिं घडते, कहं ?, जेण ते जात्यादिरागद्वेषाभिभूता तेण ण तुल्लोऽवभासति, भणिता विणईया। इदाणिं अकिरियवादीदरिसणं 'लवावसक्की य अणागतेहिं' लवमिति कर्म, वयं हि लवात् कर्मबन्धात् अवसक्कामो–फिट्टामो

वैनयिकवादः

॥२५८॥

अवसराम इत्यर्थः, संव्यवहारबंधेणावि ण बज्झामो, किं पुण णिच्छयतो, उपचारमात्रं तु तद्यथा 'बद्धा मुक्ताश्च कथ्यन्ते, मुष्टिग्रन्थिकचोतकाः। न चान्ये द्रव्यतः संति, मुष्टिग्रन्थिकपोतकाः ॥ १ ॥' ते हि वातूलिकाः शाक्यादयः आत्मानमेव नेच्छंति, किं पुनस्तद्बधं इति, अणागतेत्ति कालग्रहणात् अनागतेऽपि काले न बध्यन्ते, चग्रहणाच्चातिक्रान्तवर्त्तमानयोः, अथवा विसक्किंत्ति क्षणलवमुहूर्तअहोरत्तपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरादिलक्षणे कालेः सर्वत्र कर्मबन्धादवशक्रुमः, लवः कालः, वर्तमानादवसक्कामो, एवमनागतादपि, एतद्दर्शनः मिच्छत्तकिरियामाहंसु–आख्यातवंतः, के ते?, अकिरियओ आता जेसिं ते इमे अकिरियाता, ते नापि कारकमिच्छंति नापि करणानि, येषामपि करणानि कित्तीणि आत्माकर्ता, तेऽपि अक्रियावादिनः, उक्तं हि–'कः कंटकानां प्रकारोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां वा। स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारात् स्ववशो हि लोकः ॥१॥ तेसामुत्तरं–गंता च नास्ति कश्चिद् गतयः षड् बुद्धशासनप्रोक्ताः। गम्यत इति च गतिः स्यात् श्रुतिः कथं शोभना वह्वी? ॥ १ ॥ क्रिया कर्म्म कृतं न वास्ति, असति कारके कुतः कर्म्म?' कथं च षड् गतयः, अंतराभावे वा, यथाऽस्माकं 'विग्रहगतौ कर्मयोगः' एवं तेषामपि अन्तराभावः, एवं ते पुट्ठा वा अपुट्ठा वा सम्मिस्सभावं ब्रुवते, अबंधानि च कर्माणि पण्णवंति, एवं जातकशतान्युपदिशंति बुद्धस्य, तानि शून्यत्वे न युज्यंते, तथा—'मातापितरौ हत्वा बुद्धशरीरे च रुधिरमुत्पाद्य। अर्हद्वधं च कृत्वा स्तूपं भित्त्वा च पश्चैते ॥ १ ॥ आविहिं नरकं याति' एतच्च न युज्यते, जातिजरामरणानि च न स्युः, उत्तमाधममध्यमत्वं न स्यात्, मनुष्यतिर्यग्योनीनां स्वयमेव कर्म्माविपाको, जीवस्य कर्तृत्व कर्मावद्धं च कथयंति, चौरादीनां च कर्मणामिहैव विपाकं दृष्ट्वा सामान्यतोदृष्टेनानुमीयते कृतकर्त्ताऽयमात्मा, येनास्य गर्भगतस्यैव व्याधयः प्रादुर्भवन्ति मृत्युश्च, तथा च सामान्यतोदृष्टेनानु-

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥२६०॥

मानेन, संमिश्रभावो नाम असतित्वमपि प्रतिपद्यमानाः अस्तित्वमेव दर्शयंति, तमेव **सन्निमश्रभावं यथा गिरया गृह्यंते**, निगृह्यन्त इत्यर्थः, उम्मत्तवादं वदंति, तद्यथा–कश्चिदुन्मत्तः स्वाभाविकं ब्रवीति चेष्टते वा, क्वचिदन्यथा, अंधो वाऽध्वानं व्रजेत् क्वचित् अपथा गच्छति, एवं तेऽपि गन्धर्वनगरतुल्याः मायास्वप्नोपनतधनसदृशाः मृगतृष्णानिद्रामदप्रनर्तितालातचक्रसमाः एवमपि निश्चयाभावात्, भावानुक्त्वा पश्चाज्जातिस्मरणानि जातकान् निरन्वयाश्रयं निर्वाणं च प्रतिपद्यन्ते, एवं ते संमिश्रभाववादिनः मिथ्यादर्शनान्धकाराः जातकानेतस्यां गिरि गृहीता, यदि शून्यं कथं जातकानि?, कथं स्मरणं? कथं शून्यता?, किंच–यदि शून्यस्तव पक्षो मत्पक्षनिवारणं कथं भवति?। अथ मन्यसे न शून्यस्तथापि मत्पक्ष एवासौ ॥१॥ अस्तित्वात् तस्य, किंच–केन शून्यता देसिता? किमर्थं देशिता स्याच्छिष्ययोजना शून्यता इत्यादिभिः कर्कशहेतुभिश्चोदिता कच्छाघरघरियाए आहतियाए एलमूगो वा मम्मणमूगो वा, जहा मुंमुएति, णो एक्कं अणेकं वा पक्खं अणुवदंति अस्ति नास्ति वा, यद्यप्यष्टौ व्याकरणानि पठंति, ते पुण अकिरियावादिणो दुविधं धम्मं पन्नवेंति, तंजहा–इमं दुक्खं इमं एगपक्खं तावत्, अविज्ञानोपचितं १ परिज्ञानोपचितं २ ईर्यापथं ३ स्वप्नान्तिकं ४ च चतुर्विधं कर्म चयं न गच्छति, एतद्धि एकपाक्षिकमेव कर्म भवति, का तर्हि भावना?, क्रियामात्रमेव, न तु चयोऽस्ति, बन्धं प्रतीत्याविकल्प इत्यर्थः, एगपक्खियं दुपक्खियं तु, यदि सत्त्वश्च भवति सत्त्वसंज्ञा च संचिन्त्यैव जीविताद् व्यपरोपणं प्राणातिपातः, एतत् इह च परत्र चानुभूयते इत्यतो दुपक्खियं यथा चौरादयः, इह दुक्खमात्रामनुभूय शेषं नरकादिष्वनुभवंति, किंच–आहंसु छलायतणं च कम्मं षडायतनमिति षड् आयतनानि यस्य तदिदं आश्रवद्वारमित्यर्थः, तद्यथा–श्रोतायतनं यावन्मनआयतनं, 'त एवमक्खंति' वृत्तं ॥५४०॥ अक्रियाअण्णाणिआयभावं अवुज्झमाणा इह मिच्छत्तप-

संमिश्र-भावादि

॥२६०॥

लोच्छणा अप्पाणं परं वा तदुभयं वा वुग्गाहेमाणा विरुवरूवाणि दरिसणाणि, कथं?, दाणेण महाभोगा देहिनां सुरगतिश्च शीलेन। भावनया च विमुक्तिरित्यादि, किंच-यश्च वेदान्तश्च के ब्राह्मणे दधात्, यो वा विहारं कारयति, किंच—'एगपुप्फपदाणेण, आसीतिः कल्पकोटयः। सुखिनस्तिष्ठंति, एवमकिरिओ आता जेसिं ते होंति अकिरियाता, जमादितित्ता मणुस्सा जमित्यनिर्दिष्टस्य निर्देशः, आदिइत्ता गृहित्वा, स्वयं अन्यांश्च गाहित्वापि अणादीयं अणवदग्गं संसारं भमंति, किञ्चान्यत्, यदि सर्वमक्रियं तेन कथमादित्यः उत्तिष्ठति? अस्तं वा गच्छति?, कथं वा चन्द्रमा वर्द्धते हीयते च?, न वा सरितः प्रस्यन्देरन्, न वा वायवो वायेयुः, सर्वसंव्यवहारोच्छेदः स्यात्, एवमुक्ताः ब्रुवते-'णातिच्चो उट्ठेति ण अत्थमेई'ति वृत्तं ॥ ५४१ ॥ आदित्य एव नास्ति, कुतस्तर्हि तदुत्थानमस्तमनं वा?, मृगतृष्णिकासदृशं तु एतदिति लोहितमर्कमंडलमवभासते, एवं चन्द्रमापि नास्ति, कुतस्तर्हि वृद्धिह्रासोत्थानास्तमनानि?, किंच-संघातो मरीची उट्ठेति, उट्ठो णासेणं इमं लोगं तिरियं करेति, करेत्ता सेणं इमं लोगं उज्जोवेति पभासति, न सरितोऽपि ण संदंति, न च न वायवः, ततः कथं न संदिष्यते वास्यंति वा?, स्याद् बुद्धिः-उत्तिष्ठन्नादित्यो दृश्यते अस्तं च गच्छन्, यतः पूर्वस्यां दिशि दृष्टः अपरस्यां दिशि दृश्यते, तेन क्रियावान्, देवदत्तस्य हि गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिं दृष्ट्वा चन्द्रादित्यावनुमीयेते, सरितश्च स्यन्दमाना दृश्यन्ते, वायवश्च वृक्षाग्रकंदादिभिरनुमीयते क्रियावंत इति, तच्चासत्, कथं?, गतं न गम्यते तावत्, अगतं नैव गम्यते। गतागतविनिर्मुक्तं, गम्यमानं न गम्यते ॥१॥ एवमयं वंध्यो लोकः, वंध्यो नाम शून्यः, अथवा वन्ध्यावत् अप्रसवत्वाद्वन्ध्यो, लोकायतानां हि न मृतः पुनरुत्पद्यते, एतावानेव परमात्मा, त एवं दर्शनं भावयंति, गलागत्यमपि कुर्वाणा नोद्विजन्ते, मातरं भगिनीं वा गत्वा नानुतप्यंते, येषां बंधाभाव एव ते कथं पापेभ्यो निर्वर्त्स्यन्ते?

निवृत्तिमूलं वा धर्म्मं देक्ष्यन्ते ?, एवं शाक्या अपि एवं वन्ध्याः, नितिओ गाम नित्यकालमेव शून्यः, शून्यं वा न चोच्छिद्यते, कसिणो नाम गृहनगरपर्वतद्विपदचतुष्पदादि सर्वो वन्ध्यः, त एवं विद्यमानमपि लोकं न पश्यंति, दृष्टान्तः–'जहा य अंधे सह जोतिणावि' वृत्तं ॥५४२॥ यथेति येन प्रकारेण, द्योतयतीति द्योतिः आदित्यश्च चन्द्रमाः प्रदीपो वा, द्योतिना सह सहद्योति नानादिरूवाणि घडादीणि, न पश्यन्ति, जग्गतोऽपि वर्तमानानि स्पर्शेनापि न तेषां वर्णादिविशेषं पश्यन्ति, नयतीति नेत्तं हीने यस्य नेत्रे स भवति हीननेत्रः, उद्वत्ते उपहते वा संतं तु ते एवं अकिरियाता संतमिति विद्यमानं, तु पूरणे, अकिरियावाइणो, अकिरिओ मिच्छत्तोदयान्धकारात् जीवादीन् पदार्थान्न जानंति, अथवा किरियं न ते पस्संतित्ति क्रियावत्तां द्रव्याणां आगमनगमनाद्याः क्रियाः पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति, स्वयं क्रियासु वर्तंते उंघवत्, न चैताः न पश्यन्ति, निरुद्धा येषां प्रज्ञाः ते भवन्ति निरुद्धपन्ना णाणावरणोदयेन, अथवा ते वराकाः कथं ज्ञास्यंति ये आगमज्ञानपरोक्षा एव ?, जे पुण ण निरुद्धपन्ना ते प्रत्यक्षेण वा आगमेन परोक्षेण जीवादीन् पदार्थान् यथावज्जानंति, तत्रावधिमनःपर्यायकेवलानि प्रत्यक्षं, मतिः श्रुतिः परोक्षं, प्रत्यक्षज्ञानिनस्तावत् जीवादीन् पदार्थान् करतलामलकवत् पश्यन्ति, समत्तसुतणाणिणोवि लक्षणेण, अट्ठंगमहानिमित्तपारगा अर्थं च साधवो जाणंति णिमित्तेणं, 'संवच्छर सुमिणं लक्खणं च'वृत्तं ॥५४३॥ संवत्सरनिमित्ते इमे एगट्ठिया, तं०- संवच्छरोत्ति वा ओतिसेत्ति वा, सुमिणं सुविणं जज्ञाया व, लक्खणं सारीरं, एतेण चेव सेसयाइंपि सूइताइं, तंजहा–भोमं १ उप्पातं २ सुमिणं ३ अंतरिक्खं ४ अंगं ५ सरं ६ लक्खणं ७ वंजणं ८, णवमस्स पुव्वस्स ततियातो आयारवत्थुतो एतं णीणीतं, एतं बहवे अधिज्जिता, एवं अट्ठंगं णिमित्तं बहवे समणा अधिज्जिताण 'सव्वलोगंसि जाणंति अणागताइं' अतिक्रान्तवर्त्तमानानि च, केवलिवद्वा

सूत्रकृ-चूर्णिः १६३॥

करेति तथा गताणित्ति, तथा भूताणित्ति यथावस्थितानीत्यर्थः, अंगवज्जानां अनुष्टुभेन छन्दसा अर्द्धत्रयोदशशतानि सूत्रं तावदेव शतसहस्राणि परिपातिका, अङ्गस्य तु अर्द्धत्रयोदशसहस्राणि सूत्रं, तावदेव सयसहस्राणि वृत्तं, अपरिमितं वार्तिकं, एवं निमित्तमप्यधीत्य न सर्वे तुल्याः, परस्परतः पदस्थानपतिताः, चोद्दसपुव्वीवि छट्ठाणपडिता, एवं आयारधराणि छट्ठाणवडिया, यतश्चैवं तेनापदिश्यन्ते 'केई निमित्ता तधिया भवंति' वृत्तं ॥५४४॥ केचिदिति न सर्वे, अभिन्नदसपुव्विणो हेट्ठेण एतं अट्ठगंपि महाणिमित्तं अधितुं गुणितुं वा, अधीत्य एवमेव केचित् परिणामयंति, ते पडुच्च ते णिमित्ता तधिया भवंति, केई पुण निमित्तबुद्धित्वात् विशुद्धिणेमित्तकेहिंतो छण्हं ठाणाण अण्णतरं ठाणं परिहीणा अविशुद्धखयोवसमा 'विप्पडिएन्ति णाणं' विपर्यासेन एंति विप्पडिएन्ति, 'इक् स्मरणे' 'इङ् अध्ययने' 'इण् गतौ' एषां त्रयाणामपि इगिङीणां परिपूर्वाणां अप्रत्ययान्तानां विपर्यय इति पूर्वरूपं भवति, विपर्ययेण एति विप्पडिएति, को अर्थः?–विपर्ययज्ञानं भवति, असम्यगुपलब्धिरित्यर्थः, सपरिभवमप्यङ्गमधीत्य, अब्भपडलदिट्ठंतेणं, यथा श्लक्षाभ्रपडले कश्चिद्वेत्ति एकमेवेदं अभ्रपडलं यावत्तत्रान्यदप्यस्ति सूक्ष्ममिति नोपलभ्यते, संजताविं केई विप्पडिएन्ति णाणं, किमंग पुण अण्णउत्थिया दगसोयरिया तव्वणिगादयो, ते विज्जमासं अणधिज्जमाणा अणधिज्जमाणेत्ति अधीतेन निमित्तेण दुरधीतेन वितथं दृष्ट्वा निमित्तं वदंति, णिमितमेव णत्थि, तद्यथा—क्वचित् क्षुते त्वरितत्वात् सङ्कित एव गतः, तस्य चान्यः शुभः शकुन उत्थितः येनास्य तत् क्षुतं प्रतिहतं, स चेत् न तं शकुनं वेद शकुनोऽपि वा न लक्षितः स तु मन्यते व्यलीकमेव निमित्तं, येनाशकुनेऽपि सिद्धिर्जाता इति, एवं शोभनमपि शकुनं उत्थितमन्येनाशोभनेनप्रतिहतमनवबुद्ध्यमानः कार्यसिद्धिनिमित्तमेव नास्तीति मन्येत, अपरिणामयन्, विज्जाहरि(भा)से णाम यथार्थोपलम्भः, विद्यया स्पृश्यते विद्यया-

अष्टांग-निमित्तं

॥२६३॥

ऽऽप्यते, विद्यया गृह्यत इत्यर्थः, त एवं वराकाः चक्षुर्ग्राह्यमपि णिमित्तमपरिणामयन्तः आहंसु विज्जाए पतिमोक्खमेव निमित्त-विद्यापरिमोक्षं, एवं हि कर्त्तव्यं, नाधीतव्यानि निमित्तशास्त्राणीत्यर्थः, किंचित्तथा किंचिदन्यथेतिकृत्वा मा भून्मृषावादप्रसङ्गः, बुद्धः किल शिष्याणामाह्वयोक्तवान्—द्वादश वर्षाणि दुर्भिक्षं भविष्यति, तेन देशान्तराणि गच्छत, ते प्रस्थितास्तेन प्रतिसिद्धाः सुभिक्षमिदानीं भविष्यति, कथं ?, अद्यैवैकः सत्त्वः पुन्यवान् जातः, तत्प्राधान्यात्सुभिक्षं भविष्यति, इत्यतो निमित्तं तथा चान्यथा च भवतीतिकृत्वा आहंसु विज्जाए पलिमोक्खमेव, उज्झनमित्यर्थः, मोक्षं च प्रति निरर्थकमित्यतः निरुत्सृष्टं, अथवा विज्जया परि-मोक्खमाहु, सांख्यादयो ज्ञानात् मोक्षमिच्छन्ति, जे णिमित्तं संखाणं परिज्ञाणमियन्ति न ते किलात्यन्तपरोक्षमात्मानं परलोकं मोक्षं च ज्ञास्यन्ति ? इत्यादि हास्यं, पच्चक्खं कम्मं बंधंति ते सुत्तणाणहीलणाए, उक्तं हि—ज्ञानस्य ज्ञानिनां चैव, निंदाप्रद्वेषमत्सरैः। उप-घातैश्च विघ्नैश्च, ज्ञानघ्नं कर्म बध्यते ॥ १ ॥ स्याद्बुद्धिः—केनैतानि समोसरणानि प्रणीतानि ? जं च हेट्ठा वुत्तं जं च उवरिं भणि-हिति ?, उच्यते—अनिरुद्धपण्णा तित्थगरा ते एयमक्खन्ते 'समेच्च लोगं' वृत्तं ॥५४५॥ ते इति तीर्थकराः, एतदिति यदति-क्रान्तव्यं च परसमयसिद्धपरूवणाओ वा, एवमन्येऽप्याख्यातवंतः आख्याइस्संति च, सम्यक् इत्या समिच्च ज्ञात्वेत्यर्थः, तथागता समणा माहणा य तथागत इति तीर्थकरत्वं केवलज्ञानं च गताः, पठ्यते च—तहा तहा समणा माहणा य, तथा तथेति यथा यथा समाधिमार्गव्यवस्थिताः तथा तथा ख्यान्ति त्रैकाल्यात्, जे अभिग्गहियमिच्छादिट्ठी जे अ अणभिग्गहियमिच्छा-दिट्ठी तेसिं सव्वेसिं दर्शनमाख्यान्ति, समणा माहणा यत्ति एगट्ठं, पच्चक्खणाणिणो परोक्खणाणिणो वा आगमग्राह्यात्, किमा-ख्यान्ति ? अत्थि माता अत्थि पिता जाव सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति, एवं क्रियावादित्वं ख्याप्यते, किंच—'सयं

विद्याप्रति-मोक्षादि

कडं णण्णकडं च दुक्खं सयं कडं णाम स्वयं कृतं सयं कडं, सव्वमेव हि कर्म्म दुक्खं, प्रतीकारात्पुण्यमपि दुक्खं, उक्तं हि– 'तौ सव्वकालदुक्खौ' तं तु स्वयं कृतमेव, नान्यकृतं, न वाऽकृतं, आहंसु विज्जा चरणं पमोक्खं विज्जया चरणेण वा मोक्खो भवन्ति, न तु यथा सांख्या ज्ञानेनैवैकेन, अज्ञानिकाश्च शीलेनैवैकेन, उक्तं हि–'क्रियां च सज्ज्ञानवियोगनिष्फलां, क्रियाविहीनां च निबोधसंपदं। निरस्यता क्लेशसमूहशान्तये, त्वया शिवायालिखितेव पद्धतिः ॥ १ ॥' 'ते चक्खुजोग-धम्मिया(भूया उ सुहं पयाणं)गायगा' वृत्तं ५४६॥ चक्षुर्भूता लोकस्य, प्रदीपभूता इत्यर्थः, देशका गायकाः पगढगाः, सग्गं णाणातिहितं सुहं प्रजानां, तु विसेसणे, सन्मार्गगुणाँश्च दर्शयति कुमार्गदोषांश्च, अथवा तु विशेषणे, अहितमार्गनिवृत्तिं च, प्रजायंतीति प्रजाः, तथा तथा सास्वयमाहु लोगो तथा तथेति येन येन प्रकारेण शाश्वतो लोको भवति पञ्चास्तिकायात्मकः अथवा यथाऽस्यात्मनः अव्यवच्छिन्नकर्म्मसंततिर्भवति यथाप्रकारा च तथा तथा सासतमाहु लोगे, तहा 'चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयाउ-यत्ताए कम्मं पकरेंति०' तावत्संसारो नोच्छिद्यते यावन्मिथ्यादर्शनं, तीर्थकराहारकवर्जाः सर्वे एव कर्म्मबन्धाः सम्भाव्यन्ते, उपलक्षणत्वादस्यान्यदपि यदत्रं संभवति तत् द्रष्टव्यं, एवं रागद्वेषावपि संसारकरौ इतिकृत्वा तहा तहा वदति–संसारमाहुः, अहवा अतधा तथत्ति जस्स जारिसी सत्ता तहा तस्स उवचयो होति मिच्छा, अहवा मिच्छत्तअविरतिअण्णाणाणि जहा २ तहा २ संसारः, अथवा पाणवहादी जहा २ तहा २, अहवा कसायादयो जहा तहा, कायवाङ्मनोयोगा जहा २ तहा २ संसारो, सर्वत्र यात्रा परिमाणं वक्तव्यं, 'जंसी पया' यस्मिन्निति यत्र, प्रजायंते इति प्रजाः, सर्व एव सत्त्वा मानवा इत्यपदिश्यन्ते, मानवानां प्रजा मानवप्रजा, अथवा माणवा इति हे मानवाः!, संप्रसृताः संप्रगाढा ओगाढा विगाढा सम्प्रगाढा इत्यर्थः, एवं आश्रवलोके

कथयंति, आश्रवलोकानुरूपमेव च लोकं विशंति 'जे रक्खसा जे जमलोइया वा' वृत्तं ॥ ५४७॥ केषांचित् भवनपत्यादि देवा शाश्वताः तेण रक्खसगहणं , अथवा व्यन्तरा ग्रहीता राक्षसग्रहणात् , जमलोइयग्रहणाद्वैमानिकाः सूचिताः, गान्धर्वा व्यन्तराः एए जेणं जमदेवकाईया तिविधा, सर्वे ते जम्मस्स महारायस्स आणाउववातवयणणिद्देसे चिट्ठंति, असुरग्रहणेन भवनवासिनः सूचिताः, गान्धर्वा व्यन्तरा एव, ज्योतिष्का दृश्यन्त एव, सेसा आगासगामी य पुढोसिता य देवपक्खिवातादयः आगासगामी, पृथ्व्यंबुवनस्पतयः द्वित्रिचतुरिन्द्रियाश्च स्थलचरा जलचराश्च, एते पुढोसिता, पुनः पुनः विपर्यासमेनि विपर्यासो नाम जन्मनि मृत्युः, सर्व एव संसारे विपर्यासः, जेणं 'पुढविकायमइगओ उक्कोसं जीवो तु संवसे' 'जमाहु ओहं सलिलं अपारगं' वृत्तं, ॥५४८॥ यत् इत्यनिर्दिष्टस्य निर्देशे आह भगवानेव, द्रव्यौघः स्वयम्भुरमणः, स एवौघः सलिलः, ओघसलिलेन तुल्यं औघसलिलं तस्यापारं, जलचराः स्थलचरा वा न शक्नुवन्ति गंतुं णण्णत्थ देवेण महड्ढिएण इत्यतः अपारगः, जाणाहि णं जहा जिनैरुपदिष्टः आगमप्रामाण्यात् प्रत्यक्षतश्च उपलक्ष्यते मनुष्यादिसंसारः, चतुर्विधं भवग्गहणं २, कडिल्लयमित्यर्थः, चउरासिति जोणिपमुहसयसहस्सगहणो जत्थ अणोरपारपविट्ठो सव्वद्धाएवि ण मुच्चति मिच्छादिट्ठी लोको, लोकाएतसुण्णवादिगादि लौकिक इत्यादि, दुर्मोक्षेति मिच्छत्तसातगुरुत्वेन च ण तरंति अणुपालेत्तए, जेवि अत्थिवादिणो किमंग पुण नास्तिकाः,जहा ताणि चत्तारि तावससहस्साणि सातागुरुयत्तणेण छक्कायवधगाइं जाताइं, 'जंसी विसण्णा विसयंगणादी' यत्र संसारे यत्र वा साकारधर्मे समाधौ कुमार्गे वा असत्समवसरणेषु, पंचसु वा विसएसु विसन्नाः, सुगरियान् स्पर्शः, तेष्वप्यंगनाः, तासु हि पंच विषया विद्यन्ते, तद्यथा–'पुप्फफलाणं च रसं' इत्यतः अंगणाग्गहणं, दुहतोवित्ति द्विविधेनापि प्रमादेन लोकं अमुं संचरंति, तंजहा–

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२६७॥

लिङ्गवेससज्जाए अविरतीए य, अथवा आरंभपरिग्रहाभ्यां रागद्वेषाभ्यां वा त्रसस्थावरलोगाभ्यां इमं लोगं परलोगं वा, त एव मिथ्यात्वादिभिर्दोषैरभिभूताः अगत्समवसरणावस्थिताः 'ण कम्मुणा कम्म खवेंति बाला' वृत्तं ॥५४९॥ न इति प्रतिषेधे, मिथ्यात्वादिषु कर्म्मबंधहेतुषु वर्त्तमानाः न कर्म्माणि क्षपयन्ति बालाः—कुतीर्थाः, यस्यैव हि ते भीतास्तमेवाविशंति, कर्मभीताः कर्माण्येव वर्द्धयन्ति, न निदानमेव रोगस्य चिकित्सा, यथा कश्चिन्मूढधीर्निदानैरेव रोगचिकित्सां करोति, स हि तस्य वृद्धिमाप्नोति, अकर्मणा णु आश्रवनिरोधेन कर्माणि क्षपयंति धीराः विधिक्रियाभिरिवामयान् वैद्याः, मेधाविणो लोभमयं मेरा (मेहया) धाविणो, लोभमतीताः, वीतरागा इत्यर्थः, एवं सायामतीता २ वा संतोसिणोत्ति अलोभाः, स्याद् बुद्धिः अलोभाः संतोषिणश्च एकार्थमितिकृत्वा तेन पुनरुक्तं, उच्यते, अर्थविशेषात् न पुनरुक्तं, लोभातीतः इति लोभमतिक्रान्तोऽलोभो वीतरागः, संतोषिण इति निग्रहपरमा अवीतरागा अपि वीतरागाः, णो पकरेंति पावं संतोसिणो पयणुयं पकरेंति, तब्भववेदणिज्जमेव, यत एव लोभा ईया अत एव संतोसिणः, एवं अमातिनः स्तोकमायिनः, त एव भगवन्तः अनिरुद्धपण्णा 'ते तीअउप्पन्नअणागताइं' वृत्तं ।.५५०॥ त इति तीर्थकरादयः प्रदीपभूताः, तीताणि लाभालाभसुखदुःखादीनि एवं पडुपन्नअणागताइं, जेहिं वा कम्मेहिं पुव्व-कतेहिं इहायातो जोणिवासं पदं करेंति जं च भविस्सति इत्यतः तीतपच्चुप्पणअणागताइं, तहा भूताइं तहागताणि अवितहाणित्ति भणितं होति, न विभंगज्ञानिवत् विपरीतं पश्यन्ति, 'अणगारे णं भंते! मायामिच्छादिट्ठी रायगिहे नयरे समोहए' तेनावधिविभं-गोपयोगेण,रायगिहे गतवं च वाणारसीए णयरीए रूवाइं जाणति जाव से से दंसणविवच्चासो भवति' ते भगवन्तः प्रत्यक्षज्ञानिनः, परोक्षे वा पूर्वविदः, णेतारो अण्णेसिं अणण्णणेता—णयंतीति नेतारः अन्येषां भव्यानां सर्वेषां नेतार इति, न अन्यस्तेषां नेता

विद्याप्रति-मोक्षादि

॥२६७॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२६८॥

विद्यते, एतावं ताव समणेण वा धम्मे अक्खाते इत्यतो अणण्णणेता, बुद्धा स्वयंबुद्धाः बुद्धबोधिता वा गणधरादयः, अतं कुर्वन्तीत्यन्तकराः भवान्तं कर्मान्तं वा, ये वात्र भवान्तं न कुर्वंति तावत् 'ते णेव कुव्वंति ण कारवेंति' वृत्तं ॥ ५५१ ॥ स्वयं न कुर्वन्ति न कारयन्त्यन्यैर्नानुमन्यन्ते, किं तत्?, पाणाइवातं, अनुक्तमपि विज्ञायते प्राणातिपातं, येनापदिश्यते भूताभिसंकाए दुगुंछमाणा भूतानि तसथावराणि ताणि यतो भिसं संकति सा भूताभिसंका भवति, हिंसेत्यर्थः, तां भूताभिसंकां तत्कारिणश्च जुगुप्समाना उद्विजमाना इत्यर्थः, पाणातिपातमिति वाक्यशेषः, लोकोऽपि हि मत्स्यबन्धादीन् हिंसकान् जुगुप्सते, एवं ते ण आमन्ति, ण भाषावेंति मुसावातं, एवं जाव मिच्छादंसणं ण परूवेंती णो सद्दहंति णवएण भेदेण, त एवमप्पाणं परं तदुभयं च संजममाणा सदेति सर्वकालं प्रव्रज्याकालादारभ्य यावज्जीवं ज्ञानादिषु त्रिविधं प्रणमंति पराक्रमंत इत्यर्थः, विदितु वीराः विज्ञाय धीरा भवन्ति, ज्ञानादिभिर्वा राजन्तीति वीराः, एके न सर्वे, पठ्यते च-विण्णत्ति वीरा य भवंति एके, विज्ञप्तिमात्रा वीरा एवैके भवन्ति, ण तु करणवीराः, स्यात् कैः करणभूतानि येषां संकितव्यं?, उच्यते-'डहरे य पाणे' वृत्तं ॥ ५५२ ॥ डहरा सूक्ष्माः कुन्थ्वादयः सुहुमकायिका वा, वुड्ढा महासरीरा बादरा वा, ते डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे जे आतनो पस्सति सव्वलोगे आत्मना तुल्यं आत्मवत् यत्प्रमाणो वा मम आत्मा एतावत्प्रमाणः कुंथोरपि हस्तिनोऽपीति, अथवा 'जह मम ण पियं दुक्खं' एवं सव्वजीवाणं, डहराण वा महल्लाण वा 'पुढविकाइए णं भंते! अक्कंते समाणे केरिसयं वेदणं वेदयंति?,' सुत्तालावगो इत्यतस्तेऽपि ण अक्कमितव्वा ण संघट्टेयव्वा, ये एवं पश्यन्ति 'उवेहती लोगमिणं महंतं' वृत्तं, उवेहती उपेक्षते, पश्यतीत्यर्थः, उपेक्षां करोति, सर्वत्र माध्यस्थ्यमित्यर्थः, महान्त इति छज्जीवकायाकुलं अट्ठविधकम्मकुलं वा, बलिपिंडोवमाए महान्तो लोगो,

विद्याप्रतिमोक्षादि

॥२६८॥

अथवा कालतो महंते अनादिनिधनः, अस्ति एके भव्या अपि ये सर्वकालेनापि न सेत्स्यन्ति, अथवा द्रव्यतः क्षेत्रतश्च भावतश्च नान्तः, बुद्धो नाम धर्मे समाधौ मार्गसमोसरणेसु च, अप्रमत्तः कायेषु जयणाए य, अथवा अप्रमत्तेषु असंजतेषु परिवएज्जासित्ति बेमि, अथवा बुद्धे अप्पमत्ते सुट्ठु परिव्वए। 'जे आतयो परतो यावि णचा' वृत्तं ॥५५३॥ आत्मनः स्वयं तीर्थकरा जाणंति जीवादीन्, परतो गणधरादयः, अलं पर्याप्त्यादिषु, स द्विधाऽपि जानकः अलमात्मानं परांश्चेति, अकृत्यात् वा प्रतिषेधे यतितव्ये, इत्येवं तं ज्योतिर्भूतं तमिति तं उभयत्रातारं ज्योतयतीति ज्योतिः आदित्यश्चन्द्रमाः मणिः प्रदीपो वा, यथा प्रदीपो द्योतयति एवममौ लोकालोकं ज्योततीति ज्योतिस्तुल्यः इत्यर्थः, सततं आवसे(सेवि)ज्जासित्ति जावज्जीवाए से(वे)ज्जा तित्थगरं गणधरे वा यो यस्मिन् काले ज्योतिभूतः जे 'पादुकुज्जा' य इत्यनिर्दिष्टः, प्रादुः प्रकाशके, ये प्रादुष्कुर्वन्ति धर्मं पूर्वापरतोऽनुचिंत्य, करतलामलकवत् लोकं दृष्ट्वा इत्यर्थः, अथवा अणुवीयिणितुं परममयं दर्शयति, धर्मं समाधिमार्गं समोसरणानि च, कीदृशाः पुनस्ते विदारितज्ञानिनः त्रैलोक्यदर्शिनः ?, उच्यते–'अत्ताण जे जाणति जे य लोगं' वृत्तं ॥५५४॥ आत्मानं यो वेत्ति यथाऽहमयातोति संसारी च, अथवा स आत्मज्ञानी भवति य आत्महितेष्वपि प्रवर्त्तते, अथवा त्रैलोक्य (काल्य) कार्योपदेशादात्मा प्रत्यक्ष इति, कृतवानित्यादि, येनात्मा ज्ञातो भवति तेन प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो लोको ज्ञात एव भवति, आत्मौपम्येन यथा ममेष्टानि, दृष्टेष्वर्थेषु प्रवृत्तिनिवृत्तिभावतः यथाऽस्तीति, अथवा आत्मौपम्येन परेष्वहिंसकः। किंच 'जे आगतिं जाणइ णागतिं च' जे आगति जाणंति, कुतो मनुष्या आगच्छंति ? सत्तममहिणेरइया०, कैर्वा कर्म्मभिः कुत्र वा गच्छंति ?, तव्वेए, कुतोऽहमागतः गमिष्यामि वा ? अनागतिरिति सिद्धिः सादीया अपज्जवसिता, जे सासत जाणइ असासयं वा' सर्वद्रव्याणां शाश्वतत्वं द्रव्यतः

अशाश्वतत्वं पर्यायतः, चशब्दाच्च शाश्वताशाश्वतं वा, तंजहा–णेरइया दव्वट्ठयाए सासता भावट्ठताए असासता, अथवा निर्वाणं शाश्वतं, संसारिणस्तु संसारं प्रतीत्य अशाश्वता, जातिमरणं च जाणीते, औदारिकानौदारिकानां सत्त्वानां जातिः, एत्थ जोणीसंग्रहो भाणितव्वो, णवविधोऽवि तंजहा–"सचित्तशीतसंवृत्ता मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः," सचित्ताचित्तसीतोष्णसंवृत्तविवृता एताश्च सेतराः, ओरालिएणं चेव मरणं, बंधानुलोम्याच्च यतोऽपवादं, इतरधा तु पूर्वः उपपातो वक्तव्यः, स तु नारकदेवानां, चयणं तु जोतिसियवेमाणियाणं, उव्वट्टणा भवणवासियाणं वंतराणं नेरइयाणं च, 'अधोवि सत्ताण विउवट्टणं च' वृत्तं ॥ ५५५॥ जहा जहा गुरूणि कम्माणि तहा २ अधो विउद्दंति, विविधं उद्दंति विउद्दंति जातंते मियंत इत्यर्थः, सर्वार्थसिद्धादारभ्य यावदधोसप्तम्यां तावदधो वर्त्तन्ते, तत्रापि ये गुरुतरकर्माणः ते अप्रतिष्ठाने शेषेषु चोत्कृष्टस्थितयः, जो आसवं जाणति आश्रवान् रागादीन् प्राणवधादीन् पञ्च आरंभपरिग्गहौ च इत्याद्याश्रवास्तद्विधर्म्मा संवरः संयम इत्यर्थः, जाव निरुद्धजोगित्ति, 'यथा प्रकाराः यावन्तः, संसारावेशहेतवः। तावन्तस्तद्विपर्यासा, निर्वाणावेशहेतवः ॥ १ ॥ दुक्खं च जो जाणति निज्जरं वा दुक्खमिति कर्म्मबन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशात्मकः तदुदयश्च, निर्जरा नाम बन्धापनयः द्वादशप्रकारं तपो निर्जरा, सो धम्मं समाधिमग्गं समोसरणाणि य आख्यातुमर्हति, पठ्यते च–आइक्खेत्तुमरुहति सो किरियावादं एतानि मिथ्यादर्शनसमोसरणानि संसारकराणित्ति ज्ञात्वा क्रियावादी सम्यग्दृष्टिश्चारित्रवान् 'सद्देसु रूवेसु असुच्छमाणो' वृत्तं॥ ५५६ ॥ रागो गहितो एवं जाव फासेसु, रसेहिं गंधेहि अदुस्समाणो द्वेषः गृहीतः, एवं शेषेष्वपि इन्द्रियेषु 'सद्देसु० आमक्ष्यावएसु अ' णो जीवितं णो मरणं विपत्थए असंजमजीवितं, अणेगविधं पत्थए विपत्थए, ण वा परीसहपराइयं मरणं, णो विपत्थए, अथवा मा हु चिंते-

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२७१॥ १३ याथा०

ज्जासि जीवामि चिरं, मरामि च लहुं, वलयं कुडिलमित्यर्थः, तत्र द्रव्यवलयं नदीवलयं वा संखवलयं वा, भाववलयं तु कर्म्मा चउसमोसरणं, कुडिलं तु मिच्छत्तं, वलयत्तएण मुक्को वलयादिविमुक्को हि, पठ्यते च–मायादिविमुक्के इत्यर्थः॥ इति समवसरणाध्ययनं द्वादशं समाप्तं।

आहयधियंति अज्झयणस्स चत्तारि अणुओगदाराणि, अधिकारो सीसगुणदीवणाए, अण्णंपि जं धम्मसमाधिमग्गं समोसरणेसु जं जत्थ अणुवादी तं च अवितत्थं भण्णिहिति, एतेसिं चउण्हवि धम्मादीणं विपरीतं मिच्छं, अत्र चायं न्यायः–यदुत उपसर्ग-प्रत्ययविमुक्ता प्रकृतिर्निक्षिप्यते, यतः 'णामतह'मित्यादि ॥१२२॥ णामणिण्फण्णो आयतधिज्जं, तं चतुर्विधं अत्तं, जहा णामतहं ठवणतहं दव्वतहं० गाथा ॥ ९२२ ॥ तं च वतिरित्तं दव्वतहं तिविधं सचित्तादि, सचित्तं जहा सर्व एव जीवः उपयोग-स्वभावः, अथवा जो जस्स दव्वस्स सभावोत्ति, कठिनलक्षणा पृथ्वी द्रवलक्षणा आप इत्यादि, अथवा दारुणस्वभावः मृदुस्वभावो वा, जो जस्स वा अचित्ताणं गोसीसचंदणकंवलरयणमादीणं, जहा—'उण्णे करेती शीतं स.ए उण्हत्तणं पुणरुवेति' मीसगाणं तंदुलोदगमादीणं जाव ण ता परिणतं, भावतहं पुण णियमा० गाथा ॥ १२३ ॥ भावतहं, तत्थ छव्विधो भावो, तंजहा–उदइयभावतहं, उपसमणमेव औपशमिकः अनुदयलक्षण इत्यर्थः, क्षयाज्जातः क्षायिकः, किञ्चित्क्षीणं किंचिदुपशान्तं क्षायोपश-मिकः, तॉस्तान् भावान् परिणमतीति पारिणामिकः, एवं समवायलक्षणः सान्निपातिकः, अथवा भावतहं चउव्विधं–दंसणं णाणं चरित्तं विणय इति, णाणं पंचविध स्वे स्वे विषये अवितहोपलम्भः, एवं तु विधिः, दंसणे चक्खुदंसणादि, चरित्ते तवे संयमे य, तवे दुवालसविधे संजमे सत्तरसविधे, विणयस्स वा भायालीसतीविधस्स, ज्ञानदर्शनचरित्ते जो वा जस्स जहा जदा य पउंजियव्वो,

तथानिक्षेपः

॥२७१॥

अस्य पृष्ठे त्रयोदशमं अध्ययनं आरभ्यते

अण्णहा वितहं, एत्थ भाववितहेण अधियारो, अथवा भावतहं पसत्थं अपसत्थं च, पसत्थेणाधिकारो, 'जह सुत्तं तह अत्थो०' गाथा ॥१२४॥ यदि यथा सूत्रं तथैवार्थो भवति तथा दर्शयति तहत्ति, किं भणितं होति ?, जं सतं सोभणित्ति च, जं संतं संसारनित्थारणाय प्रशस्यते तं पसत्थभावतहं, जं पुण विद्यमानमपि दुगुंछितं तं संसारकारणमितिकृत्वा अशोभनं आसीदित्यपदिश्यते, अशोभनमित्यर्थः, जो पुण एतं पसत्थभावतहं आयरियपरंपरेण आगतं जो उ छेयबुद्धीए । कोवेति च्छेयबुद्धी-दूषयति जमालिणासं व णासिहिति ॥ १२५ ॥ जो एयं आयरियपरंपरएण आगतं कोवेति सो-ण कुणेति दुक्खमोक्खं उज्जममाणोऽवि संयमपदेसु । तम्हा अत्तुक्करिसो वज्जेयव्वो जइजणेणं ॥ १२६ ॥ णामणिप्फण्णो गतो। सुत्ताणुगमे सुत्तं उच्चारेयव्वं, अणंतरसुत्ते वलयाविमुक्केति वुत्तं, इहापि वलयादी अवितहशीलेन प्रयतितव्यं वलयविनिर्मुक्तेन, भाववलयं माया, शिष्यदोषाश्च इहोक्ताः, अत्तुक्करिसादीया भावदोसा वज्जेयव्वा, इत्यत 'आधातधिज्जं तु पवेइयस्सं०' वृत्तं ॥५५७॥ अ यथा मिथ्या, आहत्तधियं याथातथ्यं, शीलव्रतानीन्द्रियसंवरसमितिगुप्तिकषायनिग्रह सर्वमवितहं यथा तहं, ते अनाचरतां च दोषान् वक्ष्यामः, अथवा व्रतसमितिकषायाणां धारणालक्षणादि, नित्याव्यग्रौ (निग्रहादिकं) तुर्विशेषणे, ये च वितथमाचरंति तॉश्च वक्ष्यामः, भूशमावेदयिष्यति, नानार्थान्तरभावे पुरिसजातिमिति, केचित्प्रियधर्माण, केयि अहाछन्दाः, सत्पुरुषशीलगुणॉश्चोपदेक्ष्यामः, समोसरणे तु अण्णउत्थियगिहत्थाण दृष्टयो दर्शिताः इत्यतो नानापगारं पुरिसस्स जातं तिष्ठन्तु तावन्नानाप्रकारा गृहस्थाः, अन्यतीर्थिकापासत्थादयो संविग्गा य णाणापगारा पुरिसजाता णाणाछन्दा इत्यर्थः, अथवा किं चित्तं यदि नानाविधाः पुरुषाः नानाशीला एव भवन्ति ?, एक एव हि पुरुषस्तानि तानि परिणामंतराणि परिणमते, णाणापगारा पुरिसजाता भवंति, तंजहा-कदाचित्तीव्रपरिणामः

कदाचिन्मन्दस्वभावः कदाचिन्मृदुस्वभावः कदाचिन्निर्धर्म एव भवतीति, कृत्वा च कृत्यं कश्चिन्निवर्त्तते कश्चित्सुतरां प्रवर्त्तते, अन्यस्य चान्यः परीषहो दुर्विषहो भवति अथवा दारुणादारुणस्वभावत्वाच्च नानाप्रकारं पुरुषजातं भवति, **'सतो य धम्मं असतो य असीलं'** सदिति शोभनस्तस्य सतः धर्म्मो भवति, यथार्थः, एवं समाधिर्मार्गश्च, असदिति अभावे जुगुप्सायां च, अभावे तावत् अशीला एव गृहस्थाः, जुगुप्सायां अशीलानारीवत् नामौ न शीला किन्तु अशोभनशीलत्वात् अशीला इत्यपदिश्यते, दुगुंछायां पासत्थादयो, अण्णउत्थिया पासत्था य कुसीला, सर्वाशुभनिवृत्तिः शान्तिः सर्वभूतशान्तिकरत्वात्, सर्वाशुभानिवृत्तिः अशान्तिः, तथा च परमा शान्तिर्निर्वाणं भवति, अशान्तिरशीलः आत्मनः परेषां च, इह वा शान्तिर्भवत्यमुत्र च तां कर्म्मनिर्जरणशान्तिं, प्रादुः करिष्यामि प्रकाशयिष्यामीत्यर्थः, कर्म्मबंधकरणं चाऽशान्तिः, इह परत्र शिष्यदोषगुणांश्च प्रादुः करिष्यामि, तत्र तावच्छिष्यदोषाः। **'अहो य राओ अ समुट्ठिएहिं'** वृत्तं ॥ ५५८ ॥ सम्यक् उत्थिताः २, सम्यग्ग्रहणात् समुत्थितेभ्यः संयमगुणस्थितेभ्यश्च द्विविधां शिक्षां गृहीत्वा तीर्थकरादिभ्यः **'तथागतेभ्यः'** संसारनिस्सरणोपायस्तावत् प्रतिलभ्यते, प्रतिलभ्य ज्ञानदर्शनचारित्रवन्तः धर्म्मं प्रतिलभ्य तीर्थकरोपदेशात् जमालिवदात्मोत्कर्षदोषाद्विनश्यन्ति, गोष्ठामाहिलावसानाः सर्वे निह्नवाः आत्मोत्कर्षाद्विनष्टाः बोटिकाश्च, एवमात्मा **समाहिमाघातमजोसयंता** भावसमाधिर्व्याख्यातः, तीर्थकरैः जुषी प्रीतिसेवनयोः, तं 'अजोसयंता' कम्मोदयदोसेणं केयि दुविधदुबुद्धयः असद्दहंता केचित् श्रद्दधतोऽपि धृतौ अपि दुर्बलाः, यावज्जीवमशक्नुवंतो यथारोपितमनुपालयितुं जेहिं चेव णिक्कारणवच्छलेहिं पुत्रवत् संगृहीताः ते चेव कहिंचि दुक्खलिताद्दौ, मणो अणुत्तरं वा साधुं पडिचोदेति—मा एवं करेहित्ति, नैष शास्तारोपदेश इति, **सत्थारमेवं फरुसं वदंति** सो हि न ज्ञातवान्, किं वा तस्स उवदिस्संतस्सवि पारुक्कस्स छिज्जति?,

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२७४॥

सुहं परायएहिं हत्थेहिं इंगाला कड्ढिज्जंति, अथवा यः शास्ति से शास्ता–आचार्य एव, तंपि चोदंति, अशीलो वा, असंतिभावे य वट्टमाणो, असत्पुरुषाः सुशीलं दुःशीलं वदंति, दुःशीलं सुसीलं च॥ किञ्च–'विसोधियं वा (ते) अणुकोदयते (अणुकाहयंते) वृत्तं ॥ ५५९॥ विसोधिकरं विसोधियं, धम्मकथा सुत्तत्थो वा, अनु पश्चाद्भावे, कथितमाचार्यैः अनु कथयन्त्यन्येषां, तथाऽऽचार्यपरंपरागतं णाणं चरित्तं वा जमालिपभिती य आतभावेण वियागरेति, भावो नाम ज्ञानं अभिप्रायो वा, उस्सुत्तं पन्नवेंति, यैर्वा धैर्येणाशक्नुवन्तः परिणामयितुं वितहं कथयंति, आचार्यसमीपे गोष्ठामाहिलवत्, निग्गता वा जमालिवत्, एवं न युज्यते, यथोदितमेव संयुज्यते, इत्येवमातभावेन वियागरेंति, केचित् कथ्यमानमपि ब्रुवते नैतदेवं युज्यते यथा भवानाह, स्यादेवं तु युज्यते, स एवं स्वछन्दः अट्ठाणिए होइ बहूगुणाणं अनायतनं असम्भवः अनाचारः अस्थानमित्यनर्थान्तरं गुणा 'सुस्सूसति पडिपुच्छति सुणेति गेण्हति य ईहए आवि। तत्तो अपोहए वा धारेइ करेइ वा सम्मं ॥१॥' एतेसिं सुस्सूसणादीणं गुणाणं अत्थाणं भवति, वैनयिकमन्योऽन्यसाधारणवैयावृत्त्यादीनां, च अथवा 'सवणे णाणे' पठ्यते च—'अट्ठाणिए होंति बहूणिवेसो' अस्थानिको गुणानां, दोषाणां तु बहूनिवेशो भवति, नियतं वेशो निवेशोऽवैनयिकादीनां दोषाणां, जे णाणसंकाए मुसं वदन्ति णाणे संका णाणसंका तेसु तेसु णाणंतरेसु एवमेतन्न युज्यते अथवा संकेतितमान्यार्थाः, जे ज्ञानवन्तमात्मानं मन्यमानाः असं लवंति अभयभावे छन्दंता णियमा चेव मुसं वदंति जमालिवत्, जंमि अणुवादी अभिणिवेसेण भवति तदपि मृषा भवति, 'जे आवि पुट्ठा पलिकंचयंति' वृत्तं ॥ ५६० ॥ य इत्यनिर्दिष्टनिर्देशः, केनविऽधीतं कस्यचित् सकाशात् जात्यादिपरिपेलवस्य, स च पृष्टः केनचित्–कस्य सकाशात् भवताऽधीतमिति?, स तस्मादाचार्याज्जात्यादिभिरात्मानमुत्कृष्टं मन्यमानः तमाचा-

शास्त्रतिरस्कारादि

॥२७४॥

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥२७५॥

र्यमपलपते, प्रख्यातमन्यमुद्दिसति, योऽपि तावद् यथा वैरस्वामी पदानुसरणलब्धिसम्पन्नः, आयरिआओ अधिकतरं पण्णवेंति, तेनापि न निह्नवितव्यः आचार्यः, किमंग पुनर्ये समानो न्यूनतरो वा, जे पुट्ठा भणंति अनुकस्सेण–मया चैवैतद्विस्तरतो विकल्पितं अर्थपदं, सूत्रं वा विसोधितं, सो णिण्हगो असंतिभावट्ठितो, यस्य वा सकाशात् केनचिदधीतं ग्रहणशक्तितया वा तेनान्यतोऽधिकमधीतं शब्दच्छन्दहेतुतर्कादि गृहवासे वा तेन शब्दादीन्यधितानि, परेण चोदितः–त्वया अमुकाचार्यस्य सकाशात् अधीतमिति?, स किं जानीते वराको मृत्पिण्डः? यस्यौद्गावपि न सम्यक्, यतः अभ्युत्थानादिविनयभीतानि ब्रुवति, एवं णाणे पलिउंचणा, दंसणे य, चरिते तु कोइ कोइ पामत्थादि पुढविकाइयादि समारभते, कप्पाकप्पविधिण्णुणा सावगादिणा पुट्ठो–किह तुज्झं एतं कप्पती?, उदउल्लादि गेण्हंतो वा अमुगो ण एवं गेण्हति तुमं कहं एतं गेण्हसि?, तुज्झं वा एतं एवं आगतेल्लगं?, एवं पुट्ठो इह लोगं कथेती, नइतुं इमं लोयं जोणिधम्मं, सो पलिउंचेति, सोऽत्थ किं जाणति? तुमं वा किं जाणसि?, चीर्णव्रता वयं, पलिउंचंता आदाणमट्ठं ग्वलु आदानं ज्ञानादीनि, आदीयत इत्यादानं आदातव्यमित्यर्थः, असाधुसाधुमानीनः साधुगुणबाह्यास्ते असाधव एव साधुमानिनः, अणोवसंखाए य ते साधुवादं वदन्ति, सः असाधुः साधुमाणी, दुगुणं करोति स पावंपि, वीया बालस्स मंदया, एवं शुद्धखंतिपरिचाए द्वितीयं पापमासेवंतो, एवं मायान्विताः एहिंति ते अणंतसंसारियं, दुःबोधियलाभियं कम्मं बंधित्ता अणाइयं जाइतव्वमरितव्वाइं घातमेहिंति, एवं माणलोभादोसेऽवि, कोवे तु सव्व एव प्रतिषेधः क्रियते?, 'जो कोहणे होति जगट्ठभासी' वृत्तं ॥ ५६१ ॥ जगतः अट्ठा जगतट्ठा, जे जगति भाषन्ते, जगति २ तावत् खरफरुसणिट्ठुराणं असंयतार्थं इत्यर्थः, न पुनराचार्यादीन् साधून् गृहिणो वा खरफरुसणिट्ठुराणि भणंति, कक्कसकलुगादीणि वा, अथवा जगदर्थं छिन्दि भिंदी वध मार-

आचार्या-पलापादि

॥२७५॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२७६॥

यत् जातिवादं वा काणकुंटादिवादं वा फुडंताणि वा, जगट्ठभासी य, पठ्यते च–येन तेन प्रकारेणात्मा जयमिच्छति, विउसितं वा पुणो, विसेसेण उसवितं विउसितं, खामितमित्यर्थः, तं सपक्खं परपक्खं वा क्षामयित्वा पुनरुदीरयति। अंधे व से दंडपहं गहाय, दंडपहे णाम एकपहए, महापथ इत्यर्थः, तमन्ध उद्देसतो गृहीत्वा गर्त्तायां धृष्य विषमे कूपे वा पतति, पाषाणकंटकाअग्न्यहिश्वापदेभ्यो वा दोषमवाप्नोति, अविउसितो णाम अधितपाहुडो दंडगत्थाणीयं केवलमेव लिङ्गं गृहीत्वा गर्त्तायां धृष्टे विषमे कूपे वा पतति पाषाणादिचिखिल्लादिसु वा, उत्तरगुणेसु मूलगुणेसु वा विसुद्धिमयाणंतो कुर्वन् भावान्ध एव लभ्यते, घासति सारीरमाणसेहिं दुक्खेहिंति, सीसगुणदोसाहिगारे अनुवर्त्तमाने तद्दोषदर्शनार्थं–'जे विग्गहीए (अन्नायभासी)' वृत्तं ॥५६२॥ विग्रहो णाम कलहः, विग्रहशीलो विग्रहिकः, यद्यपि प्रत्युपेक्षणादिमेरां नातुपालयंति,नात्याभाषी अत्याभाषी गुर्वधिसेवी प्रतिकूलभाषी न सो समो भवति, समो नाम मध्यस्थः, न रक्तो न द्विष्टः, झंझाणाम कलहः, प्राप्तः, अथवा नासौ समो भवति झंझाप्राप्तस्तु गृहिभिः समो भवति जेन तेनैवंविधेन न भाव्यं शिष्येण, पुनरपि पठ्यते च 'जे कोहणे होति उऽणायभासी' एवं समे भवति, तेननैवंविधेन न भाव्यं शिष्येण, अझंझापत्ते, किंच–ओवायकारी य, यथोद्दिष्टदोषरहितः ओवातकारी, चशब्दो यत्र दोषनिवृत्तये द्रष्टव्यः, उवातो णाम आचार्यादिनिर्देशः तद् वाच्यं कुरु मा चैवं कुरु, तत्थ गच्छतेति वा, अथवा सूत्रोपदेशः उववायः, ह्रीः लज्जा संयम इत्यनर्थान्तरं, ह्रीमान् संयमवानित्यर्थः, लज्जते च आचार्यादीनां अनाचारं कुर्वन् लोगतश्च, एगंतदिट्ठी य एगंतदिट्ठी नाम सम्मदिट्ठि असहायी अमायरूपी नाम न छद्मतः धर्म्मं गुर्वादीश्चोपचरति। 'से पेसले' वृत्तं ॥५६३॥ पेसलो नाम पेसलवाक्यः, अथवा विनयादिभिः शिष्यो गुणैः प्रीतिमुत्पादयति पेशलः, सुहुमो णाम सुहुमं भासते अवहुं च अविघुट्टं नीचैः

जगदर्थ-भाषितादि

॥२७६॥

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥२७७॥

पुरुषजात इति से पेसलवाक्यः, अथवा विनयादिभिः शिष्यगुणैः प्रीतिमुत्पादयति, पेशलः सूक्ष्मः, स जात्याऽन्वितः, से उज्जु, उज्जुगो णाम संयमो, जं वा पुव्वस्सईति तं उज्जुगमेव करेति, ण विलोमेति, सकारो दीपनार्थे द्रष्टव्यः, सपेशलः सूक्ष्मः सः अमोहः पुरुषो जातः स जात्यादिगुणान्वितः स उज्जुकारी बहुंपि अणुमासिते, यद्यपि कश्चित्प्रमादात् स्खलितो बह्वप्यनुशास्यते तथाप्यसौ तथाऽचिरेव भवति, अचिरिति लेश्या, तथेति यथा पूर्वलेश्या तथा लेश्या एव भवंति, पूर्वमसौ विशुद्धलेश्य आसीत् अनुशास्यमानोऽपि तथैव भवत्यतो, तथा च न क्रोधाद्वा मानाद्वा अविशुद्धलेश्यो भवति, समो नाम तुल्यः, अमौ हि समो भवत्य-ज्झंझप्राप्तेर्वीतरागो ऋजुरित्यर्थः, इदाणिं माणदोसा मिस्सस्सवि आयरियस्सवि 'जे आवि अप्पं वुसिमंति णच्चा (मत्ता)' वृत्तं ॥५६४॥ य इत्यनिर्दिष्टनिर्देशः, वुसिमं संयतमात्मानं वुसिमंति णच्चा, वृत्तं मत्वा, अहं सप्तदशप्रकारैः संयमवान्, मत्वा नाम ज्ञात्वा, संख्या इति ज्ञानं, ज्ञानवन्तमात्मानं मत्वा, वदन वादः, किं वदति ?, कोऽन्यो ममाद्यकाले संयमे सदृशः सामाचारीए वा ?, अपरिक्खं णाम अपरीक्ष्य भणति, रोमपडिणिवेम अकयण्णुताए वा, अथवा माणदोषानपरीक्ष्य वदति, माणदोसा णाम जं जं मदं करेति तं तं उवहण्णति, तेणेव वादं अहितेत्ति णच्चा, बलादीनां तपसां कोऽन्यो मया सदृशो भवतामोदनमुण्डानां, बिम्बभूतमिति मनुष्याकृतिमान्, द्रव्यमेव च केवलं पश्यति, न तु विज्ञादि मनुष्यगुणानन्यत्र प्रतिमन्यते, अथवा चिंधमिति लिङ्गमात्रमेवान्यत्र पश्यति, न तु श्रमणगुणान् उदकचन्द्रवत् कूटकार्षापणवच्चेत्यादि, त एवंविधाः शिष्याः गुणहीनाः अशीले अशान्तौ च वर्त्तन्ते, सच्छीला वा प्रलीयन्ते, केण ?–एगंतकूडेण उ पेमले (से पलेइ)' वृत्तं ॥५६५॥ संयमाओ पलेऊण पुनर्जन्मकुटिले संसारे पुनः पुनर्लीयन्ते, यतश्चैवं तेण ण विज्जति मोणपयंसि गोत्ते, पदं नाम स्थानं, मुनेः पदं मौनं, पदं संय-

॥५५५॥६

॥२७७॥

मस्थानमित्यर्थः, गोत्तेत्ति गौरवः, संयमस्थानं प्राप्य तन्न कार्यं इति, अथवा गोत्रमिति अष्टादशशीलाङ्गसहस्राणि तत्रामौ गोत्ते ण विद्यते, किंच–जे माणणट्ठे ण विउक्कसेज्जा मान एवार्थः माननिमित्त इत्यर्थः, विविधं उत्कर्षं करोति, वसुत्ति संयमेण विउ-कसति अप्पाणं, अण्णतरेण वा, प्रज्ञानेन अन्यतरेण वा, प्रज्ञानं ज्ञानं नाम, सूत्रमर्थं उभयं वा, ममाहिकं कंडोट्ठविप्पमुक्कं विशुद्धं सुत्तं अर्थग्रहणपाटवं विस्तरतश्चैतान् कथयामि, लोकसिद्धान्तो वज्झाइं, किमन्यैर्जनैर्मृगास्त्वन्ये चरंति चंद्रअधस्ताद्वा भ्रमन्ति अनु-ज्झमाणेत्ति आत्मोत्कर्षदोषं। किंच–जे माहणे वृत्तं ॥५६६॥ माहण इति साधुरेव जो वा मुनी ब्राह्मणजातिरासीत् क्षत्रियो–राजा तत्कुलीयोऽन्यतरो वा उग्र इति लेच्छइ च क्षत्रियाणामेव गोत्रभावः, अन्ये वा कविद्विजाद्याः प्रव्रजिता एवमादि जातिविसुद्धा जे पव्वइए परदत्तभोई, चइत्ताणं रज्जं रट्ठं च पव्वइतो, अथवा अप्पं वा बहुं वा चइग पव्वइतो परतो य ये च दत्तमेषणीयं च भुंक्ते, शेषैरन्यैः सर्वैरपि संयमगुणैः युक्तः असावपि तावद् जो गोत्तेणेत्यादिना स्वरूपतो जो कोइ हरिएसव लच्छणीया मेतज्ज-त्थाणीउ वा अन्यतरं वा एवंविधं द्रमकादिप्रव्रजितं निन्दति, अथवा जे माहणा खत्तिय अहवा उग्गपुत्ता अदु लेच्छवी वा जे पव्वइया, प्रव्रजिता अपि भूत्वा शिरस्तुंडमुंडनं कृत्वा परगृहाणि भिक्षार्थमटन्तः मानं कुर्वन्तीत्यतीव हास्यं, कामं मानोऽपि क्रियते यद्यसौ श्रेयसे स्यात् 'ण तस्स जाती व कुलं व ताणं०' वृत्तं ॥५६७॥ जातिकुलयोर्विभाषा, मातृसमुत्थोत्पत्त्यादि, त्राणमिति न संसारपरित्राणं, कर्म्मनिर्जरेत्यर्थः, नान्यत्रेति, विद्याग्रहणात् ज्ञानदर्शने गृहीते, चरणग्रहणात् संयमतपसी, णिक्खम्म से सेव-तिऽगारिकम्मं स इति जातिकुलविकत्थनः, अकारिणां कर्म्म अकारिकर्म्म, तद्यथा–अहं जात्यादिसुद्धो, न भवानिति, ममकारो वा इत्यादि गारिकर्म्म, नासौ पारको भवति धर्मसमाधिमार्गाणां विमोक्षस्य वा, अथवा नात्मनः परेषां वा तारको भवति, किंच

प्रत सूत्रांक ||५५७-५७९|| दीप अनुक्रम [५५७-५७९]

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२७९॥

जिणेण उत्तं 'णिगिणिविया (णिक्किंचणे) भिक्खु सुलूहजीवी ॥ ५६८ ॥ णिगिणो नाम द्रव्याचेलः, लूहो संयमः, तेन जीवति अन्तप्रान्तेन, लूहिते वा, जेनैव रूक्षजीवीतेन गर्वितो भवति, न च समो भवति, अरक्तद्विष्टैरिति, न वा अज्झंझाप्राप्तैः समो भवति, आजीवमेतं तु अबुज्झमाणो 'जातीकुलगणकम्मे सिप्पे आजीवणा तु पंचविधा', जात्या संपन्नोऽहमिति मानं करोति, प्रकाशयति चात्मानं स्वपक्षे तथाचैनं कश्चित्पूजयति, एषा हि आजीविका च भवति मददोषश्च, आजंजवं पुणो पुणो चाउरंते संसारकंतारे, विपर्यासो नाम जातिमरणे, किमंग पुण जो सव्वसो चेव मुक्कधुरो लिङ्गमात्रावशेषः नानन्तकालमटति ?, जमेते दोसा समाधिव्याघातमदसुमत्ताणं आयरियपरिहावीणं तस्मादिमैः शिष्यगुणैर्भाव्यं, तंजहा-'जे भासवं' वृत्तं ॥ ५६९॥ सत्यभाषावान् धर्मकथालब्धियुक्तो वा भाषावान्, सुष्ठु साधु वदति सुसाधुवादी, सृष्टाभिधानो वा, क्षीरमध्वाश्रवादिप्रणिधानवंति 'सेकालं णोवलंभो तथा के' यं च णए पुरिसे, आक्षिप्तः पडिभणति-उत्तरं भाषते, प्रतिभणतीति प्रतिभाणवं, उत्पत्तिक्यादिबुद्धियुक्तः सन्न प्रतिभाषितवान्, अर्थग्रहणसमर्थो विशारदः, प्रियकथनो वा, कश्चिद्धर्मकथी अपि वादी अत्यर्थमागाढप्रज्ञः, विशेषिकादिहेतुशास्त्राणि, तैरस्य भावितः आत्मा स भवति भावितात्मा, अण्णं जणं अण्णमिति यो न भाषावान् संस्कृतभाषी वा असाधुवादी न स्पृष्टवाक् संप्रतिपत्तिकुशलो न, न च लोकलोकोत्तरशास्त्रेषु आगाढप्रज्ञेन सुभावितात्मा, स एवंविधः कश्चित् पण्णसा णाम प्रज्ञया परिभवति न वासनार्हः उच्यते-'एवं ण से होइ' वृत्तं ॥५७०॥ एवं न से होति समाधिपत्ते एवमनेन प्रकारेण समाधिप्राप्तः चतुर्विधसमाधिप्राप्तः; यः प्रज्ञया भिक्षुरात्मानं विउक्कस्सति-अहं श्रेष्ठो नान्य इति, अथवाऽवि जे ताव मदेण मत्ते (मयावलिचे) अहं वत्थपडिग्गहपीठफलगसेज्जासंथारगमादी अण्णमवि उप्पावेउं सक्को, किमंग पुण अप्पणो उप्पादेतुं तुमं

नग्नत्वादि

॥२७९॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२८०॥

सो वा ?, स अण्णपाणगमवि ण लभसि, एवं सो अण्णं जणं खिंसति बालपुणे (पण्णे) न इतरेऽपि, पठ्यते च–अण्णेऽवि जो जातिमदेण मत्तो अण्णं जणं खिंसति बालपण्णो, एवं अण्णेवि सदा अजुत्तावि भाणितव्वा, एतान् दोषान् मत्वा तेण'पण्ण' वृत्तं ॥ ५७१ ॥ पण्णामयं चेव तवोमयं च, प्रज्ञामदो नाम अहं प्रज्ञासंपन्नः अहं तपस्वी, नान्ये इत्यतः परं परिभवति, तदेतौ द्वावपि मदौ निच्छितं निश्चितं वा नामयेत् निर्नामेत् णिण्णामयेदित्यर्थः, एवं गोत्रमदमपि, चशब्दात् अन्यान्यमपि आजीवितं चेव चउत्थमाहुः आजीव्यतेऽनेनेति आजीविकः मद इति वाक्यशेषः, मदेन जीवतीत्यर्थः, तद्यथा जातिमदेन जीवति, नाम नातीत्य वर्त्तते एव इति, स इति स पण्डितः स्वकर्मभिः, पूर्यते गलंति वेति पुद्गलाः, स पंडितश्चोत्तमपुद्गलश्च उत्तमजीव इत्यर्थः, अथवा जो सोभणो लाडाणं सो पुद्गलो वुच्चति, जहा पुग्गलजम्मा पुद्गलजीवत्ती। एताणि मदाणि विगिंच धीरा ॥५७२॥ वृत्तं, एतानि यान्युद्दिष्टानि, विगिंचत्ति उज्झित्वा, अहमिदानीं जात्यादिमदस्थानानि हित्वा प्रव्रजितः, धीः—बुद्धिः, ण ताणि सेवेज्ज, किमुक्तं ?–न जात्यादिभिरात्मानं उत्कर्षेत, यथा पूर्वरतादीनि न स्मर्यन्ते तथा तान्यपि, न वा पश्चाज्जातैर्बहुश्रुतादिभिरात्मानं उत्कर्षेत्, सुष्ठुधीरधर्म्माणः ज्ञानधर्मिणो गीतार्थाः, आसेवित्ता जे सव्वगोत्तावगया महेसी 'ते' इति धीरधर्म्माणः, सर्वगोत्राणि सर्वं वा कर्म गुप्यन्ते येन तासु २ गतिषु स्वकर्मोपगाः, अतः कर्मैव गोत्रं भवति, उच्चं नाम इहैव सर्वलोकोत्तमानां प्राप्य लोकाग्रं निर्वाणसंज्ञकं अगोत्रस्थानं प्राप्नोति, स एवं सर्वमदस्थानपरिहितः भिक्खू मुतच्चा(चे) वृत्तं ॥५७३॥ अर्चयन्ति तां विविधैराहारैर्वस्त्राद्यलङ्कारैश्चेत्यर्चा, मृता इव यस्यार्चा स भवति मृतार्चः, मृतो हि न शृणोति न पश्यतीत्यर्थः, एवं भिक्षुरपि शृण्वन्नपि न शृणोति, पश्यन्नपि न पश्यतीत्यादि, इत्यतो मुतच्चा, संयमं वा मुतमुच्यते, अर्चेति लेश्या, स मुतलेश्यो मुतच्चो, विसु-

खिंसा-वर्जनादि

॥२८०॥

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥२८१॥

द्धाओ संमत्ताओ अविसुद्धाओ असंमत्ताओ, क्वचित् सूत्रे वाऽर्थे च दृष्टधर्म्मा, दृष्टसारो दृष्टधर्म्मा, इत्यर्थः क्वचिद् ग्रामे नगरे वा अनुप्रविश्य गच्छवासी णिग्गतो वा से एसणं जाणमणेसणं च स एषणा बायालीसदोसविसुद्धा तव्विवरीता अणेसणा, अथवा एसणा जिनकप्पियाणं पंचविधा अलेवाडादि हेट्ठिल्लातो अणेसणा, अथवा जा अभिग्गहिताणं सा एसणा, सेसा अणेसणा, जो पुण अण्णपाणे य अणाणुगिद्धे, सया सक्केति परिहरितु सो चेव य जाणगो, किंच–अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्खू० वृत्तं ॥५७८॥ अरतिं संयमे रतिं असंयमेत्ति, अभिभूय णाम अक्कमिऊणं, बहुजणमज्झम्मि गच्छवासी, एगचारित्ति एगल्लविहारपडिवण्णगा, अरतिग्गहणात् परीसहग्गहणं, एगंतमोणेणं तु एगंतसंयमेणं, एकान्तेनैव संजममवलम्बमानः पृष्टो वा किंचिद्वाकरोति, न तु यथा मौनोपरोधो भवति, संयमोपरोध इत्यर्थः, तद्यथा–'जा य भासा पाविका सावज्जा सकिरिया', किंच से णागरेति ?, उच्यते, एगस्स जंतो गतिरागती य, एक एव च परभवं यात्यात्मा, एक एव चागच्छति, उक्तं हि–'एकः प्रकुरुते कर्म्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम्। जायत्येको मृयत्येको, एको याति भवान्तरं ॥ ९ ॥' 'पत्तेयं पत्तेयं जाति पत्तेयं मरति। धर्म्मकथिकविशेषस्तु 'सयं समेच्च।' वृत्तं ॥५७९॥ स्वयं समेत्येति स्वयं ज्ञात्वा तीर्थकरः अन्यः सुचा भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं हितं इहलोके परलोके य, किंच जे गरहिता सणिदाणप्पयोगा गर्हिता निन्दिता 'णिदाण् बंधणे'सह णिदाणेण प्रयुंजत इति प्रयोगाः त्रिविधाः, अथवा कर्म्म, कया अधिकृता, तेन ये वाक्यशेषाः प्रयोगा गर्हिताः, तद्यथा–शास्त्रं सपरिग्गहं कर्म्म प्रज्ञापयंतः कुतीर्थिनो न प्रशंसति, एतेऽपि हि कायक्लेशादीन् कुर्वते, सावज्जदानं वा प्रशंसंति, न वा तथाप्रकारं कथं कहेज्जा जेण परो अक्कोसेज्ज वहेत एवमादी वाग्दोषां धर्मजीवितोपरोधकत्वेन न सेवंते सुधीरधर्म्माणः कथका:। किंच–'केसिंचि तक्काए(इ)अबुज्झभावं' ॥५७६॥ खरफरुसाइ भणेज्जा, मा भूत्,

अरत्यभिभवादि

॥२८१॥

रौद्रमपि गच्छंति, अबुद्ध्यमानाः रौद्रं वमंतः आउस्स कालाइयारं व घातं यावद्येनायुष्कालोऽतिवर्तितः स तस्यायुःकालः अतिचरणमतिचारः आयुःकालस्य अतिचरणे चरणोवघातं होज्जा, पालक इव स्कन्दकस्य, येन चान्योपघातो भवति, अथवा अक्कोसेज्जा वा, लद्धाणुमाणे तु अणुमीयतेऽनेनेत्यनुमानं लब्धं अनुमानं येन स भवति लब्धानुमानः, कथं लब्धं?, नेत्रवक्त्रविकारेहिं अन्तर्गतं मनो गृह्यते, तंजहा–'केऽयं पुरिसे? किं वा दरिसणं अभिप्पसण्णे? किं चास्य प्रियमप्रियं वा? यदिदं कथ्यत' इति एवं लब्धानुमानः परेषु कथयेत् येनात्महितं भवति परहितं च इह परत्र च, अथवाऽयमर्थः 'कम्मं च छंदं च विगिंच धीरो (रे) ॥५७७॥ वृत्तं, येन कर्मणा जीवति न तेनैनं परिभाषेत्, यथा ह्योका(अक्का), न चैवैनं तेन कर्मणा निन्दयेत् इति, यथा चर्मकारो भवान् कोलिको वा मा सो उदुरुट्ठो ण णेण्हिज्ज, छन्दं चास्य जाणेज्ज, तद्यथा–दारुणो मृदुर्वा, अथवा छन्द इति येनाक्षिप्यते वैराग्ये न शृङ्गारेण इतरेण वा, तथा–किंच अयं पुरिसे कं वा दरिसणमभिलसे? एवं ज्ञात्वा विणएज्ज तु सर्वतो आतभावं आतभावो णाम मिथ्यात्वं अविरतो वा, ततो अप्रशस्तादात्मभावात् सर्वतो विनयेत्, एवं कालण्णे मायण्णे, जे व कखेअण्णे, तंजहा रूवेहिं लुप्पंति रूपं सर्वप्रधानं विषयाणां तथाऽत्रापि स्त्रीरूपादि तेष्वेव मूर्च्छन्तालुप्यते इहापि तावत् जहा 'सद्दे गओ०'गाथा, किमु परलोए? एवमेतानिन्द्रियापायान् दृष्ट्वा विज्जंति विद्यां गृहीत्वा ज्ञात्वेत्यर्थः, गृहीतविद्यः सन्: त्रसस्थावररक्षणं धर्म्मं कथयंति, तं हु णं कहेत्ता न पूजासत्कारादीन्यालम्बनानि आलंबयेत् इत्यतो निवार्यते 'न पूयणं चेव'॥५७८॥ वृत्तं, ण पूया मम भविस्सती, सिलोगो णाम जसो कित्ती यथाऽनेन तुल्यः प्रशस्तविस्तरो कथको, मृष्टवाक्य इत्यादि, प्रियं च न कुर्यादसंयतानां अन्यतरेण सावद्योपकारेण वा, अप्रियं, अथवा ममायं प्रियं अयं वाऽप्रिय इति, अथवा यो यस्य प्रियः सन् तस्य पिशुनवचनविद्वेषणादि न कुर्याद् धर्म्मकथी। किंच–

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२८३॥ १४ याथा०

'सर्वे अणट्ठे' अशोभना अर्थाः अनर्थाः, संयमोपरोधकृत् अर्थोऽनर्थः अनर्थदण्ड इत्यर्थः, अणाउलो णाम अनातुरः क्षुदादिभिः परीषहैः, अकषायशीलः अकषायी, 'आहत्तहीयं समुपेहमाणे'॥५७९॥ वृत्तं, आधत्तहियं धम्मं मग्गं समाधिं समोसरणाणि य यथावद् वचानि, सम्यक् उपइक्ष्यमाणः, सव्वेहिं पाणेहिं णिक्खिप्प दंडं दंडो नाम घातः, णो जीवियं णो मरणाभिकंखी असंजमजीवितं परीषहोदयाद्वा मरणं, चरेज्ज मेधावी वलयाविमुक्कोत्ति वलया माया, एवं उक्तं एवं ब्रवीमि॥ यथातथ्यं त्रयोदशमध्ययनं समाप्तं॥

अज्झयणाभिसंबंधो–वलयाविमुक्कोत्ति भावगंथविमुक्कोत्ति अभिहितः, सो पुण गंथो इह वण्णिज्जति एस संबंधो, तस्स चत्तारि अणुओगदाराणि, अत्थाहिगारो गंथो, जाणिऊण विप्पहियव्वे, पसत्थभावगंथो य गच्छेयव्वो, णामणिप्फण्णे गंथो, तत्थ 'गंथो पुव्वुद्दिट्ठो ॥१२७॥ गाथा, दुविधो गथो दव्वे भावे य, जहा खुड्डागणियंठिज्जे भावगंथो पुव्वुद्दिट्ठो, तं पुण गंथो जो सिक्खइ सो सिक्खउत्ति वा सेहोत्ति वा सीसोत्ति वा वुच्चति, सो पुण दिविधो—सहत्थपव्वाविंतो सिक्खवितो, तत्थ सिक्खावणासिस्सेण अधियारो, सो सिक्खगो तु दुविधो गहणे आसेवणे य बोद्धव्वो। गहणंमि होइ तिविहो सुत्ते अत्थे तदुभए य ॥१२८॥ आसेवणाय दुविहो मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य। मूलगुणे पचविहो उत्तरगुण बारसविहो उ ॥१२९॥ मुलगुणो पंचविधो—पाणाइवायवेरमणादि, प्राणातिपातविरमणं ज्ञात्वा तमेव आसेवते करोतीत्यर्थः, एवं उत्तरगुणेसुवि, ते य द्वादसविधमासेवंते, एष हि शिष्यः आचार्यं प्रति भवति, तेनाचार्योऽपि द्विविधः, आयरिओ पुण द्विविधो ॥१३०॥ गाथा, पव्वावंतो य सिक्खावंतो य, पव्वावंतो णाम जो दिक्खेति, सिक्खावंतो दुविधो–गहणे आसेवणे च 'आधेत्तो(गाहावेंतो)वि

ग्रन्थनिक्षेपः

॥२८३॥

अस्य पृष्ठे चतुर्दशमं अध्ययनं आरभ्यते

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥२८४॥

य तिविहो' गाथा ॥ १३१ ॥ गहणे तिविधो–सुत्तं गाहेति अत्थं गाहेति उभयं गाहेति, आसेवणाए दुविधो–मूलगुणे उत्तरगुणे य, मूले पंच, तंजहा–पाणाइवायवेरमणं सेहावेति, कारयतीत्यर्थः, उत्तरगुणे तवं दुवालसविधं आसेवाविंति, णामणिप्फण्णो गतो। सुत्ताणुगमे सुत्तमुच्चारेतव्वं, स एवमाधत्तधिए धम्मे ट्ठितो 'गंथं विहाए इह सिक्खमाणो ॥ ५८० ॥ वृत्तं, सावज्जं द्रव्यं ग्रन्थः प्राणातिपातादि मिथ्यात्वादि अप्पसत्थभावग्रन्थं च विसेसेण हित्वा विधाय, पसत्थभावगंथं तु णाणदंसणचरित्ताइं आदाय, खओवसमियं णाणं कस्सइ पुव्वादत्तं भवति, किंच आदाय?, पव्वज्जाति आदानार्थं, खाइगस्स तु णियमादाय, दर्शनं त्रिविधं, तस्यापि कस्यचिदादानाय, केनचित्पूर्वेनादत्तेन क्षायोपशमिकेन पूर्वगृहीतस्य तु आदानार्थं वृद्ध्यपेक्षं, चरित्रस्य तु त्रिविधस्याप्यादानाय, प्रशस्तभावग्रन्थो आदानीयेत्यर्थः, तेन चात्मानं ग्रन्थयति, इहेति इह प्रवचने, इति च पठ्यते उपप्रदर्शनार्थं, एवं दुविधाए सिक्खाए सिक्खमाणो उत्थायेति प्रव्रज्य सोभनं बंभचेरं वसेज्जा सुचारित्रमित्यर्थः, गुप्तिपरिसुद्धं वा मैथुनबंभचेरं वुच्चति, गुरुपादमूले जावज्जीवाए जाव अब्भुज्जयविहारं ण पडिवज्जति ताव वसे, उवायकारी–णिद्देशकारी, जं जं वुच्चति तं सिक्खन्ति गहणसिक्खाए, सुट्ठुवि सिक्खितं च आसेवणसिक्खाय अपडिकूलेति, जे छेय विप्पमायं ण कुज्जा, यश्छेकः स विप्रमादं, प्रमादो नाम अनुद्यमः यथोक्ताकरणं, यथाऽऽतुरः सम्यक् वैद्ये उपपातकारी शान्तिं लभते एवं साधुरपि सावद्यग्रन्थपरिहारी पापकर्मभेषजस्थानीयेन प्रशस्तभावग्रन्थेन कर्मामयशान्तिं लभते, जो पुण एगल्लविहारपडिमाए अप्पज्जंतो, गच्छंति केयि पुरिसे अविदिण्णं णिगच्छंति, अवितीर्णश्रुतमहोदधी अविद्वानसौ तीर्थकरादिभिर्विधूतः, तस्स दुज्जदादी दोसा भवंति, इमे चान्ये, सूत्रम्–जहा दिया ॥५८१॥ वृत्तं, पोतमपत्तजातं सावासगा पविउं मन्नमाणं। स्वावासगात् गर्भादण्डाद्वा, द्विर्वा जातो द्विजः,

आदानादि

॥२८४॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२८५॥

पततीति पोतः, पतन्तं त्रायन्तीति पतत्राणि पिच्छानीत्यर्थः, नास्य पत्राणि जातानि अपत्रजातः, सावसगा पवितुं प्रपलातुं, तमचाई तरुपक्खगं वा सावासगातो उल्लीणं पुणो उड्डेतुमसक्केन्तं, ढण्कः पक्खी, ढंकः आदिर्येषां ते भवंति ढंकादिणो अन्यतरा, अव्यक्तगम इति अपर्याप्तः, हरेज्ज वा, पिपीलिकाउ व णं खाएज्जा मारेज्ज वा णं चेडरूवाणि धाडेज्ज वा, अपि काकेनापि ह्रियते, एष दृष्टान्तः, सूत्रेणैवोपसंहारः। एवं तु सिद्धिंचि (सेहंपि) अपुट्ठधम्मे (अपुट्ठधम्मं) ॥ ५८२ ॥ वृत्तं, न स्पृष्टो येन धर्म्मः स भवति अपुट्ठधम्मे, अगीतार्थ इत्यर्थः, णिस्सारियमिति इहलोकसुहं णिस्सार, वुसिमं णाम चारित्रं, णिस्सारं मण्णमाणो, परं सो असुहं चाणिस्सार मण्णमाणो, दियस्य छायं स एव द्विजः पक्षी वरिकादीनामन्यतमः, छायगं नाम पिछगं, अपत्रजातं, हरिंसु हरिति हरिस्संति वा, त्रैकाल्यदर्शनार्थमतीतकालग्रहणं, येषां धर्म्मः मिथ्यादर्शनं अविरतिश्च तेऽप्यधर्म्मा, भिक्षुकादीनी तिण्णि तिसट्ठाणि यानादियसयाणि विप्परिणामेऊण हरंति, तद्यथा–जीवाकुलत्वात् दुःसाध्या अहिंसा, दुःखेन वा धर्मः, इह तु सुखेन, शुचिवादिनोऽपि द्विपंति, आमिससुघरिवदित्येवं कुप्रवचनजालेन विनश्यन्ति, रायादिणो णियछगा वा णं विसएहिं णिमंतेन्ति, इत्थी वा इत्यादि, अनेक इति बहवः, पाषंडिनो गृहिणश्च, यतश्चैते दोषाः अगृहीतग्रन्थस्य तेन तद्ग्रहणार्थं गुरुपादमूले 'ओसाणमिच्छे' ॥ ५८३ ॥ वृत्तं, ओसाणमित्यवसानं जीवितावसानमित्यर्थः, अथवा ओसाणमिति स्थानमेव, गुरुपादमूले, उक्तं हि —'आसवपदमोसाणं गच्छिस्स' 'मणोरमा चेया' मनुष्य इतियावन्मनुष्यत्वं च अस्य तावदिवान्ते वसिओ, अगिलाए समाधिं मण्णमाणोऽनवबुद्धो नवग्रहवत्, समाधिरुक्तः, तमाचार्यसकाशादिच्छति, अन्यत्रापि हि वसन् जो गुरुणिद्देशं वहति स गुरुकुलवासमेव वसति, अनिर्देशवर्त्ति तु सन्निकृष्टोऽपि दूरस्थ एव, लोकेऽपि सिद्धा प्रत्यक्षपरोक्षसेवा, 'कामक्रोधावनिर्जित्य, किमरण्ये

अपोतद्वि-जादिं

॥२८५॥

प्रत सूत्रांक ||५८०-६०६||

दीप अनुक्रम [५८०-६०६]

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२८६॥

करिष्यसि ?।' कालगतेऽपि गुरौ असहायेन गीतार्थेन चान्यत्र गन्तव्यं, स्यात्को दोषः ?, अनधिकारिणोऽपि तस्य 'अणोसिए णंतकरिंति णच्चा' ण उषितः गुरुकुलेहिं अनुषितः न भवस्यांतकरो भवति, वालुकवैद्यदृष्टान्तः, गुरुसमीपे तु स्खलितोऽपि पुनर्विसोध्यते, कया ?, मेरया वासे, 'ओभासमाणे दवियस्स'वृत्तं ॥५८४॥ ओभासितं णाम रागद्वेषरहितत्वात् तीर्थकर एव भगवान्, ज्ञानधना हि साधव इतिकृत्वा, वित्तं ज्ञानमेव, ज्ञानदर्शनचारित्राणि वा, अथवा तं दविगवित्तं प्रकाशयति, वादी वा धम्मकथी वा विसुद्धचारित्रो वा तपस्वी वा, तद्यावदाचार्यसमीपे विद्यते ताव ण णिक्कसे बहिया, असावपि तावद्वशको गुरुमपि(मुप)जीवति, आचार्यवत् गुर्वणुज्ञातो णिक्कसेज्जा, ततो वा बहिता ण णिक्कसे, विषयकषायाभ्यां वा हीरमाणमात्मानं अवभासते अनुशासतीत्यर्थः, मा एवं कुरु यावदित्यर्थः, निवार्यमाणं चात्मानमिच्छन्ति गुर्वादिभिः, आसुप्राज्ञ इति क्षिप्रप्रज्ञः, क्षणलवमुहूर्तं प्रति बुद्ध्यमानता, तथा 'किं मे कडं किच्चमकिच्च सेसं०' प्रमादं च गत्वा आसु प्रतिनिवर्त्तते किल, सप्रमादं वा तत्र स्वयं प्रमादनिवृत्तये इत्यपदिश्यते। सद्दाइ(णि)सोच्चा अदु भेरवाइ(णि)वृत्तं ॥५८५॥ तद्यथा–वन्दनस्तुत्याशीर्वादनिमन्त्रणादीन् तथोपसेवनादीनि, येनादिग्रहणं करोति तेन ज्ञायते यथैतानि स्तुत्यादीनि शब्दजातानीह संतीति, भयं कुर्वन्तीति भैरवाणि, तद्यथा–खरफरुसणिट्ठुरभैरवादीनि सद्दाणि, सोच्चा वाक्यशेषादिति ज्ञाप्यंते, वाशब्दादभैरवान्, अथवा अभैरवाणि, अनाश्रयो नाम अनाश्रवः तेषु भवेत्, अथवा आश्रय इति स्थानं रागद्वेषाश्रय इत्यर्थः, अनुभूतेषु वा, एवं जाव फरुसाणि फुसित्ता अदु भेरवाणि अपि फासरूवरसगंधेहिं, एते इंदियपमाददोषा इहैव, निद्राप्रमादनिवृत्तये तु णिद्दं च भिक्खू न पमादकुज्जा (पमाय कुज्जा) दिवमतो ण णिद्दायति, रत्तिंपि दोण्णि जामे जिणकप्पी, एकान्तं वितण्हणिद्दो, सरीरधारणार्थं स्वपिति, निद्रा हि परमं

ज्ञानवित्तादि

॥२८६॥

विश्रामणं, चशब्दात्कषायकथामद्यप्रमादा अपि गृह्यन्ते, कथं कथमपीति किमहं पव्वज्जं ण णित्थरेज्ज ? समाधिमरणं ण लभेज्जा ?, अथवा कथं कथमिति सम्यक् अनुचीर्णस्यास्य किं फलमस्ति नास्तीति एवं वितिगिच्छां तरेज्ज, न कुर्यादित्यर्थः, धर्मकथां वा कथयन् वितिगिंछामप्पणो तरेज्ज, 'तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेदितं।' अण्णेसिं च तहा कहेज्ज जहा वितिगिंछा ण भवति, उत्तरशिक्षाधिकारे तु(ऽनु)वर्त्तमाने 'जे ठाणओ सयणासणे य'वृत्तं ॥५८४॥ स्थानेन साधु भवति पडिलेहित्ता पमज्जित्ता, जहा ठाणसत्तिक्कए, सयणे सुवंतो साधू साधुरेव भवति, स जागरो सुवति जहा ओहणिज्जुत्तीए, आसणे निसीयंतो पडिलेहणादि करेति, पीढगादि वा जहिं काले आसणं गेण्हेतव्वं जहा परिभुंजियव्वं, पलियंकादीओ य पंच णिसिज्जाओ आचरंतो साधुरेव न भवति, परमेरियासमितिवान् साधुरेव भवति, समितीसु अ गुत्तीसु अ समिती इरियासमिती मुक्का सेसाओ, गुत्तीओवि कायगुत्तिं मोत्तुं, ठाणसयणासणगहणेणं कायगुत्तीरुक्का, आगता प्रज्ञा यस्य स भवति आगतप्रज्ञः, समिती गुप्तिश्च आसेविते वियागरेंतित्ति, स एवं समितात्मा गुप्तश्च यदा वा करोति धम्मं तदा सुखं प्रज्ञापयति, पुढो विस्तरशः कथयति, तस्य हि उद्यममानस्य ग्राह्यं वचो भवति, विसुद्धं भवति, स्थानादिषु वा यो हि चिरं स्खलतीत्यर्थः, तं पुढो वदेज्जा पतिचोदिज्ज स्वयं यथा ते हि सुखं परिचारयंति, अथवा पुढोत्ति परस्परं चोदयंति, न गौरवेन, ममैते वश्या अभियोज्या वा, सो पुण चोदंतो दुविधो समानवयोऽसमानवयो य, सर्वस्यापि पोढव्यमिति, तद्यथा-'डहरेण०'वृत्तं ॥५८६॥ डहरो जन्मपर्यायाभ्यां, वुड्ढो वयसा, अनुशासितः क्वचित् चुक्कस्खलिते पडिचोदितः रायणिए आयरिओ परियाएण वा पव्वत्तगाईण वा पंचानामन्यतमेन समवयोपरियाएण वयसा वा एवमादीनां वचनं सम्मं तगं थिरतो वेदेति चोदनावचनं, थिरं नाम जं अपुणक्कारयाए अब्भुट्ठेति, न नाभिगच्छति, न गर्हाति न,

मिच्छादुक्कडं करेति, कुम्भारमिच्छादुक्कडं न करेति, चोदितो वा न पडिचोदति, णिज्जंतए वावि अपारए से यथा नदीपूरेण ह्रियमाणः केनचिदुक्तं इदं तुरकाष्ठं अवलंबस्व, शरं अंबं वृक्षशाखां वा मुहूर्त्तमात्रं वा आत्मानं धारय इत्युक्तो रुष्यति न वा करोति, यदुच्यते स हि अपारगे भवति, पारं न गच्छतीति अपारगः, एवं समिओऽवि, अथवा निमंत्रणामिवातुरः न रागं परं गच्छन्ति, अथवा णिज्जतराणि इति णिज्जंततो, स हि आचार्यैर्मोक्षं प्रति नीयमानोऽपि सम्यगुपदेशैः पडिचोअणाहि य ण पारं गच्छति संसारस्य कषायवशात्, अहं अप्पसुत्तेहि य, एसा ताव सपक्खचोदणा। इदाणिं सपक्खे परपक्खे य–'विउट्ठितेणं समयाणुसट्ठे(सिट्ठे)' वृत्तं ॥५८७॥ विउट्ठितो णाम विच्युतो, यथा व्युत्थितोऽस्य विभवः, संपत् व्युत्थिताः, संयमप्रतिपन्न इत्यर्थः, पार्श्वस्थादीनामन्यतमेन वा क्वचित्प्रमादाच्च कार्येण वा त्वरितं गच्छन् जहा तुज्झं ण वदति तुरितं गंतुं, कहं ?, कीडगादीनि न हिंसध, हिंसितु वा, एवं मूलगुणेसु वा उत्तरगुणेसु वा विराधणाए अण्णतरेण वा समये वाऽनुशास्तः ण तुज्झं वदति एवं काउं, जे अंतरपलोयणेण होयव्वं, ते तु उहरेण वा महंतेण वाऽनुशास्तः, अब्भुट्ठिताए घडदासीए वा, अतीव उत्थिता अब्भुट्ठिता, कुत्रोत्थिता ?, दौः–शील्ये, घटदासीग्रहणं तीसेवि ताव णोदिज्जंतो ण रुस्सियव्वं, किं पुण जो तणुआणिवि सीलाणि धरेति ?, अथवा अब्भुट्ठिता सा दंडघट्टिता भुयंगीव धमधमेंति रुट्ठाणं भणेंति तुज्झ वदति एवं काउं ? अथवा अब्भुट्ठितेति पडिपक्खवयणेण गतं, चन्द्रगुप्तस्त्रीवत् पुरुषः, तद्यथा–दासदासी, पतितेभ्योऽपि पतितस्यावि चोदंती, ण वक्तव्या, से वावि ताव तुमं कहेसि मम चोदेंतु, आगारिणंति स्त्रीपुंनपुंसकं वा, आह केन ?, अन्यतरेण वा एवं चोदितो 'ण कुप्पेज्जा' वृत्तं ॥५८८॥ कोपो नाम मनप्रद्वेषः, पडुचेतं पच्चहेज्जा कट्ठलोट्ठहत्थादीहिं, ण वा फरुसं वदेज्ज, जहा मरुओ, रक्तपडगे णाम मंसखोयडक्खाओ मुंडकुटुम्बी, सोऽवि ता वत्थेण

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२८९॥

णासिओ लोगो ण किर जाणति जेण तुज्झोवदिट्ठं, किमंग पुण तुमं सपक्खेण वा ओसण्णेण चोदितो, भणति–को तुममट्ठे वा चोदेतुं भवति ?, तहा करिस्संति, सपक्खे मिच्छामिदुक्कडं, परपक्खे ममेस तच्छैयः, एवं पडिसुणेज्जा, न च प्रमादं कुर्यात्, येन पुनश्चोद्यते यत्तुल्यगं तस्स पूया कायव्वा। 'वणंसि मूढस्स०'वृत्तं ॥५८९॥ वनमरण्यं तत्र दिग्मूढस्य उत्पथप्रतिपन्नस्य वा अमूढः कश्चित्पुमान् अन्यो ग्रामो वा अदिस्सं गच्छतो मार्गं कथयति, यथा कथयामि तथा तथाऽयं मार्ग इप्सितां भुवं गच्छति, अनुशासंतो यदि उन्मार्गापायान् दर्शयित्वा ब्रवीति–अयं ते मग्गे हितः क्षेमोऽकुटिलत्वादितः फलोवगादिवृक्षजलोपेतत्वाच्च, प्रजायंते इति प्रजाः–मनुष्याः, प्रयान्ति वा येन तत्प्रयानं भवति मार्ग एव, तेणेवमेव सेयं, तेणावि मूढेण अमूढयस्स तेण मज्झ य चेव एतं मे सेयं जं बुद्धा समणुसासयंति, जं मे एते बुद्धा मग्गविदू सम्मं उज्जगं, न वा द्वेषेण, अनुशासना नाम धी, सम्ममणुसासयंति, बुद्धा बुद्धा आचार्याः पुत्रस्येवोपदिशंति, न द्वेषेण पक्षरागेण वा, स्खलितेषु अणुशासंति, एष दृष्टान्तः, उपसंहारः ततस्तेन मूढेनेश्वरेण वा० वृत्तं ॥५९०॥ अमूढस्येति देशिकस्य, यद्यपि चण्डालः पुलिन्दिगन्दगोपालादि च तस्यापि विस्तीर्णवता नरेण सता शक्त्यनुरूपा कायव्वा, पूया भक्तिसंजुत्ता, अहमनेन दुर्गात् श्वापदभयात् दोषेभ्यो मोक्षित इत्यतोऽस्य कृतज्ञत्वात् प्रतिपूजां करोमि, विशेषयुक्ता नाम यावती मे तेन पूजा कृता अतो अस्याधिकं करोमि, तद्यथा—वस्त्रान्नपालनभोगप्रदानं राजा दद्यात्, उक्तो दृष्टान्तः 'एतोवमं तत्थ उदाहु वीरे' तस्मिन्निति तस्मिन्मार्गोपदेशक उदाहरंति स्म उदाहुः, धीराः, अणुगम्म अत्थंति अणुगमेण अणुगम्य उपनयंति, तेनापि मिथ्यात्वरचनात् उत्तारनेन अभ्युत्थानादि सविशेषा पूजा कर्त्तव्या, यद्यप्यसौ चक्रवर्त्ती निष्क्रान्तः आचार्यश्च द्रमककुलादिजातः, द्रव्यपूजा आहारादि, भावे भक्तिः वर्णाद्यश्च, वाचनान्तरेऽपि दृष्टान्ताः,

चोदक-पूजादि

॥२८९॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२९०॥

तद्यथा-'गेहंमि अग्गिजालाउलंमि जह णाम डज्झमाणंमि। जो बोहेइ सुयंतं सो तस्स जणो परमबंधू ॥१॥ जह वा विससंजुत्तं भत्तं निद्दमिह भोत्तुकामस्स। जो विसदोसं साहइ सो तस्स जणो परमबंधू ॥२॥ अयमन्यः सौत्रः 'णेता जहा अंधकारंसि रातो०'वृत्तं ॥५९१॥ नयतीति नीयते वा नेता, अंधं करोतीति अन्धकारं मधान्धकारं अचन्द्रा वा रात्रिः अडवीसा गत्तापाषाणदरीवृक्षदुर्गमा से तस्यां पूर्वदृष्टमपि दण्डकपथं न पश्यति, कुतोऽमार्गं ?, सो सूरीयस्स अब्भुग्गमेणं स एव सूर्यप्रकाशाभिव्यक्तचक्षुर्जानकः मग्गं वियाणाति पगासितंति प्रकाशितमिति जगति चक्षुषि वा,'एवं तु सेहे'वृत्तं ॥५९२॥ सेहो पुव्वुत्तो दुविधो-गहणे आसेवणे य, अपुट्ठधम्मो णाम अदृष्टधर्म्मा, धर्म्मं न जानाति, प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणं धर्म्मं ज्ञानादि, प्राणातिपातादिषु यथासंख्यं, अथवा चित्रधर्म्मं अप्रमादादिधर्म्मं वा से कोविततो जिणवयणेण पच्छा कोविता णाम विपश्चितः गहणसिक्खाए कोवितो, आसेवितव्वं च गहणशिक्षया ज्ञायते सूरोदए पासति चक्खुणेव देशिकोऽपि च पथं, अकृत्यादावर्च्यं कृत्ये प्रवर्त्तते, गुरुकुलवासगुणात्प्रमादाप्रमादौ मूलोत्तरगुणौ च पश्यति, मूलगुणेसु तावत् अहिंसापथमपदिश्यते 'उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु०' वृत्तं ॥५९३॥ उड्ढं अहेयत्ति खेत्तपाणातिवातो, जे थावरा जे य तसा दव्वपाणातिवातो, सदाजतोत्ति कालप्राणातिपातः, तस्स परक्कमंतो मणप्पओसं अविकंपमाणोत्ति भावपाणातिवातो योगत्रयकरणत्रयेण, एवं सीतालं भंगसतं पंचसु महव्वएसु, दव्वादिचतुष्कं च सामान्येन सव्वासु जोएयव्वा, मणप्पदोसं, पदोसेण वा विविधं कम्पयति २, एवं उत्तरगुणेसुवि दुविधा सिक्खा जोएव्वा, यस्माच्चैते गुरुकुलवासगुणाः तत्रावसन् ज्ञानमधीत्य करतलामलकवल्लोकं पश्यति व्रतेषु च स्थिरो भवति, ज्ञानगुणात्, तेन तज्जातं 'कालेण पुच्छे समियं पयासु०'वृत्तं ॥५९४॥ 'कालेने'ति 'काले विणए बहुमाणे०'णाणायारो सूयिति, सम्य-

नेतृत्वादि

॥२९०॥

प्रत सूत्रांक ||५८०-६०६||

दीप अनुक्रम [५८०-६०६]

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२९१॥

गिति तिविधाए पज्जुवासणताए, प्रजायन्त इति प्रजाः सम्यग्प्रजाभ्यः आइक्खमाणं (णो) 'जहा पुण्णस्स कत्थइ तथा तुच्छस्स कत्थइ' यथा ईश्वरनिक्रान्तस्य तथा पेलवनिष्क्रान्तस्यापि कथ्यते, दविओ णाम दोहिवि रागदोसेहिं रहितो भावात् तस्य तज्ज्ञानं, ज्ञानधनानां हि साधूनां किमन्यत् वित्तं स्यात् ?, स तु गीतत्थो पुच्छियव्वो, इतरो उ अतत्थंपि देसेज्ज, तं सोयकारीय तमिति यत्कथ्यते श्रोतसि करोतीति श्रोतकारी, गृहीत्वेत्यर्थः, गृह्णाति, अथवा श्रोत्रेण गृहीत्वा हृदि करोतीति श्रोतःकारी, श्रुत्वा वा करोतीति श्रोतकारी, पुढोपवेसेत्ति पृथक् पुणो २ वा पवेसे हृदयं पुढो पवेसे, 'सहस्रगुणिता विद्याः, शतशः परिवर्तिताः', पत्तेयं वा पत्तेयं पवेमो पुढोपवेसो, तंजहा—उस्सग्गे उस्सग्गं अववाते अववातं, एवं ससमए सममयं परसमए परसमयं वा, अतिक्रान्ते अतिक्रान्तकाले, संख्यायतेऽनेनेति संख्यानं, केवलिन इदं कैवलिकं समाधिरुक्ता, 'अस्सिं सुठिच्चा०' वृत्तं ॥५९५॥ अस्मिन्निति यद्गुरुकुलवासे वसता श्रुतं गुणितं च, सुट्ठु ट्ठिच्चा सुठिच्चा, दुविधाए सिक्खाए अप्पमादे समितिगुत्तीसु अ एसकालं यथा साम्प्रतं तथैष्यकालमपि यावदायुः, एतेसुत्ति एतेष्वेव समितिगुप्त्यप्रमादेषु धर्म्मसमाधिमार्गेषु च वर्त्तमानस्य शान्तिः—इहान्यत्र च सौख्यमित्यर्थः, सर्वकर्म्मशान्तिर्वा, शान्तस्य च सतः सर्वकर्म्मनिरोधो भवति, अनाश्रव इत्यर्थः, अथवा समित्यादिषु अप्रमादस्थानेषु यानि चिह्नान्युक्तानि तेसु वर्त्तमानस्य कर्मोपनिरोधो भवति, क एवमाख्यांति ?, उच्यते, ते एवमक्खंति 'ते' इति ते तीर्थकराः ज्ञानदर्शनचारित्राख्यांस्त्रीन् लोकान् पश्यन्तीति त्रिलोकदर्शिनः, ऊर्ध्वादि वा त्रिलोकं पश्यति, तस्माद्गुरुकुलवासे वसतः समितिगुप्तिगुप्तस्य प्रमादरहितस्य शान्तिर्भवति कर्मनिरोधश्च, तेन न भूयः पतंति प्रमादसंगं, एतदिति यदुक्तं, असमितित्वमगुप्तत्वं च, प्रमाद एव सङ्गः, संगो वा थोवक्खो मोक्खमग्गस्स, एवं गुरुकुलवासे दवियस्स वित्तं । 'णिसम्म से

तुल्य-कथनादि

॥२९१॥

भिक्खु समीहमट्ठं (समीहियट्ठं)०'वृत्तं ॥५९६॥ निशम्येति गृहीत्वा गुणयित्वा निशम्य वा, सम्यक् पौर्वापर्येण वा समीक्ष्य, अर्थमिति श्रुतार्थं मोक्षार्थं वा, तॉस्तान् प्रति अर्थान् भातीति प्रतिभा, श्रोतृणां संशयच्छेत्ता, विशारदः स्वसिद्धान्तज्ञानकः, आदाणमट्ठी आदीयत इत्यादानं, ज्ञानादीन्यादानानि, आदानेन यस्यार्थः स आदानार्थी, वोदानं विदारणं तपः, मौनं–संयमः, आदानार्थी वोदानं मौनं च, उपेत्येति प्राप्य, दुविधाए सिक्खाए गुरुकुलवासी प्रमादरहितः शुद्धेत्ति निरुपधेन सम्यग्दर्शनाधिष्ठितेन चोदनेन प्रतिषेधेन, उवेतिति, मारं मरंत्यस्मिन्निति मारः—संसारः, उक्कोसेणं वा सत्तट्ठ भवग्गहणाइं मरेज्ज, एवं सो बहुस्सुओ जातो जो वुत्तो अस्सि सुट्ठिचा, यत्थ पढितं–णिसम्म से भिक्खु समीहियट्ठं, देशदर्शनं कुर्वन् अभ्युद्यमेगतरं प्रतिपत्तुकामेण वा गुरुणा आचार्यत्वेन स्थापितः समीक्षितो वा, एके अनेकादेशात् अभिधीयते 'संखाइ धम्मं च वियागरंति०'वृत्तं ॥५९७॥ संखाएति धर्मं ज्ञात्वा श्रुतं धर्मं वा कथयति सिस्सपडिच्छगाणं धर्मकथां च कथयति, अथवा 'संखाए'त्ति खेत्तं कालं परिसं सामत्थं वऽप्पणो वियाणित्ता परिकथयति, अथवा 'के अयं पुरिसे ? कं च णए ?' अथवा 'संखाये'ति एतत्मात्रस्यायं श्रुतस्य योग्यः, अतः परं शक्तिर्नास्ति, सत्यां वा शक्तौ जत्तियं ग्रचरन्ति तत्तियं गहियं, एवं संखाय 'अन्नोञ्छित्ति०' एवमादिभिः प्रकारैः संख्याय धम्मं वागरयंता बुद्धबोधितास्ते आचार्याः, कम्माणं अंतं करेंतीति अंतकराः, अन्यॉश्च कारयंति, यतः पारगाः ते पारगा दोण्हवि मोयणाए ते इति संख्याय धर्मं व्याकरयन्तः, पारं गच्छंतीति पारगाः, आत्मनः परस्य च, दोण्हवि मोयणाए, पारं गच्छंति मोचनाः, कतरे ते ?, जं संसोधिगा पण्हमुदाहरंति सम्यक् समस्तं वा सोधिया संसोधिया, पुच्छंति तमिति प्रश्नः, पूर्वापरेण समीक्षितुं आत्मपरशक्तिं च ज्ञात्वा द्रव्यादीनि च तथा केऽयं पुरिसेत्ति परिचितं च सुत्तं कएण आयरिया देसाधारिचेण

समीहितार्थादि

॥२९२॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२९३॥

अत्थेण सरितेणं तो संघमज्झयारे ववहरितुं जे सुद्धं होंति, अच्छिद्दपसिणवागरणा अकेवली केवली वा रयणकरंडसमाणा, कुत्ति-यावणभूता कथा, चोद्दसदसणवपुव्वी जाव दसकालियंति, संसोधितुं अविच्छिन्नोच्छित्तिं करेति, तं पुण कहेंतो–'णो छादए०' वृत्तं ॥५९८॥ मत्सरित्वेनार्थे नाछादयेत् पात्रस्य, धर्मस्य कथां कथयन्न सद्भूतगुणान् छादयेत्, न वा वायणारियं छादयेत्, लूसितं भयमित्यर्थः, लूसित्ता णाम अवसिद्धांतं कथयति सिद्धान्तविरुद्धं वा, माणं ण सेवंति प्रज्ञामानमाचार्यमानं वा, संशयानात्मनः परस्य वा छेत्तुं न मदं कुर्यात्, न वा प्रकाशयेदात्मानं यथाऽहमाचार्यः, णयावि पण्णे परिहास कुज्जत्ति प्रज्ञावान् प्राज्ञः, न चेदृशीं कथां कथयेत् येन श्रोतुमात्मनो वा हास्यमुत्पद्यते, अपरियच्छंते वा परे अण्णहा वा अवुज्झमाणे न प्रज्ञामदेन परिहासं कुर्यात्, यथा 'राजा तथा प्रजे'तिकृत्वा न सर्वत्रैव परिहासः, ण याऽऽसियावायंति 'शंसु स्तुतौ' तस्याशीर्भवति स्तुतिवाद-मित्यर्थः, न तद्दानवन्दनादिभिस्तोषितो ब्रूयात्–आरोग्यमस्तु, ते दीर्घं चायुः, तथा सुभगा भवाष्टपुत्रा इत्येवमादीनि न व्याक-रेत्, एवं वाक्समितिः स्यात्, किंनिमित्तमाशीर्वादो न वक्तव्यः ?, उच्यते, 'भूताभिसंकाए(इ)दुगुंछमाणा(णे)०' ॥५९९॥ वृत्तं, भूतानि अभिसङ्केयुः सावद्याभिधायिनः अत इदमपदिश्यते, भूतानि यस्य सावद्यवचनस्य शङ्कते न तेन वचनेन णिव्वहे, संयमे निर्गच्छेदित्यर्थः, न चानेन वचनेन णिव्वहे, संयमं निर्गालयेदित्यर्थः, मन्यत इति मत्रः–वचनं, मत्र एव पदं मत्रपदं, अथवा मत्रा इति विद्यामत्रादयो गृह्यन्ते, तेन मत्रपदेन निव्वहे, गुप्य(गूय)त इति गोत्रं–संयमः सप्तदशविधः अष्टादश च सील-गमहस्साणि इत्यस्माद्गोत्रान्न तद्विधं वचो ब्रूयात् यन्न निर्वहेत्, षट्कायो वा गोत्रं यत्र गुप्यते तां न निर्वहेत्, गोत्रात् जीवितादि-त्यर्थः, तच्च गोत्रमाचरेत्, कहेन्तो वा ण किंचि मिच्छेण कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठताए कहिज्ज धम्मं, मनुष्य इति स पदकथकः,

अनाच्छा-दनादि

॥२९३॥

प्रजायंत इति प्रजाः यासां कथ्यते, तासु प्रजासु, स्त्रियो वा प्रजा, न कीर्त्तिमिच्छेत्, असाधूनां धर्माः २ तान् असाधुधर्मान् न संव-
एज्जा, ते च दर्पमदाहंकारादयः, अथवा न तत्कथयेत् येन असाधुधर्माणां सद्भावनं भवति, पचनपाचनादीनां, असंयतदानादि
वा, न कुतीर्थिकान् वा प्रशंसंति, किंच–'हासंपि णो संधति०' ॥६००॥ वृत्तं, हास्येनापि नो पापधर्मं संचयेत्, यथेदं छिंदत
भिदत वा खाद मोय वा, अथवा हास्येनापि न प्रशंसयेत् कुप्रवचनानि, शाक्यं ब्रुवते–अहो तुज्झं सुदिट्ठं जं वरचोल्ला वट्टंति, सुहं
चेव धम्मं तुज्झे करेह, यद्यपि सोल्लंठं तथापि न वक्तव्यं, मा भूदन्येषां पात्रबुद्धिः स्यात्, गोमडं खज्जति गोचम्मेसु वधं, जाग्रेत्ति
रागद्वेषरहितः, न विगंतव्वं सद्भूतं, फरुसं अतिजाणति, रागद्वेषबन्धनभावात्, परुषः–संयमः कर्मणामनाश्रय इत्यर्थः, तथ्यं–संयमं,
अभिमुखं जानाति यथा सो वाग्दोषान्न विराध्यते यथा वाऽऽचार्यते तथा च कथयति, अथवा कथयन् कथां लब्धिगर्वितो न भवति,
नैवार्थकं पदं, किं ?, लब्ध्वा गर्वितो भवति, जहा तुच्छस्स कहेति–तणहारगस्सवि तहा रायस्स, जहा जहा तुच्छस्स तहा तहा राज्ञोऽपि,
प्रकंथनो नाम नो धर्म्मकथित्वेनान्येन वा आत्मानं कथयति श्लाघयतीत्यर्थः, अपरिच्छंतं वा नावकंसेति, चमढयतीत्यर्थः, तत्र
न अन्येषामपि संयतानामुद्वुरुस्सती, अथवा न तुच्छए आत्मानं मौनपदेन प्रकथयति, यथाऽहमीदृशो अनन्यसदृशो वा अणाइलेत्ति
न धर्मं देशयानो, न आतुरो भवति, मन्यादितो वाऽऽकुलः–व्याकुलो भवति, अपरियच्छन्ते वा परे, सिद्धंताविरुद्धानि सेवन्ते इत्य-
विरुद्धसेवी, न च विरुद्ध्यते तेन सह यस्य कथयति। किंच–'संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू०'॥६०१॥ वृत्तं, यत्र शंकितमस्य
ज्ञानादिषु तन्न कथयति, अपृष्टः पृष्टो वा शंकेत अशङ्कितभावः, एवं तावत् ज्ञायते, अतः परं जिना जानंति, भावो नाम ज्ञानं, सङ्कि-
तज्ञानमित्यर्थः, न च तद्भाषते कथयति वा येनान्यस्य शङ्का भवति, विभज्यवादो नाम भजनीयवादः, तत्र शङ्किते भजनीय-

प्रत सूत्रांक ॥५८०-६०६॥

दीप अनुक्रम [५८०-६०६]

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२९५॥

वाद एव वक्तव्यः-अहं तावदेवं मन्ये, अतः परमन्यत्रापि पुच्छेज्जासि, अथवा विभज्यवादो नाम अनेकान्तवादः स यत्र २ यथा युज्यते तथा २ वक्तव्यः, तद्यथा-नित्यानित्यत्वमस्तित्वं वा प्रतीत्यादि, किं कथयति ? केन वा कथयति ? सत्या असत्यामृषा च भाषादुगं, संमससमुट्ठितेहिं पढमचरिमाओ दुवे भासाओ, सम्मं समुट्ठिते, ण मिच्छोवट्ठिते, जहा उदाइमारगो, चोदकबुद्ध्या वा वैतण्डिका वा करेज्जा, सनीएत्ति सम्यक् आशुप्रज्ञः उक्तः। किंच-'अणुगच्छमाणे वितहं विजाणे०' ॥६०२॥ वृत्तं, तस्यैव कथयति कश्चिद् ग्रहणधारणासंपन्नः यथोक्तमेवावितहं गृह्णाति, कश्चित्तु मन्दमेधावी वितथं हि जाणति, तकं मंदमेधसं तथा २ तेन प्रकारेण हेतुदृष्टान्तोपसंहारैः, यथा २ प्रतिबुद्ध्यते तथा साधु सुष्ठु प्रतिबोधयेत्, न चैनं कर्कशाभिर्गिराभिरभिहन्येत्, धिग् मूर्ख ! किं तवार्थेन ? स्थूलबुद्धे !, एवं वाचा अकर्कसं, कायेनापि न क्रुद्धमुखः, हस्तवक्रौष्ठविकारैः वा, मनस्तु नेत्रवक्त्रविकारेण अनादरेण गृह्यते, सर्वथा अकर्कशे, किंच-तत् कुत्रचिद्भावं क्वचित् स्वसमये परसमये वा तथोत्सर्गापवादयोः ज्ञानादिषु द्रव्यादिप्रज्ञापनायां वा न कुत्रचिद्भाषां विहिंसेत्, परुषमृषावादादिदोषः, तस्य वाऽबुद्ध्यमानस्य श्रोतुर्न कुत्रचिद्भाषां विहिंसेत्, अहो भंगा लक्ष्यन्ते, न निन्देदित्यर्थः, निरुद्धगं चार्थमर्थाख्यानं वा न दीर्घं कुर्यात् अधिकार्थैः,'सो अत्थो वत्तव्वो जो अत्थो अक्खेहिं आरूढो''अप्पक्खर महत्थं०'चउभंगो जहा जहा परूविज्जा० हंदि महता चउगरत्तणेण अत्थं कथा हणति ॥१॥ किंच-'समालवेज्जा' ॥६०३॥ वृत्तं, सोभणं समयं वा कथेज्जा, पडिपुन्नभासी अट्ठेहिं अक्खरेहिं अहीनं अक्खलियं अमिलितं निमामियं जहा गुरुसगासे निशान्तं समीक्षितं वा बहुशः तथा सम्यगर्थदर्शी कथयति, समिया नाम सम्यक्, यथा गुरुप्रकाशादुपधारितं सम्यक् अर्थं पश्यन्ति समियाअट्ठदंसी नाहमाचार्य इतिकृत्वा, संति वा श्रोतारः यत्किञ्चित् कथयितव्यं तेण हि, आणाइ सुद्धं वयणं आज्ञा, यथा गुरु-

विभज्य-वादादि

॥२९५॥

णोपदिष्टं तथैवोपदेष्टव्यं, आज्ञासिद्धं नाम यथोपधारितं, तास्वर्थाविकल्पितं वचनमिति सुत्तमत्थो वा, विविधं वैधं जुंजेज्जा, कथं ?, उसग्गे उस्सग्गं अववाए अववातं, एवं ससमए ससमयं परसमए परसमयं, तदेवं युज्यमानः कंखेज्जया पावविवेग भिक्खू, कथं मम वाचयतः पापविवेकः स्यात् ?, न च पूजासत्कारगौरवादिकारणाद्वाचयति, किंच–'अहावुइयाइं सुसिक्खएज्जा०'वृत्तं ॥६०४॥ यथोक्तानि अहावुइयाणि सुट्ठु सिक्खमाणे सूत्रार्थपदानि दुविधाए सिक्खाए जएज्जसुत्ति घडेज्जसु पडिकमिज्जसु आसेवणाए सिक्खाए, अतिप्रक्रमलक्षणनिवृत्तये व्यपदिश्यते–णातिवेलं वएज्जा, वेला नाम यो यस्य सूत्रस्यार्थस्य धर्मदेशनाया वा कालः, वेला मेरा, तां वेलां नातीत्य ब्रूयादित्यर्थः, एवं गुणजातीयः से दिट्ठिमं स इति स यथाकालवादी यथाकालचारी च दृष्टिमानिति सम्यग्दृष्टिः, सपक्खे परपक्खे वा कथां कथयन् तत्कथयेत् जेण दरिसणं ण लूसिज्जइ, कुतीर्थप्रशंसाभिः अपसिद्धान्तदेशनाभिर्वा न श्रोतुरपि दृष्टिं दूषयेत्, तथा २ तु कथयेत् यथा २ अस्य सम्यग्दर्शनं भवति स्थिरं वा भवति, यश्चैवंविधं स जानीते उपादेष्टुं ज्ञानादिसमाधिधर्म्ममार्गं, चारित्रं च जानीते सः, एवं 'अलूसए ण य पच्छन्नभासी०'॥६०५॥ वृत्तं, अलूसकाः सिद्धान्ताचार्याः, प्रकटमेव कथयति, न तु प्रच्छन्नवचनैस्तमर्थं गोपयति, अपरिणतं वा श्रोतारं प्राप्य न प्रच्छन्नमुद्घाटयति, अपवादमित्यर्थः, मा भूत् 'आमे घडे णिहित्तं' किंच–अणुकंपाए ण दिज्जति, न सूत्रमन्यत् प्रद्वेषेण करोत्यन्यथा वा, जहा रण्णो भत्तंसिणो उज्ज्वलप्रश्नो नामार्थः तमपि नान्यथा कुर्यात्, जहा 'आवंती के आवंती–एके यावंती तं लोगो विप्परामसंति' सूत्रं सर्वथैवान्यथा न कर्त्तव्यं, अर्थविकल्पस्तु स्वसिद्धान्ताविरुद्धो अविरुद्धः स्यात्, किमन्यथा क्रियते ?, उच्यते, सत्थारभत्तीए शासतीति शास्ता शास्तरि भक्तिः सत्थारभत्तीः स भवति सत्थारभक्तिः, अनुविइणं तु अणुचिंतेऊण, वदनं वादः, तदनु विचिन्त्य वदेत्, तब श्रुत्वा

सम्यक् अन्येभ्यः रिणपरिमोक्खाए वाएज्जा, तदिदं परिवादयेत् पडिवाएज्जा, सूत्रमर्थं धर्मकथां वा, स एव गुर्वाराधनायां वर्त्तमानः सुद्धसुत्ते उवहाणवं च ॥६०६॥ वृत्तं, स इति ग्रन्थवान्, सुद्धं परिचितं अविचामेलितं च० उपधानवानिति तपोपधानं वा धर्म्मं यावज्जीवेदिति, तत्तु आज्ञा ग्राह्या, आगमेनैव प्रज्ञापयितव्याः, दार्ष्टान्तिकोऽपि हेतूदाहरणोपसंहारैः, अथवा तत्र इति स्वसमये परसमये वा, तथा ज्ञानादिषु द्रव्यादिषु वा उत्सर्गापवादयोर्वा यत्र २ तत्तथा द्योतयितव्यं आहेज्जवक्के आहेयवाक्य इति ग्राह्या प्रत्यक्षा परोक्षज्ञानी वा, खेदण्णे कुसले पंडिते स एव अर्हता भाषितुं समाधिं, सम्यगधिरुक्तः धर्मो मार्गश्चेति॥ इति ग्रंथाध्ययनं चतुर्दशं समाप्तम् ॥

आयाणिज्जज्झयणस्स चत्तारि अणुओगदारा, अधियारो आयाणचरित्ते, णामणिप्फण्णे दुविधं णाम–आयाणिज्जंति वा संकलित्तज्झयणंति वा वुच्चति, तत्थ गाथा–'आदाणे' ॥१३२॥ गाथा, एते तु आदाणगहणे किमेकार्थे स्यातां उत नानार्थे ?, उच्यते अभिधानं प्रति नानार्थे शक्रेन्द्रवत्, अर्थं तु प्रति एकार्थौ, तदेवादानं तदेव च ग्रहणं, यथा पुत्रमादाय गच्छति पुत्रं गृहीत्वा गच्छतीति नार्थो व्यतिरिच्यते आदानग्रहणयोः, एक्केकं चतुर्विधं–नामादानं०, उच्यते तावत् वित्तमेवादानं तेन भृत्या गृह्यन्ते, तदेव वा आदीयते, प्रशस्तभावादानमेवाध्ययनं, द्रव्यग्रहणेऽपि गलो मत्स्यस्य ग्रहणं, पाशकूटो मृगस्येति, भावग्रहणं तु यो येन भावेन गृह्यते प्रशस्तेनाप्रशस्तेन वा सिंहो मृगान् गृह्णाति, प्रशस्तेन साधुः शिष्यान् गृण्हाति, यो वा येन भावेन गृह्यते यथा दास्योः परस्परं चोरभावेन, उपशमभावेन शिष्यो गृह्यते, आदानमुक्तं। इदाणिं संकलिका, सावि णामादि चतुर्विधा–द्रव्यसंकला कुंडगमादीया २ बद्धा संकलिता वुज्झंति, भावसंकला इणमेव अज्झयणं–जं पढमस्सेंतिमए बितियस्स उ तं हवेज्ज आदिम्मि। एतेणा-






अस्य पृष्ठे पंचदशमं अध्ययनं आरभ्यते

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२९८॥

(ण उ आ)दिज्जं एसो अन्नोऽपि पज्जाओ ॥१३३॥ कहिंचि सुत्तेण संकला भवति, कहिंचि अत्थेण, कहिंचि उभयेणवि, एतचैवं तेण आदि णिक्खिवियव्वा, स च णामादी ठवणादी गाथा ॥१३४॥ दव्वादी णाम जो जस्स दव्वस्स भावो होति, उत्पाद इत्यर्थः, क्षीरं हि क्षीरभावात् परिणमते दधित्वेन, य एव क्षीरनाशः स एव दधि द्रव्यं, यस्मिन् २ काले आत्मभावं प्रतिपद्यते तस्य द्रव्यस्यादिर्भवति, उक्ता द्रव्यादिः। भावादिस्तु आगमणोआगमतो ॥ १३५ ॥ गाथा, णोआगमओ भावादी पंचण्ह महव्वयाणं जो पढमताए पडिवज्जणकालो, आगमओ पुण आदी गणिपिडगं ॥१३६॥ गाथा, सुअस्स सुअणाणस्स आदी सामाइयं, तस्स च करेमित्ति पदमादी, तस्सवि ककारो आदी, दुवालसंगस्स आयारो, तस्सवि सत्थपरिण्णा, तीएवि पढमुद्देसओ, तस्सवि 'सुतं मे आउसं! तेणं' तस्सवि सुकारो, इमस्सवि सुअखंधस्स समयो, तस्सवि पढमुद्देसओ, तस्सवि सिलोगो पादो पदं अक्खरंति, णामणिप्फण्णो गतो। सुत्ताणुगमे सुत्तमुच्चारेयव्वं, स एवं गुरुकुलवासी गंथंति सिक्षमाणो शिक्षापादं केवलज्ञानमुत्पाद्य–जमतीतं पडुप्पण्णं ॥६०७॥ सिलोगो, यदिति द्रव्यादीनि चत्तारि, तं अतीतद्धाए दव्वादिचतुक्कं सव्वं जागति, केवलं नाणं सव्वभावे पासति केवली, एवं पडिपुण्णं अणागतेवि भावे ज्ञानं, तस्माद्भावतो जानीते सव्वं मण्णति मेधावी 'सर्व'मिति सर्वं द्रव्यादिचतुष्कं युगपत्काले वा सर्वं, मेराए धावतीति मेधावी, कस्माद्धेतोः जानीते ?, उच्यते, 'दंसणावरणंतए' चउण्हं घातिकम्माणं, दर्शनग्रहणात् ज्ञानस्य ग्रहणं, स एवं–'अंतए वितिगिच्छाए' ॥६०८॥ सिलोगो, अत्रोभयेनापि सङ्कलिका, वितिगिच्छा णाम संदेहज्ञानं, तेसु य णाणंतरेसु०त्ति, तस्यान्तए, वितिगिच्छाए, समस्तं जानाति संजाणति, न ईदृशं अणेलिसं, अतुल्यमित्यर्थः, तस्यैवंविधस्य अणेलिसस्य–अतुल्यस्याख्याता दुर्लभः। तहिं तहिं सुयक्खायं ॥ ६०९ ॥ सिलोगो, तासु २ णारगादिगतिसु

संकलिकादि

॥२९८॥

तत्र तत्रेति सूत्रार्थः, स्वसमयोत्सर्गद्रव्यादिषु वा, अथवा तहिं २ त्ति न तस्य तासु णरगादिगतिसु सुलभो भवति, यच्च सो व्याख्याति से अ सच्चे अणेलिसो-अवितहो सच्चे, कथं ?—'वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न ब्रुवते वचः । यस्मात्तस्माद्वचस्तेषां, तथ्यं भूतार्थदर्शनं ॥१॥' संयमो वा सत्यं, सदा सच्चेण संपण्णो वचनेन तपः संयमज्ञानं सत्यं संयमः येन यथा वादिनः तथा कारिणो भवंति, यथोद्दिष्टं चास्य सत्यं भवति, स एवं सत्यवान् मित्ति भूतेसु कप्पए करोतीत्यर्थः, आत्मवत्सर्वभूतेषु यतते। सा चैवं भवति भूतेसु(हिं) न विरुज्झेज्जा ॥६१०॥ सिलोगो, भूताणि तसथावराणि तैर्न विरुध्यते, विरोधो-विग्रहः तदुपघातो 'एस धम्मे वुसीमओ' वुसीमॉश्च भगवान्, तस्यायं धर्म्मः, साधुर्वा वुसीमान् 'जगं परिण्णाय' दुविधाए परिण्णाए न एकस्मिन्निति 'अस्सिं' धर्म्मे आजीवितादात्मानं भावयति पणवीसाए भावणाहिं बारसहिं वा। किंच-'भावणाजोगसुद्धप्पा' ॥६११॥ सिलोगो, भावनाभियोगेन शुद्ध आत्मा यस्य स भवति भावणाजोगसुद्धप्पा, अथवा भावनासु योगेषु च यस्य सुद्धात्मा, यथा जलान्तर्नौर्गच्छति तिष्ठति वा न निमज्जति, स एवं हि णावा व तीरसंपन्ना यथाऽसौ निर्यामिकाऽधिष्ठिता मारुतवशात्तीरं प्राप्नोति उपायात्, यथा तथा जिनचारित्रवान् जीवपोतः तपःसंयममारुतवशात् सज्ज्ञानकर्णधाराधिष्ठितः संसारतीरमवाप्य सर्वकर्मेभ्यो तिउट्टति-छिद्यते इत्यर्थः, किंच-'तिउट्टई उ मेधावी' ॥ ६१२ ॥ सिलोगो, अतीव त्रुट्यति अतितुट्टई, अतीत्य वा उट्टति अतिउट्टति, जाणमाणो असंजमलोगस्स पावगं यथा, पट्यते कर्मा, तस्य पापानि जानानस्य तपःस्थितस्य खिज्जंति, पावं पूर्वकर्माणि-पूर्वबद्धानि, संयमतो निरुद्धाश्रवस्य सतः, नवानि कर्माणि अकुर्वतस्तस्यैवोपरतस्य अकुव्वतो णवं णत्थि ॥६१३॥ सिलोगो, अकुर्वतो णवं कर्म, निरुद्धेसु आसवदारेसु नाम परोक्षस्तवादिषु, कर्मणामकुर्वतः, अकुर्वतः कर्मणां णवानामपि

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३००॥

णत्थि, विजानतो हि कर्माकर्मनिर्जरणोपायांश्च कुतो बन्धः स्यात् ?, एवं कर्म्म तत्फलं संवरं निर्जरोपायांश्च **णचाण से महावीर** इति आयतचारित्री महावीर्यवान्, सर्वकर्मक्षये सति न पुनरायाति, न वा मज्जते संसारोदधौ, न वा कर्म निर्णीयते, आश्रवद्वारैर्वाऽस्याजातरागरोसो ण मज्जते 'ण मिज्जई' ॥ ६१४ ॥ सिलोगो, अत्र ब्रह्माद्याः, तदेव दुश्चरत्वादपदिश्यंते, **वायु जालं** अचेत्ति, यथा वायुः द्वीपजालां अचेति–कंपति णोल्लसतीत्यर्थः, एवं स भगवान्, प्रिया लोकस्य स्त्रियः, अंचेतित्ति वा णामित्तित्ति वा एगट्ठं, न ताभिरचते, एताः स्त्रियो नासेव्याः, किंच–'**इत्थिओ जे ण सेवंति**॥६१५॥ सिलोगो, स्त्रियोऽपि त्रिविधकरणयोगेनापि ण सेवन्ते, आदिमध्यावसानेषु आयतचारित्तभावपरिणता, **ते जणा बंधणुम्मुक्का** ते जना इति ते साधवो महावीरा कम्मादिबंधणातो मुक्का णावकंखंति जीवितं असंयमकसायादि जीवितं, अणवकंखमाणो अणागतमसंयमजीवितं वट्टमाणं णिरुंभित्ता शेषमतीतं तंपि वंतीकिच्चा असंयमं जीवितं, अंतं पावेंति सर्वकर्माणां, कहं ?, जेण **कम्मुणा संमूहीभूतो** येनासौ कर्माणिकस्य क्षपनाय संमुखीभूतः, न पराङ्मुखः, जेण इमं णाणदंसणचरित्ततवसंजुत्तं **मग्गमणुसासति** अण्णेसिं च कथयति आत्मानं चानुशासते **अणुसासणं पुट्ठो पाणी (णे)** ॥६१६॥ सिलोगो, अनुशासंतो–कहेंतो पुट्ठ विस्तारे, पुढ इति पुट्ठो विस्तरेण पुनः पुनर्वा, पाणे अणुशासति आयतचरित्तभावो, वसुमं पूयणं णासंसति–ण पत्थेति, किंच–**अणासए जए दंते** अनाश्रवो अनाश्रयो वा, पुनरपि पठ्यते–अणासवे सदादंते सदा नित्यकाले दंते इंदियणोइंदिएहिं दंते, मूलत्तरगुणेसु मूलगुणधारी गरीयस्त्वाद् गृह्यन्ते **'आरतमेहुणे'** उपरतमैथुन इत्यर्थः, णीवारे च ण लीएज्जा ॥ ६१७ ॥ सिलोगो, णिकरणं दण्डः दण्डस्थानमेतद् व्यवसानं बन्धनस्थानं च इत्यतः तत्र स्थानं न लीयते–विकारितां न लभेज्ज, छिन्नसोए सोतं प्राणातिपातादीन्द्रियाणि वा

महावीरत्वादि

॥३००॥

रागादयश्च 'अणाइले'ति, अणातुरेण छिन्दियव्वं, पुणरपि उच्यते च 'अणाइले' स एवमनाकुलः सदा दान्तः, संध्यते सन्धिः, भावसंधिर्मानुष्यं कर्मसन्धिः कर्मविवरः ज्ञानादीनि च, भावसन्धिः प्राप्तः अणेलिसं योगत्रयकरणत्रयेण 'अंतरा' इति यावत्कर्मंतो भवन्तो वा, एवंविधो वा से हु चक्खु लोगस्सिह ॥६२०॥ सिलोगो, स भव्यमनुष्याणां चक्षुर्भूतः, यः किं करोति ?, जे कंखाय करेंति अंतगं, कांक्षानाम प्रार्थना कामभोगयोः, अंताणि च सेवंति, स्यात्को गुणः ? इत्यतः पुनः पठ्यते—अंतेण खुरो वहती, अंतेनेति धारया, नान्यतः, चक्कं अंतेण लुट्टति, चक्रमप्यन्तेन लोट्टति, इयमर्थसंकलिका, अंताइं आरामोद्यानानि वसत्यर्थं अंतप्रान्तभूतानि, आहारार्थं कर्माश्रयाँश्च न सेवन्ते, न तेषु वर्तन्ते इत्यर्थः, तेनैव प्रांतसेवित्वेनायतचरित्तकर्मोऽन्तकरा भवन्ति, इह धर्मे, स्यादिदं—धर्मान्तमासाद्य कुत्रान्तकरा भवन्ति ?, उच्यते, इह माणुस्सट्ठागे मनुष्यभवे, अथवा स्थानग्रहणात्कर्मभूमिः गब्भवक्कन्तियसंखेज्जवासाउयत्तं च गृह्यते, धर्ममाराधका नाम अंतधर्मं च आराधयंति तमाराध्य। णिट्ठियट्ठा व देवा वा ॥६२२॥ सिलोगो, 'ऋ गता' वित्यस्यार्थो भवति, संसारार्थः कर्मार्थः विषयार्थ इत्यादि, णिट्ठियट्ठा, निष्ठानं च येषां ज्ञानादयोऽर्थागताः ते भवंति णिट्ठियट्ठा, सिद्ध्यन्त इति, तदभावे देवा, उत्तरीयं तित्थगरसगासाओ तच्चत्थो योच्यते, इदं चान्यत् 'सुयं च मएमेगेसिं' च अनुकर्षणे, एवं मया श्रुतं, यदुक्तं साधवः सिध्यन्ति, अणुत्तरा वा भवन्ति', इदं च श्रुतं 'अमाणुस्सेसु णो तहा' अमनुष्या तिस्रो गतयः न तास्वन्तं कुर्वन्ति यथा मनुष्येषु, शाक्या वा ब्रुवंति 'अनागामिनो देवा भवन्ति, ते हि देवा अनागत्यान्तं कुर्वन्ति, अस्माकं तु नो अनागत्यान्तं कुर्वन्ति इत्यतः तद्व्युदासार्थं अमणुस्सेसु नो तहा यथा अन्येषामिति वाक्यशेषः, अथ न यथाऽमनुष्येषु सर्वनिर्जरा भवति नो तहा अमाणुस्सेसु तेसु देसणिज्जरा न भवति, उक्तं हि—सर्वोऽपि संसा-

रान्तः स्यात्, किं तत् ?, जं अमणुस्सेसु णो तहा भवति, उच्यते–अंतं करंति दुक्खाणं ॥ ६२३ ॥ सिलोगो, अमनमन्तः, दुःखानि कर्म्माणि, इहेति इह प्रवचने, एकेषां न सर्वेषां, अस्माकमेव हि तमाख्यातं, किंच आघातं पुण एगेसिं आघातमाख्यातं, पुनर्विशेषणे, नान्येषां, एके वयमेव, किमाख्यातं ?, दुल्लभेयं समुस्सए समुच्छ्रीयते इति समुच्छ्रयः–शरीरं, समुच्छ्रितानि वा ज्ञानादीनि, किंच–इतो विद्धंसमाणस्स अंतं करंति दुक्खाणं सिलोगो, अत इति इतो मनुष्यात्, विद्धंसमाणो विद्धत्थे, धर्माद्धि विद्धंसमाणस्स उक्कोसेण अवड्ढेण पोग्गलपरियट्टेणं बोधी लब्भति, माणुस्संपि उक्कोसेणं असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, आवलियाए असंखेज्जइभागेणं, किंच—दुल्लभाओ तहच्चाओ अर्चा लेश्या, तहेति तेन प्रकारेण तथा अर्चा येषां ते इमे तथा वा तीर्थकरा विसुद्धार्चा, अथवा यथा प्रतिपत्तौ लेश्या चात्यन्तं भवति, दुल्लभा वड्ढमाणपरिणामा अवट्ठितपरिणामा वा इत्यर्थः, धर्म एवार्थः परं शोभनं, तद्यथा मोक्षो मोक्षसाधनानि च, अपरमशोभनं मिथ्यादर्शनाविरत्यज्ञानादि, धर्मार्थस्य विदितं परापरं ये ते दुर्लभा धम्मट्ठी विदितपरा, के ते ?–जे धम्मं सुद्धमक्खंति ॥६२५॥ सिलोगो, सुद्धं निरुपहं आख्याति चानुचरंति च, पडिपुण्णं नाम सर्वतो विरतं पडिपुण्णं अहाख्यातं चारित्तं, अणेलिसं अतुल्यं, न कुधर्मज्ञानादिभिस्तुल्यं तमनेलिसं, आख्यान्ति चानुचरन्ति च तस्यातुल्याचारस्य कुतो जन्मकथा भवति ?, ज्ञातौ वेति, अथवा कथास्वपि तस्यां जन्मकथा नास्ति, अत एवोच्यते–कओ कयाइ मेधावी ॥६२६॥ सिलोगो, कुत इति कुतस्तस्य अनिधनस्याबीजाङ्कुरवत् कदाचिदिति सव्वमनागतकालं उप्पज्जतित्ति न पुनरुत्पद्यते मनुष्यत्वेनान्यतरेण वा जन्मना, तच्चा(हा)गता अथाख्यातीभूता, मोक्षगतौ वा के तथागता ?, उच्यते–तथागता ये ( ग्रन्थाग्रं ६४०० ) अप्पडिण्णा तीर्थकरा, चग्रहणात् केवलिणो गणधराश्च, अपडिण्णा अप्रतिज्ञा,

अनाशंसिन इत्यर्थः, परं आत्मनश्चक्षुर्भूता देशकाः, अनुत्तरा ज्ञानादिना, स्यात्केनैतदुक्तं ?, उच्यते–**अणुत्तरे य ठाणे से** ॥६२७॥ सिलोगो, ठाणं–आयतनं चरित्तट्ठाणं, काश्यपगोत्रेण वर्द्धमानेन, तस्य किं फलं ?, उच्यते, **जं किच्चा णिव्वुडा एगे, णिव्वुडा उवसंता, निट्ठानं निट्ठा तं णिट्ठाणं, पण्डिता, पापाङ्गीनः पण्डितः, अनेके एकादेशे पंडिए वीरियं लद्धुं** ॥६२८॥ सिलोगो, पंडियं वीरियं संयमवीरियं तपोवीरियं च लब्ध्वा कर्मनिर्घातनाय प्रवर्त्तते, केणायं ?, चारित्रेण, **धुणे पुव्वकतं कम्मं**, तपसा धुनाति पूर्वकृतं कर्म्म, संयमेन च न नवं कुरुते, संयतात्मा तु सन् न कुर्वति **महावीरे** ॥६२९॥ सिलोगो, णाणवीरियसंपन्नो, अणुपुव्वकडं णाम मिच्छत्तादीहिं, **संमुहीभूताः** उत्तीर्णा इत्यर्थः, **कम्मं हेच्चाण जं मतं** कर्म हित्वा क्षपयित्वेत्यर्थः, जं मतंति यन्मतं यदिच्छन्ति सर्वसाधुप्रार्थितं, स्यात् किं तत् ?, उच्यते, **जं मतं सव्वसाधूनां** ॥६३०॥ सिलोगो, यत्सर्वसाधुमतं तदिदमेव णिग्गंथं पावयणं, सर्वकर्मशल्यं कृतन्ति छिनत्तीत्यर्थः, **साधइत्ताण तं तिन्ना** यदाराधित्वेत्यर्थः, णवविहाए आराहणाए तिण्णा संसारकंतार, सावसेसकम्माणो वा देवा वा अभविंसु, ते तीर्णा इत्यतिक्रान्तकाले निर्वृत्ता, देवाश्च, अभविष्यन्नित्यतिक्रान्त एवमभविष्यन् उच्यते, **अभविंसु पुरा वीरा** ॥६३१॥ सिलोगो, विराजन्त इति वीराः साम्प्रतं तरंति देवा वा भवन्ति, अनागते व्यपदिश्यते **आगमिस्सावि सुव्वता** तरिष्यन्ति देवा वा भविष्यन्ति, के ते ?–**दुन्निबोहस्स मग्गस्स नियतं निश्चितं दुःखं** निर्वोध्यते दुर्णिबोधः ज्ञानादिमार्गः अंतं पाउकरा अमनमंतः प्रादुष्कुर्वन्तीति, तरमाना तीर्णा इति ॥ **पनरसमं आदानीयं वा जमइयमज्झयणं समत्तं** ॥

गाहाज्झयणस्स चत्तारि अणुओगदारा, अधिकारो अह गंथेण पिंडगवयणेणं, जं पणरससुवि य अज्झयणेसु भणितं सव्वं इहं



॥३०३॥

अस्य पृष्ठे षोडशमं अध्ययनं आरभ्यते

सूइज्जइ, णामणिप्फण्णे एगपदं गाहत्ति, णामं ठवणा ॥ १३० ॥ गाथा, पत्तयगाधद्धं, वतिरित्ता दव्वगाहा पत्तयपोत्थगलिहिता जहा 'वीर! वसभभमराणं कमलदलाणं चउण्ह णयणाणं। मुणियविसेसा अत्थी अच्छीसु तुमं रमइ लच्छी ॥१॥' अथवा इमा चेव गाथा यस्मिन्नेव पत्रे पुस्तके वा लिखिता, होति पुण भावगाहा ॥ १३८ ॥ गाहासु उवओगो सागारोवयोगोत्तिकाऊण खओवसमियं सव्वं सुतंतिकाऊण खओवसमियणिप्फण्णा, सा पुण मधुराभिधानजुत्ता, चोयंतो वा पुच्छंतो वा परियट्टंतो वा गायतीति गीयते वा गाथा, अस्या निरुक्तिः गाथीकताव अत्था ॥ १३९ ॥ गाथा, ग्रथ्यत इत्यर्थः, अथवा सासुद्दएण छंदेणं एत्थं होति गाथा एसो अन्नोवि पज्जाओ पण्णरससु अज्झयणेसु पिंडितत्था अवितहं इहं सूयंती, तंमि एवं पिंडियवयणेण गाथीकते अत्थे जतितव्वं घडियव्वं गंतव्वं च, तेण पंथोवदेसणा, ततो गाथासोलसमे अज्झयणे ॥ १४१ ॥ गाथा, एवमेतेसुवि सोलससुवि गाथासोलसएसु यथोक्ताधिकारिकेषु अणगारगुणा वर्ण्यंते अगुणांश्च दर्शयति(त्वा)प्रतिषेध्यन्ते येन तेषां षोडशानामध्ययनानां गाथासोलसमीति तेनोच्यते गाथापोडशानि, णामणिप्फण्णो गतो। सुत्ताणुगमे सुत्तमुच्चारेयव्वं, 'अहाह भगवं' सूत्रं, अथेत्ययं मङ्गलवाची, आनन्तर्ये च द्रष्टव्यः, यदिदं प्रागुदितानां पञ्चदशानामध्ययनानामनन्तरे वर्तते, आदौ मंगलं वुज्झेज्जत्ति, इहाप्यथशब्दः, अन्तेन सर्वमङ्गल एवायं श्रुतस्कन्धः, भगवानिति तीर्थकरः, एवमाह–जे एतेसु पण्णरससु अज्झयणेसु साधुगुणा वुत्ता तेसुवि जहावत्थितो, तत्थ पढमज्झयणे ससमयपरसमयविऊ संमत्तावत्थितो बितियज्झयणे णाणादीहिं विदालणीएहिं कम्मं विदालंतो ततिए जहाभणिते उवसग्गे सहमाणो तत्थविह इत्थीपरीसहो गरुउत्ति तज्जयकारी चउत्थे पंचमे णरगवेदणाहिंतो उव्विग्गमाणो तप्पओगकम्मचयरित्तो छट्ठे जहा भद्दारएण जतितं एवं जयमाणो, भविय 'तित्थयरो सुरमहिओ चउणाणी

१६ अध्ययनं

॥२०४॥

सिज्झितव्वय धुवंमि। अणिगूहियबलवीरिओ तवोवहाणेसु उज्जमति ॥ १ ॥ किं पुण अवसेसेहिं दुक्खक्खयकारणा सुविहिएहिं। होइ ण उज्जमियव्वं सपच्चवायंमि माणुस्से ? ॥२॥ सत्तमे कुसीलदोसे जाणेंतो ते परिहरेंतो सुसीलोवचिओ अट्ठमे पंडितविरिय- संपण्णो णवमे धम्मे भणितं धम्ममणुचरंतो दसमे संपुण्णसमाधिजुत्तो एक्कारसमे संमं भावमग्गमावण्णो बारसमे कुतित्थियदरि- सणाणि जाणमाणो असद्दहंतो तेरसमे सिस्सगुणदोसविद् सिस्सगुणे णिसेवमाणो चोद्दसमे पसत्थभावगंथभावितप्पा पण्णरसमे आयातचरित्तावत्थितः एवंविधे भवति। दंते दविए वोसट्ठकाएत्ति वच्चे, तत्थ दंतो इंदियणोइंदियदमेणं, इंदियदमो सोइं- दियदमादि पंचविधो, णोइंदियदमो कोहणिग्गहादि चतुव्विधो, दविए रागदोसरहितो, वोसट्ठकाएत्ति अपडिकम्मसरीरो उच्छू- ढसरीरेत्ति वुत्तं होति, एवंविधो वाच्यः **माहणेत्ति वा समणेत्ति वा भिक्खुत्ति वा** मा हण सव्वसत्तेहिं भणमाणो अहण- माणो य माहणो भवति, मित्तादिसु समो मणो जस्स सो भवति समणो, अथवा 'णत्थि य से कोइ वेसो पिओ वा०''भिद दारणे' क्षु इति कर्मण आख्या तं भिंदंतो भिक्षुर्भवति, वज्झब्भंतराओ गंथाओ णिग्गतो णिग्गंथो, एवमेते एगट्ठिया माहणणामा चत्तारि, वंजणपरियाएण वा किंचि णाणत्तं,'अत्थो पुण सो चेव, पडियावुज्झंति' सिलोगो, सिस्सो पडिभणति आयरियं, पुच्छितित्ति वुइयं होति, अथवा आहुः गणधराः–भंते! त्ति भगवतो तित्थगरस्स आमंतणं, कथं दंते दविए ?; कथमिति परिप्रश्ने, कथमसौ पण्ण- रसज्झयणेसुवि दंते दविए वोसट्ठकाए स वाच्यः, माहणेत्ति वा तं णो ब्रूहि महामुणी! तदिति तक्कारणं ब्रूहि भो महामुने!, एवं पुच्छितो भगवं पडिभणति–**इति विरए सव्वपावकम्मे** इति एवंविधेण पगारेण जे एते अज्झयणेसु गुणा सुता तेहिं जुत्तो विरतसव्वसावज्जकम्मो सव्वसावज्जजोगविरतोत्ति भणितं होति, अथवा विरतसव्वपावकम्मोत्ति सुत्तेण एतदेव भणितं, तंजहा–

अशेषाध्ययनार्थः दान्ताद्यर्थः

॥३०५॥

पिज्जदोसकलहअब्भक्खाणपेसुण्णपरपरिवादअरतिरतिमायामोसं, णत्थि मिच्छादंसणसल्ले, तत्थ पेज्जं–पेमं रागोत्ति भणितं होति, दोसो अप्रीति, कलहो विग्गहो सपक्खे परपक्खे वा, अब्भक्खाणं असब्भूताभिनिवेसो यथात्वं इदमकार्षीः, पेसुण्णं करेति पिसुणो, पर परिवदति दुस्सीलादीहिं, अरती धम्मे अधम्मे रती, मायामोसं मायासहियं सदनृतं, मिच्छादंसणं–'णत्थि ण णिच्चो ण कुणति कतं ण वेदेति णत्थि णिव्वाणं। णत्थि य मोक्खोपायो छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥१॥ एतं सल्लं मिच्छादंसणसल्लं, एवमादीसु पावकम्मेसु जो विरतो सो विरतसव्वपावकम्मे, ईरियादीहिं समितो, णाणादीहिं सहितो, सदा सव्वकालं, 'यती प्रयत्ने' सर्वकालं प्रयत्नवानिति, णो कुज्झेज्जा ण माणं करेज्ज, एवंविधो गुणजुत्तोसऽवीन्ने हिंसत्थमुग्घाडेहिं उवदिस्सति माहणेत्ति वचो, भणति–श्रमणगुणप्रसिद्ध उपदिशंतो, एत्थवि समणे य एते पापकर्मविरताद्या माहणगुणा वुत्ता जाव माहणेत्ति, एत्थं पुण ठाणे समणोवि वचो अनेन सूत्रेण, इमे चाग्रे, तंजहा–अणिस्सिते अणिदाणे अणिस्सितेत्ति सरीरे कामभोगेसु य, अणियाणत्ति ण णिदाणं करेंति, आदाणं च येनादीयते तदादानं, रागद्वषौ हि कर्मादानं भवति,'अतिवातं च' आयुःप्राणा इंदियप्राणा एभ्यः विजोएति अतिपात इत्यर्थः, 'बहिद्धं' मैथुनपरिग्रहौ, एगग्गहणे सेसाणवि मूसावादादत्तादाणाणं गहणं कतं भवति, उक्ता मूलगुणाः, उत्तरगुणास्तु 'कोहं च माणं च मायं च लोहं च पिज्जं च दोसं च, इच्चेवं जओ जओ आदाणाओ, इति एवं इच्चेवं, जओ प्राणातिपाततः मृषावादाद्वा आत्मनः प्रद्वेषहेतून् पश्यति तस्माद्, आदानं कर्महेतुरित्यर्थः,'पुव्वं पडिविरते'त्ति, पूर्वमादानं चेव, ततो विरतो भावप्राणातिपातवेरमणमनुवर्त्तते, एकग्गहणेन मृषावादादिविरतोवि, स एवं भवति(सिआ) दंते इंदियदमेणं, दविओ रागद्वेषरहितो, वोसट्ठकाए, गच्छवासी गच्छनिर्गतः 'समणे' इति वाच्यः, भिक्षुरिदानीं, एत्थंपि भिक्खू इमो वाच्यो, तंजहा–अणु-

विरताद्यर्थः

॥३०६॥

णणओ णावणते ण उण्णते अणुण्णते, उण्णओ णामादि चतुर्विधो, दव्वुण्णतो जो सरीरेण उण्णतो, भावुण्णतो जात्यादिमदस्तब्धो, एवं स्यात् अवनतोऽपि शरीरे भजितः, भावे तु दीनमना न स्यात्, अलाभेन च ण मे कोइ पूयतित्ति णो दीनमणो होज्जा, 'दंते दविए वोसट्ठकाए' पूर्ववत्, 'संविधूणिय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे'ति, एगीभावेण विधुणीय संविहुणीय, विरूवरूवेत्ति अणेगप्पगारे बावीसं परीसहे दिव्वाई सउवसग्गे 'अज्झप्पजोगसुद्धादाणे' अध्यात्मैव योगः अध्यात्मयोगेन शुद्धमादानं इति अज्झप्पजोगसुद्धादाणे 'उवट्ठिते' सयमुट्ठाणेणं ठितप्पा णाणदंसणचरित्तेहिं 'संखाए' परिगणेंतो गुणदोसे 'परदत्तभोइ'त्ति परकडपरणिट्ठितं फासुएसणिज्जं भुंजतित्ति, एवंविधो अट्ठविधकम्ममेत्ता भिक्खूत्ति वच्चे। इदाणिं णिग्गंथो—एत्थवि णिग्गंथो जह दिट्ठेसु ठाणेसु वट्टति, तेवि य समणमाहु भिक्खुणो णिग्गंथं, किंच णाणत्तं ?, एगो एगविऊ, एगे दव्वओ भावओ य, जिणकप्पिओवि दव्वेगोवि भावेगोवि, थेरो भावओ एगो, दव्वओ कारणं प्रति भाज्य इत्यादि, एगविऊ एकोऽहं न च मम कश्चित्, अथवा 'एगे'त्ति एगचिई, एगंते दिट्ठी, इणमेव णिग्गंथं पावयणं नान्यत् 'बुद्धि'त्ति धम्मो बुद्धो, सोताइं कम्मासवाइं दाराइं ताइं छिण्णाइं जस्स सो छिण्णसोतो, लोगेवि भण्णइ—छिण्णसोता ण दिन्ति, सुट्ठु संजुत्ते सुसंजुत्ते, सुट्ठु समिए सुसमिए, समभावः सामायिकं, सो भणइ—सुट्ठु सामाइए सुसामाइए, आतवादपत्ते विऊत्ति अप्पणो वादो अत्तए वादो २ यथा—अस्त्यात्मा नित्यः अमूर्त्तः कर्त्ता भोक्ता उपयोगलक्षणो य एवमादि आतप्पवादो, सो य पत्तेयं जीवेसु अत्थित्ति, न एक एव जीवः सर्वव्यापी एवं जणो, विदुः विद्वान्, दुहओत्ति दव्वओ भावओ य सोताणि इंदियाणि, दव्वतो संकुचितपाणिपादो, लोएसु कारणाणि सुणमाणोवि ण सुणति, पेच्छमाणोवि ण पेच्छति, भावतो इंदियत्थेसु रागं दोसं ण गच्छति, अतो दुहतोवि सोतपलिच्छिण्णो,



॥३०७॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता.....आगमसूत्र-[०२], अंग सूत्र-[०२] "सूत्रकृत" जिनदासगणि विहिता चूर्णि:

प्रत सूत्रांक ॥६३२-६३५॥

दीप अनुक्रम [६३२-६३२/२]

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३०८॥

णो पूयणट्ठी ण पूयासक्कारादि पत्थेति, पूइज्जमाणोवि ण सादिज्जइ, 'धम्मट्ठी' णाम धम्ममेव चेष्टते भाषते वा, नान्यत्, 'धम्मविऊ'त्ति सर्वधर्माभिज्ञः 'नियागं' णाम चरित्तं पडिवण्णो, समयं च सम्यगाचरन् 'दंते दविए वोसट्ठकाए णिग्गंथे'त्ति विज्जू विज्जुत्ति विद्वान्, सेवमाणाण व भयंतारो,'स' इति निर्देशः स माहणः समणः भिक्खू णिग्गंथेत्ति वा, एवमनेन प्रकारेण प्रयुक्तः आयागविभेयं गेण्हति, भयंतारो इहलोगादिभयात्त्रातारो, वेमित्ति अज्जसुहम्मो जंबुणामं भणति, भगवतो वद्धमाणसामिस्सुवदेसेण ब्रवीति, न स्वेच्छया इति, तंजहा—एगे एगविदू एगे दव्वतो भावओ, जिणकप्पिओ दव्वेगो भावेगोवि, थेरा दव्वतो कारणं प्रति भइया, एगविऊ एकोऽहं न मे कश्चित्, अथवा एगविदो एगदिट्ठी, ओहओ इणमेव निग्गंथं पावयणं, दुहतो दव्वतो भावतो य परिच्छिण्णो, ण पूयणट्ठी णाम पूयासक्कारादि पत्थेति, पूइज्जमाणोवि ण साइज्जइ पंचसमितिओ, धम्मट्ठी णाम धर्म एव आचेष्टते भाषते वा, भुंक्ते सेवते वा, नान्यत् प्रयोजन, धर्मविऊत्ति सर्वधर्माभिज्ञः नियाकं नाम चारित्रं तं पडिवण्णो, समिगत्ति सम्यक् चरेत्, दंते दविए वोसट्ठकाए, एवंगुणजातीए णिग्गन्थे विज्जा, विज्जेत्ति विद्वान् ॥ गाथाषोडशकचूर्णिः संमत्ता पढमो सुयक्खंधो सम्मत्तो ॥

**समत्तो पढमो सुयक्खंधो**

धर्मार्थित्वादि

॥३०८॥

**प्रथम-श्रुतस्कन्ध: समाप्त:**

***अथ द्वितिय्-श्रुतस्कन्ध: आरभ्यते

# सूत्रकृत् चूर्णिः

## [श्रुतस्कन्ध-२]

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥३०८॥

# आरब्धो बीईओ सुयक्खंधो

धर्मार्थि-त्वादि

गाहासालसगाइं खुड्डुलगाइं, महज्झयणाइं इमाइं, महत्तरियाइं महंति अज्झयणाइं, अहवा महंति च ताइं अज्झयणाइं च महज्झयणाइं, महं णिक्खिवितव्वं अज्झयणं च, महं छव्विहं, णामठवणाओ गयाओ, दव्वमहं सचित्ताइ, सचित्तं ओरालाइ; ओरालियं महा मच्छसरीरं जोअणसहस्सियं, वेउव्वियं जोयणसयसाहस्सिअं, तेआकम्माइं लोगंता लोगंतो, सचित्तमहं इलिका-गत्या केवलिसमुग्घाओ वा, अचित्तमहं लोकव्यापी अचित्तमहखंधो, मिसियं तस्सेव च मच्छसरीरस्स देशे उवचितो, खेत्तमहं

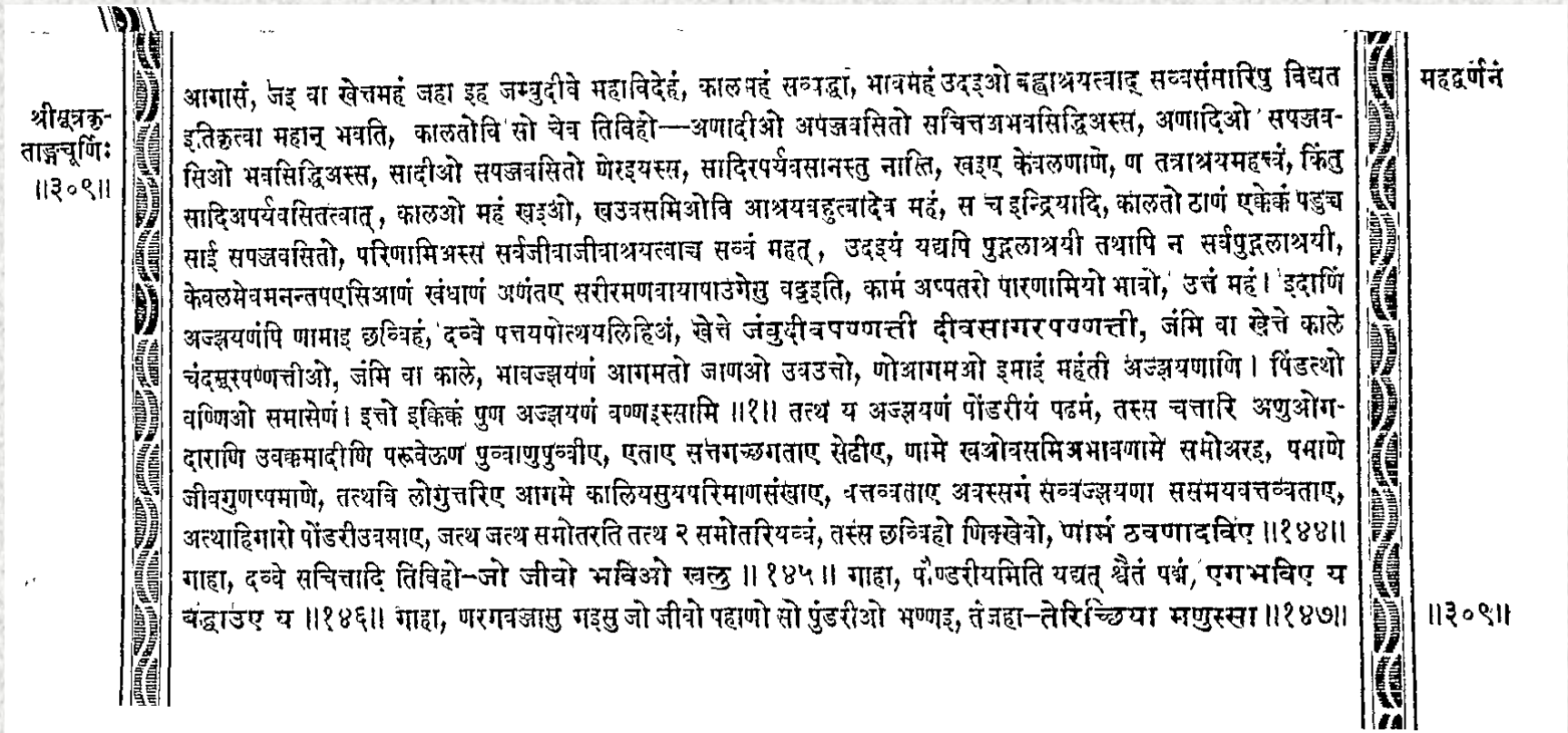
॥३०८॥

## अथ द्वितिय्-श्रुतस्कन्ध: आरभ्यते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता.....आगमसूत्र-[०२], अंग सूत्र-[०२] "सूत्रकृत" जिनदासगणि विहिता चूर्णि:

प्रत सूत्रांक [१-१५]

दीप अनुक्रम [६३३-६४७]



श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३०९॥

आगासं, जइ वा खेत्तमहं जहा इह जम्बुदीवे महाविदेहं, कालमहं सव्वद्धा, भावमहं उदइओ बह्वाश्रयत्वाद् सव्वसंसारिषु विद्यत इतिकृत्वा महान् भवति, कालतोवि सो चेव तिविहो—अणादीओ अपज्जवसितो सचित्तअभवसिद्धिअस्स, अणादिओ सपज्जवसिओ भवसिद्धिअस्स, सादीओ सपज्जवसितो णेरइयस्स, सादिरपर्यवसानस्तु नास्ति, खइए केवलणाणे, ण तत्राश्रयमहत्त्वं, किंतु सादिअपर्यवसितत्वात्, कालओ महं खइओ, खउवसमिओवि आश्रयबहुत्वादेव महं, स च इन्द्रियादि, कालतो ठाणं एक्केकं पडुच्च साई सपज्जवसितो, परिणामिअस्स सर्वजीवाजीवाश्रयत्वाच्च सव्वं महत्, उदइयं यद्यपि पुद्गलाश्रयी तथापि न सर्वपुद्गलाश्रयी, केवलमेवमनन्तपएसिआणं खंधाणं अणंतए सरीरमणवायापाउग्गेसु वट्टइति, कामं अप्पतरो पारणामियो भावो, उत्तं महं। इदाणिं अज्झयणंपि णामाइ छव्विहं, दव्वे पत्तयपोत्थयलिहिअं, खेत्ते जंबुदीवपण्णत्ती दीवसागरपण्णत्ती, जंमि वा खेत्ते काले चंदसूरपण्णत्तीओ, जंमि वा काले, भावज्झयणं आगमतो जाणओ उवउत्तो, णोआगमओ इमाइं महंती अज्झयणाणि। पिंडत्थो वण्णिओ समासेणं। इत्तो इक्किक्कं पुण अज्झयणं वण्णइस्सामि ॥१॥ तत्थ य अज्झयणं पोंडरीयं पढमं, तस्स चत्तारि अणुओगदाराणि उवक्कमादीणि परूवेऊण पुव्वाणुपुव्वीए, एताए सत्तगच्छगताए सेढीए, णामे खओवसमिअभावणामे समोअरइ, पमाणे जीवगुणप्पमाणे, तत्थवि लोगुत्तरिए आगमे कालियसुयपरिमाणसंखाए, वत्तव्वताए अवस्सगं सव्वज्झयणा ससमयवत्तव्वताए, अत्थाहिगारो पोंडरीउवमाए, जत्थ जत्थ समोतरति तत्थ २ समोतरियव्वं, तस्स छव्विहो णिक्खेवो, णामं ठवणादविए ॥१४४॥ गाहा, दव्वे सचित्तादि तिविहो—जो जीवो भविओ खलु ॥ १४५ ॥ गाहा, पौण्डरीयमिति यद्वत् श्वेतं पद्मं, एगभविए य बद्धाउए य ॥१४६॥ गाहा, णरगवज्जासु गइसु जो जीवो पहाणो सो पुंडरीओ भण्णइ, तंजहा—तेरिच्छिया मणुस्सा ॥१४७॥

महद्वर्णनं

॥३०९॥

अथ द्वितिय्-श्रुतस्कन्धस्य प्रथमं अध्ययनं आरभ्यते

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥३१०॥

गाहा, तिरिच्छएसु वा जलयर थलयरा खयरा ॥१४८॥ गाहा, जलचरेसु मच्छादि जे पहाणवण्णादिजुत्ता, थलचरेसु सिंघाद्या ये च वण्णरूवादिजुत्ता, परिसप्पेसु फणि मणिरूवादिगुणजुत्ता, उरःपरिसर्पेषु सर्पाः भुअपरिसप्पेसु मंडुगादी दरिसणता रूवतो य पसत्था, खयरेसु दंसणरूवसराइपसत्था हंसमयूरा कोकिलाइ, मणुस्सेसु अरहंतचक्कवट्टी ॥ १४९ ॥ गाहा, देवेसु भवणवइ ॥१५०॥ गाहा, एवमार्यादि, सव्वेसिं एतेसिं पहाणाओ पोंडरीया, वुत्ता सचित्तदव्वपोंडरीया, कंसाणं दूसाणं ॥ १५१ ॥ गाहा, मिस्सगचित्ताणं पहाणाणं देसा उवचिता अवचिया, अहवा समोसरिता 'उज्जलालंकारविभूसिया अरहंतचक्कवट्टिमादी, क्षेत्र-पोंडरीआ खेत्ताइं जाइं ग्वलु ॥१५२॥ गाहा, कालपोंडरीआ जीवा भवट्ठितीए ॥१५३॥ गाहा, भवट्ठितीए देवा अणुत्तरो-ववाइया, कायट्ठितीए मणुस्सा सुहकम्मसमायारा सत्त भवग्गहणाणि सत्तट्ठ भवाणि वा, तद्भवे मोक्खं प्राप्तस्य सप्त, अप्राप्तस्याष्टौ, अणुपरिअट्टितुं असंखेज्जवासाउएसु उववज्जंति ततो देवलोगं, तिरिक्खजोणिएसु च जे पतणुकम्मा, 'परिकम्म रज्जु रासी ववहारे तह कलासवण्णे य। पोग्गल जावं तावं घणे य घणवग्ग वग्गे य ॥१॥' गणिते विशेषाः सर्वे, तत्थ रज्जुगगणितं पोंडरीयं, संठाणे चउरंसं संठाणं पोंडरीयं, एतेसिं विवरीया कण्डरीआ, भावपोंडरीए–ओदइए उवसमिए ॥ १५५ ॥ गाहा, ओदइए य भावे पहाणे अणुत्तरोववाइया तित्थगरसरीरं वा, उवसमिए उवसन्तमोहणिज्जा, खइए केवलणाणिणो, खओवसमिए चउदसपुव्वी पर-मोही विपुलमई, पारिणामिए भवसिद्धीआ, उक्ता भावपोंडरीआ, शेषाः कंडरीयाः ये अप्रधानाः। अहवावि णाण ॥१५६॥ गाहा, णाणे मइणाणपहाणा जे उप्पत्तिआइमइजुत्ता, सुत्ते चउदसपुव्वी, ओहिणाणे परमोही, मणपज्जवनाणे विपुलमई, सव्वेसिं वा केवलं, दंसणे खाइए, विरतिएवि खाइए, विणए अब्भुट्ठाणादिवियणजुत्तो जो अणासंसी अज्झप्पे परमसुकज्झाई, उक्ता पोंड-

महद्वर्णनं

॥३१०॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३११॥

रीया, एत्थं पुण अहिगारो ॥१५७॥ गाहा, दव्वपोंडरीएण, तत्थवि सचित्तदव्वे गिण्हिअ वणस्सइकाइअजलरुहपउमवरपोंडरिएणाहिगारो, भावंमि अ समणेणं, कयरेणं समणेणं ?, जो सो खाइअणाणदंसणचरित्तविणयऽज्झप्पजुत्तो, वुत्ता णिक्खेवणिज्जुत्ती। इदाणिं सुत्तफासिअणिज्जुत्ती, अणुचरित्ते चेव सुत्तिअप्पा च कासइ वा उवुच्चइ 'उवमाइ पोंडरीए' गाहा, वण्णगुणोवचएण तस्स णिप्फत्ती, अहवा मूलाइं तदंगोवचएण, एयस्स दिट्ठंतस्स को उवसंहारो ?, जिणोवदेसणा सिद्धित्ति अहिगारो, स्यात् कथं सिद्धिं गच्छंति ?, उच्यते-'सुरमणुअ' गाहा, उवगाणाम असंजया जीवा, चउण्हं गईणं उवगा भवंति, पभू चरित्तेण उवगा चरित्तं, तेण वा सिज्झइ, ते इमे मणुस्सा चेव, मणुस्सेसु अहिगारो, ते चेव महाजणणेतारो भवंति आश्रयणीया इत्यर्थः, तेसु विसेसेण रायाणो, तेसु विसेसेण चक्कवट्टिनः, तंमि गाहिते प्रायेण सर्वलोको ग्राहितो भवति, उत्तमप्रहता मार्गाः सुखमितरो जनः प्रपद्यते, किंचान्यत्-' अवि दुस्साहियकम्मा ' गाहा उक्कोसकालट्ठितीपओगेवि णेरइआउगणिव्वत्तीए आउयसंबद्धे, जिनोपदेशात् संबोहिं लद्धुं केइ तेणेव भवेण सिज्झंति, ते अबंधमोक्खा, पडुपन्नाणागते अमणुएहिं अहियारो, सा य पोक्खरणी दुरोगाहा, कहं ?—'जलकद्दमाला' गाहा, जलमगाहं कद्दमोवि अगाहो, कलंबुगावच्छिमाईउ वल्लीओ, पउमाणि उप्पलसंठाणा, जंघाहिं वा बाहाहिं वा, विज्जा केवलणाणविज्जा, सुत्ताणुगमे सुत्तं उच्चारेयव्वं अस्खलितादि, 'सुअं मे आउसं तेण' (सू० २) इत्यादि, श्रुतं मया आउसंतेणेत्यत्र चत्वारः प्रकाराः, इह खु अस्मिन् प्रवचनेसु वा, सूअगडस्स वावित्ते, एसुत्ति खंधो, पोंडरीएण उवमा अतः पुण्डरीकाध्ययनं आदाणपदेण वा पोंडरीअं, से जहाणामए पोक्खरणी पोक्खरं णाम पउमं, पुष्कराण्यस्यां संतीति पुष्करणी, सिआ, बहुदगा आतीरभरिता, सीदंति तस्मिन्निति स्वेदः पङ्क इत्यर्थः, पुष्करिण्यर्थं उपलब्धो यया सा लद्धत्था,

महद्वर्णनं

॥३११॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३१२॥

कथार्थः १, प्रसन्नोदकाः, पुष्करादिजलजोघसोभिता, पुष्करन्ते विमए, विसेसिआइं पोंडरीआइं तस्यां सन्तीति पोंडरीणिणी, तैरेव स्वगुणैः चक्षुष्मतां मनसः प्रसादं जनयतीति प्रासादिका, दट्ठव्वा दरिसणिज्जा, अभिमतरूपा प्रतीतरूपा प्रतिरूपा, तत्थ तत्थत्ति जाव जलं पंको अ, देशे देशे तद्देशः तहिं २ जत्थ एगं तत्थ अण्णाणिवि, अणुपुव्विट्ठिता, पंकादुत्तीर्य जलमतिक्रम्य स्थिता, उस्सिता जलतला दूरमतिक्रम्य उस्सिता, रोयन् चक्षुषः,यदितरो वर्ण एषां श्वेतोऽस्तीति वर्णवंतः,गन्धाः सुरभिः,जत्थ गंधो तस्स रसोवि,फासं, स्वेदः कोमलः, वण्णमंतादिग्रहणात् नातिक्रान्तवयाः, अजढरा इत्यर्थः, तीसे(णं)पोक्खरिणीए बहुमज्झदेसभाए एगे महं पउमे प्रधानत्तं गृहीतं, अणुपुव्विए जाव पडिरूवे। सव्वावंति च णं तीसे पोक्खरिणीए ते बहवो०, सव्वावंतित्ति सर्वाण्येव मृगालनालपत्रकेसरकर्णिकार्किंजल्कैरुपेतानि, अणुपुव्वेण पत्ताइं जहा आतट्ठा उस्सिताणि जाव पडिरूवाणि, अहवा सव्वावंति सव्वाणि चेव पउमवरपोण्डरीयाणि, अणुपुव्वियाणि जाव पडिरूवाइं, सव्वावंति च णं एगे पउमवरपोंडरीए जाव पडिरूवे, जुत्ता पोक्खरिणीए, तत्प्रयोजनं तु अह पुरिसे पुरित्थिमाओ दिसाए तीरे ठिच्चा एवं वदासी आत्मसम्भावितत्वात् अहमस्मि पुरुषः देशज्ञः कालज्ञः क्षेत्रज्ञः, देशो येन यथा च तीर्यते, कालः दिवसो, कुशलो दक्षः, प्लवने उत्पतने च उत्पाटने च पण्डितः, उपायज्ञः तरितुं ग्रहीतुं पुनरुत्तरितुं च, विअत्ते वयसा वक्तव्यः अपोडशकः, मेधावित्ति आशुग्रहणधारणसंपन्नः अबालोऽवुड्ढो वा, व्यक्तबुद्धिर्वा, एगट्ठिताइं वा सव्वाइं एयाइं, तेसु २ कज्जेसु अधिकारित्वात्, मग्गण्णुत्ति मग्गविदू जेण उत्तरिज्जइ मग्गस्स गतिआगति जो जेण वा कालेण गम्मइ उत्तरणं च, परक्कम्मण्णू तरितुं जाणइ, अहं इह अहमेकः एतत्पौण्डरीकं समर्थः, उत्पाटयितुं च, उण्णिक्खिविस्सं उप्पाडेस्सं, इति वच्चा वइत्ता, अभिपुहं परक्कमे अभिपराक्रमेत्, यावत् अभिक्कमे तावत् महंते उदए

पद्मवर्णनं

॥३१२॥

आगाहे, सेतो–पंको सोवि अगाहो चेव, पुणवि केण पउमाणि संभवंति ?, जाव २ परिसंते, जाव २ सेते पादं छुभइ ताव २ खुप्पइ उदये सिग्गो हत्थे पादेवि छुभंतो अहिअतरं खुप्पति, पहीणे तीराओ भृशं हीनः प्रहीणः, तीरं अवगत इत्यर्थः, अपत्ते पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए मग्गे, ण तरंति पच्चुत्तरिउं परकूलं वा गंतुं पोंडरीयसमीवं वा उल्लंघेतुं, निवृत्ता कथा त्रोटने, अउत्तरा उदकतलमतिक्रम्य विसण्णे ते सेते खुत्ते पढमो पुरिसे। अहावरे दोच्चे (सू० ३) ॥ एवं चत्तारिवि। अह भिक्खू दुहे रागद्वेषरहितः तौ हि स्नेहभूतौ ताभ्यां कर्मादत्ते, जहा णेहत्थुप्प(तुप्पि)तगत्तस्स, रुक्खयरेण ण लगइ लग्गा वा पप्फोडिता पडइ, एवं वीतरागस्सवि कम्मा ण बज्झन्ति, संपराइअं, इतरं बंधइ जाव सजोगी, अजोगिस्स तंपि ण बज्झइ, संसारतीरट्ठी खेत्तण्णे व्रतसमितिकषायाणां, सव्वठाणपदाणि संजमोवाए समोतारेयव्वाइं, अण्णतरिओ दिसाओ, अणुदिसा अग्गेयादी, समोतारं वा पडुच्च अण्णतरीओ पण्णवगदिसाओ दसप्पगाराओ, भावदिसाओ वा अट्ठारसपगाराओ, पासंति ते चत्तारि ग्राहिणो तीए णो हव्वाए०, एतेहिं पुरिसेहिं एवं णाता वयं एवं पोंडरीयं उन्निक्खिस्सामो, न उवायमुपायाओ अंतरीयं, पोक्खरिणीए एवं उप्पाडेतव्वं, अयं तु विशेषः, अहमंसि खेयन्ने जाव उण्णिक्खिस्सामि इति वुचा णो अभिक्कमति तीसे पोक्खरिणीए, तीरे ठिचा सद्दं कुज्जा उप्पदाहि खलु भो पउमवर २, अह से उप्पतिते किट्टिते वण्णिते, कथिते इत्यर्थः, किमर्थं पुष्करिणीदृष्टान्तः कृतः ?, अथोऽस्य मर्यादया ज्ञातव्यः, भंते ! त्ति आमंत्रणं, अन्योऽन्यं समणा समणे वदंति, किट्टितं णायं–दिट्ठंतो, से किट्टिते भगवता, अम्हे पुण से अणुपसंहारितस्य अट्ठं ण आयाणामो, भगवान्–आयुष्मन् ! श्रमण इत्यामन्त्र्य उवाच, हंतेति संप्रेषे पृष्टोऽहं भवद्भिः, अहं त्वाख्यामि आइक्खामि, विभयामि किट्टेमि पवेदयामि, अट्ठं अयमेव पुष्करिण्यर्थः, यदर्थमुपेताः स्थः, सहेतुमिति हेतुः नास्ति जीवः शरीरा-

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३१४॥

दृष्टं वर्णादिरहितत्वादिति एतमादि हेतुः, किं कारणं—हेतुदृष्टान्तः, उक्तावित्यर्थः, यथा ते पुरुषा अप्राप्तप्रार्थिता विपन्ना एवं नश्यमाणा अन्नउत्थिया अपारगा संसारस्य, अभिप्रेतस्य वाऽर्थस्येत्युपसंहारकरणं, अथवा सर्वज्ञानां निरर्थिका वाक् न भवतीति सअट्ठं, एवं हेतुकारणे अपि, अथवा सह हेउणा सहेउ, एवं कारणेवि, अथवा स्वो हेतुः स्वहेतुः, एवं कारणंपि, सत् प्रशंसास्तिभावयोः, शोभनोऽर्थः सदर्थः, सद्धेतुः सत्कारणं वा, अथवा निमित्तं हेतुरुपदेशः प्रमाणं कारणमित्यनर्थान्तरं, लोगं च खलु मए अप्पाहट्टु मए लोगो अट्ठविहो, यथाप्ययमात्मा एवं लोकात्मा, तमट्ठविहं आहृत्य मया सा पुष्करिणी वुइता, अथवा आत्मना ज्ञात्वा मया पुष्करिणी दिट्ठंतो वुत्तो, नान्यतः श्रुत्वेत्यर्थः, कर्म उदगं, कामभोगा सेओ, कर्मोदयाद्धि कामसंगो भवति, कामसंगा वा पुनः कर्म्म ततो जन्म, पोंडरीयाणि पौरजणवया वड्ढपोंडरीयं राया, अण्णउत्थिया ते पुरिसा, धम्मो भिक्खू, धम्मकहा सद्दो, णिव्वाणं उप्पतो, सर्वस्मात्संसारादुत्तीर्य लोकाग्रे स्थानं, एवं च खलु मए णिव्वाणार्थं वुइतं, ताव संखेवेण पोक्खरिणीदिट्ठंतो समोतारितो, इदाणिं वित्थारिज्जइ, उक्तं हि-पुव्वभणितं हि०, इह खलु पाइणं वा०, इह मणुस्सलोगे पण्णवगं पडुच्च संति-विज्जंते एगतिया ण सव्वे, अभिगिहीतमिच्छादिट्ठीणो भवंति, उपलक्षणत्वादनभिगृहीता अपि, के ते ?, आर्या अपि खेत्तादिआयरिया, तव्वइरित्ता अणारिया, इक्किका उच्चागोअणिच्चागोआ, जच्चातिएहिं मतट्ठाणेहिं जुत्ता उच्चागोता, तेहिं विणा णीआगोआ, प्रांशवः कायवन्तः वामनकुब्जह्रस्ववंतो एक्केका पुणो सुवर्णा वेगे अवदाताः श्यामा वा वण्णमंता काला पिंगला वा दुव्वण्णा अथवा काला अपि स्निग्धच्छायावन्तस्तेजस्विनश्च सुवर्णाः, अवदाता अपि फरुसच्छविणो दुवण्णा, उक्तं हि-'चक्षुःस्नेहेन सौभाग्यं, दन्तस्नेहेन भोजनं। त्वक्स्नेहे परमं सौख्यं, नखस्नेहेऽशनादिकं ॥ १ ॥' सुवण्णा णामेगे सुरूवे भंगा एक्किका, सुरूवा दुरूवा

ओघात-उपनयः

॥३१४॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३१५॥

अहीनपंचिंदिया नातिथूरा नातिकृशाश्च सुरूपा, इतरे दुरूपा, अहवा ये चक्षुषो रोचंते ते सुरूवा, इयरे दुरूवा, तेसिं राया भवति, महंतग्रहणं महाहिमवंते, सक्को चेव मलयो वुचति, मंदरो सुमेरू, महिंदो सक्को, तत्थ हिमवंतमलया पचक्खा, दिट्ठंतो, मंदरमहिंदा परोक्खा, सारं स्थैर्यं, पर्वतानां औषधिरत्नसंपण्णा, महेन्द्रश्चापि धैर्यैश्वर्यविभवाकुलप्रसृतत्वादमर्यादां न करोति, अचंतविसुद्धपूर्वकमपि तस्स असकण्णा वर्णा, लक्षणसंपन्नो चिरंजीवी निरुपहतं च तस्य राज्यं भवति, मातुं पितुं सुजातं जहिच्छिते मणोरहे पूरयति, दयालू दाणशीलो वा, दयप्पत्तो, सीमा मर्यादाकारः, क्षेमं परचक्रादिनिरोधो सेऊ–पाली यथा सेतुं नातिवर्त्तन्ते अपि, एवं तत्कृतां मर्यादां नातिवर्त्तन्ते भृत्याः, केतुर्नाम ध्वजः, केतुभूतं स्वकुलस्य, आसीविसे सो जहा दृष्टमात्रमेव मारयति एवं अवकारिणो रिऊणो अ आशु मारयति, वग्घो अतीसयदढग्गाही य, पोंडरीयं प्रधानं, गंधहत्थी गंधेण णस्सति एवं तस्सवि, एवं तस्स सत्थबलं, सारीरं चतुरगं च, पच्चमित्ता सामंता दाईआ तक्करा डिंबं सचक्कं–रज्जखोभादि परचक्कं–परबलं, परिसयतीति परिसा, 'उग्गा भोगा राइण्ण खत्तिया संगहो भवे चउहा। आरक्खिगुरुवयंसा सेसा जे खत्तिया ते उ ॥ १ ॥' भट्टा जोधाः, ते तावद्भटत्वमप्राप्तवयत्वात् कुर्वन्ति ते भट्टपुत्राः, एवं सर्वत्र, लेखकाः धर्मपाठका, रक्षका रसकाद्या, प्रशस्तानि कुर्वन्तीति प्रशस्तारो, लेच्छवि कुलं लिच्छाजीविणो वा वणिजादि, माहणा जेसिं अण्णे वणिया ववहरंति ते, इड्ढिते वणिया इति इब्भा, आह हि–'अणुश्रवणपुत्राभ्यां०'इत्यादि, तेसिं च णं एगतिए सड्ढी भवइ, धर्मशुश्रूषुर्वा धर्म्मजिघृक्षुर्वा, काममवधृतार्थे, अवधृतमेव हि आश्रयणीयं आश्रीयते, अफुल्लसरो वा पत्तोवगादिजुत्तो वा वणसंडो, कमु इच्छायां वा कामयमाणा तं ग्राहिष्यामः, ससमयं परसमयं इत्येवं समणा पासंडी माहणा गिहत्था पहारेंसु–पत्थेंति, तत्थ णं मच्छरेण नासदीयेन वयमनेन स्वप्रणीतेन धर्मेन पण्णवइस्सामि,

राजवर्णनं

॥३१५॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३१६॥

त एवं सम्प्रधार्य तदंदिकं गत्वा हंभो आमन्त्रणे, अत्यर्थं जाणह यद्वक्ष्यामः, भयात् त्रायन्ति इति भयत्रातारः, ते तु राजानः, उग्राद्याश्च तद्भूताः, जहा मे से धम्मे मम एप प्रत्यक्षः, सुट्ठु अक्खातो सुपण्णत्ते, कतरो लोगायतधम्मो, तेषां आत्मा विद्यते न तु शरीरादर्थान्तरं, शरीरमेवात्मा, तत्परिमाणं उड्ढं पायतले अहे केसग्गा तिरियं तयाए, ता वातेन जीवति, सदा विजृंभति पञ्चवो प्रकारो पञ्चवपकारो, कसिणं–कृत्स्नं शरीरमात्मा जीवे जीव इति सरीरे जीवति शरीरादनर्थान्तरमेव जीवितं, तद्विनाशो जीवविनाशो, वातपित्तश्लेष्मणश्च शरीरं त्रिविष्टंभसूत्रवत् वर्द्धते, तेषामेकतराभावे शरीराभावः, एतावंतं जीवितं यावत्सरीरमविकलं, आह हि–एतावानेव परमात्मा०, तत्त्वविगतं शरीरं आदहणं परेहिं णिज्जू, आहृत्य यस्मिन् सुहृदो दहंति तं आदहणं–श्मशानं, परेहिं चउहिं पुरिसेहिं णिज्जइ अगणिज्झामिए, कावोतो पारेवओ, आसनं ददातीत्यासंदी धारा, चत्तारि गामं पचेन्ति, मंचगंपि पाणा आणेति, यदि पुनरात्मा विद्यते तेन शरीरे छिद्यमाने भिद्यमाने दह्यमाने वा निस्सरन् उपलभ्येत, वृक्षविनाशे शकुनिवत्, इत्येवं शरीरादूर्ध्वमविद्यमाना, जेसिं तं सुअक्खायं, किमाख्यातं ?, यथा अण्णो जीवो अण्णं शरीरं तस्मादप्येवासुअक्खातं, णो विविधं पवेदिंति, अयमाउसो ! आया दीहेति वा, यदि सरीरादर्थान्तरमात्मा स्यात् तेन तस्याशरीरवत् संस्थानं वर्णगन्धरसस्पर्शा उपलभ्येरन्, न चोपलभ्यन्ते, इहं यदस्ति शरीरादर्थान्तररूवं दीहं हस्सं वा जाव अद्धसमं वा, कण्हेत्ति जाव लुक्खेत्ति वा एवं तावच्छरीरादन्यो नास्ति, कहं से जहाणामए केइ पुरिसो कोसिओ असिं इत्येवमादिभिर्दृष्टान्तैः शरीराणां दाहे सति छेदे वा को दोषः परमात्मिकोऽस्ति ? अविद्यमाने जीवे, अथवा सरीरादूर्ध्वमविद्यमानो जेसिं तं सुअक्खायं, किमाख्यातं ? यथाऽन्यो जीवोऽन्यच्छरीरं, तम्हा तं मिच्छा, यस्माच्चैवं तस्मात् हं भो हणध पयध, उक्तं हि–पिव मोदव साधु शोभने०! तावं ते जीवा न भवंति,

नास्तिकमतं

॥३१६॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३१७॥

णत्थि परे लोए, ते एवंवादिणो विप्पडिवेदेंति–विविधं प्रवेदयन्ति २, किरिआइ वा अकिरियाइ वा, यद्यात्मा मृतः परलोकं गच्छेत् सक्रियः, क्रिया कर्मबन्ध इत्यनर्थान्तरं, ये चाक्रियावादिनः तेसु सुकडदुक्कडविवागो ण भवति, सुकडाणं कल्लाणफलविवागो, सुकडकारी च साहू, दुक्कडकारी असाधू, सुकृतकल्याणाच साधोः सिद्धिर्भवति विपर्ययवद्, असिद्धिः असिद्धस्स दुक्कडकारिस्स इतरस्स णिरयो, तेषामेते एवं प्रकाराः स्वकर्मजनिताः सुकृताद्याः फलविपाका न भवंति, त एवं संसारं स्वकर्मविहितं अश्रद्दधानाः विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं प्राणवधाः अथवा स्वयं परेहिं च, यथा च विरूवरूवाइं सद्दाईणि कामभोगाइं समारभंति अर्जयन्ति रक्षयन्ति, 'भुज पालणाभ्यवहारयो'रिति भोजनायैव एवं एगे पागब्भिणि, कम्मप्पागब्भीति धृष्टाः, अण्णं जीवं अण्णं शरीरं, जातिस्मरणथणाभिलासादिएहिं दिट्ठंतेहिं अत्थविदितं अन्यत्वं दरिसिज्जमाणं असद्दहमाणा तथापि धृष्टाः णिल्लज्जा मामगं धम्मं पण्णवयंति, कथमिति यथा नान्यः शरीरादात्मेति, तं सद्दहमाणा तं पत्तिअमाणा साधु अक्खाता आख्यातीत्याख्याता, कामं 'कमु इच्छायां' इच्छामि देवाणुप्पिया ! तं तुमे अम्हाणं तज्जीवतस्सरीरको पक्खो अक्खातो, इहरहा वयं परलोगभएण हिंसादीणि सुहसाहणाणि परिहरमाणा दुक्खिता आसी, संपति णिस्संकितं पव्वइस्सामो, इहरहा हि मज्जं मंसं परिहरामो उववासं करेमो णिरत्थयं चेव, अस्माच्च कारणात् वयं भवतां प्रत्युपकारं कुर्मः, आयुष्मन् ! पूजयामः, केण ?, असणेण वा ४ गंधेण वा ४ तत्थ पूयणाए आउट्टिंसु, एतेहिं चेव असणाईएहिं सयणासणवसहीहिं वा, तत्थ एगे णिकामइंसु, णिकामं णाम एवं तावं पुव्वं जेहिं समणेहिं गहिता ते ते पूएन्ति, स्याद् बुद्धिः, यदि नास्ति परलोगो किं ते पव्वइता ?, उच्यते, तेसिं लोगायतियाणं पासंडो चेव णत्थि, ते पुण अण्णेसिं केसिं गेरुअलिंगमाईण सच्छंदमतिकप्पिअं धम्मं सोतुं भणति–तेसिं अंतिए पव्वइतुं समणा भविस्सामो, अणगारा

सांख्यमतं

॥३१७॥

जाव पावं कम्मं णो करिस्सामो एवं संप्रधार्य तदन्तिके प्रव्रजिता आढत्ता पढितुं सोतुं च पच्छातं चेव रुचि तं, अथवा लोकपंक्तिनिमित्तं सूत्रमात्रपाषंडमाश्रित्य विचरिष्यामः, मुद्गलासातिपुत्रवत्। किंच–चरगादिलिङ्गमाश्रयन्ति, लोकपंक्तिनिमित्तं च प्रच्छादयन्त्यात्मानं पव्वयामो, पव्वइतुं समणा भविस्सामो अणगारा जाव पावकम्मं णो करिस्सामो, पव्वइयावि सन्ता तमेव वादं वदंति यथा वयं अणगारा अकिंचणा जाव पावकम्मं णो करिस्सामो, उक्तं च—'अतीते सरहस्यं०'इत्यादि, एवं ते कुकुडा पाषंडमाश्रित्य एमेव पचनपाचनमादिएसु हिंसाइसु पावकम्मेसु अप्पणा अप्पडिविरता रयमाईयंति, जं च तं अगाराइं सचित्तकम्माइं हिरण्णा दियंति परेहि य अदत्तमादियंति, अण्णेहि य अदत्तमादियावंति, तेसु इत्थिकाईएसु कामेसु मुच्छिता, किंच–ण जाणइ एवं ते मुच्छिता इव न तत्र दोषान् पश्यन्ति, गृद्धास्तदभिलाषिणः, ग्रन्थिताः बद्धाः न तेभ्योऽपसर्प्पन्ति, अज्झोववातो तीव्राभिनिवेशः, 'कामस्य वित्तं च वपुर्वयश्चे'ति मूलमितिकृत्वा कामसाधनेष्वपि लुब्धा ते तासु रक्तास्तत्प्रत्यनीकभूतेषु द्विष्टाः, मनसि चक्रुः, उपकारं कृत्वा ताभ्यामेव रागद्वेषाभ्यां बाधितमनस्त्वादश्रद्धाणा अप्पाणं समुच्छिदिंति, कुतः?–कामभोगतृष्णापंकात्, परास्तच्छिष्याः तव्वइरित्ताइणो अण्णाइं पाणाइं समुच्छिदिंति, अथवा तेसिं लोगायतगाणं संसारो चेव णत्थि, किं पुण मोक्खो?, तेण न युक्तं यत्कुतो अप्पाणं समुच्छिदिंति?, उच्यते, केणापि प्रकारेणासद्भावनेनेत्यर्थः, स समुच्छेदो नाम विनाशः अभावमः वणमित्यर्थः, त एवं विप्रलंभंतोऽप्यात्मनः अभावं कर्तुमसमर्थाः, कथं?, तदुक्तं–'जातिस्मरणात् स्तनाभिलाषात् पूर्वापरगमनागमना'दित्येवमादिभिः सरीरादन्यो जीवः, ते एवं महामोहिताः पहीणा पुव्वसंजोगं—गृहावासं णातिसंयोगं वा, सारिओ समणाण धम्मो, संसारी वा जीव इति श्रद्धानं, जहा भट्टारएहिं भणितो सद्भूतो अन्योऽमूर्त्त इति उक्तप्रदर्शनार्थः, हेतुं गिहिवासो जहा

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥३१९॥

हव्विंपि, तान् रूवान् विघ्नः, पारं प्रव्रज्या फलं वा पारलोकिकं वा सग्गो मोक्षो वा, अंतरा कामभोगंसि पंकंमि विसण्णा णरगादि दुर्गतिसेयंसि वा। पढमे पुरिसजाते, अहावरे दोचे पुरिसजाए। इह खलु पाइणं वा ४, संतेगतिया ५ जाव से एवमायाणह भयंतारो जहा मे से धम्मे सुअक्खाते, कयरे धम्मे ?, पंचमहब्भूइए, इह खलु खल्विति विशेषणे, किं विशिनष्टि ?, सांख्यसिद्धान्तो, जहिं णो कज्जइ किरियाइ वा अकिरियाइ वा, क्रिया कर्म्म परिस्पन्द इत्यनर्थान्तरं, तद्विपर्ययः अक्रिया अनारंभः अवीर्यं अपरिस्पन्द इत्यनर्थान्तरं, सुट्ठु कडं सुकडं, दुट्ठु कडं दुक्कडं, सुकडमेव कल्लाणं पापमितरं, शोभनं-साधुमितरमसोभणं ईप्सितार्थः सिद्धानां सिद्धिविषयः, असिद्धिः, निर्वाणं वा सिद्धिः, असिद्धिः संसारिणां णिरएत्ति वा अणिरयः तिर्यग्योनिः मनुष्यामराः, स्यात्कथं महाभूतान्यचेतनानि क्रियाकर्म्म कुर्वते ?, उच्यते, सत्त्वरजस्तमोभिः प्रधानगुणैरधिष्ठितानि कर्म कुर्वते, उक्तं च—"सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरुवरणकमेव तम" इत्यादि, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रधानमव्यक्तमित्यनर्थान्तरं, तत्र रजोबाहुल्या क्रिया भवंति, तमस्तु गुर्वावरणकं चेतिकृत्वा अक्रिया भवति, सत्त्वबाहुल्या सुकडं रजस्तमोबाहुल्यात् दुक्कडं, एवमन्यान्यपि कल्याणसाधुसिद्धिनरकादीणि अ०, प्रशस्तानि सत्त्वबाहुल्यात्, रजस्तमो न यदि स्यात् अवि अतशो तृणस्य कुञ्जीकरणेऽपि पुरुषोऽनीश्वरः, गुणकृतं फलं भुंक्ते, उक्तं हि—'तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदवभाति। लिंगं त्वप्रकृतिगुणं कर्तृत्वे च भवत्युदासीनः ॥ १ ॥ तं च पदउद्देसेण पदानामुद्देशः पदैर्वा पञ्चभिरुपदेशात्, वाच्यस्य समवायणं समवायः, स्यात्-कथं समवायः?, प्रधानत्वात्, उक्तं हि-प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः०, प्रतिलोमं संहारः, प्रधानमेव समवेति, अनिर्मिता न केनचिदीश्वरेणान्येन वा अभ्रेन्द्रधन्वादिवत्, स्वयं प्रादुर्भूताः, अनियया न

सांख्यमतं

॥३१९॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३२०॥

निर्मिताः न निर्मितव्यं, येषां असत्कार्यं तेषामभूत एव काष्ठादग्निर्निर्मीयते मृत्पिण्डाच्च घटः इत्यादि, नैवं सांख्यानां, कारणे कार्यसद्भावात्, न हि किंचिन्निर्मितव्यमिति, अकडा णो कडा यथाऽन्येषामकृतकमाकाशं एवमकडा, यथा च घटः कृत्रिमः एवं नो अ कत्तिमा, अकृत्रिमत्वादेव च अनादी अणिधणा नेत्तत्ता भवंति, ततोऽवन्ध्या नःशून्या, न तेषां कश्चित् स्वामी प्रवर्त्तते इत्यतः अपुरोहिता, पुरुषार्थे तु स्वतः प्रवृत्तिरेषा, आह हि–'वत्सविवृद्धिनिवृत्तं क्षीरस्य' यथा, अथवा नैवैषां कश्चिदेकं इन्द्रियाणामिव चक्षुः प्रधानं, स्वविषयबलवन्ति हि भूतानि, सकृतत्ता नाम सासतत्ति, स्वकृतभावः स्वकृतत्तं, आयत्तट्ठं पुणेगे उक्तानि भूतानि भूतकारणानि च, अव्यक्तमहदहंकारः तन्मात्राणि, स्यात्–किमेषां प्रवृत्तिरिति ?, तदुच्यते, पुरुषार्थः स एवैषां पष्ठ यदर्थं नातिवर्त्तते, असावपि सन्नेव, सत्त्वेऽपि प्रधानवत् शाश्वतः, सतश्च नास्ति विनाशः परमाणुवत्, असतः सम्भवो नास्ति खरविषाणवत्, आह हि–'असदकरणादुपादान' एतावं जावज्जीवकाएत्ति, किमिति ?, न कश्चिदुत्पद्यति वा विनश्यति वा, नापि संसरति सर्वगतत्वात्, कूटस्थवदवतिष्ठते, एतावं अत्थि, कोऽस्ति ?, यदस्ति तदेतावदेव, प्रधानपुरुषावित्यर्थः, एतावं ताव सव्वलोगे प्रधानः पुरुषानेव लोकः, एतंमुहं कारणमित्यर्थः, कारणभावः कारणता, अवि अन्तसो प्रधानपुरुषो व्यवस्य तृणाग्रादपि किंचिदन्यतो जायत इति, परमात्मा कारणात्मा तु करोति, तत्फलं तु परमात्मा भुंक्ते, तद्यथा तत्प्रकृति पुरुषान्तरं जानीते स किंणंकिणाविमाणो, जो किणाकिणावेति च सोऽमुक्तोऽपि जायते, अनुमोदतेऽपि, कारणकारणाइं पुणो भारियतराइं तेण ताइं गहिताइं, उक्तं च–'जो खायइ न माणुस्सं मांसं अण्णं कतो स मेलेति ?,' एवं पयणपायणाइंपि, एतेहिं पुण तिहिंवि णव कोडीओ गहिताओ, अवि अन्तसो पुरिसमवि विकिणित्ता एत्थवि जाण णत्थेत्थ दोसो, तेणोऽवि पडिवेरंति, सव्वे सिद्धंते मोत्तुं अण्णत्थ किरिआदि वा

सांख्यमतं

॥३२०॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३२१॥

अकिरिआइ वा जहा संखसिद्धंते वुत्तं तहा किरिआइ वा अकिरिया २, तेपामुत्तरं–अत्यन्तानुपलब्धेः प्रधानस्येव नास्ति, सत्कार्यमप्येकांतेन नास्ति, कस्मात् ?, यस्य च भवति उपलब्धेरनुपलब्धेश्च, तथा कारणात् कार्यसान्यत्वात्, इत्येवमादिभिर्हेतुभिः सांख्यसिद्धान्तस्योत्तरं, एवं तेहिं विरूवरूवेहि कम्ममारंभेहि जाव भोअणाए, एवं एगे सामगं धम्मं पण्णवेंति, आत्माप्यर्थक्रियामकर्त्ता, तथापि निर्लज्जा सामगं धम्मं पण्णवेंति, यद्यकर्त्ता तेन पण्णवणा ण जुज्जते. तुल्येऽप्यचेतनत्वात् घटस्येव प्रज्ञापनासामर्थ्यं नास्तीति, ततस्तदुपदेशद्रष्टुरभावात्, कामं च खलु परलोगणिमित्तं ते सहायका सांख्या ते समणमाहणा पूएंति, न तु प्रत्युपकारार्थं, लोकायतिकवत्, जाव णिकामइंसु, पुव्वामेव तेसिं णातं भवति धम्मसट्ठाए ते अप्पणा आचरंता उद्देसगादीनि आत्तयंति एवं जाव कामभोगसेयंसि० दोच्चे पुरिसजाते ॥

अहावरे तच्चे पुरिसे (सू० ४) इस्सरकारणिए, इह हि पुरिसाइया धम्मा–स्वभावाः, जीवानामजीवानां च, अत्र जीवधर्मा जन्मव्याधिजरारोगशोकसुखदुःखजीवितमरणाद्याः, अजीवधर्मा अपि मूर्त्तिमतामामूर्त्तिमतां च द्रव्याणां, मूर्त्तिमतां तावत् वर्णगन्धरसस्पर्शाः, अमूर्त्तिमतां आकाशदिक्कालादीनां, दिश्यन्त इति दिशः, परापरत्वादि कालस्य, शब्दगुणमाकाशं, कतरः पुरुषो योऽसौ परमेश्वरः विष्णुरीश्वरो वा ?, आह हि–'पुरुषः कर्मणां कर्त्ता०'तथा चाहुः 'ईश्वरात् संप्रवर्त्तते' अपरे ह्याहुः–'एका मूर्त्तिः त्रिधा जाता०' इत्यतः पुरुषादीया, पुरुषप्रणीताः पुरुषेण प्रणीयमानास्तान् प्रकारानापद्यन्ते क्षीरवत्, पुरुषोत्तमीयाः न स्त्री न नपुंसो, पुरुषः प्रधानः, पुरुषेण प्रदर्शिताः प्रद्योतिताः, यथा प्रदीपेनादित्येन वा घटः, पुरुषणाभिसमन्वागताः सर्वगतत्वात्, पुरुषेण आभिमुख्येन अणुगता सर्वगतत्वात् मृणालतंतुवत्, न पुरुषमुदस्य वर्त्तते, पलयकालेऽपि पुरुषमेवाधितिष्ठंति जलोर्म्मिवत्,

ईश्वर-कारणिकाः

॥३२१॥

आह हि-'जह सलिलंमि तरंगा०' दृष्टान्तः गण्डे जहा शरीरे जाए वुड्ढे जाव अभिभूय चिट्ठइ, यथा वा तं समादिभिः क्रियाविशेषैः समितं सरीरमेव अभिभूय चिट्ठइ एवमेव धर्मा इस्सराईया०, एवं सेसाइंपि। जंपिय इमं दुवालसंगं गणिपिडगं, तंजहा-आयारो जाव दिट्ठीवाओ सव्वमेतं मिच्छा, अनीश्वरप्रणीतत्वात्, ये हि ईश्वरं न प्रतिपद्यन्ते, ततः स्वच्छन्दविकल्पितानि शास्त्राणि ग्रथयन्ते, वयं तीर्थकरा इति मूढानां वचो,'सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवद्'(तत्त्वा० १)असत्यं, असत्यत्वात् अतथीयं अतथ्यमित्यर्थः, यथातथ्यं आहतहियं एकार्थवाचकानि वा पदानि शक्रेन्द्रवत् व्यञ्जनविशिष्टानि, इमं सच्चं इमं ईश्वरकारणीयं दरिसणं सच्चं अहत्तहियं, त एवं मोहाः मोहिताः सव्वं कुर्वन्ति, काउं तत्थेव ठवेंति, सुट्ठु ठवेंति, तेसिं एवं मोहा मोहितता, मोहा पुरिसस्स रागो भवति, तस्सिच्छाभावतो तद्विद्विट्ठेषु च द्वेषः, रागद्वेषमोहाश्च कर्मबन्धहेतवः, कर्मणः संसारो तद्दुःखं च, तेनोच्यते-तमेव ते तज्जातीयं दुःखं नातिवर्त्तते सउणं पंजरं जहा, ते णो विप्पडिवेदंति, ईश्वरं मुक्त्वा अन्यतः किरियाइ वा करेति धम्मेणचि, यथा इह खलु दुवे पुरिसजाते, किरियाणं अकिरियाणं च हेतुः, एवं ईश्वरस्योपरि तगं छोढुं विरूवरूवेहिं भणंति,'यस्य बुद्धिर्न लिप्येत, हत्वा सर्वमिदं जगत्। आकाशमिव पंकेन, न स पापेन लिप्यते ॥१॥' तेऽपि परलोगकंखी धम्मबुद्धया ईश्वरं भक्त्या पूजयन्ति जाव विसण्णे। तच्चे पुरिसजाते॥

अहावरे चउत्थे (सू० ५) णितिया जाव जहा जहा मे एस धम्मे सुअक्खाए, कयरे ते धम्मे ?, णितियावादे, इह खलु दुवे पुरिसजाता एगे पुरिसे किरियामक्खंति, किरिया कर्म परिस्पन्द इत्यर्थः, कस्यासौ किरिया ?, पुरुषस्य, पुरुष एव गमनादिषु क्रियासु स्वतो अनुसन्धाय प्रवर्त्तते, एवं भणित्तापि ते दोऽवि पुरिसा तुल्ला णियतिवसेण, तत्र नियतिवादी आत्मीयं दर्शनं

समर्थयन्निदमाह–यः खलु मन्यते 'अहं करोमि' इति अनावपि नियत्या एव कार्यते अहं करोमीति, तदायत्तत्वाच्चराचरस्य, यत्र चैव २ मेधावीग्रहणं तत्र २ नियतिवादिनः परामर्षः, एगो मण्णति–अहं करोमि, बितिओ मण्णइ–णियती करेइ, एगट्ठा, कतरोऽर्थः ?–कारकार्थः, तत्थ पुण बाले एवं पडिवज्जंति कारणमावन्ने, अहंमि दुःखामि वा बाधनालक्षणं दुःखं शारीरं, शोको इष्टदारापत्यादिविप्रयोगादि, शोकः मानसः, शारीरेण मानसेन वा दुःखेन, शारीरेण जायति, करोमि त्रिभिः कायवाङ्मनोभिः तस्यामिति, तप्पामि बाह्यैरभ्यन्तरैश्च दुःखविशेषैः, उभयथापि पीडयापि, सव्वतो तप्पामि परितप्पामि, एतत्सर्वं दुःखोदयं कर्म अहमकार्षीः परो वा मे दुःखति वा सोयति वा जा परितप्पति वा, परो एवमासी, नेश्वरो, नियतिर्वेति, एवं खलु सकारणं परकारणं एवं विप्पडिवेदेंति कारणमावण्णा, मेधावी एवं विप्पडिवेदेइ जं खलु दुःखामि जाव परितप्पामि वा णो एतमहमकासि, किन्तु णियती करेइ, न चाकृतं फलमस्तीत्यतः णियती करेति, जति पुरिसो करेज्ज तेन सर्वमीप्सितं कुर्यात्, न चेदमस्तीति ततो नियती करेइ, नियतिः कारिका, परोऽपि खलु जं दुःखति वा णो परो एतमकासी, णियतीए तं कृतं, एवं खलु सेसं कारणं, एवं विप्पडिवेदेंति–इह खलु पाइणं वा ४, जे तसा थावरा पाणा ते पंचत्तं–संघातमागच्छंति, केण संघायमागच्छंति ?, सरीरेण, परिजातबालकौमारयौवनमध्यमस्थविरान्तः पर्यायभेदः, परि आगाः परिआगाः, एवंविधेनेन शरीरेण बालादिपज्जवे विहिविवागो विधानं, पृथक्करणमित्यर्थः, त एवंविधो विधिर्विधानं, तच्चैवं–संघातपरियागविवागा विधानं, स्वकृतं वा कर्म्म विधानं, जन्मजरारोगशोकमरणानि वा, नरकतिर्यक्मनुष्यदेवेषु उत्तमाधममध्यमविशेषाः, विशेषेणाह–इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षकलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाः दशविधाः, तिर्यक्षु चेकेन्द्रियादयः, पण्णवणापदे जहा मणुस्सेसु संमुच्छिमा गब्भवक्कंतिआ

य, ते एवं संगतिआ उवेंति, नित्यकालसंगता हि पुरुषेण नियती, यथा रूपं स्पर्शेन, अग्निरौष्ण्येन, अथवा आपो द्रवा अस्थैर्यवती च, यथा गोः दक्षिणविषाणं सव्वेणं, एवं सव्वजीवा णियतीए णिचं कालं संगता, तत्कृतानि विधानानि प्राप्नुवन्ति, उपेक्षणमुपेहा, नियती करोति, पुरिसो उवेक्खा, उवसंख्या पुरुषवत्, एवं उपेक्षा हि णियतीवादः, एवं तावज्जीवणिस्सिता णियती वुत्ता। इदाणिं अजीवणिस्सिता, तजहा–त एव संघातमागच्छंति परमाण्वादयः, अभ्रेन्द्रधन्वादिकानां वा संघातपरियागं, तेसिं दो वण्णादिपज्जया, विवेगः तेसिं चेव संघाताणं भेदो वण्णादिविवेगो य, विधाणं तेसिं भेदः प्रकार इति, तेसिंपि णियतीकृतः, त एवं संगतियं तेसिं अजीवाणं, ता णियंतीमंतरेणं णत्थि अण्णतो अकिरियाइ वा, जं च अण्णे एएति वासमाउट्टेति सभावओ एव, ण पुण जहा लोगायतियाणं रूपकारणणिमित्तं जाव सेयंसि विसण्णे, एते चेव चत्तारि पुरिसजाता णाणावण्णा सूक्ष्मसूक्ष्मतरमन्दवुद्ध्यादयः, णाणावण्णा वा ब्राह्मणादयः जातिकृता वर्णाः, शारीरा वा कृष्णश्यामादयः, छन्दोऽभिप्रायोऽभिलाषमित्यर्थः, अन्यस्यानिदेशो भवति,'अण्णस्स पिया छाती' गाहा, जहा दोहलए चेव, महिलाणं णाणाविहा दोहला उप्पज्जंति जहा मच्छिस्सामिस्स मातुं मेहकुमारस्स य, णाणासीला दारुणभद्रसीला, णाणादिट्ठी, एते चेव चत्तारि लोगायतिगादयो, एगग्गहणे गहणं तिण्णि तिसट्ठाइं पावाइयसताइं, णाणारंभा असिमसिकसिवाणिज्जादयो आरंभा, अण्णोण्णं करेंति, णाणाअज्झवसाणा तीव्रमन्दमध्याध्यवसानाः, सव्वेऽपि पहीण पुव्वगं आयरिया मग्गं अंतरा कामभोगेसु विसन्ना, उक्काः पंच यथा भवी, तेऽपि किलापवग्गतो अण्णउत्थिया, संपति भिक्खू वुच्चइ, जो सो पोंडरीयमुपाडेति, से वेमि भिक्खोरुपोद्घातं विवक्षुः सोऽहं ब्रवीमि, पाइणं वा० पण्णवगदिसाओ भावदिसाओ गहिताओ, संतेगतिया मणुस्सा, सन्ति–विद्यन्ते, तंजहा–आयरिया वेगे जाव दुरूवा वेगे

अणारियावि पव्वयंति, जहा अद्दयो वक्ष्यमाणः, णीयागोत्तावि जहा हरिएसबलो, हत्थन्तो जहा अतिमुत्तो वामणा वा, दुवण्णरूवेसु सो चेव हरिएसबलो, अण्णो वा जो कोइ दुवण्णारूवो, संपतंपि णियागोतवज्जा पव्वाविज्जंति, अण्णदेसो वा हरिएसबज्जा, दुरूवदुवण्णा पुण अव्यंगसरीरा सदोसावि पव्वाविज्जंति चेव, खेत्तवत्थुविभासा, अप्पाइ० दुग्गततणहारादीनां, भूयो बाहुल्ये, इदं भूयः इदं भूयः इदमनयोर्भूयस्तरं, अल्पेभ्यः बहुतराणि, भुज्जतरे वेगेसिं, तद्यथा–अहं चिय राजमंडलियबलदेववासुदेवा चक्कवट्टी य, ण य जहा कम्मं भुज्जतरो, तेसिं च णं ऊणजाणवताइं, जणः सर्व एव प्रजाः, जनपदस्यैतानि जानपदानि, ग्रामनगरखेटकर्वटादीनि, अथवा जनः प्रजास्तत्प्रतिगृहितानि द्विपदचतुष्पदादीनि जानपदानि, तहप्पगारेहिंतो भिक्खू भाणितव्वो उच्चणीयमज्झिमेहिंतो कुलेहिंतो, कश्चित्केचिद्वा साधुममीषमागम्य धम्मं सोचा तं सद्दहमाणा, अभिभूय, किं ?, परीसहोवसग्गे भिक्खायरियाए समुट्ठिता, दुक्खं भिक्खं अडितुं, उक्तं हि–'पिंडवातपविट्ठस्स, पाणी०, तथा उक्तं 'चरणकरणस्स सारो भिक्खायरिया०', संमं उट्ठिता समुट्ठिता, संतोवि एगे णातयो पुव्वावरसंपट्ठा णातयो, कामभोगोवकारी उवकरणं, ताणि चेव खेत्तवत्थुहिरण्णसुवण्णादीणि च, जे ते संती वा असती वा, संतित्ति अत्थि से णातयो जहा भरहस्स, असंतित्ति णत्थि से णातयो, अहवा नास्य नाती सन्ति अणातयो–अणातगा ते अत्थि, अण्णेसिं उ परिचिन्तगा मिच्चा, अत्थि उवकरणं, उवकरणं च उपकरोतीत्युपकरणं घटपटशकटादि, नास्य उपकरणं विद्यते अनुपकरणः, अथवा नोपकारं करोतीत्यनुपकारणं यथा छिद्रबुध्नत्वात् घटः जीर्णत्वात्पटः, एवमन्यान्योपकरणानि एकांगविकलानि यथा स्वं स्वं कार्यं न साधयन्ति तान्यनुपकारित्वादनुपकरणं, समुट्ठिता, स्यात् कत्थं समुट्ठिता ? धम्मे एव्वज्जाए य समुट्ठिता, कथं समुट्ठिता ?, पुव्वमेव तेहिं णातं भवति, पुव्वं धम्मं

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३२६॥

सुणेंति पच्छा जाणंति, एवं सोतुं णातं। इह खलु पुरिसे अण्णमण्णं मम अट्ठाए, अण्णं च अण्णं च अण्णमण्णं, अनेकप्रकारमित्यर्थः, अन्यच्चान्यच्च अण्णमण्णं, एवमधारणे, विविधं प्रवेदयन्ति विप्पडिवेदयन्ति, किमिति ?, विज्ञा, तंजहा खेयण्णे जाव सदा मे, कारणे कार्यवदुपचारात्, ताडका ताडकातोज्जा आतसमुत्था सदा एवं सर्वेषु कामगुणेषु विभाषा, एते ममाहीणा अहमवि एएसिं स्वामी, मेधावी पुव्वमेव, किमिति ममभिजाणेज्जा ?, एते खलु कामभोगा मम अट्ठाए अज्झिजंति परिवड्ढिजंति परिवारिजंति, न चैकान्तेन सुखाय भवन्ति, कथमिति ?, इह खलु मम अण्णतरे रोगातंके, विदूगमासासो, पुग वातिओ वा पेत्तिअसिंभियसंणिवाइय, इपु इच्छायां, न इष्टो अनिष्टः, अक्रमनीयः—अकान्तः न प्रीतिकरः अप्रियः न शुभः अशुभः अशोभन इत्यर्थः, सर्व एवाशुभो व्याधिः कुष्ठादिश्च विशेषतः, मनसा ज्ञायते मनोज्ञः, मनसो मतः मनोमः, दुक्खेणोसहो, दीर्घकालस्थायी रोगः, सज्जोघाती आतंकः, जे इति अहं, तेण रोगातङ्केणाभिभूयते, कामभोगे भणेज्ज—से हंता, हंत संप्रेषे, भयात्तायंत इति भयंतारो, इमं दुक्खं परिआइयंतु, एगं मम अर्जनरक्षणादिसमुत्थं भवन्निमित्तमेव दुक्खं समुत्थितं मां बाधते, तं भवन्त एवैतं प्रत्यापिबंतु, स्याद् अचेतनत्वात्कामभोगानां आमन्त्रणं न विद्यते ततः उच्यते, शुकशारिकामयूराणां आमन्त्रणमिष्टं, तंजहा—'अकतण्णओसि तुंडिय !' तथा च—'भो ! हंस ! निर्मलनदीपुलिनादि', तथा च 'बोहित्थ ! ते यतः कान्तास्पृष्टामपि स्पृश्य' इत्येवं, तेषां पुत्रेभ्योऽपि प्रियतराणां कामभोगानां पुरस्ताद्भवद्भिरपि पूर्वं भवति वा ण, जम्हा एवं तम्हा कामभोगा तन्निमित्तेहिं तु दुक्खेहिं अण्णणिमित्तेहिंतो वावि हु वट्टतडिवातादीहिं, णो ताणाए वा, न चात्यन्तं भवति, कहं ?, पुरिसो वेगइत्तो पुव्विं कामभोगे विप्पहेज्जा, जहा संयोगविप्पयोगो, कामभोगो वा पुरिसं पुव्विं विप्पजहायइ, त चेव पंडुमधुरवाणिजपुत्तं, जम्हा ते णचंतिया

भिक्षुवर्णनं

॥३२६॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३२७॥

भवंति ण चेवेगन्तिया, रोगितादीनां जहा कालसोयरियंमि, तम्हा एवं णचा अण्णे खलु कामभोगा जाव अण्णमणेहिं मुच्छामो, इति संखाए ज्ञात्वेत्यर्थः, वयं कामभोगे संवुज्झितुं विप्पजहिस्सामो, वुत्ता कामभोगा, से मेधावी जाणेज्जा बाहिरगा मे तं एते च उपसामीप्पे णी ग्रापणे, आसन्नतरमित्यर्थः, तंजहा-माता मे जाव संथुता मे, एते मम अहमवि एतेसिं, कथमिति ?, ममैष पिता अहमस्य पुत्रः, भार्या पतिः, एवमन्येष्वपि यथासंभवं विभाषा, से मेधावी पुव्वमेव अप्पणा एवं समभिजाणिज्जा, इह खलु मम अन्यतरे दुःखे रोगातङ्के जाव णो सुभे, तेसिं वा मम भयंताराणां जाव एवामेव णो लद्धपुव्वं भवति, अण्णस्स दुक्खं णो अण्णो परिआतियति, अण्णेण कडं णो अण्णो संपडिवेदयति दुक्खं, दुक्खं ताणियमा कृतं कृतं दुःखं वा स्यात्, सुखं वा, अहवा दुक्खोदयमपि कृतं यावन्नोदीर्यते न बाध्यत इत्यर्थः, तावत् कृतमेव नाकृतं, यस्मादेवं तस्मादन्येन कृतं अन्यो न प्रतिसंवेदयति तम्हा पत्तेयं जाति पत्तेयं मरति, पत्तेयं त्यजति उपपद्यते, झंज्ञा-फलहो, संजानातीति संज्ञा तां, विज्ञमेव वेद्यत इति वेदना, इति खलु एवं इत्येवं णातिसंयोगा णो ताणाए वा सरणाए वा, पुरिसो वेगता पुव्विं णातिसंजोगे विप्पजहति, जहा भरहो, पुरिसं वा एगता णातिसंयोगा विप्पजहंति जह अट्ठणं, बाहिरए ताव एस संजोगे इमे उवणीततरिए, किमिति शरीरं चेव तदवयवा हस्तादयः यथा मम पद्मतलकोमलौ लक्षणोपचितौ हस्तौ तथा कस्यान्यस्य ? 'इमौ करिकराकारौ, भुजौ परिघपरजुतौ। प्रदांतौ गोसहस्राणां, जीवितान्तकरः करः ॥ १ ॥' पादा मे कुर्म्मणिभा, आयुं मे दीहं, निरवधृतं च बलं, उरसं बुद्धिबलं च, वप्पा अवदातादी, त्वक् स्निग्धा. छाया प्रभा, वर्णच्छाययोः को विशेषः ?, वर्णः अनपायी, छाया तु उच्चिन्नपुरिसमनपायिनी, शेषाणां भवति च न भवति च, 'अनलानिलसलिलसमुद्रवाग्बुद्धिः पंचधा स्मृता छाया' अशुभदा त्रिकार्यलक्षणा, अथवा अवर्णणीयेऽपि ममीकारो

भिक्षुवर्णनं

॥३२७॥

भवति, शरीरे शरीरावयवेषु वा सडंतंपि कोइ णेच्छइ च्छेत्तुं, जति णिव्विज्जति ण जीवति, सप्पगोणसखइताइणं सडइ ण च सक्केति पविणेतुं, एवं अच्छीणि विशालरतुप्पलधवलाइं, दिट्ठी मे वलिया, उज्जुतुंगायता णासा, जिब्भावि तणुइआ विसदा, फासा कक्कडमउओ, इत्थीणं विपरीतो, एवमन्येऽपि दंतोट्ठकवोलभुमगणिडालगलखंधउरपट्ठिकडिजाणुजंघादि ममाति—ममीयते जारिसं मम सरीरं सरीरावयवा वा तारिसा कस्सति ?, एव ममीयमाणो जेसिं पढमे मज्झिमे पच्छिमे वा, वयसि वाऽवयवे ममाति, तस्सिं च वयातो झूरति, कथं ?, पढमे ताव वये परिझूरमाणो मज्झिमो भवति, मज्झिमेवि परिझूरमाणो पच्छिमो भवति, एवमेकैकस्मिन् वयसि परिझूरमाणो अन्यां वयोऽवस्थां प्राप्नोति, जहा वयतोऽसौ परिझूरति तथा बलतोवि, जं पढमवयस्स णत्थि, सणंकुमारदिट्ठंतो, उक्तं च—'पण्णासगस्स चक्खू परिझूरति० परिझूरमाणे तु वयसि सूसंधिता संधी विसंधीभवंति, सुणिगूढसमुग्गणिमुग्गसंठिता पाया उक्कडसंठिता पहारुसंघातपरिणिज्जा भवंति, वलितरंगे गाते, किण्हा केसा पलिया, जंपि इमंपि सरीरं तदपि परायत्तं, ण विणा आधारेण, तेनोच्यते—आहारोपचयं, विणा आहारेण सुस्सति मरयति य, सतापि च आहारेण कालोपक्केण णिद्धेण मणुण्णेण पज्जत्तेण पदिज्जमाणेण आणुपुव्वीए जाव तीसवरिसाणि वड्ढितुं ताव तंपि अवड्ढितं वा गोमणुयाऊणं, जंपि णिरुवक्कमं आउसं भवति तंपि आणुपुव्वीए परिहाति, तंजहा—पण्णासगस्स चक्खू हायति, अथवा समए २ आवीचियमरणेण मरमाणो २ जीर्णशकटवत् पतति, एवं शरीरं अणिच्चं अधुवं संखाय भिक्खू एव, जं पुरेक्खडेभिक्खू चेव ववहारीयणयस्स, णिच्छयणयस्स भिक्खू चेव भिक्खायरियसमुट्ठितेण, भिक्खायरियं विणा प्राणी प्राणयिता न ज्ञानादीनि तेन भिक्खायरियग्गहणं, दुहतो लोगं जाणिज्जा, किं दुहतो ?, तंजहा—जीवा चेव अजीवा चेव जदत्थि लोए, अहिंसापालनार्थं, जीवा दुविधा, तंजहा—इमं च अण्णं

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३२९॥

जाणेज्जा, इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा आरंभो पयणपायणादीहिंसाप्रवृत्तिः, परिग्गहो खेत्तवत्थुहिरण्णादि, संतेगतिया समणा पंच, माहणा द्विजातयो गहिताओ, आह–णणु गारत्थगहणेण द्विजातयो गहिता ?, उच्यते–केचिद्विजाः घरदारं पयहिऊण लोइआइं तित्थतत्तोवणाइं आहिंडंति मिगचारियादि चरंति, समणोवासगा वा, ते तु अविरतत्वात्, जे इमे तसथावरा पाणी ते करिसणपयणपायणादिसु वट्टमाणा समारंभंति अण्णेहिं समारंभावेंति, उद्देसियभोयणा पुण अण्णे समारंभंते समणुजाणंति, किंचान्यत्, जे इमे कामभोगा सद्दरूवा कामा गंधरसफासा भोगा, तदुपकारिषु द्रव्येषु कामभोगोपचार कृत्वाऽपदिश्यन्ते, तेसिं परिग्गिण्हंति वणियकरिसादयो, इस्सरपुरिसा परिगेण्हावेंते परिगिण्हन्ते य समणुजाणंति, एवं समणमाहणेसु विभासा, तिविहं-तिविहेण सारंभे सपावए णातुं गारत्थे समणमाहणे य, संसारभया अहं खलु अगारंभे अपरिग्रहे भविस्सामि, स्याद् बुद्धिः–अगारंभो अपरिग्गहो य कथं शरीर धारयिष्यति ?, उच्यते, जह खलु गारत्था सारंभा एगतिया समणा दव्वारंभं प्रति जइ णाम केइ अणारंभा अपरिग्रहा वा, आरंभं प्रति असंयतत्वात् सारंभा सपरिग्गहा चेव, तत्थ जे ते दव्वारंभं प्रति सारंभा सपरिग्गहा भिक्खगमादी ते चेव णिस्साए आहारोवहिसेज्जादि जायमाणा वंभचेर वसिस्सामो चारित्रमित्यर्थः, कस्स णं तं हेतुं ? कस्माद्धेतोः भवांस्तानुत्सृज्य तानेवाश्रयंति ?, उच्यते, जहा पुव्वं तहा अवर अहावर तहा पुव्वं, आहाजुत्तं–गिहत्थे णिस्साए जुत्तं, किं वा तेसिं अत्थि जं देहेंति ?, उच्यते, पुव्वं एते सारंभा सपरिग्गहा एव आसी, इदाणिंपि पव्वइता संता पचमागमा गामादिपरिग्गहेण य सपरिग्गहा, जेवि दुग्गता आसी तेवि कामादीणि सेवंति, केवलं तेहिं फणिहा परिचत्ता, कहं कतो ?, उच्यते, जस्सारंभो य घरवासपायोग्ग, अदुवेता रिजुभावेण णणु कांता तावेकं धम्ममनुपस्थिताः, पुणरवि तेऽवि तारिसगत्ति असंजतत्वात्संसारिगः,

पुंडरीकाध्ययनं

॥३२९॥

जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा पासंडत्थावि सारंभा, दुहवोत्ति दोवि ते, अथवा पुव्विं पच्छा य, अहवा सयं परेहि य, अहवा रागेण दोसेण य, इति संखाए ज्ञात्वा, दोहिं अंतेहिं अदिस्समाणेहिंतो गारत्थावृत्ते पासंडवृत्ते इति भिक्खू रीएज्जत्ति इति परिसमाप्तौ उपप्रदर्शने वा, भिक्खू रीएज्ज इति, तत्थ पण्णवगदिसं पडुच्च से बेमि पाईणं वा ६ एवं दुविधाए परिण्णाए परिण्णायकम्मे, परिज्ञातकर्मत्वात् व्यपेतकर्मा अबन्धक इत्यर्थः, अबन्धकत्वात् पूर्वोपचितकर्मणः वियंतिकारिए, अंतं करोत्येवमाख्यातं भगवता, कथं अंतं करोतीति ?, अत्रोच्यते, तत्थ भगवता छज्जीवणिकाय०, उक्तं च–'पुव्वभणितं तु जं भणती तत्थ०' ते कहं रक्खितव्वा ?, अन्तोधम्मेण, कहं अंतोधम्मं भवति ?, से जहाणामए मम असातदण्डेण आउडिज्जमाणस्स, आउडिज्जइ खीलउ, जहा सीसे हम्मइ खीलगो तहा सकण्णे आउडिज्जति, हम्मति तज्जणं, वाघाए आउडिज्जति हंमइ एगट्ठा, देसिं वा आसज्ज, अयमण्णत्थ वुच्चति जहा ओयणो कूरो भत्तं ददाति, एक एवार्थः अण्णाणधाऽभिलवेंति, एवमाहननक्रियायां केइ आउडत्ति भणंतित्ति, केई हम्मतित्ति भणंति, केई पुण तिहिवि पगारेहिं, ताडतिगाढं दुक्खं परितावणा, जेण वा मरणसंदेहेण भवति, किलावणं पुण मुच्छा, मुच्छकरणं जाव लोमकरणं, लूयते लूणंति वा तमिति लोमं दुक्खाविज्जंतो, अंगाइं अक्खिवंतो हिंसंति करोति, इचेव जणे सव्वे पाणा जाव दुक्खं पडिसंवेदेंति, एवं अंतोधम्मेण जाणित्ता सव्वे पाणा ण हंतव्वा, आह–किमयं धम्मो वर्द्धमानस्वामिनैव प्रणीतः ?, आहोस्वित् वृषभाद्यैरपि तीर्थकरैरन्यैश्च ततः परेणातिक्रान्तैः?, किमिति ?, जमुत्तं सव्वे पाणा०, एवं शिष्येण चोदिते आचार्यवाक्यं–से बेमि जे अतीता अणंता जे अ पच्चुप्पन्ना साम्प्रतं वर्द्धमानस्वामिकाले पण्णरससु कम्मभूमीसु जे आगमेस्सा अणंता अरहंता भगवंतो सव्वे ते एवमाख्यातवन्तः एवमाख्यास्यंति अर्थतः, अतीतानागतकालग्रहणसूत्रेण

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३३१॥

तु वर्त्तमानकालो गृहीतः, सर्वे ते एवमाइक्खंति, आकारकथनत आख्यानं, यथा 'अवलोअणं दिसाणं' नन्वेवमाकारेण भगवन्तो अरहन्तः धम्ममाइक्खंति, भाषमाणा अपि भृशं ज्ञापयन्ति प्रज्ञापयन्ति, भृशं रूपयन्ति प्ररूपयंति, स्याद्वादतो वा रूपयंति, उक्तं हि-'नानानयेप्रगमसमहती०' किं तं प्ररूपयन्ति ?, सव्वे पाणा ण हंतव्वा 'हन हिंसागत्योः' आज्ञापनं प्रसह्याभियोगः तद्यथा कुरु याहीत्येवं, ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे, ध्रुवः नित्यं तिष्ठति, सर्वकर्मभूमिषु नितिओ नित्यः, शश्वद्भवतीति शाश्वतः, एगट्ठाइं वा, एवं मंता अंतोधम्मेण से भिक्खू विरते पाणातिवायाओ जाव परिग्गहाओ, तत्परिपापालनार्थमेव उत्तरगुणेवि रक्खइ, तंजहा—णो दंतवणेणं दंते धोवेज्जा, गिलाणो अगिलाणो वा विभूसावडिए, आया वा णो अंजणं, गिलाणो वा रोगा पडिकंमठाणो वमणवेरमणविरेयणं वा, अज्जधूवणेतमवि धूमं पिव्वति कासादिप्रतिघातार्थं, एवं मूलगुणोत्तरगुणेसु सुसंवृतात्मा से भिक्खू अकिरिए नास्य क्रिया विद्यते ते सो अकर्म्मबन्धक इत्यर्थः, लूप हिंसायां, अहिंसक इत्यर्थः, अकसायाणं णिव्वाणंतिकाउं अकोहे जाव अलोभे, स एवं मूलगुणसंवुडो भवति, जे य कसायग्गहं करेइ, कसाइओ पुण मूलगुणे उत्तरगुणे य खिप्पं अतिचरति, जो पुण अकोहो जाव अलोभो सो चेव उवसंतो भवति सकाया, अणुवसंतो चेव परिणिव्वुडति, जहा उण्होदगं, उण्हाणं समाणं परिणिव्वुडेत्ति वुच्चइ, एवं कसायोवि उसिणो, तदुवसमे परिनिव्वुडे वुच्चति, एवं ताव इहलोइएसु विरतो, अथवा परलोइया कामभोगा किमासंसितव्वा ?, णेति उच्यते, परलोइएसु कामभोगेसु णो आसंसा पुरतो काउं वियरेज्जा, कथमिति ?, इमेण मे दिट्ठेण वा दिट्ठं धम्मफलमिहेव, तंजहा—आमोसहि विप्पोसहि अक्खीणमहाणसिआ चारणविउव्वणिड्ढिपत्ताणि,परलोए सग्गं सुकुलपच्चायादिमादि, सुतं अद्दक्खाणएसु धम्मिलबंभदत्तादि, मणज्ञानी, सुतं सयमेव जातीस्सरणादिएहिं

पुंडरीकाध्ययनं

॥३३१॥

चेव दिट्ठं, सुतं सुत्तेहिं, विविधं विसिट्ठं वा णातं विण्णातं, इमेण वा सुचरिततवणियम० सुचरितं तवो बारसविधो, नियमो इंदियनोइंदिय०, ब्रह्मणश्चरणं बंभचेरं चारित्रमित्यर्थः, इमेण जातामातागु(व)त्तिएण धम्मेण, यातामाता यस्य वृत्तिः स भवति यातामातावृत्तिकः, यात्रा नाम मोक्षयात्रा, मात्राऽल्पपरिमाणा या वृत्तिराहारादि, उक्तं च–'यात्रामात्राशनो भिक्षुः, परिशुद्धमलाशयः। विविक्तनियताचारः, स्मृतिदोषैर्न बाध्यते ॥१॥' इतो चुतो देवे सिया कामंकमित्ति यतिमितान् कामान् कामयते तान् लभते चासेवतित्ति, वसे इंदियाणि जस्स चिट्ठंति, कामवसवत्तिगहणेण अट्ठविधं लोइयं इस्सरियं सूइतं, तंजहा–अणिमा लघिमा महिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं ईशित्वं वशित्वं यत्र कामावसायित्वं, सिद्धे वा अदुक्खमनुभवतेत्ति, एते चेव अट्ठविधा सिद्धा ते, इच्छाए सुहं वा दुक्खं वा भवति, एत्थवि सिया एत्थवि णो सियत्ति एरिसओ भवामि, एरिसमिति एरिसओ देवो भवामि, एरिसओ वा पुरिसो, इच्छियरूपो, इस्सरिओ वदे–देवे, एरिसया च मे सद्दादयो विसया भवंतु, एवमादि आसंसप्पयोगं पुरतो काउं णो विहरेज्जा, स एवं भिक्खू सद्देहिं अमुच्छितो जाव फासेहिं विरतो कोहातो जाव मिच्छादंसणसल्लाओ जहा अमुच्छितो सद्दादिएसु विसएसु सुभेसु, असुभेसुवि अदुट्ठे, विरतो कोहातोत्ति णिग्गहपरो, णिक्खीणा सव्वसो चेव, उत्तरगुणा एते सुत्ता अमुच्छतेत्ति, इति से माहणा आदाणतो इतिः परिसमाप्तौ उपप्रदर्शने वा, कस्स आदाणं ?, कोहादि ४, अथवा आरंभो पयणादि परिग्गहो वा सचित्तादि कामभोगा सण्णातगा सरीरं वा, महंति–महंतं एतं कम्मादाणं, सद्दाणं अमुच्छितेऽद्वेषो वा यथाऽग्निः क्षीणेंधनो उवसंतो ण डहति उवसंतो मोक्खं तु धम्मेसुट्ठितो उपसृत्य उपरतो हिंसादिकर्म्मसु आयरियसगासे वा अविरतिप्रतिविरतो पडिविरतो स भिक्खू भवति, जे इमे तसथावरा विपर्यार्थं अचिन्त्यत्वादुपदेशकत्वाच्च पूर्वं च तसा उ पत्तो, तेऽवि पयार्थं

पुंडरीकाध्ययनं

॥३३२॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३३३॥

णासइ समारभंति पव्वइ योगत्रिककरणत्रिकेण, अहिंसा गता, से भिक्खू जे इमे सचित्ता मीसा सद्दरूवा कामा गंधरसफासा भोगा सचित्ता दुपदादि दुपदेसु सद्दादि इत्थीपुरिसगीतहसितभणितसद्दा कोइलसुयमयणसलागा हंसाण वा, एतेसिं चेव अलंकिताणं मणुआणं तिरियाणं च हंसमयूराणां, रूवसंपण्णे णामेगे णो रूवसंपण्णे० चतुब्भंगो, चउप्पदसद्दा हयहेसितहत्थिगुलगुलाईयं वसभढक्कितादिरूवं एतेसिं चेव अण्णेसिं च, अपया सद्दा पोसवणपवादादि वातेरियाण वा सालीणं रुक्खाणं तणाणं वा अचित्ताणं 'तेसिं णं भंते! तणाणं मणीण य केरीसए सद्दो किण्णरवरित्यादि विभासा, वीणादीणं वा मीसाणंपि भासितव्वा, सद्दे वेणुसद्दो रूवे अलंकिताणं, वुत्ता कामभोगा, सचित्ता गंधा दुपदाणं पद्मोच्छ्वासा माणुआ, रसो तत्थेव, फासो इत्थीणं, चउप्पदे विदाणं गंधो रसोवित्थ तत्थेव, फासो आसट्ठादीणं रसेसु पुप्फफलाण फासे हंसतूलादीणं, एते कामभोगे योगत्रिककरणत्रिकेण णेव सयं परिगिण्हेज्जा ३, से भिक्खू जं इमं संपराइयं कम्मं कज्जइ, सम्पराए भवं संपराईयं संपरेंति वा जेण तासु संपराइयं, अव रक्षणादिपु न कृतं मात्रं संवेद्यते, तच्च तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासातनोपघातैर्बध्यते जाव अन्तराइय ते कर्म्महेतवः नापि स्वयं करोति ३ से भिक्खू जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४ आहारो, इदाणिं यस्मादुक्तं 'नाशरीरश्चरेत् धर्मं, नाशरीरस्तपश्चरेत् । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन, कर्त्तव्यं देहरक्षणम् ॥ १ ॥' उक्तं च "धम्मं णं चरमाणस्स पंच णिस्साठाणा पण्णत्ता इत्यादि" कंठयं, अह पुणेवं जाणेज्जा विज्जति तेसिं परक्कमे हिंसादिप्रवृत्तिः, पराक्रमः प्रकरणमित्यर्थः, आतपरउभयपराक्रमः स्वभावः धर्म्मः जस्स अट्ठाए अप्पणो परस्स य भंगा ४, चेतितं कृतं करिज्जमाणं वा तत्किमर्थं ?, उच्यते–अप्पणो पुत्ताईणं भोजणाएत्ति, भुज पालनाभ्यवहारयोः यत्पालनीयं अभ्यवहरणीयं च वस्त्राभरणादि आहारश्च, एवं तस्स अट्ठाए णिट्ठिते, तस्स णिट्ठितं भंगा ४, उग्गमे १६, उप्पादणाए १६, एसणा १०, पसत्था,

क्रिया-ध्ययनं

॥३३३॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३३४॥

शसु हिंसायां शशति तेनेति शस्त्रं–अग्न्यादि सत्थेण क्रामितं जीवभावात् सत्थादीनां सत्थेण अजीवभावात्, परिणमितं जीविता वा, पारणामितं वण्णादीहिं, अवहिंसितं उग्गमदोसादी, तं एसणिज्जं एसियं वेसियं न इत्यादि, अहवा जहा वेसीयाणि रूपादि जोएत्ति तंपि सामुदाणियं एतत्प्रज्ञस्यासणं पिण्डकप्पियस्येत्यर्थः, अहवा पण्णग्गहणे कुसणं घेप्पेत्ति असणग्गहणा दुरुयणो अयवावादि वा, कारणट्ठा वेदणादि, पमाणं बत्तीसं, बिलमिव जहा बिले पण्णउ पविसति ण य तं बिलं आसातमितिकाउं सम्मिलावेंति तडाइं, जहा वा किंचिवि लेट्ठुं घेज्झति, पातं बिलं संमिलावेंति आसादेन्ति वा, पण्णउत्ति जहा पण्णओ किंचि मंडुक्कादि अणासादितो ग्रसति, भूतेण तुल्लेणं, एवं साधूवि णो वामातो हणुवातो दाहियं दाहिणओ वा वामं, अण्णं अण्णकाले, कालो दुविधो–गहणकालो परिभोगकालो य, छुहितो भिक्खावेलाया, अकाले वरसे, तिसितो पाणं पिवति, पुव्वं च भुंजेति मज्झे पाणगं पिवति, वत्थं जम्मि काले परिभुज्जति उदुवासेसु वा, वासे वा वासत्ताणं, सीते वा लेणं, लयति लीयतेऽस्मिन्निति लेणं सेज्जा गहिता, जहा य सोतव्वं पडिमापडिवण्ण-एणवि णएणवि सेज्जाए वसति, सुसाणादिसु उडुबद्धे, वासासु सेज्जं उवलीयति, सेसा णिच्चं सेज्जामयंति, सयणं सयणकालेत्ति संथारसेज्जा गहिता, जयणाय विहिणा सुप्पति, से भिक्खू मात्रज्ञः आहारोवधिसयणखाध्यायध्यानादीनां मात्रां जानातीति, अण्णतरं दिसं वा रीयमाणे आइक्खेज्ज धम्ममाइक्खे जहा धुते, से भिक्खू धम्मं कहेमाणो णो अण्णस्स हेतुं पाणवत्थलेणसयण० णो अण्णेसिं विरूवरूवाणं पूयासक्कारसद्दरूवगंधादिकामभोगाणं, णण्णत्थ धम्मं णिज्जरट्ठताए इति खलु हेतुं एवं णिरुवधं णिरासंसं धम्मं, तस्स भिक्खुस्स अंतियं जो सो उड्ढदिसमागतो तीरट्ठी तस्स अंतिए धम्मं सोच्चा नं सद्दहमाणा उट्ठाए धीरा अस्सिं धम्मे सुट्ठिता, ते एवं सव्वोवगता सर्वात्मना उपगता इत्यर्थः, बाहिरेण अभिंतरकरणेण य आचार्यसमीपं गत्वा उपेत्य

क्रिया-ध्ययनं

॥३३४॥

संतो सर्वतो सव्वामेव संता, उण्होदगं वा उसिणं होऊण पच्छा कमेण सर्वात्मतया णिव्वुडा परिणिव्वुडा, एवं सो भिक्खू धम्मट्ठी, से बेमि पाईणं वा ६, एत्तो आरंभेऊण जाव परिणिव्वुडे बेमित्ति, एवमवधारणे से इति स भिक्खू एवंगुणजाईओ धम्मेण वा जस्स अट्ठो ३, धम्मं वा वेत्तीति धम्मविदु, णियागं णाणादी ३ चरित्तं वा, से जहामेत्थं वुइयंति से इति निर्देशः येन प्रकारेण यथा, जं एत्थ अज्झयणे किंचि वुत्तं तं सव्वं वुइतं, अदुवा एत्तो पोंडरीयं तं सव्वं वुइतं केवलणाणं, जहा पत्ते तहा वुत्तं, अदुवा अपत्ते अण्णउत्थिया तंपि वुत्तं, एवं से भिक्खू कतरो जो तिण्णि णाणादीणि उप्पाडेति सो वुत्तो, स एव परिण्णायकम्मे भवति, दुविधाए परिण्णाए पावाइं कम्माइं जस्स परिण्णाताइं, एवमेव तु बाहिरब्भन्तरेसु वत्थेसु रागदोसादिलक्खणो संगो, गृहं समृद्धं सकुडुकवाडादिलक्खणं कलत्रमित्रपुत्रादि, एयंपि दुविधाए परिण्णाए परिण्णातं, कोधादि उवसंते, एतेहिं तिहिं कम्मसग्गेहिं णिहिवासेहिं असज्जमाणे उवसंते भवति, रियादिसमितो णाणादिसहितो सदा सव्वकालं जतेत्ति जतेज्जा, हितजाते जतिया जतो, अहवा को उवसंतो ? जो समितो, को समितो ? णाणादिसहितो, को सहितो ? जो सदा जतेत्ति, सेत्ति णिद्देसे स एवंगुणजातीयो वक्तव्यः, तस्सेवंगुणजातीयस्स भिक्खुस्स इन्द्रशक्रपुरन्दरवत् नामानि भवंति, तद्यथा—समणेत्ति वा माहणेत्ति वा सर्वाणि, श्रमु तपसि खेदे च, श्रमणा, अथवा तो समणो०, ब्रह्म अणतीति ब्राह्मणः, अथवा माहणा ण हणतीति २, खमतीति खंतो इन्द्रियणो० इति, त्रिभिर्गुप्तः, बाह्याभ्यन्तरग्रन्थमुक्तत्वात् नीगंथत्ति मोक्षं ऋषिर्वेत्यर्थः, करोतीति कृतुः यज्ञः, यती प्रयत्ने यतत इति यतिः, विद्—ज्ञाने विद्वान् विदु मुणितं गमितमित्येकोऽर्थः मुनतीति मुनिः भिक्षणशीलो भिक्षुः रागद्वेषविमुक्तस्वात् लूहे संसारतीरेण जस्स अट्ठो स भवति तीरट्ठी चरंति तदिति चरणं व्रताभ्युपगमं कुर्वन्तीति तदिति करणं पडिलेहणादि पारमन्तगमन-

मित्येकोऽर्थः, चरणकरणपारं विदंतीति चरणकरणपारविदुत्ति वेमि, एवं ब्रवीमि तीर्थकरवचनात्, अज्झत्थहम्मो जंवुणामस्स कहेति ॥ पौंडरीकाध्ययनं समाप्तम् ? ॥

किरियट्ठाणस्स अभिसंबंधो–एवं तेण चरणकरणपारगेण विदुणा भिक्षुणा कम्माणं खवणट्ठमब्भुट्ठितेण कम्मबंधणट्ठाणाणि वज्जेतव्वाणि तव्विवरीताणि य मोक्खबन्धट्ठाणाणि आसेतव्वाति, एस संबंधो, अहवा ते अण्णउत्थिया कहं संसारं अणुपरियट्टंति ?, कम्मणा, तं कम्मबंधं वज्जेति, इमेहिं बारसहिं किरियट्ठाणेहिं वज्झति, मुच्चति तेरसमेणं, एतेणाभिसंबंधेणं किरियट्ठाणं णाम अज्झयणं आगतं, तस्स चत्तारि अणुओगद्दारा वण्णेतव्वा, अहिगारो पुणाइं संबंधे तह बंधे मोक्खे अ, आह–अस्तु तावं मोक्खेणाधिकारो, बन्धेन किं प्रयोजनं ?, उच्यते–अनेनाबन्धे मोक्खो न भवतीति अतो बन्धेनाप्यधिकारो भवति, तच्च क्रियास्थानं क्रियावत्स्वेव भवति नाक्रियावत्सु, ते च क्रियावन्तः केचिद् बध्यन्ते केचिन्मुच्यन्ते तेण इमस्स अज्झयणस्स बंधमोक्खेण य वुत्तो अधिकारो। इदाणिं णामणिप्फण्णे किरियाठाणं, किरियाओ णिक्खिवियव्वा ठाणं च, किरियाओ पुव्वभणिताओ पडिक्कमणए 'पडिक्कमामि पंचहिं किरियाहिं' किरिआ णिक्खिवितव्वा णामादि, दव्वे किरिएजणया ॥१६६॥ गाहा, जीवस्स अजीवस्स वा जा किरिया सा दव्वकिरिया, एंजृ कंपने, एजते इत्यर्थः, एजनं कम्पनं गमनं क्रियेत्यनर्थान्तरं, तत्र जीवनोदना कर्मणो गुरुत्वात् विस्रसायोगाद्वा या गतिः सा सव्वा अनुयोग इतिकृत्वा द्रव्यक्रिया; द्रव्यजीवस्येह प्रयत्नपूर्वकत्वेनापि सति या परप्रयोगादनुपयोगाद्वा ईषदपि कम्पनं अप्यन्ते चक्षुर्निमेषमात्रमपि सा दव्वकिरिया, भावकिरिया उपयोगपापकरा णिज्जसमुदाणो इरियावद्धसम्मत्ते मिच्छत्ते, सम्ममिच्छत्तोपयोगो तिविधो मणप्पयोगादि ३ नास्फुरद्भिर्मनोद्रव्यैरात्मनो योगो भवतीति मणप्पयोगा किरिया एवं वाक्कायद्रव्यैरपि, उक्तं



अथ द्वितिय्-श्रुतस्कन्धस्य द्वितियं अध्ययनं आरभ्यते

हि 'भेण्हइ य काइएणं०' कायकिरिया गमणादि, उवायकिरिया द्रव्यं येनोपायेन क्रियते, यथा पटं वेमनलिकांछणितुरिविलेखनादिभिः पटसाधनोपायैः शिक्षितप्रयत्नपूर्वकं पटकारः करोति, एवं घटादिष्वपि आयोज्यं, करणं णाम यद्येनोपायेन करणीयं द्रव्यं तत्तेनैव क्रियते नान्यथा, अथवा करण हितं, करणीयान्मृत्पिण्डात् घटः क्रियते नाकरणीयात् उपदग्धाच्छक्यते पाषाणसिकताभ्यो वा, समुदाणकिरिया णाम समित्येकीभावे जं कम्मं पयोगगहितं तं पसिट्ठाएऊण समुदयसमुत्थं पुट्ठणिधत्तणिकाचितं स्थित्युपायापेक्षं करोति सा समुदाणकिरिया, उक्तं हि–'कम्मं जोगणिमित्तं बज्झति०' सा य पुण समुदायकिरिया असंजतस्स संजतस्स अप्पमत्तसंजतस्सवि जाव सकसायया ताव कीरति, इरियावहिया पुण छउमत्थवीतरागस्स केवलियस्स जाव सजोगित्ति, किरियाट्ठाणं पुण एक्कं चेव सयोगी, सम्मत्तकिरिया णाम जावतियाओ सम्मदिट्ठी कम्मपयडीओ बंधति, प्रायेण अपसत्थाओ ण बंधति, इदाणि मिच्छादिट्ठी सव्वासि कम्मपयडीणं मिच्छादिट्ठीओ बंधओ होइ आहारगतित्थगरत्तं च मोत्तूणं, सम्ममिच्छादिट्ठी इदाणिं जाव कम्मपगडीओ बंधति येन बंधति जयाओ विभासियव्वाओ, तंजहा–सम्मामिच्छादिट्ठी मिच्छत्तं पंचगं आहारगतित्थकरविभासा 'णिद्दाणिद्दा पयलापयला थीणद्धि णं बंधतु एवं' तु एवमादि इदाणिं। ट्ठाणं–णामं ठवणा दविए खेत्तऽद्धा ॥१६७॥ गाहा, जहा लोगविजए तहा, तओ भणियव्वाओ किरियाओ ट्ठाणं च, एत्थ कतराहि कतरेण वा ट्ठाणेणं अधिकारो?, तत उच्यते, समुदाणिमाणिहणयोगट्ठा समुदायकिरियाहिं अधिकारो बंधणबंधणयो अधिगारो सम्मपयत्तेण भावकिरियाओ, ठाणं च, एत्थ कतराहिं कतरेण वा ट्ठाणेणं?, आह–किं इरियावहियाकिरियाए णो अधिकारो?, उच्यते, सा संमपयत्ते ट्ठाणे वट्टमाणस्स भवत्येव, ताइं पुण सम्मपयत्ताइं भावठाणाइं विरती संजमट्ठाणं लोगोत्तरियो परिग्गहो पसत्थभावसंधणा यत्ति एतेसु वट्टमाणो इरियाबंधओ



॥३३७॥

वा अवन्धओ होज्जा, जो पुण अपसत्थेसु भावट्ठाणेसु सो णियमा पायोगियं वा सामुदाणियं वा संपराइयं वा बंधति, अर्थापत्तिश्चात्र द्रष्टव्या, समुदाणीयग्रहणात् इरियावहियावि गहिता, पसत्थभावट्ठाणगहणा अपसत्थट्ठाणमवि गहितं, एताहिं किं कज्जति ?, उच्यते, किरियाहिं पुरिसा पावाइयाओ सव्वे परिक्खिज्जा, तंजहा—धम्मेति लोयाणुगामियभावं पडिसंधाय तत्थावासे भवति महेच्छे महारंभे, तहा धम्मपक्खेवि पुणो तउवकरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठेत्ता इति वक्ष्यामि, तत्थ धम्मिया धम्मिट्ठा से जहाणामए अणगारा भगवन्तो तिधा पावाइया परिक्खिज्जंति मंडलवाहिंडिता अगणिकायपाती य, णिज्जुत्ती समत्ता। सुत्ताणुगमे सुत्तमुच्चारेयव्वं—सुतं मे आउसं तेणं भगवता इह खलु(सं)जूहेणं (सू० १७) जूहे संजूहः संक्षेपः समास इत्यनर्थान्तरं ये ते क्रियावन्तः ते सव्वेवि एतेसु दोसु ठाणेसु वट्टंति, तंजहा—धम्मे अधम्मे च उवसमे या अणुवसमे या, धर्म एवोपशमः उपशम एव च धर्मः, उभयावधारणं क्रियते, अथवा उपशमाद्धर्मो भवतीति तेन धर्मग्रहणे कृतेऽपि उपशमस्य क्रियते ग्रहणं, एवं अधर्मे अनुपशमे च विभाषा, अर्चितत्वात् पूर्वं धर्मस्योपशमस्य च ग्रहणं कृतं, इतरथा हि पूर्वमधर्मोऽनुपशमश्च भवति पच्छा धम्मं उवसमं च पडिवज्जेति, तेण एते दो चेव पक्खा भवंति, तंजहा—धम्मपक्खो अधम्मपक्खो य, तस्स पढमस्स ट्ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगो विभाग इत्यर्थः, इह च खलु पाईणं वा ६ संतेगतिया मणुस्सा जाव सुरूवा वेगे, तत्र घातो हिंसा मारणं दंडः अधर्म इत्यनर्थान्तरं, तेसिं पुण सव्वेसिं अधम्मपक्खे वट्टमाणाणं इमेतारूवं दंडसमादाणं संपेहाए जाव हिंसापरद्धस्स दंडः क्रियते एव, अत्र अधम्मपक्खे अणुवसमे य वट्टमाणस्स दंडस्स समादाणं ग्रहणमित्यर्थः, सपेहाएत्ति संमं पेहाए दट्ठूणं, तंजहा—णेरइएसु तिरिक्ख० मणुस्सेसु देवगतीए य एतावं ता, पाणादिकं तु जाव वेमाणिएसुत्ति, मणुस्साणं दंडसमादाणं समीक्षितुं आह—

यदि मणुस्साणं चउगतिसु दंडसमादाणं सेसाणं णेरइयतिरियदेवाणं तेसिं णाम किरियाट्ठाणेसु वट्टमाणाणं दंडो णत्थि ?, उच्यते, अस्ति, कथं ?, जे यावण्णे तहप्पगारा, अण्णे मणुअवज्जासु तिसु गतिसु, प्रकार इति सादृश्ये शरीरेन्द्रियादि, णेरइयदेवाणं पुण्णादिलक्षणत्वात् शरीरसादृश्यमस्ति, तिरिक्खजोणियाओ ओरालियशरीरसादृश्यं इन्द्रियसादृश्यं, 'विन्नू वेयणं वेयंति' 'विण्णू' संज्ञानग्रहणं इन्द्रियाणां च तानि केषांचित् सगलाणि, इंदियणिमित्तं चेव, उक्तं हि–"भवपच्चइयं देहं०" गाथाओ तिण्णि, अहवा विन्नू वेदेंति य भंगा ४, सण्णिणो वेदणं विजाणंति य वेदंति य, सिद्धा विजाणंति ण वेदंति, असण्णिणो ण जाणंति वेदंति, अजीवा न जाणंति ण वेदयन्ति, एत्थ पुण पढमततिएहिं भंगेहिं अहिगारो, वितियचउत्था अवत्थू, तेसिंपिएयाइंति जहा मणुस्साणं तधा तेसिंपि नेरइय० किरियाठाणाइं भवन्तीति अक्खाताइं, तंजहा–अट्ठादंडे जाव इरियावहियाए। तत्थ पढमे दंडसमादाणे (सूत्र १८) आहिज्जतित्ति आख्यात इत्यर्थः, से जहाणामए केइ पुरिसे आतहेतुं वा आतहेतुंति आत्मार्थं, णातहेतुंति पुत्रदारादीणं अट्ठाए, अगारहेतुंति घरस्स खंभे इट्टकादि वा करोति, परियारोत्ति वासभत्तगचारभट्टआसहत्थिमादि परिवारो, अहवा घरस्सेव वा पडियादिपरिवारं करोति, एवमादीणि अट्ठाए दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं तं च सयमेव णिसिरति, तस्स ताव अण्णे अहिउंजति अण्णे वोहंति, अण्णे मंसादीणं अट्ठाए उद्दवेइ, थावरेवि, अण्णेवि हन्ति अ अण्णे छिंदति अण्णे तच्छेति अण्णे आहारहेतुं खाति वा, एवं अण्णेहिंवि कारवेंति, कीरंतंपि समणुजाणति, योगत्रिककरणत्रिकेण विभासा, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं तत्प्रतिकं सावद्यकर्म पढमे दंडसमादाणे १। अहावरे दोच्चे अणत्थदंडेत्ति (सूत्रं १९) से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे तसथावरा पाणा ते णो अच्चाए अर्चयन्ति तामिति अर्चा–शरीरं तस्य मार्यमाणस्य शरीरमुपयुज्यते यथा मृगं,

एतं हणंति, एवं णो अइणाएत्ति अइणं णाम चम्मं तं वग्घादीवगादीणं, एवं जाव णो अट्ठिमिंजाएत्ति, हिंसिंसु मेत्ति एतेण मम पिता अण्णो वा कोइ मारितो जह कत्तविरियावराह० गाहा स मम चेव अण्णं वा मारेहित्ति जहा दसारेहिं जरासिंधो हिंसिस्सतित्ति गब्भत्थं वा बालं वा मारेति जहा कंसो देवइपुत्ते णो पुत्तपोसणं मारयित्वा पुत्रादीनां मांसानि दास्यंति, पसुपोसणताएत्ति गवां गवाद्याय आसहत्थीण उदण्णमंसादीणि दीयंते, अगारहित्तूणहेण(विद्धिहेतुणा)वा अगारं–गृहं तं बृहयंति इष्टककाष्ठादिभिर्वर्द्धयंतीत्यर्थः, णो समणमाहणेहिं तु समणाणं चरगादीणं पंचण्हं भत्तभावसत्थं वा करेति, एवं माहणाणवि, सव्वत्थ वा सरीरादीणि किंचि एति, से हंता छेत्ता जाव उद्दवेउं उज्झितुं बाले वेरस्स आभागी भवति, वेराणिवि इमेकडादीणं एमेव, जहा पंथं वच्चंतो रुक्खस्स पत्तं छेत्तूणं छड्डेइ, लट्ठीए वा मोडंतो पाणाइं वच्चति, कुहाडिं वा आयुधं वा रुक्खखंधेसु रुक्खडालेसु वा णिवाडेंतो वच्चति, स बाले न किंचि तत्तो पत्तं वा पुप्फं वा आजीवति, केवलमेव वेरं–कम्मं तस्स भागीभवति, अणट्ठदंडे। से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा जाव पव्वयदुग्गंसि वा तणाणि–सेडियभंगियादीणि पत्ताणि पुण सुक्खाणि उस्सविय २ जाव णो दव्वोव० भवतुत्ति अगणिकायं णिसरति ३, योगत्रिककरणत्रिकेणं ३, एवं खलु तस्स तप्पत्तियंति सावज्जेत्ति दोच्चे दंडसमादाणे २ ॥ अहावरे तच्चे दंडसमादाणे (सूत्रं २०) हिंसावेंति एत्तियं अधिज्जति, से जहाणामए केइ पुरिसे से इति निर्देशे, येन प्रकारेण यथा, नाम परोक्षसूचादिषु, केइ अणिद्दिट्ठणिद्देसो कीरती, ममंती ममेव मीयंते तत्र तदीयं पुत्रं भ्रातरं वा दुहितरं वा, अण्णं णाम अणिएल्लियं, अण्णि वेति अणिएल्लियं, जहा कुप्पिसप्पेण खइतो अमचो, अण्णो साहामरत्ति, तेण च सो सप्पो गहितो, तेण चिंतितं—अहं ताव खइओ मतो य, मा एस जीवंतो अण्णंपि लोगं

खाहिति तेण मारेमि, एवं सो अण्णस्स अट्ठाए तं रुप्पं मारेति, अथवा अन्य इति परः पराक्ष्यः अण्णियं हिंसेतीति, एतेण 'कोइ मम मारतो आसि, हिंसंति उद्यतायुधः' एवं जहा सुरायादि, हिंसिस्सतित्ति जहा आसन्नीवो तिवट्टुं, मा मे मारेसतित्ति मारितुमिच्छति, रायाणो वाऽट्ठाणाए खुड्डलए चेव मारेंति, एवं ममं वा अण्णं वा अण्णि वा एक्केकं हिंसतित्ति त्रिकालो भावितव्यः, तसेसु दुपदचतुष्पदअपदादिपु जाव थावरेसु विहिंसिसुत्ति रुक्खसालियं अजाणंतो आवडितो रोसेण छिंदति, उक्तं हि–'एत्तो किं कट्ठतरं जं मू०' हिंसतित्ति रुक्खमालं पडंतं अणामंतं चेव आयुधेण छिंदति, हिंसतित्ति दब्भसूइमादीकण्टए मलेति, यथा वा सांक्यभिक्षुः पलं पत्रं छिन्नं वा, योगत्रिककरणत्रिकेण णिसिरति, तच्चे दंडसमादाणे ३॥ अहावरे चउत्थे अकम्हादंडत्ति-एत्ति आहिज्जइ, (सूत्रं २१) अकस्मात् नाम हेत्वर्थो पञ्चमी अकस्मात्, से जहाणामए केइ तावं पव्वतदुग्गंसि वा सियवत्तीए मृगा एव यस्य वृत्तिः सङ्कल्पो नामाभिप्रायः मृगान् मारयिष्यामीतिकृत्वा गृहान्निर्गच्छति तदेवास्य प्रणिधानं बुद्धिरभिप्राय इत्यनर्थान्तर, अथवा प्रणिधानं, वीतं संगमादीहिं अप्पाणं ण वेत्ति, उक्तं हि–वीतं मयणो सरणो०, विगद्धाए गंता एते मिगत्तिकट्टु जाव णिसिरति से मिगं वधिस्सामित्तिकट्टु, तित्तिरंति वा जाव कविंजलं वा विंधित्ता भवइ, जहा मृगं तहा अन्नं दुपदचतुष्पदं सिरीसिवं वा विंधित्ता भवति, इति खलु से अन्नस्स अट्ठाए जाव से जहाणामए केइ पुरिसे सालिमाइ णिलिज्जमाणे निन्दमाणे अन्नयर अन्नतरस्स हत्थं निसिरति, सत्थं वा अणियगमादि, से समागमे वा मरणकाले सुगंधी तणजातिसालिमाइ छिंदिता भवति, इति (खलु) से अन्नस्स अट्ठाए अन्नं फुसति णाम छिंदति अथवा फुसंत्ति फुसमाणो चेव दुक्खं उप्पाडेति, किं पुण छिज्जमाणे ?, चउत्थे दंडे ४॥ अहावरे पंचमे दंडे (सूत्रं २२) से जहाणामए केइ पुरिसे माईहिं वा पितीहिं वा निल्यमात्मनि गुरुषु

च बहुवचनं अहवा माईहिंति सवत्तीणीओ मातुसियातो पितुस्सिताओ गिहिताओ, पितीहिंति पितुपितृव्यादयः पितृवयंसा वा, सेसाणि भातिमादीणि मित्तं अमित्तंति निग्गहणा, एते चेव पुव्वुद्दिट्ठा मायादीया गहिता, तेसिं एगतरं वा, गतो वा खणखण-उत्तिकाउं घरं अतितवानिति, तं वा मित्तं च अमित्तमिति मित्ते वधितपुव्वेति, सांदृष्टकं क्रियते, अध केइ वधितपुव्वे भवति अजाणतो दृष्टेर्विपर्यासः, दिट्ठिविप्परियासिया, से जहा० केइ पुरिसे **गामघातंसि** वा रातो वा वियालंसि वा दिवसतो वा तावद्-भ्रांतलोचनः अतेणं तेणंति अतेणे हतपुव्वे भवति आसण्णे वा असिमादिणो जइ दिट्ठीविपज्जासो ण हंतो ण मारेंतो तस्स ते सावज्जेत्ति पंचमा किरिया, दंडो घात इत्यनर्थान्तरं, स तु पराश्रयं दण्डं समादियति एभिरिति दंडसमादाणे । इदाणिं प्रायेण आत्माश्रयाणि, ण च एकान्तेन तेसु परस्स ववरोवणं भवति तहावि कम्मबंधो भवतित्तिकाउं किरियाट्ठाणाणि उच्चंति, आदिल्लाइं पुण किरियाट्ठाणत्तेवि सति दंडसमादाणेवि सति दंडसमादाणा वुच्चंति ५॥ **अहावरे छट्ठे किरियाट्ठाणे मोसावत्तिएत्ति** (सूत्रं २३) से जहाणामए मोसवत्तिए आतहेतुं वा सहोढोवि कोइ चोरो गहितो अवलवति णाहं चोरोत्ति, णाइहेतुंत्ति पुत्तो वा से अण्णो वा से कोइ ण एस चोरो णो पारदारिओ, एस भत्तगादी परिवादे सइ, मुसं भणावेइ मोसोवदेसं करेइ एवं तुमं भणेज्जासि, कूडसक्खी वा करेति, अण्णं वा अणुजाणंतेत्ति चेव भणति—सुट्ठु तुज्झेहिं अवलत्तं, योगत्रिककरणत्रिकेण ३ **सावज्जेति छट्ठे किरिया०** ६॥ **अहावरे सत्तमे किरियट्ठाणे अदिन्नादाणवत्तिएत्ति** (सूत्रं २४), आतहेतुं हरिस्सामि इति एवं णेति, अगारपरिवारहेतुं वा हरति, योगत्रिककरणत्रिकेण सावज्जेति **सत्तमे किरिए** ७॥ **अहावरे अट्ठमे अज्झत्थिए** (अज्झत्थवत्तिएत्ति) (सूत्रं २५), से जहा० केइ पुरिसे णत्थि ण च विसंवादेति, यो हि यद्विवक्षुश्चिकीर्षुर्वा-

दित्सुर्वा कस्यचित् किंचित् स यदा अन्येन अपदिश्यते एवं कुरु ब्रूहि वा असंवादेहि स एवं विसंवादिज्ज तो पुण कोइ रुस्सति कोइ तुस्सति, ण एवं केइ विसंवादेति, सयमेव अज्झत्थियचेण हीणो अदीणे दीणे, अथवा समित्येकीभावे सम्यग्वादः विसंवादः, क्षेपः प्रपञ्चः, अन्यं वा किंचिदप्रियं वचनं काममप्रियमुक्तस्य कोपः, स एवं अविसंवादितोवि अकस्मादेव हीणोत्ति हीणे सरतो ओयातो छायातो, दीणो णाम अकृपणोऽपि सन् कृपणवन्निःसंहृतोऽवतिष्ठते, दुट्ठोत्ति अकृतापकारस्यापि प्रदुष्यते, दुष्टमनाः दुर्मणाः, इष्टविषयप्रार्थनाभिमुखं हि मनः तदलाभे अपहृतं भवति, अभिहतमित्यर्थः, मनसा च संकल्पाः मनःसंकल्पचिन्ताः जाव झत्ति तत्क्षणं आत्मानमधिकृत्य वर्त्तते आध्यात्मिका अध्यात्मे संश्रिताः अज्झत्थसंसरया, अथवा युक्तमासंसयमेव समानदीर्घत्वे कृते अज्झत्थया आसंसइया, अहवा संशयः अज्ञाने भये च, संशयं कुर्वंतीति संशयिता, कसाएहिं कषायावृत्तमतिर्न किंचि जानीते, भयं चास्य इह परत्र च भवति, चत्तारि, तंजहा–क्रोधं वा ४, अप्पणो कुज्झति, अगम्मं वा गंतुं, वाया दुरुत्तरं वा काउं अप्पणो चेव रुस्सति, रुट्ठो ओहतमणसंकप्पो अज्झत्थमेव कोहमाणा, सिस्सो पुच्छति–एते कोहादि अज्झत्थतो जाता किं अज्झत्थं भवति ?, उप्पत्तिमाणं भावाणं उभयथा दृष्टत्वात्संसयः, तत्र तावत् तंतुभ्यः पटो जातः तंतुप्रत्याख्यानाय भवति, गोलोमाविलोमेभ्यो दूर्वा जाता, कारणमविलक्षणा भवति, एवमध्यात्मक्रोधाद्या जातो किमध्यात्मं भवति पटवत्सूत्राकारादन्यत्वे आहोश्वि दूर्वा यथा स्वकारणेभ्योऽन्या, एवमध्यात्मं कषाया अध्यात्मवतिरिक्ता वा भवंतीति संदेहः ?, उच्यते–कषायास्तावन्नियमादध्यात्मं च स्यात्, कषायाः स्यादन्यत् खदिरवनस्पतिवत् च, कथं ?, येनाकषायस्यापि अध्यात्मं भवतीति, कथं काए विदु अज्झप्पं अकषायस्यापि कायवाङ्मनोयोगा भवन्तीतिकृत्वा तेऽध्यात्मं भजंते इति, निराश्रयकषायवतो हि कषायिणश्च, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं अट्ठमे

किं० कोवपत्तिएत्ति आहिते ८ ॥ अहावरे णवमे किरियट्ठाणे माणवत्तिएत्ति (सूत्रं २६), से जहा केइ पुरिसे जातिमएण वा अहं जात्यादिविशिष्टः असंकीर्णवर्ण उत्तमजातीय अन्येष्वपि विभाषा, अण्णतरेण मतेणंति, णत्थि एतेहिंतो अट्ठविहेहिंतो मदट्ठाणेहिंतो अण्णं मयट्ठाणं, चरित्तं अत्थि, किंतु संजोगा कायव्वा, तंजहा—जायमयपत्ते णामेगे णो कुलमयमत्ते० जातिमदमत्तेवि कुलमदमत्तेवि एगे, णो जातिमदमत्ते णो कुलमदमत्ते सोवि अवत्थुं, आदिल्ला तिण्णि भंगा घेप्पंति, एवंजातीए सेसावि पदा भइतव्वा, दुगसंयोगो गतो, तिगतिगसंयोगे एगो जातिमदमत्तोवि कुलमदमत्तोवि बलमदमत्तोवि, एवं चउक्कगपंचगछक्कगसत्तगअट्ठगसंजोगा कायव्वा, बुद्धिविभवेण जाव परं हीलेति, परो णाम यो जात्यादिहीनः, अतुल्यजातीयं रत्नं हीलयति लज्जावितिं, एवं जाव अणिस्सरदुर्गतं हीलयेति, निंदितो नाम परजात्यादिन्यूनसमुत्थः, आत्मसमुत्थो मनस्तापः, जहा इमो वराओ हीणजाती दुग्गतओ वेति, मा मरिसउ कोइ कुलो भोज्जो, जोवि केणइ मंदेणवि सिट्ठो तंपि ण णिंदंति, सव्वंगं णाम मएहिंतो सो बलिओ रूविओ अथावि दुजातीओत्तिकाउं, श्मशाने इव, एवं सव्वे संजोगा भाणितव्वा, गरहा णाम परेसिं पागडीकरणं, एस दुजातीओ चंडाले डंबो चम्मारादि वा, परिभवो णाम आत्मनो जात्यादिमदावष्टम्भात् तद्धीनेषु परेषु अवज्ञां करोति, त्रिष्वपि अनभ्युत्थानं न्यूनमासनं असकारिताहारादिप्रदानमित्यादि, इत्तरिओ अल्पप्रत्ययः, इत्वरमित्ययमल्पतरोऽयमसात् जात्यादिभिः असादहं जात्यादिभिर्महत्तर इति अप्पाणं विउक्कसेइ विविधं विशिष्टं वा आत्मानं विउक्कसतीति अप्पाणं विउक्कसे, सो पुण किं जाणइ वराओ ?, एतानि जात्यादीनि मदस्थानानि इहैव भवंति, अथवा बलरूपतपःश्रुतलाभैश्वर्येभ्यः इहापि कदाचिद् भ्रश्यते, किं पुनः परत्र ?, तद्यदि अत्यन्तं जातिमदादीनि भवंति तो किं त्थ मज्जितव्वं ?, इतो पुण देहतो चुतो कम्मवितिओ अवसो पयाति



॥३४४॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३४५॥

तासु तासु उच्चनियतासु गतिसु, उपपद्यत इत्यनर्थान्तरं, रंगनट इव, सो चेव राया भवति, सो चेव राया भवित्ता सो चेव दासः, सो चेव इत्थीवि, को वा तस्स माणो ?, एवं जीवोवि एगता खत्तिओ, अथवा यत्र परवशता तत्र को मानः ?, सर्वः कर्मवशेन, एवं गब्भाओ गब्भं गब्भाओ अगब्भं अगब्भाओ गब्भं अगब्भाओ अगब्भं, मणुस्सपंचेंदियाणं गब्भो सेसाण अगब्भो, जम्माओ जम्मं एवं एक्कभंगो, णरगाओ णरगं चतुभंगो, यावत्स्वकर्म्मवशादेव सुखी भवति दुःखी वा, मृतश्च कर्म्मभिरेव शोभनाशोभनां गतिं नीयते, उक्तं हि–'आकड्ढणं कम्मा, कर्मणं विकड्ढती'ति, एतद्भावे उत्कर्षापकर्षौ कौ नाम ?, जो पुण माणी तस्स अवमानितस्स रोसो भवति तेनोच्यते–चंडे थद्धे चंडे कोधीत्यर्थः, जात्यादिधर्म्मः स्तब्धः, अवमाणितो णिसमा रुस्सति, रुट्ठोऽपि माणंपि, का गतिः तेन ?, क्रोधमानयोर्नित्यमन्योऽन्यस्य विद्यते, चवले नाम० अगंभीरे, मुहुत्तेण अवमाणितो रुस्सति थरथरेति अक्कोसति जात्यादिभिरात्मानं, प्रशंसति मानी यावि भवति, चशब्दः पूरणे अपिः संभावने, माणी अवमाणितो चंडो चवलो च भवति, एवं तस्स माणदोसा सावज्जंति, णवमे किरियाट्ठाणे ९ ॥ अहावरे दसमे मित्तदोसवत्तिएत्ति आहिए ( सूत्रं २७ ) से जहाणामए केइ पुरिसे मातीहिं वा पितीहिं वा जाव सुण्हाहिं वा संवसमाणे तेसिं अण्णतरे निवाइए वा अवराधवइए ताव अक्कोसो वा काएण हत्थेण वा संघट्टे वा उवकरणे वा कम्हियि भिण्णे वा एवमादि लहुमओ–अल्प इत्यर्थः, सीतोदगे वा कायं उवल्लेत्ता भवति, हेमंतरातीसु, उसिणोदवियडेण वा कायं उस्सिंचित्ता भवति, वियडग्रहणा उसिणतेल्लेण वा उसिणकंजिएण वा अगणिकाएण वा उम्मुएण वा तत्तलोहेण वा कायं उड्ढहित्ता भवति, कडएण वा वेढेतुं पलीवेति, सो चेव कडग्गिति वुच्चति, आह–'हिंसाश्रवाः केशव ! मायया वा, विषेण गोविन्द ! दिवाग्निना वा' छिज्जति से सओ कसओ, सेसं कंठयं, उद्दालेत्ति चम्माइं लंबावेति, दंडोत्ति

मानप्रत्ययं ॥३४५॥

लउडओ, अट्ठित्ति कोप्परं, तेण खीलं देति, अंगुट्ठिं अंगुलितलसंघातो, मुट्ठी, लेलू लेट्टुओ, लीलावयति प्रहारेणेति लेलू कवालं, वसकघरमित्यर्थः, कुड्डयतीति आउट्टेति, तहप्पगारे पुरिसे संवसमाणे दुहिता दुम्मणा भवंति, त एव यथा मार्जारे प्रोषिते मूषिकादी सत्था सुहं सुहेण विहरंति एवं तंमि पवसिते वीसत्था घरे ठिया वा णागरगा गामेल्लगा वा, सव्वो वा जणवतो वीसत्थो स्वकर्म्मधर्म्मानुष्ठायी भवति, तहप्पगारे दंडगरुओत्ति वधति चारेंभति वा सव्वस्सहरणं वा करेइ हत्थच्छिन्नत्ति व करेति णिव्विसयं वा करेति, दंडपुरक्खडेति वा दण्डं पुरस्कृत्य राया अयोइल्ला एगट्ठावेति, आउल्लगावि दण्डमेव पुरस्कृत्य करणे णिवेसेन्ति, सव्वालिए ववहरंति, अप्पणो चेव अहिते अस्मिन् लोगंसि कथं किंचि दंडेति सो णं मारेति अहवा पुत्तं अण्णं वा से णिएल्लगं मारेइ वा अवहरति वा अण्णं वा किंचि अप्पियं करेतित्ति तस्स घरं वा से डहति सस्साणि वा चतुष्पदं वा से किंचि गोणं वा अस्सं वा हत्थिं वा घूरेति–अवहरेति वा २, अह ते परलोगंमि एवमादिएहिं पावेहिं कम्मेहिं सुबहुं पावं कम्मं कलिकलुसं समज्जिणित्ता णरगतिरिक्खजोणीसु वा सुबहुं कालं सारीरमाणसाइं पच्चणुभवंति, संजलणेत्ति संजलति यथाऽग्निः, भस्मोपधायी त्वनुयोगादि, सोऽपि लहुसएवि अवराधे खणे २ संजलतीति संजलणा, परं च संजालयति दुक्खसमुत्थेण रोसेण, संजलण एव य कोधणो वुच्चति, एगट्ठिता दोवि, परं च अवगारसमुत्थेण दुक्खुप्पादेण कोपयति, एवं ताव उरंउरेण सयं करोति कारवेइ वा, अण्णो पुणो सयं असमत्थो रुट्ठोवि संतो परस्स दुक्खं उप्पाएतुं पच्छा से रायकुले वा अण्णत्थ वा पट्ठीमंसं खायति चोपनयतीत्यर्थः, पृष्ठिमांसं खादतीति पिट्ठिमंसिओ, एवं ताव अधालहूसए अवराधे जो एरिसं दंडं वत्तयति सो महंते अवराधे दारुणतरं दंडं निवत्तेति, कहं ?, पुत्तदारस्सेव यथोक्तानि दंडस्थापनानि शीतोदकादीनि अवि रोसेण सयं करोति वा कारवेति वा, एवं पुण

केयिवि दोसवत्तियं अट्ठमं किरियाट्ठाणं भावितुं पच्छा भणंति, परे दोसवत्तिय णवमं किरियट्ठाणं पच्छा माणवत्तियं ९ ॥ एवं खलु तस्स सावज्जत्ति दसमे किरियट्ठाणे से जे इमे भवंति गूढायारा 'गुहू संवरणे' गूढो आचारो जेसिं ते गूढायारा वा गलगत्ता सट्ठिलचारो वा, णाणाविधेहिं उवाएहिं वीसंभं जणयितुं पच्छा मुसीत वा मारेति वा जहा पज्जोयेण अभयो दासीहिं हरावितो तमो तिमिरमन्धकार इत्यनर्थान्तरं यथा नक्तंचराः पक्षिणः रत्तिं चरंति अदृश्यमानाः केनचित् एवं तेवि चोरपारदारिया तमसि कार्यं कुर्वन्तीति तमोकाईया, उलुगपत्तलहुएत्ति उलुकाः—पक्षिणः पात्यतेऽनेनात्मा तमिति पत्रं पिच्छमित्यर्थः जहा तं उलुगं पत्तं तणुएणावि वातेण चालिज्जति वा उच्छलिज्जति वा उत्क्षिप्यति वा एवं लहुगधम्मो, जेण इधं थोलगुरुएवि कज्जे उच्छलिज्जति, पव्वयगुरुएत्ति जहा पव्वतो गाढावगाढमूलो संवट्टगवातेणावि ण सक्केति चालेउं वा एवं सोऽवि मायावी मुसावाई, जत्थाणेण लंबो गहितो जं वा असंतेणावि अभियोगेण विणासेतुकामो तत्थ अण्णेहिं अब्भत्थिज्जमाणो वा अवि पादपडणेहिं ण सक्कति उच्छलेतुं, आरियावि संता अणारियाहिं विउदंति, आयरिया खेत्तारियादि, आरियमासाहिं, गच्छ भण भुंज एवमादिएहिं, एते चेवत्थे कलादतालाचरचोरादी आत्मीयपरिभाषाएहिं भणंति, मा परो जाणीहीति, अजाणंतो सुहं वंचिज्जइ, अण्णं पुट्ठा आत्मा न पृष्टः, को विचारान् कथयति ?, एवं कोइ सुट्ठिताए गावीओ पंथे हिरंतो कुट्ठिएहिं णाओ, चोरोत्ति विंदमाणो गहितो, राउलं नीतो, कारणिएहिं पुच्छिओ भणति—णाहं चोरो, पहिउत्ति, अमुगत्थ पट्ठितो, कथंचि समावत्तीए एयासिं गावीणं पिट्ठतो संपत्तमेत्तो चेव गहितो, अथवा कस्सइ किंचि आसिआडितं, पच्छा सो तं चोरं किंचि भणति—अवस्सं एतं अमुगेण हितं भविस्सति, सो य तं जाणंतोवि जहा तेण हितंति भणइ—अमुगेण हितं अण्णेण वा एवमादि अन्नं वागरेति, अण्णहा संतं अप्पाणं अण्णधा

दंसेतित्ति, जहा गलगत्तो णाणाविहेहिं पासंडवेसेहिं अपरं वंचेति, एवं चारिगावि चारेंति, अण्णहा आइक्खंति, जहा पुट्ठो केणइ कोसि तुमं ? मोढेरगातो आगतो भवान् ?, सो भणति–णाहं मोढेरगातो, भवद्ग्रामादायातो, विकंतो वा पुच्छइ कोइ-अज्जो ! निउणं भणत्ति, किणंतो अधियंतो एवं कूडकरिसावणं च्छेयं कूडगंति, से जहा वा केइ पुरिसे अंतो सल्ले मा मे दुक्खाविज्जिहित्ति कंटं णो अणुण्णवति, विज्जेण अण्णेण वा ण णीहरावेति, णो पलिविद्धंसमेतित्ति, नान्येन केनचित् ओसहेण कोत्थति, केणइ वा पुट्ठे दुब्बलो ?, ण एतेण पसवणे पउणतित्ति, मा ससल्लो अज्जवि होज्जा पच्छा एवं एवमियंति, जह से सयं णो उद्धरति एवमेव अण्णेणवि पुट्ठो वेदणभीतो णत्थि सल्लोत्ति गिण्हइ, अविउद्दमाणेत्ति परेण पुट्ठो वा अणालोएमाणो, तेणान्तर्गतेन दुःखेन पोल्लरुक्खोविव अन्तर्गतदावाग्निना अंतो अंतो ज्झोसियाति, एवं एत्थ णं पारदारियादि विरहेणं तप्पंति, अलब्भमाणो पोलरुक्खोविव अन्तर्गतपातकः अंतो अंतो झियाति, आह हि–'तं मित्रमंतर्गतमूढमन्मर्थं' एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः–एवमेव मायी मायाकरो वा अचोरो अण्णो वा पुच्छिज्जंतोवि णो अप्पणो आलोएति, लोउत्तरिओवि किंचि मूलगुणातिचारं वा उत्तरगुणातिचारं वा कट्टु णो आलोएति, आलोचना आख्यानं, प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणं, निन्दा आत्मसंतापे, गरहा परेसिं वा, तस्मात् निवर्त्तनं विउट्टणं णो जधावराहं जं जस्स अवराहस्स अणुरूवं पायच्छित्तं लोगे चरेत्, लोके तावत् अगम्यं गत्वा अगदाद्येव, मद्यं पीत्वा, णिव्विसओ वा, मांसं खाइत्ता माणवो धम्मकोविताणं उवट्ठेति, जाव पच्छित्तं ते दिंति, किंचित् अतिचारं पलंडुभक्खणादि कृत्वा मद्यं वा पीत्वा 'सद्यः पतति मांसेन०' अध्यापकानामालोचयति जाव पच्छित्तं, समये विश्वासाय विरुद्धं कृत्वा सयाणं सयाणं गुरूणं आलोएति, लोगुत्तरेवि एवं चेव णो आधारिधं, मायी अस्सिं लोये मणुस्सलोए, जे ताव गृहस्था मायी सो कदाइ उस्सण्णविदो वा इमं लोगं

णचेव लब्भति, परलोगेण तिरिक्खजोणिएसु अप्पणोगासा पचायंति, जइ कोइ उस्सण्णदोषत्वात् अस्सिं चेव लोगे पचायाति, देवलोगंपि णो लब्भति, कुतो मोक्खो ?, अणालोइए अपडिक्कंतो वा सम्मदिट्ठी जाव णो सिज्झति, परलोए पचायाति, देवलोक इत्यर्थः, किं पुण ?, स एवं मायी, निंदागरहानिंदनादयो मिथ्या, उक्तं हि–'अमायमेव सेवेत' मायी च निन्द्यते लोकेन इत्यर्थः, आत्मानं प्रसंसतीति, सेविता च मए असुद्धं वंचेति अप्पणो तुस्सति, आह हि–"येनापत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यते" णिगरति यदा मायिना परो वंचितो भवति तदा लब्धपसरो अधियं चरतीति णियरतीति, णो णियट्टति–न निवर्त्तते तस्मात् प्रसङ्गात्, उक्तं हि–"करोत्यादौ०" णिसिरियदंडो णाम हरणे माहणाणं वा तं काउं छादेति, ण करेमित्ति, अण्णस्स वा उवरिं छुभति, माई असमाहडलेस्से–हेट्ठिल्लाओ तिण्णि असमाहडलेस्साओ, सम्यग्भिः त्रियोगैरात्मनाऽऽहृत्य असमाहडाओ, उवरिल्लाओ तिण्णि समाहडाओ, ते एवं खलु से मायिस्स अप्पसमाहडलेसस्स सावज्जत्ति आहिते, एक्कारसमं किरियाट्ठाणं ११ ॥ (सूत्रं २८) अहावरे दुवालसमे (सूत्रं २९), एताणि प्रायेण गृहस्थानां गतानि एक्कारस किरियाट्ठाणाणि, इमं पुण पासंडत्थाणं बारसमं किरिया० तेनोच्यते–जे इमे भवंति आरण्णिया अरण्णेसु वसंतीत्यारण्णिया तावसा, ते पुण केइ रुक्खमूलेसु य वसंति, केइ उदएसु, आवसहेसु वसंतीत्यावसत्थिगा, गामे अंतिका ग्रामाभ्यासे ग्रामस्य ग्रामयोर्वा ग्रामाणि वा अंतिए वसंतीति ग्रामणियंतिया, ग्राममुपजीवन्तीत्यर्थः, कण्हुईरहस्सिया, रह त्यागे, किंचिद्रहस्सं एषां भवति यथा होमं मंत्राश्च आरण्यगं वा इत्यादि, सर्वे वेदा एषां रहस्सं येनाब्राह्मणाय न दीयन्ते, णो बहुसंजता णो संजता णो बहुएसु जीवेसु संजता, पंचिंदिए जीवे ण मारेति, एगिंदियमूलकन्दादि उदयं अगणिकायं च वधेति, संयमो नाम यत्नः, विरती वेरमणं जहा मए असुओ ण हंतव्वोत्ति, पच्छा तेसिं चेव जेसु

विरतो तेसु जतणं करेति, मा मे मारेस्सामित्ति, अथवा संजमो विरती एगट्ठा, सव्वपाणजीवसत्तेहिं, अथवा णो बहुसंजओ–बहुसंजओ णो बहुविरते अप्पणो सच्चामोसाइं एवं विउंजंति, सच्चं मोसं कतं, तंजहा—अहं न हंतव्वो अण्णो हंतव्वो, ब्राह्मणा न हंतव्याः, ब्राह्मणघातकस्य हि न संति लोकाः, शूद्रो हन्तव्यः, शूद्रं मारयित्वा प्राणायामं जपेत् विहमि(न्नी)तिकां वा कुर्यात् किंचिद्वा दद्यात्, अनस्थिकानां सत्त्वानां शकटभरं मारयित्वा ब्राह्मणं भोजयेत्, हणणं–पिट्टणं, आज्ञापनं अमुगं कुरु अमुगं देहि चेत्येवमादि, परितावणं–दुक्खावणं, परिघेत्तव्वंसि दासमादि परिगेण्हति, उद्दवणं मारणं, जहाऽतिवातातो अणियत्ता तधा मुसावादादि ३ जहा एतेसु आसवदारेसु अणियत्ता एमेव इत्थिकामा भारिया, उक्तं च–"मूलमेयमहम्मस्स०" आह च–"शिश्नोदरकृते पार्थ", अथवा इत्थियासु सद्दादयो पंचवि कामा विद्यंते इति, उक्तं च—"पुप्फफलाणं च रसो०" मुच्छिता गिद्धा जाव अज्झोववण्णा जाव वासाइं चतुःपंच, पंचग्रहणं छसत्त जाव छद्दसमाइं, मज्झिमो कालो गहितो, परेण कम्हा ण गहितो जाव वीस तीस सयंति वा ?, उच्यते, एते प्रायेण अण्णउत्थिया भुक्तभोगा अवचोपादानाइं काऊणं पव्वयंति, भोगपिवासाए वा भोगे केवि हरंति, जीवंतित्ति गतवया जाव अवचाइं उपादेंति, थोवंतियं ताव चेव से वयो भवति, आह हि–"या गतिः क्लेशदग्धानां०" तेन चतुःपंचग्रहणं, उक्तं च–"सोयसु न घरेण मुहे०" एवं ताव तेसिं थेरपव्वइताणं एस कालो उस्सग्गेण भणितो, पच्छा सुत्तेण चेवऽवदिसति, एतस्मात् यथोद्दिष्टात् अप्पतरो वा भुजतरो वा, एकं दो वा तिण्णि वा वासाइं गहिताइं, भुजतरो भवति, दसण्हं परेण जाव सतं बालपव्वइताणं, जहा सुगल(सु)तस्स, जणे णासित्ति जणो न जातो, एवं ताव ते पव्वइता अणियत्तभोगा, यथा शास्त्रोक्ता, आधाकर्म्म आहारो आवसहसयणोवादाणस्नानगन्धमाल्यादिभोगा भुंजंति, त एवं अणियत्तकामा कालमासे कालं किच्चा

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३५१॥

अण्णतरेसु आसुरिएसु किव्विसिएसु जेसु सूरो णत्थि ट्ठाणेसु, ताणि पुण अधे लोए सूरो णत्थि, तत्थ भवणवइवाणमंतरा देवा तेसूववज्जंति, किव्विसं कलुसं कल्मषं पापमित्यनर्थान्तरं, किव्विसबहुला किव्विसिया, ततोवि किव्विसियातो विप्पमुच्चमाणा जइ किहवि अणंतरं परंपरं वा माणुस्सं लब्भंति तहावि एलमूयत्ताए, एलओ जहा बुब्बुएति एवंविधा तस्स भासा भवति, तमोकाइयत्ताएत्ति जात्यन्धो भवति बालंधो वा, एवं खलु तस्स दुवालसमो १२, इच्चेताणि दुवालसकिरिया० संसारियाणि प्रायेण मिथ्यादर्शनमाश्रित्य, दविओ रागदोसविप्पमुक्को समणेत्ति वा माहणेत्ति वा एगट्ठं, सम्मं पडिलेहितव्वाणि भवंति, ज्ञात्वा न कर्त्तव्यानीत्यर्थः ॥ अहावरे तेरसमे किरियट्ठाणे ईरियावहिएत्ति आहिए (सूत्रं ३०), ईरणं–इर्या ईर्यायाः पथश्च तत्र जातं ईर्यापथिकं, ईरणं ईर्या, ईरणात् पथश्च जातं, तत् कुत्र भवति ?, उच्यते–इह खलु इह प्रवचने खलु विशेषणे, नान्यत्र भवति, कस्य बध्यते ? आत्तत्ताए आत्मभावः आत्मत्वं, आह–सर्व एवायं लोकः आत्मार्थं प्रवर्तते ?, उच्यते, येनात्मानं निश्चयेन हितं, तर्ह्यनात्मवतां कर्म्म ?, अशोभनश्चात्मा अनात्मैव, लोकेनापदिश्यते, यो हि दुर्विहितो भवति सः अनात्मैवापदिश्यते, आह हि– "अनात्मना चैष दुरात्मवृत्तिः०" यस्य च नित्यो जीवस्तस्यात्मार्था प्रवृत्तिरयुक्ता, येषां चात्मा नित्यः, कर्मफलं न च, तेषामन्यः करोति अन्यः प्रतिसंवेदयते, इन्द्रियानिन्द्रियसंवुडे अणगारः, ईरियासमियस्स जाव उच्चार० मणसमितस्स वइ० काय०, सम्यग्योगप्रवृत्तिः समितिरितिकृत्वा अट्ठ समिइओ गहियातो, मणोगुत्तस्स वइकायगुत्तस्सत्ति तिण्णि गुत्तीओ गहिताओ, एते पुण तिण्णिवि कायवायमणा य सम्यक् प्रवर्त्तमानस्य समितीओ भवंति, एतदेव त्रयोऽपि योगाः 'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति'रितिकृत्वा गुप्तयो भवंति, पुनः गुप्तिग्रहणं एतावान् गुप्तिगोचरः, नातः परं गुप्तिरन्याऽपि दृश्यते, 'गुत्तबंभचारिस्स'त्ति जस्स णवहिं बंभचेरगुत्तीहिं

ईर्यापथ-क्रिया

॥३५१॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३५२॥

गुत्तं बंभचेरं भवति सो गुत्तबंभचारी, 'आउत्तं'ति णिच्चमेव संजमे उवउत्तो, मा मे सुहुमा विराहणा होज्जत्ति अप्पमत्त इत्यर्थः, बाहिरतो वा तस्स आणणं करेति, माणस्स अवमाणस्य कोट्ठस्य प्राणनं कुर्वतः प्राणनमानस्य, चिट्ठमाणस्स णिसीयमाणस्स तु-अट्टमाणस्स वा आउत्तं वत्थं णिक्खिवमाणस्स वा पडिलेहितुं पमज्जितुमित्यर्थः, जाव चक्षुःपक्ष्मं यावत्परिमाणावधारणयोः, पश्यतीति चक्षुः चक्षुषः पक्ष्माणि अक्षिरोमाणीत्यर्थः 'णिवायमवि'त्ति उम्मेसणिमेसं करेमाणो इत्युक्तं भवति, एवमादि अण्णोवि कोइ सुहुमोवि गायसंचारो भवति, तंजहा—जाव जीवो सजोगी ताव णिचलो ण सक्केइ होउं, उक्तं च—'केवली णं भंते! अस्सिं समयंसि जेसु आगासपदेसेसु' सव्वो आलावगो भाणितव्वो, एवं सजोगीकेवलीणो सुहुमा गत्तादिसंचारा भवंति, कम्मयसरीराणुगतो जीवो तत्तमिव च उखास्थमुदकं परियत्तति तेण केवलिणो अत्थि सुहुमो गात्रसंचारो, विषमा मात्रा वेमाता कदाचिच्छरीरस्य महती क्रिया भवति स्थानगमनादि कदाचित् उस्सासमुहुमंगसंचालादि अप्पा भवति, स पुनर्महत्यामल्पायां वा चेष्टायां तुल्यो भवति, कालतो द्रव्योपचयतश्च, कालतस्तावत् सो पढमसमए बज्झमाणो चेव पुट्ठो भवति, न तु संपराईयस्सेव, जोगनिमित्तं गहणं जीवे, अज्झत्तं बज्झमाणं चेव परस्परतः पुष्टं भवति, संश्लिष्टमित्यर्थः, बज्झमाणं चेव उदिज्जति, वितिए समए संवेदिज्जति, ततिए समए णिज्जरिज्जइ, प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशक्रमश्च वक्तव्योऽत्र, तस्स पगडिबंधो वेदणिज्जं, ठितीए दुसमयठितिसमयियं, पदेसतो बादरं, थुल्ला पोग्गला, अणुभावतो सुभाणुभावं, परं सातं, अणुत्तरोववातिगसुहातो, प्रदेशओ बहुप्रदेशं, अथिरबंधं, उक्तं च—"अप्पं बादरमउअं०" अप्पं ठितीए, बादरं पदेसेहिं, अणुभावतो सुभअणुभावं, बहु पदेसतो, सुक्किलं वण्णतो, सुगंधं गंधओ, फासतो मउअं, मंदलेवं थुल्लकुडुलेववत्, महव्वयं बहुअं एगसमएण अवेति, सातबहुलं अणुत्तराणवि तारिसं सातं

ईर्यापथक्रिया

॥३५२॥

णत्थि, बंधो फुसणा य अत्थि, संपराइयस्सेव बद्धपुट्ठणिधत्तणिकायणा य णत्थि, रोयकाले अकम्मं वावि भवति 'सेय-कालो'त्ति एस्सो कालो, सेत्ति णिद्देसे, ईरियावहियाए कम्मे अकालो, तस्स दोण्हं समयाणं परेणं अकम्मं वावि भवति, चशब्दो-ऽधिकवचनादिषु, तथा वेदनं पडुच्च अकर्म, तीतभावपण्णवणं पडुच्च कम्मं गुडघटदृष्टान्तो, दुविधा कम्मशरीरा बद्धेल्ला य मुक्केल्ला य, गुकिल्लए पडुच्च कम्मं, एवं चग्रहणेन संभवता चसद्देण च लब्भति, एवं खलु तस्स सावज्जंति आहिज्जति एवं ताव वीतरागस्स, जे पुण सरागसंजता तेसिं संपराइया, ते पुण जाइं एताइं ईरियावहियवज्जाइं बारस किरियट्ठाणाइं तेसु वट्टंतिचिकाउं ते तत्थऽणुव्वया, तेसिं प्रमादकषाययोगनिमित्तो संपराइयबंधो होइ, जत्थ प्रमादतः तत्थ कषाया य जोगा य णियमा, जोगे पुण पुव्विल्ला भजिता, पमादपच्चइयो णातिदीहकालट्ठितीओ होति, कषायपच्चइया वा ऊणतरो अंतोमुहुत्तिओ वा अट्ठसंवच्छरिओ, जो पुण कसायविरहितेण जोगेण बज्झति सो य ईरियावहिओ, हेट्ठिल्ला पुण सावज्जा चेव बारस किरियाट्ठाणाइं भवंति, एवं पव्वइओ वा उप्पव्वइओ वा, एवं सरागसंयतस्स सावज्जो चेव, एताइं पुण तेरस वद्धमाणसामिणा वुत्ताइं तहा किमण्णेहिं वुत्ताइं? आगमेस्सी वा भणितिहिंति १, उच्यते—से वेसि जे अतीता ३, एताइं तेरस किरियट्ठाणाइं पगासिंसु वा २ जहा जंबुदीवे दुवे सूरिया तुल्लं उज्जोवेंति, यथा वा तुल्यस्नेहोपादानात्प्रदीपास्तुल्यं प्रकाशयन्ति, वीतरागत्वात् सर्वज्ञत्वाच्च तुल्यमेवार्हन्तो भगवन्तः तीता-नागसंपत्ता भासिंसु वा ३, अदुत्तरं च णं तेभ्यः क्रियास्थानेभ्यः अथ उत्तरं अदुत्तर, यथा वैद्यसंहितानां उत्तरं जं मूलसंहि-तासु श्लोकस्थाननिदानशारीरचिकित्साकल्पेषु च यत् यथोपदिष्टं च, यथोपदिष्टं सदुत्तरोऽभिधीयते, रामायणछन्दोपट्ठिततमा-दीणंपि उत्तरं अत्थि, एवमिहापि तेरससु किरियाट्ठाणेसु जं वुत्तं अधम्मपक्खस्स अणुवसमपुव्वकं उत्तरं उवेति, विजयो नाम मार्गणा,

विविधो विशिष्टो वा विभागो विभङ्गः, तं पुरिसजातविभंगं आइक्खिस्सामि, केसिं सो विभंगो ?, उच्यते–णाणापण्णाणं, नानाऽर्थान्तरत्वे, प्रज्ञायते अनयेति प्रज्ञा, सा य उत्तमाधमा पण्णा, लोके दृष्टत्वात्, छट्ठाणपडिता वा पण्णा, छन्दोऽभिलाष इत्यनर्थान्तरं, कोइ उच्चच्छन्दो भवति कोइ णीअच्छंदो भवति, उत्तमाधममप्रकृतिरित्यर्थः, उच्चे णामेगे उच्चच्छन्दो उच्चेणामेगे० भंगा चत्तारि, 'णाणासीलाणं' सुसीलो दुस्सीलो इति, सुखभावभद्रा सुशीला, णाणादिट्ठीणं तिन्नि तिसट्ठाणि पावातियसयाणि दिट्ठीणं णाणारुयीणं आहारविहारसयणासनाच्छादनाभरणयानवाहणगीतवादित्रादिषु अण्णमण्णस्स रुचति, 'णाणारंभाणं' कृषिपाशुपाल्यपाणिकविपणिशिल्पकर्म्मसेवादिषु णाणारंभो जाव 'णाणाज्झवसाणसंजुत्ताओ' शुभाशुभाध्यवसानानि तीव्रमध्यमानि इहलोकपडिबद्धाणं परलोगणिप्पिवासाणं विसयतिसियाणं इणं णाणाविधं पावसुत्तपसंगं वण्णइस्सामि, तंजहा—भोम्मं उप्पायं इत्थिलक्खणं जहा सति तणुईत्ति, तणुईति तन्वी, पुरिसलक्खणंति मानोन्मानप्रमाणानि यथा 'त्वचि भोगाः सुखं मांसे०'; हिनोति हीयते हयः, स्वस्य मानोन्मानप्रमाणवर्णजात्यादिलक्षणं गच्छतीति गजः तस्य लक्षणं 'सत्तंगपतिट्ठिते'त्ति वण्णओ, गोणो मानोन्मानप्रमाणत्वपुर्वर्णस्वरादिलक्षणं, एवं चेव जाव लोगोत्ति चक्कच्छत्तस्स चउदसण्हं मणिकाकिणि० चक्कवट्टिस्स, तस्स लक्खणं सारप्रभादीणि लक्षणानि, एतानि स्वमूर्त्तिनिष्पन्नानि लक्षणानि, इदाणिं विज्ञानं तकम्मं वुच्चति, तंजहा–सुभगं दुभगं दुभगं सुभगं करेति विज्जाए, गब्भो जेण संभवति मोहं मेहुणे वा, जीवकरणं, अथर्वणवेदमन्त्रादि, हिदयउड्डियपक्खं सदोषैः, पाकान् शास्तीति पाकशासनः इन्द्रस्तस्येन्द्रजालं विद्या, दव्वाइं घयमधुतंदुलादीनि दव्वाणि तेहिं होमं करेति दव्वहोमं, एवं सव्वविज्जाकम्मं, खत्तियाणं विज्जा खत्तियविज्जा इसत्थं धणुवेदादि, तत्थ विज्जाओ जहा अस्त्रशस्त्राणि, इदाणिं जोतिसं वुच्चति, तंजहा–चंदचरिया तं

पापश्रुतानि

॥३५४॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३५५॥

वर्णसंस्थानप्रमाणप्रभानक्षत्रयोगराहुग्रहग्रहणादि चन्द्रचरितं, सूर्यस्य वर्णप्रभा० राहुग्रहनक्षत्रयोगादि, सुक्रचरितं सुक्रचारो 'पढमो होति सुभिक्खं' वहसती संवत्सरट्ठाई एक्केकं रासिं वरिस्सेण चरति, तत्थ केसुयि संवत्सरेसु सुभो केसुइ असुभो केसुइ मज्झिमो, उक्कावाया दिसादाहा वा यथा–'अग्गेय वारुणा माहिन्दा तेजसा सत्थग्गिवुहा भावा दिवायवादीया,' एवं वारुणमाहिंदावि भाणितव्वा, सूगा हरिणा, शृगालादि आरण्या तेसिं रुतं, दरिसणं ग्रामनगरप्रवेशादि, जहा 'खेमा वामा घात्तेति दाहिणा वायसाणं पत्ती। सरुदाइं परिमंडलत्ति काकाई उडका धइ करेंति ॥१॥' पंसुवुट्ठि जाव रुहिरवुट्ठित्ति, कंठयं, पुणो विज्जाओ वेताली दंडो उड्डेति दिसाकालादिसिट्ठो, अद्धवेताली य वेड्ढतो जाति, पच्छा पुच्छिजति, सुभासुभं तोलति, कवाडं मंतेण विहाडेति जहा पभवो, मोवाई मायंगी विज्जा, सवेरिसवराणं सवरभासाए वा, दामिली दामिलभासाए, कालिंगी गौरी गंधारी कंठोक्ता, जाए उप्पतति सयं अण्णं वा उप्पतावेति सा उप्पादणी, जाए अभिमंतितो णिवडति सयं अण्णं वा णिवडावेति सा णिवडणी, जीते कंपति जाए कंपावेति पासादं रुक्खं पुरिसं वा, सा जंभणी जाए जंभिज्जति, सा थंभणी जहा वइराडए अज्जुणेण कोरवा थंभिता, जाए जंघाओ उरुगा य लेसिज्जंति आसणे वा तत्थेव लाइज्जंति सा लेसणी, आमया णाम वाधी, जरमादी ग्रहो वा लाएति आमयकरणी, सल्लं पविट्ठं णीहरावेति सा पुण विज्जा ओसधी वा, जहा सो वाणरजूहवती०, अदिस्सो जाए भवति सा अंतद्धाणी अंजणं वा एवमादि, आउविज्जा उम्मत्तं जोगे य सावज्जया अण्णस्स हेतुं, अण्णेसिं वा विविधाइं विसिट्ठाइं रूवाइं से सिताइं विरूवरूवाइं सयणासणच्छादणवत्थालंकाराईणट्ठा, अथवा समासेण सद्दादीणं पंचण्हं विसयाणं पउंजंति, ते पुण पासंडत्था गिहत्था वा, जे ताव पासंडत्था पउंजंति तिरिच्छंते, तिरिच्छं नाम अननुलोममित्यर्थः, जहा गलए अङ्गुगं अट्ठिं वा कट्ठं वा लग्गं

पापश्रुतानि

॥३५५॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३५६॥

ण णीणेति, एवं ते जइवि मोक्खकंखिया तहावि ण मोक्खं गच्छंति, ते अणारिया जइवि खेत्तारिया तहावि णाणदंसणचरित्ताइं पडुच्च अणारिया, कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु वा जाव एलमूअत्ताए पच्चायंति, पासंडत्था, जे पुण गिहत्था एते लक्खण-विज्जामंते पउंजंति तिरिच्छंते, तिरिच्छं नाम अननुकूलं, ते जहाकम्मा णिचिट्ठा उववत्तारोवि गच्छंति, एवं ताव अणुवसमय-पुव्वोपाएसु पासंडत्थाणं अधम्मपक्खो भणितो, इदाणिं चेव अधम्मपक्खे गृहस्थो पाएण वुच्चति, सो एगतिओत्ति कोइ णिसंसो आतहेतुं वा जाव परिवारहेउं वा अण्णं वा किंचि णिएल्लगं णिमाएत्ति निन्निऊणं, सो य असमत्थो गिण्हितुं, आह हि–"विवा-दश्च विवाहश्च, तृतीयं गृहकर्म्म वा। न शक्यमसहायेन, निःसर्तुमधनेन वा ॥ १ ॥" सहवासोत्ति सहवासो, सो पुण वासो एसो एक्कगो अभिल्लाओ वा किं करेंति ?, अदुवा अणुगामिओ अदुवा उवचरए जाव सोवागणिएत्ति, सूचनात्सूत्रमितिकृत्वा एवं एताणि संखेवेण सुत्ताइं वुत्ताइं, एतेसिं इदाणिं सुत्तेण चेव वित्ती भण्णति, जहा वेतालिए, चत्तारि विणयसमाधिट्ठाणा उच्चारेतुं पच्छा एक्केक्कस्स विभासा, जहा वा उक्खित्तणाए संघाडेत्ति उच्चारेऊण पदाणि एक्केक्कस्स अज्झयणं वुच्चति, दिट्ठिवाते सुत्ताणि भाणिऊण पच्छा सव्वो चेव दिट्ठिवातो, तेसिं सुत्तपदाणं एतेण चेव वृत्तिभवति, जहा एगइओ आणुगामियभावं पडिसंधाय–अनुगच्छती-त्यानुगामिकः सो पडिचरतु अत्थि एतस्स किंचि हत्थए, पच्छा सोद्धिलाए पत्थिओ अहमितिकाउं गलगत्तोऽन्यो वा तं अणु-आगच्छति मग्गेण, सोवि चिंतेति–एतेण अहं गच्छामि, पच्छा बलाबलेहिं विसंभेऊण गुविलए देसे गलगत्तो करति वज्झियं खरगं, दोरं गले छोढुं एगखेत्तेण चेव पाडेति, अणु सुत्तमत्तिओ पाहरे, सावेक्खं खलुंगादिसु, णिरवेक्खं गीवाए अण्णत्थ वा देसे, से हंता पडिपहाय दुता वेयणगं, खलुंगादिसु छिंदित्ता भिंदित्ता सीसं लउडपहारेण, पोट्टे वा भल्लएण, उद्दावेत्ता मारेत्तु 'लुंपृ छेदने'

अनुचर-त्वादि

॥३५६॥

लुंपति, जहा विविधा विलुत्ते सत्थे गामो य आहारेतित्ति, एवंप्रकारा तत्थ आहारवृत्तिः, द्रोहेणेत्यर्थः, णो वा सो अण्णं किंचि करिसणं वा आहारणिमित्तं करेइ इति, सोयतीत्युपदर्शने, महद्भिर्महता बहुपदेसिएहिं चिरकालट्ठितीएहि य पावेहिं अट्ठहिं कम्मेहिं आत्मानं उव समीपे आङ् मर्यादाभिविध्योः ख्या प्रकथने, आभावन्नपि स्वयमेव उपेत्य आख्यातीत्यर्थः, यथाऽहमेवाकर्मा, तेनैव महता द्रोहेण पापेन कर्मणेति वक्तव्ये एके अनेकादेशादुच्यते–पावेहिं कम्मेहिं अट्ठहिं बज्झति, अहवा एकस्मिन् प्राणवधे कथमष्टविधं कर्म बध्यत इति ?, उच्यते, यथा षष्ठ(षट्प)दार्थिके, जाव अट्ठहिवि, से एगतिओ उवचरगभावं पडिसंधाय, उपेत्य चरतीत्युपचरकः, भंडिओ भंडेतुं गुणावेत्ति जाव उवक्खाइत्ता भवति, पडिपंथिओ पडिपंथेण सोद्धिलाए एगं हंता छेत्ता भेत्ता जाव उवक्खाइत्ताणं, गंठिछेदओ लोहमएण सयुग्गएणं रूवगाणं पोट्टलियं करेति छिंदितुं, उरब्भा णाम ऊरणओ, तं वुत्तमलो वा मारेति अण्णतरो व तसो पाणोत्ति, तस्सालं, छगलादि वागुरिओत्ति, वहो व सुरं करेति, आहंडेत्ता वा रायादिणो मिए वराए वग्गुराए वेढेतुं मारेंति, अण्णतर तसंमि सूकरोज्झवग्घातिए तत्थ मारेति, सउणा मोरतित्तिरादि अण्णतरो पाणो, तस्स वाहिचए अण्णं किंचि मारेति, ग्राहस्य मारणं वा सव्वं, जहा चक्कवाई मारिता, मच्छगं जालेण गलेण वा, अण्णतरं वा तहप्पगारादि एगतिओ गोघातगब्भावं पडिसंधाय गोणं मारेति तस्यालाभे महिषमेलगं वा, केई पुण भणंति–सोआरियमाणंति महिसं, अण्णतरो तव्वतिरित्तो गोणादि, सोणइओ आमारयाणं दुवो य, अण्णतरंति तदलाभे खाडइलाउ मारेंति, सावगणियन्ति सुणए पचंती, सोवागाणियाधिक्ये, अंतेसु गामादीणि वसंतीति अंतिया जहा पच्चंतिया, एवं सोवागेहिन्तोवि अंतियतरो भवति, रहित इत्यर्थः, जो पुण पुरिसं मारेति गोछविसए ब्राह्मणघातक इव पुरिसघातओवि गरहिज्जति, वरतो य णिगच्छति, उक्ता वृत्तिः। इदाणिं से एग-

अधर्मपक्षः

॥३५७॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३५८॥

तिओ उवरिममज्झातो उद्धेत्ता अहमेतं हंत्थामि, को विसेसो पुव्वतेहिंतो ?, उच्यते, सो कोई पच्छण्णं करेति, इमो पुण अण्णमादीण कारो णिस्संको कडणिमित्तं वा मंसं वा खाइत्तुकामो, हत्थत्थो वा, अधमा पक्खेवा वणिज्जमाणे जावतिया द्रोहकारका ते केई समासेण उद्दिसंति, एते पुण सव्वे अवरद्धकुद्धा वुत्ता, इमे अण्णे विरोधिता वुच्चंति, से एगतिओ केइ आदाणेण आदीयत इत्यादानं ग्रहणमित्यर्थः, तत्कस्य केषां वा आदानं ? शब्दादीनां विषयाणां, सद्दे ताव आकुट्ठो निन्दितो केणइ पुट्ठो रुट्ठो भवति, रूवेसु य वसणा दिट्ठुं भिक्खुकादीवि रुस्संति, गंधरसे उदाहरणं सोत्रमेव, खलदाणेणं खलभिक्खं तदूणं दिण्णं ण दिण्णं वा तेण विरुद्धो, सुरथालगत्ति थालगेण सुरा पिज्जति, तत्थ पडिवाडीए आवेट्ठस्स वारो ण दिण्णो उट्ठवित्तो वा तेण विरुद्धो, जं ते लोगं भणति–वारविरुद्धो, गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा, सयमेव विस्ससा एक्का आलूणालूणाणि पगरणत्थाणि, उम्मग्गेण झामति, अण्णेण वा झामावेति, झामिताइं अणुजाणति सुट्ठु तुमे झामिताइंति, एवं फासेवि, आहतो भरितो वा केणइ असुअणा खेलेणं उविट्ठेण वा, से एगताओ घूराओ कप्पेइ, सालातो डहति, किंचि कुंडलसुवण्णेत्ति, जाणाइ, ताणि मेहलादीणि ताणि गहिताणि, मोत्तिए हरादि, एवं तहेव गिहाण विट्ठो, इमो अण्णो पासंडत्थाण दिट्ठिरागेणं वादे वा पराइत्तो सयमेव तेसिं अण्णं किंचि णत्थि जं अत्थि तं अवहरति, तंजहा–दंडगं वा भंडगं वा जाव परिच्छेदनगं वा, सयमेव अवहरति जाव सादिज्जति, एवं ताव विराधिया गता, इमे अण्णे अविराहिता वुच्चंति सो एगतिओ वितिगिच्छादि, नेति प्रतिषेधे, वितिगिच्छा णाम विमर्शो मीमंसा इत्यर्थः, न विमर्शति न मीमांसइत्ति, इह परलोके वा दोषोऽस्ति नास्तीति वा, गाहावईण वा सयमेव अगणिकाएणं सस्साइं झामेइ, अण्णेण वा जाव समणाण वा दंडं अवहरित्तए, एते ताव असंवृत्ता उक्ताः। सग्गेसु णरगेसु वा गिहत्थपासंडत्थेसु य दहणछेयणा-

अधर्मपक्षः

॥३५८॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३५९॥

पहारवृत्ति इति। इदाणिं दृष्टिविरुद्धा आगाढमिच्छदिट्ठिका वुच्चंति, सो एगतिओ समणं वा माहणं वा गामं घरं वा अतितो वा अण्णत्थ वा कत्थइ दुल्लभं दंसणं अवसउणंति मण्णमाणो आसुरुत्ते रुट्ठे अदुवा णं अच्छराए मज्झियारे रोसेण वा जाव भण्णति, अच्छरा णाम चप्पुटिका, किं ज्ञापकं ?, तीहिं अच्छराणिवातेहिं तिसत्तखुत्तो एगाए अच्छराए अप्फोडेतित्ति, भिगुडी कुंचितनिडाला फिट्टफिट्ट भणंति, अदुवा णं फरुसं भणंति, कालेवि सेज्जाति, भिक्खाकाले णो दवावेज्जा, जोवि देत्ति तंपि वारेइ, एवं च णं वदति–जे इमे धुवणमंतत्ति–धूयतेऽनेनेति धुवणं–कम्मं तणकट्ठहारगादि, कर्महता, अशुभैर्वा प्रागुपचितैः पापकर्म्मभिर्हता पव्वयंति, भारक्कंतत्ति कुटुम्बभरेण अक्कंता, ण तरंति, त एवं दृष्टयः असद्धानाः सद्धर्मप्रत्यनीकाः इणमेव धिज्जीवितं धिक् कुत्सायां अशोभनं जीवितं धिज्जीवितं इहलौकिकं, वृह वृद्धौ, संपडिवूहयंति संपडिवूहति न परलौकिकं किंचिवि अत्थं, श्लिष आलिङ्गने, न श्लिष्यन्ति न साधयंतीत्यर्थः, इहलोकपरो दुक्खंति, दुक्खेहिं संजोएंति दुक्खंति जाव परितप्पंति, ते एतेसिं साधूणं दुक्खणाणातो सोअणाणाओ जाव परितावणातो अप्पडिविरता भवंति, ते पुण केइ इड्ढिमंतो भवंति रायादिणो केयि अणिड्ढिमंते, इड्ढिमंते ताव भणति–ते महया आरभेणं परणिमित्तं चेव ताव इट्टकापाकादिष्वारंभो भवति जाव तसकायो वधिज्जति आहारनिमित्तंति, खड्डगच्छगलमहिसमूगरादिषु, पुढविदगअगणिवणस्सइकाइया वधिज्जंति, उक्तं च–"तणकट्ठगोमयनिस्सिता०" सम्मत्तं छण्हं कायाणं आरभसमारंभे विरूवरूवेहिं पावकिच्चेहिं अण्णं दंडंति अण्णं बंधंति अण्णं रुंधंति कारणा वित्तिहरणं करेंति, एवमादीहिं पावकम्मेहिं धणं उवज्जिणित्ता, बंधणाणुलोमता विभत्तिपदाति, कातुं किं करेंति ?, विउला माणुसा जाव भत्तारो भुंजितारो भवंति, किमिति ते भुंजंते ?, उच्यते, अण्णं अण्णकाले, सायं पायं च, पाणं उदगं मज्जं च, ण्हातसमालद्धाणं चउत्थकालेणं गब्भधराणि,

अधर्मपक्षः

॥३५९॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२६०॥

साहणकाले सयणासणाणित्ति, यो वा यस्याभीष्टः कालविभागः, क्रीडा वेश्याराणां, विद्यते सो पुव्वो पुव्वण्हे अवरण्हे ण्हाते कयबलिकम्मे—अच्चणियं करेंति कुलदेवतादीणं काउं, आसीन्भयजोहारो, लोणादीणि च डहंति, मंगलाणि सिद्धत्थयाहरयालियादीणि से करेंति, सुवण्णमादीणि च छिनंति, पायच्छित्तं दुस्सुविणगपडिघातणिमित्तं धीयाराणं देंति, सिरसि ण्हाते सिरण्हाईणि, ससीसो ण्हाति, अविद्धिमाणि चूडामणिः रोवि सुवण्णेण हेट्ठा पडिवज्झति, सुवण्णाभरणेसु प्रायेण मणीओ विज्झंति, कप्पितं घडितं, माला नक्खत्तमालादि, मौली मउडो, सो पुण कमलमुकुलसंवुत्तो मउली वुच्चति, तिहिं सिहरएहिं मउडो वुच्चति, चतुरसीहिं तिरीडं, वग्घारियं लंबितं, ज्ञापकं 'आसत्तवग्घारिय०' सोणि कडी, सोणिसुत्तगं कडिसुत्तकं, मालिज्जति, मल्लं सिरदामगंडादि, कलाति कलाची, कडाई वुंभलगादीणि, पव्वतकूडाणिव्व पासादे सत्ततले वा, महउ चेव महतो, अक्खाणवद्धं गिज्जति, जह आडगं पवंचो वा, तलणं ताडः, घणं लत्तगादी, णिरेत्तं वा, घणा वा मेहा, मेहा वेत्यर्थः, उरालाइं—उरालाइं, आस्यते अनेनेति आस्यकं—मुखं तमेव क्रीडंतं, 'अणारिय'त्ति अण्णाणि मिच्छादिट्ठी अचरित्री देवोऽयं पुरिसो, ण मणुस्सो, णरलोके जातो वसतीत्ति वा तेण णरदेवो, देवसिणाएत्ति स्नातकः श्रेष्ठदेवत्वे वसति इन्द्रतुल्यः, जलजोवसोभित इव सरो, सपुप्फफलो वा वणसंडो तदर्थिभिः उवजीवणिज्जो, अण्णेवि णं बहवश्च ये ह्याश्रिता अपरिभूता भवंति, तदेवं णाणादीआयरिया, अभिभुखं क्रान्तं, क्रूरादीणि हिंसादीणि, अभिभूणे भूयतेऽनेन तासु तासु गतिपु वातार्हि इव रेणू, भूणे कम्मंतेत्ति, तेहिं हिंसादीहिं कम्मेहिं, अप्पं रक्खंतीति आयरक्खो, दाहिणगामिएत्ति जे अतिक्रूरकम्मा भवसिद्धियावि ते प्रायेण दक्खिछेसु णरएसु वा मणुस्सेसु देवेसु य उववज्जंति, जस्स भवसिद्धीयस्स अवड्ढो पोग्गलपरियट्टो सेसो अच्छति संसारस्स सुक्कपक्खिओ, अधिए कण्हपक्खिए, अभवसिद्धिया सव्वे

अधर्मपक्षः

॥२६०॥

कण्हपक्खिया, आगमिस्साणं, तित्थगराणं, तत्थ णरगतो उव्वट्टे समाणो जइ कहवि माणुस्सं लभति तत्थवि दुल्लहबोधिए यावि भवति, तस्स ट्ठाणस्स इस्सरियट्ठाणस्स, उट्ठिता णाम पव्वज्जामुट्ठाणेण समुट्ठिया, परे पासंडिया, तम्हा अभिज्झा लोभो प्रार्थनेत्यनर्थान्तरं, अणुट्ठिता गिहि एव, असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छेत्ति एगंतमिच्छादिट्ठी परिग्गही, असोभे णाम असाहू। पढमस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे आहिते (सूत्रं ३३) अहावरे दोच्चस्स धम्मपक्खस्स एवमाहिज्जति (सूत्रं ३४) एवं तावत् अधम्मपक्खो वुत्तो, छायातपवत् शीतोष्णवत् जीवितमरणवत् सुखदुःखवद्वा, तत्प्रसिद्धये इदमुच्यते—से बेमि पाइणं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तंजहा—आयरिया वेगे, तेसिं च णं खेत्तवत्थूणि सो चेव पोंडरीयगमओ जाव सव्वदुक्खाए परिनिव्वुडेत्ति बेमि, एस ठाणे आरिए केवले जाव साधू, दोच्चस्स ठाणस्स विभंग एवमाहिए॥

अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जति (सूत्रं ३५), अधम्मपक्खेण धम्मपक्खे संजुत्तो मीसगपक्खो भवति, तत्राधर्मो भूयानितिकृत्वा अधर्मपक्ख एव भवति, रिणे देशे वर्षनिपातवत्, अभिनवे वा पित्तोदये शर्कराक्षीरपानवत् अमेज्झ(सुद्ध)रसभाविते वा द्रव्ये क्षीरप्रपातवत्, एवं तावन्मिथ्यादर्शनोपहतान्तरात्मानः यद्यपि किंचिद्विरमन्ते तथापि मिथ्यादर्शनभूयस्त्वात् अविरतिभूयस्त्वाच्च धर्मानुबन्धाच्च अधर्मपक्ष एव भवति, जाव एलमूलत्ताए पच्चायंति, एस ठाणे अणारिए जाव असाधू, एस खलु तच्चस्स मीसगस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे आहिते॥

अहावरे पढमस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते (सूत्रं ३६), अथाह—दृष्टप्रयोजनानामप्रयोगः?, उच्यते, सत्यं, किन्तु यदत्र नोपदिष्टं तदिहोच्यते, अधम्मपक्खे मीसओ य, उक्तं हि—'पुव्वभणितं तु' इह विशेषोपलम्भो द्रष्टव्यः, कथं?,

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥३६२॥

स एवाधर्मो बहुप्रकारः अपदिश्यते, तत्कारणं कार्यं वा, अधर्म्मफलं नरको एसत्ति, तत्र च पाषंडमिश्रा अधार्मिका उक्ता इह गृहस्थायेव प्रायेणोच्यन्ते, अधार्मिकाणि कर्माणि प्रलोकयन्तीत्यतः अधम्मपलोइणो, रलयोरैक्यमिति, तत्रैव चाधर्म्मिकेषु कर्मसु रज्जंति इति अधर्मपलज्जना 'जे रत्तए से लत्तए' ज्ञापकत्वात्, अधर्म्मसमुदायाचारात् अधर्म्मवित्तित्तिकट्टु वृत्त्यर्थमेव, हण छिन्द, हणत्ति कसलतादीहिं, छिन्दत्ति कण्णणासोट्ठसीसादीणि, सीमपोट्ठाइं किंतति, बज्झे, जम्हा रौद्रा, आसुरा रौद्राणि हिंसादीनि कर्माणि करेंति रौद्राः, क्षुद्रो णाम असज्जनमहावो सोऽपि ण मुंचति, असमीक्षितकारी साहस्सिओ, ण च मारेमाणस्स विकतीयाणस्स, णीलीरागस्सेव णीलीए, एवं तस्स महिसमादी मत्ताणि, लोहियलित्ता पाणित्ति लोहितपाणी, उक्तं च 'कुच कुंच कौटिल्ये' उद्भावोर्ध्वभावेषु, ईषत् कुंचनं आकुंचनं, जहा कोइ किंचि मूलाइं भज्जति, एत्थ कोइ मानोन्मानावचक्षणः तिष्ठति, सो जाणति मा मव्वं छिज्जंतं इमं दट्ठुं आइक्खिस्सति एतस्स, राउले वा कहेहित्ति तो उत्कंचेऊण अच्छति जाव सो वोलेइ, वंचु प्रलम्भने, वंचनं जहा अभयो धम्मच्छलेण वंचितो पज्जोतस्स संतियाहिं गणिआहिं, मृगोऽपि मीतेण वंचिज्जति, अधिका कृति-निंकृतिः अत्युपचार इत्यर्थः, यथाप्रवृत्तस्योपचारात् तस्य निवृत्तिः, तथा अत्युपचारोऽपि दुष्टलक्षणमेव, जहा कत्तिओ सेट्ठी रायाणएण अत्युपचारेण गहितो, जं अलियं अगल वंजुल धम्मज्झयसीले सद्धिलक्खेहिं वीसंभकरणमधिकच्छलेहिं तं वेंत णिगडित्ति, देसभाषादिविपर्ययकरणं कपटं, जहा आसाढभूतिणा आयरियउवज्झायसंघाडइल्लगाण अप्पणो य चत्तारि मोद-गाणि, कालित्ता कूडकवडमेवं लोकसिद्धत्वाच्च यथा कूटकार्षापणं कूटमाणमिति, सातिपयोगबहुला शोभाविशेषः सातिशयः न्यून-गुणानुभावस्य द्रव्यस्य यः सातिशयेन द्रव्येण सह संयोगः क्रियते सो सातिसंपयोगो, अगुणवतश्च गुणानुशंसनं अगुणानां च गुणव-

असाधु-गृहिपक्षः

॥३६२॥

तीति, आह च–'सो होति सातिजोगो दव्वं जं उवहितऽण्णदव्वेसु । दोसगुणा वयणेसु य अत्थविसंवादणं कुणइ ॥१॥' एते पुण उक्कंचणादयः सव्वे मायायाः पर्यायशब्दा यथेन्द्रशब्दस्य, शक्रपुरन्दरवत् एते शब्दाः, यद्यपि क्रियानिमित्तोऽभिधानभेदः उत्कंचनादीनां तथापि न मायामतिरिच्यन्ते, एवं जीवाग्निसूर्यचन्द्रमसां अभिधानभेदेनार्थभेदः, दुस्सीला दुष्टा दुष्टं शीलं येषां ते भवंति दुष्टशीलाः, परिजिताविखिप्पं विसंवदन्ति, दुरणुणेया दारुणस्वभावा इत्यर्थः, दुष्टानि व्रतानि येषा ते भवंति दुव्वा तात्मा यथा यज्ञदीक्षितानां शिरोमुण्डनं अण्हाणयं दब्भसयणं च एवमादीनि व्रतानि तथापि च छगलादीनि सत्ताणि घातयन्ति, आह हि–'षट् शतानि नियुज्यंते०' दुणदि समृद्धौ, तस्यानन्दो भवति कश्चिदन्येन, यस्तु प्रत्यानन्दं करोति प्रतिपूजामीत्यर्थः, स तु गर्वात् कृतघ्नत्वाद्वा नैनं प्रत्यानन्दति दुप्पडियाणंदा भवति, आह हि—"उपकर्तुमशक्तिष्टा, नराः पूर्वोपकारिणम् । दोषमुत्पाद्य गच्छंति, मद्गूनामिव वायसाः ॥१॥ सव्वाओ पाणाइवायाओत्ति जाव रहिता बंभा य, पुरिमवधादिपाणाइपातातोवि अप्पडिविरता, एवं मुसावाता कूडसक्खियादि, तेणमहवासतेणादीन्यासावहारा इत्थिवालतेणादी वा, मेहुणे अगम्मगमणादि, परिग्गहे जोणिपोसगादि, सव्वाओ कोहाओ जाव मिच्छादंसणं, सव्वाओ ण्हाणुम्मद्दण० कामं पुप्फब्भंगितो वा मद्दिज्जति पच्छा ण्हाति, तथावि सव्वाओ ण्हाणुम्मद्दण० पणएण उम्मद्दिज्जति तेण, अब्भंगणगं गहितं, वण्णओ कुंकुमादि कसाया य, विलेवणं चंदणादि, सद्दादी पंच विसया, तेहिंतो अप्पडिविरता, मल्लगंधं वा, एस चेव अलंकारो, अण्णोवि वत्थालंकारादि, सव्वाओ आरंभसमारंभाओत्ति विभासा, सव्वाओ करणकारण० सयं एतेसिं चेव जहोद्दिट्ठाणं पाणाइवायादीणं अण्णेसिं च सावज्जाणं कारावणाणुमण्णेहिं इस्सरादीणं, पयणपायणंति मांसादी, ईसरा अण्णेहिं पायेंति, सव्वाओ कोट्टणं कोट्ट धरणं अट्टिमरणं वा घेत्तु पलं २ कोट्टेति पिट्टेति य,

असाधुगृहिपक्षः

॥३६३॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३६४॥

चंपकलताकमवेत्तलतालउडादीहिं तज्जेइ, पातादीहिं ताडेति, तलपहारा खीलपण्हिमादीहिं एस वद्धो मारेति वा बंधंति व णंगलादीहिं, एतेहिं चेव परिकिलेसं करेंति, अण्णेहि अ करदंडादीहिं किलेसेहिं किलेसेइ, परं जे आवऽण्णे तहप्पगारा केचिया वुच्चंति ?, गोगहणवंदिगहणादओ, दोहणा गामवधगामघातमहासमरसंगामादीहिं, सावज्जा अबोधिकरा कम्मजोगा कम्मंता इह परत्र वा परेषां प्राणा—आयुःप्राणादि परेषां प्राणा परितावेंति, दृष्टान्तः कियते निर्दयत्वे तेषां, से जहाणामए केयि पुरिसे कलमं मसूरं लूणंतो वा मलेंतो वा मुसलेण वा उक्खले कोट्टंतो रंधेंतो वा ण तेसु दयं करेति, अजए अयते, क्रूरो निर्घृणः, मिच्छादंडेत्ति अण्णविरुद्धो कुद्धो, एवमेव तहप्पगारति तीसे दयासु णिरवेक्खो णिद्दयो, मिच्छादंडे पउंजंति जा व से तत्थ बाहिरिया परिसा भवति तंजहा—दासेत्ति वा अदासो दासवत् तेसु तेसु पेसणेसु णियुज्जंति पसाउलग्गादी, भत्तओवि वित्तीए घेप्पति भाइल्लओ, कम्मकारका जे लोगं उवजीवंतित्ति घरकम्मपाणाहवहादीहिं, तेऽवि राउले विट्ठिकारा विज्जंति, तेसिंपि य णं अण्णतरंसि लहुए लहुमओ काईआणित्तिया ण करेति(त्ता) तत्थ रुट्ठो गुरुं, मज्झवाह्यं इमं दंभेह कंठं, प्रायेण णिगलबंधणो हडिबंधणादिणा विवरेण करेति, जहा मालवाण, पदोसा वा २ पदाहित्ति, जूआमंकुणपिसुआदीहिं जत्थ वद्धो चारिज्जति सो चारओ, अण्णो पुण चारए छद्धं णिगलेहिं दोहिं तिहिं वा सत्तहिं णिगलिजोएहिं बज्झति, संकोडितमोडितो णाम जो हत्थेसु अ पादेसु अ गलए बज्झति, चारए अण्णत्थ वा सो जमलणिगलसंकोडितमोडितो, इमं हत्थच्छिण्णं करेह, एक्को वा, हत्था छिज्जंति, एवं पादावि, घोरादीणं कण्णणकओट्ठे, चारितदृताणं विरुद्धरज्जसंचारिणां च छिज्जंति, इत्थीणं वा सीसं, अहिमरांचरियाणं मुखे मज्झे छिज्जंति असिमादीहिं, गच्छओ खंधे आहंतूण वंभसुत्तएण छिज्जंति, जीवंतस्सेव हियए उप्पाडेंति पुरोहिंतादि जाव जिब्भा, ओलंवि कूवे पव्व-

असाधु-गृहिपक्षः

॥३६४॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३६५॥

तणदितडिमादिसु वा ओलंबिज्जंति, रुक्खे जीवन्तो मारेंतु, सूलाइतओ सूलाए पोइज्जति, अवाणे सूलं छोढुण मुहेण णिक्कालिज्जति, सूलभिण्णो मज्झे सूलाए भिज्जते, सत्थेण कप्पेतुं लोणखारादीहिं सिंचिज्जति, बद्धा अवकप्पिज्जंति, पारदारिया सीहपुच्छिज्जंति, सीहो सीहीए समं ताव लग्गओ अच्छति जाव तथाभिगाणं दोण्हवि कट्ठंताणं छिण्णणेत्ता भवंति, एवं कस्सइ पुत्तगा छेतुं अप्पणए मुहे छिज्जंति, कडएण वेढितुं पलाविज्जति कडग्गिडड्ढओ, कागिणिमंसं कागणिमेत्ताइं से साइं मंसाइं कप्पेतुं खाविज्जंति, अण्णतरेणंति जेण अण्णे ण भणिता सुणिगकुंभिपागादि कुत्तिसता मारा:, एवं ताव बाहिरपुरिसाणं दंडं करेइ, जावि से अब्भिंतरपरिसा भवति, तंजहा–माताइ वा०, तेसिंपि आहालहुएत्ति वयणं वा ण कतं उक्खेवो, कोड णासिओ हारितो मित्तो वा इमंसि उदएण सिंचह जहा मित्तदोमवत्तिए जाव अहिते परलोयंसि, एवं ताव बाहिरपरिसाए वा अब्भंतरपरिसाए वा ते दुक्खेति जाव परितावेति, दुक्खाओ जाव अपडिविरता भवंति, ते पुण किं णु एवं करेंति ?, कामवसगा, ते य इमे छेदिणो, तेन उच्यते–एवामेव ते इत्थीकामभोगेसु मुच्छिता जाव वासाइं भुंजितुं भोगा पसवितुं वेरायतणाइं, कम्मं चेव, बहूणि अट्ठकम्माणि सुबहुकालट्ठितीयाइं उस्सप्पंति अणेकसो एक्केक्कं पावायतणं जहादिट्ठं हिसादि आयरति, संभारो णाम गुरुगत्तणं, गहितो, से जहाणामए, अयं हि पात्रिकृतं तरति, सिला वा विच्छिण्णत्तणेण चिरस्स णिच्छुड्डति, गोलओ पुण खिप्पं णिबुड्डति, एवामेव तहप्पगारं वज्जबहुले, 'पावे वज्जे वेरे०' गाधा, अयसोत्ति एतेहिं चेव जहुद्दिट्ठेहिं, उक्कंचणवंचणादीहिं सहवासद्दोहादीहिं अगम्मगमणेहि य अयसो होति, जेसि च ताइं वंचणहरणकण्णछेदणमारणादिकरणादि तेसिं अप्पियं होति, कालमासे 'णिबंधकार०' अणंधमप्पंधीकुर्वन्तीति, अण्णोवि णाम अंधकारो भवतीति, अप्पगासेसु गब्भघरोवरगादीसु, ते पुण जच्चंधमेव, मेहच्छण्णकालद्धरत्त इव तमसा उज्जोतकरा-

अधर्मपक्षः

॥३६५॥

भावाच्च, तमसातो वा, जोतकरा ज्योतिष्का एवोच्यन्ते, ववगतगहचंद०, रोप्पणं च छिन्दित्ताणं सरीरावयवेहिं मेदवसा काओ, किण्हअगणि लोहे धम्ममाणे कालिया अग्गिजाला णिन्ति तारिसो तेहिं वण्णो, फासा य उसिणवेदणाणं कक्खडफासा, से जहाणामए केइ असिपत्तेति वा, दुक्ख अधियासिज्जंति दुरधियासा, असुभा णरगा, असुभा दरिसणेण सद्दगंधफरिसेण वा, वेदणाओवि असुभा, णो चेव णिद्दाति वा, णिद्दा पसुहितस्स होति, निद्रा च विस्सावणा इतिकृत्वा, तेण णत्थि, तं उज्जलं जाव वेदंति, एस ताव अयगोलदिट्ठंतो, गुरुगं आगंतुणत्थाकारा, इमो अण्णो रुक्खदिट्ठंतो सिग्घपडणत्थं कीरति—**से जहाणामए केयि रुक्खे सिया पव्वयग्गे जाते** (सूत्रं ३८), एवामेव कालसमए सिग्घं णरएसूववज्जंति, ततो उव्वट्टे गब्भवक्कंतिएसु तिरियमणुएसु कम्मभूमगसंखेज्जवासाउएसु उववज्जति, ततो भुज्जो गब्भाओ गब्भं जाव णरगाओ णरगं दाहिणगामिए जाव दुल्लभबोधिए एतस्स ठाणस्स, तस्स ट्ठाणे अणारिए, पढमस्स ट्ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे आहिते ॥

**अहावरे दोच्चस्स ट्ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे आहिज्जति** (सूत्रं ३९), इह खलु **पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा** भवंति, अणारभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्मिट्ठा जाव विहरति, सुसीला सुव्वया उक्कंचणपडिविरता जावज्जीवाए सव्वाओ पाणाइवायाओ पडिविरता जावज्जीवाए जे आवण्णे तहप्पगारा, उक्ता विरतिप्रकाराः, के च ते विरताः?, उच्यते, से जहाणामए केइ पुरिसे अणगारा ईरियासमिता जाव सुहुत०, नत्थि तेसिं जाव विप्पमुक्का, तेसि णं भगवंताणं एतेणं विहारेणं विहरंताणं जातामातावित्ती होत्था, यात्रामात्रा यया साध्यते, अक्खोवंजणवणाणुलेवणभूता, अथवा अर्चयन्ति तामित्यर्चा—शरीरं, एको जेसिं गब्भो शरीर वा, गतिकल्लाणा कल्लाणगती अणुत्तरोववाइएसु वेमाणिएसु वा, इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशलोकपालपरिषदात्मरक्षप्रकी-

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३६७॥

र्णकेषु न त्वामियोग्यकिल्विषिककान्दर्पिकेषु, द्विति कल्लाणेत्ति उक्कोसिया द्विती अजहण्णमणुक्कोसा वा, आगमेसिभद्देति आगमेसे भवग्रहणे सिज्झंति, एस ट्ठाणे आरिए, एस खलु दोच्चस्स ट्ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे आहिते ॥ **अहावरे तच्चस्स धम्मपक्खस्स मीसगस्स विभंगे** (सूत्रं ४०), धम्मो बहुओ अधम्मो थोवे त्तिकाउं, तेण अधम्ममीसओवि एस पक्खो अंततो धम्मपक्खे चेव णिवडिति, को दिट्ठंतो ?, जहा णदीए केइ पुरिसे ण्हायंति, केइ पुत्ताई सोयंति केइ असुईणिवि मुहाइं पक्खालेंति, गोमाहिसकं च छगणमुत्तस्सग्गं करेंति, तहावि तं उदगं बहुगत्तणेण ण विस्सीभवति, कलुसीकृतंपि पसादति, जहा तु बहुगेण सीतोदएण थोवं उसिणोदगं सीतीकज्जति, एवं सावगाणं बहुअसंजमेण थोवो असंजमो खविज्जति, उक्तं च–'सम्मदिट्ठी जीवो०' जंपि य तंपि य संपदी वक्ष्यमाणमपि च, ते बहु अवरा जीवा जेसु सावगस्स पच्चक्खायं भवति, ते य इमे, तंजहा–पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया जाव वित्तिं कप्पेमाणा सुसीला एगातो पाणाइवायाओ पडिविरता जावजीवाए एगच्चातो अप्पडिविरता, एगिंदिएसु अप्पडिविरया जाव अंयावण्णे तहप्पगारा, एगता० ततोविमे से जहाणामए समणोवासगा भवंति, उपासंति वस्तुज्ञानार्थमित्युपासकाः, अधिगतजीवाजीवाः अभिगमउपलंभकुशलादयः शब्दाः ज्ञानार्थाः अन्यान्येन त्वभिधानेनाभिधीयमानः बोधं मानसप्रसादमुत्पादयति, किरियंति वा एगट्ठं, अधिक्रियत इति अधिकरणं जीवमजीवं च, क्रियाहिकरणेण य कम्मं वज्झतित्ति वुच्चइ, कुशला, जेण बंधो मोक्खिज्जति सो बन्धमोक्खो, असहेज्जा असंहरणिज्जा, जहा नातेहिं मेरु, न तु जहा वातप्पडागाणि सक्कंति विप्परिणावेतुं, देवेहिवि, किं पुण माणुसेहिं ?, अणतिक्कमणिज्जत्ति जहा कस्सइ सुसीलस्स गुरू अणतिक्कमणिज्जे एवं तेसिं अरहंता साधुणो सीलाइं वा अणतिक्कमणिज्जाइं, णिस्संकिताइं, ते पुण किह अतिक्कमि-

साधुम्मावकी

॥३६७॥

ज्जंति ?, संकादीहिं दोसेहिं अत एवोच्यते णिस्संकिता णिक्कंखियादि, लद्धट्ठा, जहा कोइ अत्थत्थी तं जहा तहा पज्जत्तं अत्थं लद्धुं तुट्ठो भवति एवं तेऽवि जिणवयणलद्धट्ठा एव तुट्ठा, गृहीतप्रवचनार्थाः ये ते भवंति, पुट्ठं २ गहितो पुच्छितट्ठा, विनिश्चितो निर्नीतः, अट्ठमिंजः० अट्ठियाइंपि भावेतुं जाव मिंजत्ति मज्जा वुच्चति, जस्स रोगेण तयं आदिकाउं जाव मज्जा भाविता सो दुव्विकिच्छो भवति एवं ते, आमज्जाइ वा भाविता, यथा सो परिव्वायगो, गिहे भिक्खं हिंडंतो जा से महिला रुचति तं तं विज्जाए अभिजोएतुं एक्काए गुहाए छोढुं, विज्जावातियो हरतित्तिकाउं पडियरावितो, पुरिसो य भत्तगंधादि परिगिणेन्तो पंथोलिआहितियाए पडियरितुं तेहिं पविसितुं जुज्झंतो मारितो, ताओ अ महिलाओ जा जस्स सा तस्स दिन्ना, सा य इक्का इब्भमहिला अभिजोइ निज्झाया पतिं णेच्छइ, जाणगा पुच्छिता भणंति–जति से परिव्वायगअट्ठीणि घसितुं खीरेण दिज्जंति तीसे अपेच्छंतीए तो, नवि, वरतेहिं तस्स अपेक्खंतस्स घसितुं २ खीरेण सह काढेतुं पाइता, जहा २ पाइज्जति तहा २ तंमि पुरिसे पेम्मं आरंभति, सव्वेसु घट्टेसु पीतेसु य जहा, परिव्वाए अणुरत्ता जहा सा तम्मि परिव्वाए अट्ठिसेसेवि ण विरज्जति एवं साधूओऽवि चेतिएसु साधूसु अ अणुरत्तो जइवि किंचि लिंगत्थं वा पासत्थं वा उड्डाहं करेंतो पासति तहावि पुरिसदोसोत्तिकाउं णवि पवयणातो विरज्जति, उवमा, एकदेसेन दृष्टान्त इतिकृत्वा, जहा सा तंमि परिव्वायगे रत्ता एवं पवयणाणुरागो सो अट्ठमिंजपेम्माणुरागरत्तो, जतिवि केणइ विप्परिणामेति जइणपवयणातो–किं तुज्झे एत्थ दिट्ठंति ?, तहावि भणति भणंतं–अयमाउसे! हे आयुष्मन्! णिग्गंथे पावयणे अट्ठे परमट्ठे सेसे अणट्ठेत्ति, तिण्णि तिसट्ठाइं पावाइयसयाइं अण्णो, जस्सवि कस्सवि धम्मं कहेति तंपि भणति–अयमाउसो! जाव अट्ठे सेसेसु अणट्ठे, तेण गेण्ह, ओसित्तफलहः० अवंसुतदुः० किं कारणं पिहितुब्भिणो कवाडेत्ति ?,

ण वट्टइ उग्घाडेतुं उग्घाडे कवाडे वा पेल्लेतुं, उक्तं च–'कवाडं णो पणोलेज्जा' पविसंतो णियंतो अ लोगो मा णिच्चं संवरादिणा थिरादि विराहेहिंत्ति ते णिच्चमेव फलिहं उस्साएतुं अग्गदार कोट्ठगपमुहे अ कवाडं विराहेतुं अब्भंगुयदारं अच्छंति, चियत्ततेउर० अंतेउरं घरे अणिड्डिमंताणं जइवि इत्थिआओ अच्छंति तत्थवि णं चरेति, जाव एगो ठाति तत्थेसणं सोधेति, कस्सइ महिड्डियस्स अंतेपुरं भवति, तंपि तेण अणुण्णाता पविसितुं भावेंति, एष तावत् दर्शनसंपदुक्ता। इदाणिं सीलसंपत्पसिद्धये इदमपदिश्यते–चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिए पव्वं मासस्स अट्ठमि पक्खस्स उद्दिट्ठा–अमावसा, पुन्नि मा इति चन्द्रमाः पूर्णमासः स्यात् सेयं पूर्णिमा, पडिपुण्णं पोसहंति–आहारपोसहादि ४। पोसहिओ पारणं अवस्सं साधूण भिक्खं दाऊण पारेति तेनोच्यते–समणे णिग्गंथे फासुएसणिज्जं असणं वा ४ पडि० वासारत्ते पीढफलगे पडिलाभेमाणा विहरंति। इदाणिं सव्वो सावगधम्मो समाणिज्जति—बहुसीलवान् सीलाइं सत्त सिक्खावदाइं वयाइं अणुव्वताइं, विहर, वेरमणं सद्दादिविषयेषु जहासत्तीए वेरमणं करेंति, अथवा वेरति वा वांति वा वेरमणंति वा एगट्ठं, पच्चक्खाणं, उत्तरगुणे दिणे २ पुव्वण्हेऽवरण्हे, पोसहं सरीरसक्कारबंभचेर, अथवा अवरो वा तिविहो आहारपरिच्चाओ उववासो, अप्पाणं भावेमाणा अण्णेसिं च साधुधम्मं च कहेमाणा एक्कारस उवासगपडिमाओ फासेमाणा विहरति। इदाणिं संणिकासो कीरति, जम्हा अभिगतजीवाजीवाः उवलद्धपुण्ण जाव मोक्खकुसला तम्हा असं० जम्हा देवासुरादिसु० अणतिक्कमिज्जा य पवयणातो जम्हा तम्हा णीसंकितादि जाव अभिगतट्ठा, अथवा गतप्रत्यागतिलक्षणं क्रियते–जम्हा णिस्सं० जहा(तम्हा असहेज्जा) जम्हा असंजहा तम्हा णिस्संकितादि, एवं जम्हा णिस्संकितादि तम्हा णिकंखिता, एक्केक्कं पदं छड्डेंतेहिं एक्केक्कवार भणंतेहिं जाव जम्हा अभिगतट्ठा तम्हा अट्ठिमिंजा जाव रत्ता तम्हा परेण पुट्ठा व अपुट्ठा वा वदंति–अयमाउसो! णिग्गंथे

पावयणे अट्ठे सेसे अणट्ठे, जम्हा य एवं प्रतिपद्यन्ते तम्हा उसितफलिहा जाव पवेसा, जम्हा एवं तम्हा चाउद्दसट्ठमीसु, तम्हा पारणए समणे णिग्गंथे, तेणं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूणि वासाणि प्राप्नुवंति-पाउणंति, पाउणित्ता प्राप्य, इदाणिं अंतिमं संलेहणा वुच्चति-अबाहंसि अत्यर्थं बाधा आबाधा जरा रोगो वा, साधुसमीवे वा आलोइयपडिक्कंता साधुलिंगं घेत्तु संथारसमणा दब्भसंथारगता सव्वासंमविप्पमुक्का बहूणि भत्ताणि० कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवेसु देवमहड्ढिएसु उववत्तारो, ते णं तत्थ महड्ढिया हारवि० गतिकल्लाणा जाव बावीसं सागरोवमाइं, आगमेसिभद्दा एगगब्भवसधीया चरित्तं प्राप्य सिध्यन्ति, उक्कोसेण वा अट्ठभवग्गहणाणि भंतुं सिज्झति, एसट्ठाणे कल्लाणे परपरएणं सुहविवागोत्तिकाऊणं आयरिए केवले, तत्र तच्चस्स मीसगस्स धम्मपक्खस्स आहिते ॥ एवं भणिता अधम्मपक्खा, तप्पडिपक्खा य धम्मपक्खा, उभयसंजोगेण य मीसपक्खा, तेसिं सव्वेसिं इदाणिं संखेवेणं पडिसमणेणं कीरति-जे ते अधम्मपक्खस्सिता धम्मपक्खस्सिता मीसगपक्खस्सिया य सव्वेऽवि बाला पंडिता बालपंडिता य भवंति, के तेत्ति ?, सुत्तेण चेव वक्खाणं, अविरतिं पडुच्च बाले विरतिं पडुच्च पंडिते य, विरताविरतिं पडुच्च बालपंडिते य, तत्थ जा सा सव्वतो अविरती एस ट्ठाणे आरंभट्ठाणे, आरभो असंजमो अविरती वा एगट्ठा, तत्थ जा सा विरती एस ट्ठाणे अणारभट्ठाणे संयमस्थानमित्यर्थः, तत्थ जा सा अविरतविरती एस ट्ठाणे आरभाणारंभट्ठाणे, जेण परिमियं अवज्जंति तेण आरंभट्ठाणे, णिच्छयसुहंतिकाउं तित्थगरोवदेसो य, तेऽणारिए केवले एवं ताव सो बहुविधो अधम्मपक्खो य तिसु ट्ठाणेसु अविरतीए संखेवितुं समोआरितो यथा 'जीर्णेऽभोजनमात्रेयः' एवमेष संक्षेपः, पुनरपि संक्षिप्यमाणः दोसु ट्ठाणेसु समोतरंति यदपदिश्यते-एवं समणुगम्ममाणा० (सूत्रं ४१), सम्यग्गमना गत्यर्था धातवो ज्ञानार्था इतिकृत्वा सम्यगनुगम्यमानाः सम्यगनु-

चिन्त्यमानाः इत्यर्थः, 'समणुगाहमाण'त्ति अनु पश्चाद्भावे यदा ग्राहितः कश्चित् तानेवार्थानन्यान् ग्राहयति यदा तेऽर्थाः कर्म संपद्यते तदा उच्यते तेऽर्थाः समनुगम्यमाणाः, इमेहिं दोहिं ठाणेहिं पुव्वुद्दिट्ठेहिं समोतरंति, तंजहा–धम्मे य अधम्मे उवसंते य अणुवसंते य, तत्थ णं जे से पढमस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते तस्य प्रादेशकानि कारणानि च इमाइं तिण्णि तेवट्ठाइं आदौ तावदनसीला पावाइया, शास्तार इत्यर्थः, तच्छिष्यास्तु भृशं वदंतीति प्रावादुकाः, तेण समासेण चउसु ट्ठाणेसु समो० किरियावादी अकिरियावादी वेणइयवादी अण्णाणियवादी, आह—किमर्थमेतानि तिण्णि तिसट्ठाणि प्रवृत्तानि ?, उच्यते–यथैव वयं कर्म्मक्षपणार्थमुत्थिताः एवं सिद्धिं प्रार्थयमानाः एवं तेऽवि स्वच्छन्दविकल्पैः संसाराभावं क्लेशाभावं वेच्छन्त्यतोऽपदिश्यते–तेऽवि णिव्वाणमाहंसु, तेऽवि पलिमोक्खमाहंसु, तत्र येषां तावदात्मा नास्ति, केचिच्च सन्प्रकारेण कर्म्मसंततिं नेच्छंति, ते बंधाभावात्केवलमेव कर्म्मसंततेरुच्छेदात् न निर्वाणमिच्छंति, आह हि–'कर्म्म चास्ति०' कर्तुरभावे को बध्यते मुच्यते वा ?, केवलमुपादानक्षयात् प्रदीपवत् ते लवन्त्युपादानक्षयान्निर्वाणं, एवं कर्म्मोपादानक्षयादनागतानुपपत्तेश्च संततेरभावो भवति, संतत्यभाव एव च मोक्षः, आह च–'अर्थोऽप्यनागतस्येव, येषामात्मा न विद्यते' सांख्यादीनां तेऽवि अ पलिमोक्खं मन्नो मोक्खो पडिमोक्खो, आह हि–'प्रकृतिविकारविमोक्षो मोक्षः' कस्य ?-क्षेत्रज्ञस्य विद्यमानस्य, विद्यमानैव च प्रकृतिर्विकारैर्ज्ञानान्मोक्षो भवति, अपिच–'ज्ञानामुपयोगः०' वैशेषिकानामपि विद्यमान एव षट्चक्रो मुच्यते, एवमन्येऽपि स्वच्छन्दविकल्पैः संसाराभावमिच्छंतोऽपि न मुच्यन्ते, आह–जइ संसाराओ न मुच्चंति ण वा मोएंति किं खलु लोगो ते सरणं पज्जयति ?, उच्यते, मिच्छत्ताणुभावत्ति, तेवि लवंति सावगा, कूटप्यग्राहवत् तेऽवि सावइत्तारो, आश्रवत् आश्रुवाणमित्यर्थः यः शृण्वन् श्रावयति स सावइत्तारो भवति। एवं ताव आदि-

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३७२॥

तीर्थंकराः कपिलादयः सावए लवंति, तच्छिष्याश्च पारम्पर्येण मिथ्यादर्शनानुभावादेव तेवि लवंति सावंति सावइत्तारो यावदद्यापि विपयानुकूलं धर्म्मं देशमाणाः, उक्तं हि–"भवबीज०" जह 'गन्तुमशक्कुवन्नुवास' तथा 'निरवग्रहमुक्तः' तथा बहुएहिं अभिसेएणं, आह–कथं तानि तिण्णि मयाणि तिसट्ठाणि मिच्छावादीणि ?, उच्यते, ये हिंसामुपदिशंति, ण हु तेण मोक्खो भवति, ते तावत् अवत्थुं चेव, जेवि मोक्खवादी अहम्मं पसंसंति मोक्खस्स पडिमगंति, यथा सांख्याणां पञ्च यमाः शाक्यानामपि दश कुशलाः कर्मपथाः, तत्राहिंसा मान्या, न चाहिंसा तेषां गरियो धर्म्मसाधनं, कथं ?, सांख्यानां तावज्ज्ञानादेव मोक्षः, आह हि–'एवं तत्त्व० भाषा' वैशेषिकानामपि 'अभिसेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासप्रस्थादानयज्ञादिनक्षत्रमन्त्रकालनियमा दृष्टाः' तत्र तत्र हिंसैव, वैदिकानां न गरीयसी यज्ञोपदेशात्, उक्तं हि 'ध्रुवं प्राणिवधो यज्ञे०' शाक्यानामपि सत्यं गरीयो धर्म्मसाधनं, कथं ?, कोऽपि भिक्खुएहिं भणितो–सिक्खावतं गेण्ह, तेण मुसावादवज्जाइं गहिआइ, ते घेत्तुं च भंजति, भंजंतो वुत्तो–कीस भंजसि ?, सो भणति मुसावादवेरमणं मए ण गहितं, तएणं सव्वं अलियं चेव, एवं तेसिं अहिंसा सीलंगा, कथं कृत्वा ?, दृष्टकलुषत्वादिति हेतुः, ते चेव पावादिया अप्पाणुमाणेण दिट्ठंतो कीरति ॥ ते सव्वे पावाउया०(सूत्रं ४२), प्रवदनशीलाः प्रा० आदिकरा धम्माणं, असब्भावपडवणाए एतेसिं तित्थगराणं तच्छासनप्रतिपन्नो वा, णाणापण्णा जाव णाणारंभा, अधाभावेन केणइ कारणेण धम्मपरिक्खण ट्ठवणावावारेण अण्णमण्णाइं धम्मसाधनाइं भणिल्लियाइं, भणमाणा अहिंसमवमण्णमाणा अणिज्जएण चेव करणएण अहेतुकामेण एगट्ठा, मेलेतुं भणिता, मंडलिबंधं काउं चिट्ठा, जहा दोण्णि बाहाओ आकुंचिताओ, अग्गहत्थेहिं मेलिताओ यथा भवंति, लोए अ वट्टं मंडलंति वुच्चति, मंडलबाहाइं मंडलबाहाए व, तेसिं मंडलिआए जहा परिएसणाए ते चेव णिवेसिता, एते विचिन्तेति कूरो

अहिंसा-स्थापना

॥३७२॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३७३॥

लब्भतीत्ति उवविट्ठा जाव पुरिसो सागणियाणं इंगालाणं हिलिहिलेन्ताणं पातिं, पतंति तस्यामिति पात्री–कुंभिया लोहमयी ताम्रमयी वा, सा छुभंतेहिं चेव अंगारेहिं तलिणत्तणेण अग्गितुल्लतला भवति, तं अयोमएण संडासएण गहाय जेणेव ते पावाइया तेणेव उवागच्छति, ते पावातिए एवं वदासी–हंभो पावाइया! आदिकरा धम्माणं इमं सागणिं पातिं मुहुत्तं २, वीप्सेणेकेकं भणति, मुहुत्तमेतं धरेह, णो संडासएण घेत्तुं अण्णस्स हत्थे दातव्वा, पविट्ठिता णो अग्गिथंभणविज्जाए आदिच्चमंतेहिं अग्गी थंभिज्जइ, मायम्मियवेयावडिएण पासंडियस्स थंभेति, परपासंडितस्सवि परिचएण थंभेइ, उज्जुकडा दव्वुजुगा उज्जुगा, पडिवाडिए ठिता भवेज्जहत्ति, णियगं २ धम्मं पडिवण्णा सत्यलोपेनेत्यर्थः, अमायं कुव्वमाणा, वक्ष्यति माया अग्गिथंभणादि, णिकायणं पडिवण्णा णिकायपडिवण्णा सवहसाविता इत्यर्थः, सवहेहिं पंच महापातगा गोवंभणिरिसिभ्रूणमामादीहिं, एवं ताव तित्थगरा तस्सीसा चेव महापातगाहि, सव्वधा स्वसमयसिद्धया च स्वतीर्थकराणा पाएसु इति वुचा–एवं णिकाएतुं तेसिं पावातियाणं तं पातिं सइंगालं संडासेण णिसरति, नागार्जुनीयास्तु 'अओमएण संडासएण गहाय इंगाले णिसरति,' तते णं ते पावातिया आदिकरा धम्माणं मा डज्झीहामोत्तिकाउं पाणि पडिसाहरति, ततेणं से पुरिसे ते पावातिए एवं वदासी–हंभो पावादिया! आदिकरा कम्हा पाणिं णो पसारेह?, ते भणंति–पाणी डज्झेज्ज, सो भणति–जिणवयणाकोविदा! पाणिंमि दड्ढे किं भवति?, ते भीता भणंति–दुक्खं भवति, सो पडिभणइ–इमं दुक्खं भवति, जति अदुक्खं मण्णमाणा पाणी ण पसारेह, णणु अत्ताणुमाणेण चेव एस तुलत्ति, समभारा जहा एकतो २ णयति, एवं जहा तुज्झं दुक्खं ण पियं एवं सव्वजीवाणं दुक्खमणिट्ठं, पमाणमिति तुज्झेव पमाणं, साक्षिण इत्यर्थः, जह कस्सइ सुहमणिट्ठं, दुक्खं वा पियं, उक्तं हि–'वस्त्रादिमिश्रेदिह नाभविष्यत्, प्रच्छादितः काममसौ भ्रमोऽयं। त्वमेव साक्षी

आहार-निक्षेपः

॥३७३॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३७४॥

सहजातरूपे, यद्यत्र रागे प्रणयोऽभविष्यत् ॥ १ ॥' सव्वेसिं जीवाणं एत्थ सुहदुक्खे तुल्ले सम्यक् अवसरणमिति तुल्योऽर्थः, ण कत्थइ सुमदं, पत्तेयं तुला, एकैकं प्रति प्रत्येकं, प्रत्येकमिति एक्केक्कस्स जीवस्स तुला, सुहप्पियाणां दुःखोद्वेगिणां च, तहेव एक्केक्कपमाणं समोसरणं च कीरति, एष दृष्टान्तः अयमर्थोपनयः, तत्थ जे ते समणमाहणा एतं सुहदुक्खं तुल्लं, अत्तपरगंति तुल्लमजाणंता भणंति–सव्वे पाणा हंतव्वा० उद्दवेतव्वा, कहं च णं भंते ! हंतव्वा ?, उच्यते–उद्देसिकादि अनुजानंते तेहिं सव्वेहिं पाणा हंतव्वा उवद्दवेतव्वा हि अणुण्णाता भवंति, उक्तं हि–'तमथावराणं०' तम्हा उद्देसियाणं भुंजो, अथैषामेवोद्देशिकादि अनुमन्यमानानां च को दोषः ?, उच्यते, अनिर्मोक्षः, अमुच्यमानाश्च चातुरंते संसारकंतारे आगच्छंति छेदाए, यथा ग्रामाय गच्छति, एवं आगंतारो, देसच्छेदो हत्थच्छेदादि, सव्वच्छेदो सीसादि, जाव कलंकलिभावभागिणो भविस्संति। किंचान्यत्–बहूणं तज्जणाणं जाव आभागीभविस्संति, अणादीयं च णं जाव अणुपरियट्टिस्संति, ते णो सिज्झिस्संति, जेसिं तुल्ला जे पुण अत्तोवमेण सव्वजीवेहिं तुल्ला सुहदुक्खतुल्ला, णत्थि तहा माणं सरणं, पत्तेयं तुला ३ एवं मण्णमाणा तत्थ जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति सव्वे पाणा न हंतव्वा तच्चार्हता, एवं उद्देशिकादिविवज्जिणो ते णो आगंतुगा च्छेदाए, तं चेव पडिलोमं जाव सव्वदुक्खाण अंतं करेस्संति। भणियाणि किरियाट्ठाणाणि, एत्थ पुण पडिसमणेणं कीरति–इरियावहियावज्जा बारस किरियाट्ठाणा अधम्मपक्खेऽणुवममे समोतारिज्जंति, तेण वुच्चति–इच्चेतेसु बारससु किरियाट्ठाणेसु वट्टमाणा जीवा (सूत्रं ४३), अतीतकाले णोवि सिज्झंसुत्ति, संपयं काले णोवि सिज्झंति, एवं अणागते णोवि सिज्झिस्संति, तेरसमे किरियाट्ठाणे वट्टमाणा सिज्झंसु इच्चाइ, एवं सो भिक्खू जो पोंडरीए वुत्तो किरियाट्ठाणवज्जओ अधम्मपक्खअणुवममवज्जओ य किरियाट्ठाणसेवी धम्मपक्खट्ठितो उवसंतो आयट्ठी जो अप्पाणं रक्खति

आहार-निक्षेपः

॥३७४॥

श्रीसूत्रकृ-ाङ्गचूर्णिः ॥३७५॥ २ अध्य०

जतो आयरक्खिओ भवति आत्मवान्, लोकेऽपि वेद्यते, अरक्खंतो अनात्मवान्, अथवा अप्पएण से अट्ठो आयट्ठी, अप्पणो हितो इह परत्थ य लोए, चोरादी दोसुवि लोएसु अप्पणो अहितो, अप्पगुत्ता ण परपच्चएण लोगपंत्तिणिमित्तं आत्मनैव संजमजोए जुंजंति, ण परपच्चयट्ठं, सयमेव परक्कमिंति, केइ पुण भणंति–'ईश्वरात्संप्रवर्त्तेत, निवर्त्तेत तथेश्वरात्। सर्वभावास्तथाभावाः, पुरुषः स्थास्नुर्न विद्यते ॥१॥' 'सर्वे भावा तथाभावाः' एतच्च आयपरक्कमगहणेण परिहृतं भवति, एवं प्रकृतिकालस्वभावानामपि आत-एरक्कमगहणेण पडिसेधो कतो भवति, अप्पाणं रक्खंतो आयरक्खतो भवति, आताणुरक्खितो वा अनु पश्चाद्भावे किरियाट्ठाण-सेविणो, तेण अधम्मफलेण दुक्खेण संपयुत्ते कंपिज्जमाणे दट्ठुं जस्सेवं कंपो भवति से आताणुकंपए, परमात्मानं वाऽनुकम्पमानः, आत्मना ह्यात्मानमनुकम्पते, तदनुकम्पते तदनुग्रहात्, आतणिप्फेडए अत्ताणं संसारचारगा णिप्फेडिति, अत्ताणं णाणादीहिं गुणेहि णिप्फेडंति आतणिप्फेडए, अत्ताणमेव पडिसाहरेज्जासित्ति वेमि किरियाट्ठाणेहिंतो पडिसाहरति २ त्ता अकिरियं ठावेइ॥

इति द्वितीयश्रुतस्कन्धे द्वितीयाध्ययनं क्रियास्थानाख्यं समाप्तम्॥

अज्झयणाभिसम्बन्धो–तेण भिक्खुणा कम्मक्खयसमुट्ठितेण किरियाट्ठाणविवज्जएण तेरसमकिरियाट्ठाणासेविणा आहारगुत्तेण भवितव्वं, वक्ष्यति–'आहारगुत्ते समिते सहिए सदा जएज्जासित्तिबेमि,' जो फासुगाहारो सो आहारगुत्तो भवति, तत्र उच्यते–केयि जीवा सचित्ताहारत्ति, को वा किमाहारेति?, एतेणाभिसंबन्धेन ततियमज्झयणमायातं आहारपरिण्णा, फासुगाहारो सो आहारगुत्तो भवति. चत्तारि अणुओगदारा, पुव्वाणुपुव्वीए ततियं पच्छाणुपुव्वीए पंचमं अणाणुपुव्वीए एगादिमत्तगच्छगता जाव ३, णामणिप्फण्णे आहारपरिण्णा, आहारो णिक्खिवितव्वो परिण्णाए य, आहारणिक्खेवो पंचहा–णामं ठवणा॥१६९॥ गाहा,

आहार-निक्षेपः

॥३७५॥

अथ द्वितिय्-श्रुतस्कन्धस्य तृतियं अध्ययनं आरभ्यते

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥३७६॥

एसो खलु दव्वे सचित्त ॥१७०॥ गाहा, दव्वाणि आहारेति दव्वाहारो, सो तिविहो–सचित्तादि ३, सचित्तो छव्विधो–पुढविजो पुढविकाईयादि, पुढवी लोणमादी अपि कद्दममपि कद्दमपिंडादानं च, आउक्काओ सचित्तो भोमतलागादि अंतरिक्खो य, तेउक्काओ सचित्तो आहारो इंदगपागादिसु, महंतेसु अ अग्गिट्ठाणेसु अ अग्गिमूसगा संमुच्छंति, ते तं चेव सचित्तं अग्गिमाहारेंति, सेसा मणूमादयो ण तरंति जलमाणं सचित्तं अग्गिमाहारेतुं, उक्तं हि–'एको नास्ति अवक्तव्यस्याग्नेरनास्थानमित्रवत्', लोमाहारो पुण तेसिं होति हेमंते सीतेवि तावेंताणं, सो पुण जो अग्गीओ प्रकाशः प्रतापः सो सचित्तोत्ति वा, सचित्तं ते पुण नियमा आहारेंति जीवा, जेण सीतेण खुणखुणंतो अद्धमतओवि आसासति, जहा मुच्छितो पाणिएण, वाउक्काओ लोमाहारो सीयलएण वातेण अप्पाइज्जति, वणस्सती कन्दमूलादी, तसा अंडके जीवंते चेव सप्पा गस्संति, मणूमावि केइ छुहाइंता जीवंतिया चेव मंदुक्कडिविया, एवं अचित्तो मीसओ अवि भासितव्वो, णेवरि णवर)अग्गी अचित्तो भणितव्वो, अथ 'भंते! ओदणे ओदणकुम्मासे०' भणितो दव्वाहारो, खेत्ताहारो जो जस्स णगरस्स आहारो, आहार्यत इत्याहारः विसओ आहारोत्ति वुच्चति, जहा मधुराहारो खेडाहारो यस्सट्ठो व स्नेहोदनादि, इदाणि भावाहारो, तेसिं चेव सचित्ताचित्तमीसगाणं दव्वाणं जे वण्णाइणो ते वुद्धीए वीसुं २ काऊण आहारिज्जमाणो भावाहारो भवति, तत्थवि कडुकसायंबिलमधुररसादि जिब्भिंदियविसयोत्तिकाऊण प्रायेण घेप्पति, उक्तं हि राइभत्तेभावतो तित्ते वा जाव मधुरे वा, इतरेऽपि चानुपंगेण, उक्तं हि–'जडो जं वा तं' मृदुविशदवाष्पाढ्यश्चौदनः प्रशस्यते, शीतोदकेन प्रशस्यते, शीतोदकं तु प्रशस्यते, एवं तावद्भावाहारो द्रव्याश्रय उक्तः, इदाणिं जो आहारेति आहारओ तमाश्रित्य भाव उच्यते–सव्वो आहारेन्तो उदइयस्स भावस्स आहारेति, कयरस्स उदइयस्स?, वेअणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, 'पंचेव आणुपुव्वीए' ॥३७६॥

आहार-निक्षेपः

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३७७॥

जम्हा वुत्तं–'चउहिं ठाणेहिं आहारसण्णा समुप्पज्जति, तंजहा–ओमकोट्ठताए छुधावेदणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मतीए तदट्ठोवओगेणं' जम्हा उदयिकस्स, कुट्ठे उदयीयस्स कर्मणः उदयात् आहारेति, केवलीणवि औदयिकपारिणामिको भावो इति, तम्हा सिद्धो, भावाहारो तिविहो–ओए लोमो अ पक्खेवे, एएसिं तिण्हवि एकाए चेव गाथाए संखेवक्खाणं, तं०—'सरीरेणोयाहारो तयाइ फासेण लोमआहारो।' पक्खेवो जं सरीरस्स पज्जत्तीए, पज्जत्तओ वा आहारेति, जो ओयाहारो एतस्स वक्खाणं गाथाए पुव्वद्धेण तं०–ओयाहारा जीवा सव्वे ॥१७२॥ गाहा, आहारगअप्पज्जत्तगा, ओजत्ति सरीरं ओजाहारा–सरीराहारा. कतरे ?, सव्वे आहारगा, जे आहारेंति, ते पुण तत्ततेल्लसंपाणपक्खेव०, इह सरीरपज्जत्तीए पज्जत्तगा वा पज्जप्पमाणा वा, सरीरपज्जत्ती पुण आहारपज्जत्तीए पज्जप्पमाणस्सेव, सव्वबंधे आढविय जाव सरीरपज्जत्तगस्स ओयाहारो होति, किं वुच्चते ?–ओयाहारा जीवा सव्वे आहारगा अपज्जत्तगा उच्यन्ते, इंदियआणुपाणुभासमणोपज्जत्तीहिं अपज्जत्ता, वुत्तं ओयाहारक्खाणं, इदाणिं लोमाहारस्स भवति, तयाइ फासेण य लोमाहारेत्ति, एतस्स गाहापादस्स पुरिल्लीए गाथाए पच्छिमद्धेण वक्खाणं–'पज्जत्तगा तु लोमे पक्खेवे होइ भयितव्वा' कतरीए पज्जत्तीए आढवेतुं ?, तत्थ तगा घेप्पति फासिंदियमित्यर्थः, जं उण्हामितत्तो छायं गंतूण छायापोग्गलेहिं आसामति सव्वगातलोमकूवाणुपविट्ठेहिं, आसामति शीतवातेण वागादीयउक्खेवणगादीवातेण वा, आसमति ण्हायंतो वा, एवमादि लोमाहारोत्ति, गब्भेवि लोमाहारो चेव, जेण पक्खेवाहार इध आहारिज्जंतो आहारो, तेन चक्षुष्मता अन्येन वा ण दीसति लोमाहारः लोप इव, लोपः अदर्शनमित्यर्थः, जे अदीसंता चोरा हरंति ते लोमाहारा वुच्चंति,एसो पुण लोमाहारो णिच्चमेव भवति अनाभोगणिव्वत्तितो आभोगणिव्वत्तितो वा, पक्खेवाहारो पुण भाइज्जति, का भयणा ?, कदाइ आहारेइ जहा उत्तरा कुरा अट्ठमेण भत्तकालेण पक्खेवमाहारमाहारेंति;

आहार-भेदाः

॥३७७॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३७८॥

संखेज्जगवासाउआणं अणियओ, तयाइ फासेणंति वुत्तं। इदाणिं पक्खेवगाहारस्स वक्खाणं, तेनोच्यते–एगिंदियणारगाणं देवाणं चेव णत्थि पक्खेवो। सेसाणं पक्खेवो संसारत्थाण जीवाणं ॥१७३॥ सेसाणेगिंदियवज्जाणं ओरालियसरीरीणं जेसिं जिब्भिंदियमत्थि ते पक्खेवाहारा, एके त्वाचार्या एतदेव त्रिविधं आहारं अन्यथा ब्रुवते, तंजहा–पक्खेवाहारः ओयाहारः लोमाहार इति त्रयः, जिह्वेन्द्रियेन लभ्यते स्थूलशरीरे प्रक्षिप्यते सो पक्खेवाहारो, यो घ्राणदर्शनश्रवणैरुपलभ्यते धातोः परिणाम्यते ओजाहारो, यः स्पर्शेनोपलभ्यते धातोः परिणाम्यते स लोमाहारः, वुत्तो आहारो, अप्पाहारगा बहुआहारगा य इदाणिं वत्तव्वया जे जत्तियं वा कालं आहारगा भवंति, कालं ताव भणति–एक्कं च दो व समए तिण्णि व समए मुहुत्तमद्धं वा। सादीमणादिमणिहणं वा कालमणाहारगा जीवा ॥१७४॥ वुत्तो कालो गाथासिद्ध एव॥ इदाणिं अणाहारगा वुच्चंति ते दुविधा, छउमत्था केवली य, तत्थ छउमत्था अणाहारगा–एक्कं च दो व समए केवलिपरिवज्जिया अणाहारा। मंथंमि दोण्णि लोगे य पूरिते तिन्नि समया तु 'एगं च दो व समए'त्ति विगहगतीए, केवली अणाहारा दुविधा--सिद्धकेवली अणाहारा भवत्थकेवलिअणाहारा, भवत्थकेवलिअणाहारा दुविधा, तंजहा–सयोगि० अयोगी०,सयोगिभवत्थकेवलिअणाहारा समुग्घातगता,ते पुण मंथंमि दोण्णि, मंथं पूरेंतो लोए भवति तइए समए, णियट्टंतो पंचमसमए, लोगं पूरेति चउत्थसमएत्ति तिसुवि अणाहारो, इदाणिं अजोगिभवत्थकेवलिअणाहारओ गाथासिद्धो चेव अंतोमुहुत्तं, सिद्धकेवलिअणाहारओवि गाथासिद्धो सादीयअणिधणो सिद्धअणाहारो, जोएण कम्मएणं आहारेती अणंतरं जीवो। तेण परं मीसेणं जाव सरीरस्स पज्जत्ती (निप्फत्ती) ॥१७७॥ उववज्जमाणा चेव सव्वबंधे कम्मगजोगेणं आहारेंति, तओ मीसेण जाव ओरालियसरीरपज्जत्तीए पज्जत्तो भवति, पच्छा ओरालियमिस्ससरीरेण चेव

आहार-भेदाः

॥३७८॥

आहारेति, एवं वेउव्वियं, आहारगसरीरेणं पुण णियमा आहारगो चेव, वुत्तो आहारो। इदाणिं परिण्णा जहा सत्थपरिण्णाए भणिता णिक्खेवे, सुत्ताणुगमे सुत्तं–सुअं मे आउसंतेणं० (सूत्रं ४४) इह खलु आहारपरिण्णा तस्स णं अयमट्ठो इह खलु पाईणं वा ४ पण्णवगदिसाओ पडुच्च, सव्वाओत्ति सव्वाओवि दिसाओ उड्ढं अधो अ गहिताओ, सव्वावंतित्ति सव्वसंखेवेण चत्तारि बीजकाया, बीजमेव कायो बीजं इत्यर्थः, तंजहा–अग्गं बीजाणि जेसिं तिलमादीणं सालिकलमअतसिमादीयावि, तणा, अग्गं बीजं जेसिं वा अग्गलता सप्पंति परं होंति वा ते अग्गं बीजा, मूलबीजा वा अल्लगमादी, पोरु उच्छुगमादी, खंधबीजा सल्लइमादी, तदंतं नागार्जुनीयास्तु 'वणस्सइकाइयाणं पंचविहा बीजवकंती एवमाहिज्जइ–तंजहा–अग्गमूलपोरुक्खंधबीयरुहा छट्ठावि एगेंदिया संमुच्छिमा वीया जायंते' जहा उदावणे दड्ढे समाणे णाणाविधाणि हरिताणि संमुच्छंति, पउमीणीओ वा नवए तलाए संमुच्छंति, पुराणेवि कत्थयि पुव्वं ण होतुं पच्छा संमुच्छंति, उक्तं हि–'पद्मं च राजहंसाश्च' 'तेसिं च णं अहाबीजेणं'ति यद्यस्य बीजं तत्र तदेव प्रसूयते यथा शालिबीजे शाल्यङ्कुरो जायते, न कोद्रवादयः, अथवाऽवकाशेन जं जत्थ खेत्ते जायते, यथा सुमज्जितकेदारपल्वले प्रावृट्काले शालिर्जायते यथा शालीबीजे शाल्यंकुरः, पाषाणोपरि नोप्यते न वा उत्तोऽपि जायते, अथवा भूम्यम्बुकालाकाशबीजसंयोगो गृह्यते, अथावकाशग्रहणेण०, एगतिया एगे ण सव्वे, जेऽवि वणस्सतिकाये तेऽवि रुक्खा उम्मज्जणवद्धणा, सेसाओ अपुढविजोणिया, पृथग् वियोनिर्येषां, उत्पत्तिः आधारः प्रसूतियोनिरित्यर्थः, यु मिश्रणे, यौतीति योनिः, मिश्रभावमापद्यन्त इत्यर्थः, कार्मणशरीर वा, जीवो वृक्षभावपुरस्कृतः, या च प्रसूतिः क्षमाभूमिमंतरेण न प्रसूयते सो पुढविजोणियो भवति, जहा जलं न जायते, जत्थ जस्स जोणी सो तत्थेव संभवति पंकजवत् बीजाङ्कुरवद्वा, उक्तं च–"कुसुमपुरोप्ते बीजे मथुरायां नाङ्कुरः समुद्भवति।

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥२८०॥

यत्रैव तस्य बीजं, तत्रैवोत्पद्यते प्रभवः ॥१॥" तथा यथा प्रतिचन्द्रकस्य दिक्षु समुद्भवः स चैकत्र दृश्यते, प्रतिमुखस्य वाऽऽदर्शके प्रतिभो दृश्यते, एत एव तदुक्तं भवति–या हि यत्र यस्य योनिः सा तत्रैव सम्भवति, पुढविचक्कमत्ति, केसिंचि आलावगो चेव एस णत्थि, जेसिंपि अत्थि तेसिंपि उक्तार्थ एव तस्सग्रहणेन, तहावि विसेसो वुच्चति, जहा तंतुजोणिओ पडो तंतुमय इत्यर्थः, कारणान्तरितः क्रियमाणो तंतुष्वेव भवति, न देशान्तराभ्यां, ह्रियते वा, वृक्षस्त्वेवं, न चैवं कथमिति ?, उच्यते–कोई सामलपुढविकाईए पुरेक्खडो पुढविकायसरीरं विप्पजहाय तंमि चेव देशे सशरीरे अण्णेसु वा तत्संनिकृष्टपुढविकायिएसु रुक्खत्ताए विउट्टति, तत्थ कायांतरसंकमे कमो घेप्पति, अण्णो पुण देशांतरातो सकायातो वा परकायातो वा आगम्म रुक्खत्ताए वक्कमति, तज्जोणिया तस्सभावा, तव्वक्कमत्ति तं चेव जोणियमिति, जहा जा जस्स जोणी सो तम्मि चेव संभवति, णण्णत्थ यथा पाषाणात् सुवर्णं जायते, न सर्वस्मात् पाषाणात् जायत इति, एवं पुढविजोणिओ पुढविसंभवो पुढविउवक्कमो य ण सव्वाओ पुढवीओ जायते, कथं पुण भूमीय उस्सरिल्ले पत्थरोवरि वा णो जायते ?, तज्जोणियग्गहणेण तु सव्वमेतं परिहरितं गहियं च भवति, कम्मोवगा कम्मजोगा भवंति, जो जस्स जोगो भवति सो तस्स उवजोगो वुच्चति, यथा रूपवानेष दार उपजीवनीयो, सो रूवेण कुलेण शीलेण य तीसे एवंगुणजातीयाए दारियाए, दारिकाए चेव दारको, सोऽवि एतस्स उवयोगो, एवं तेहिं तविधाइं कम्माइं कताइं रुक्खारोहअणिव्वत्तगाइं जेसिं रुक्खाण णेहउवइक्कं भवति, तहा मंडगमध्ये किंचि जं णिज्जरइ तं उवइक्कं, सिणेहस्स वा तेल्लस्स वा घयस्स वा २, मरमाणं अणोवइक्कं, तहा आढगः प्रसाणो घटः, आढगप्रमाणस्यैव मेयस्य द्रव्यस्येतरस्य वा उवयोगो, पत्रपुष्पफलादिलक्षणव्यतिरिक्तानां ण तेसिं अण्णपुढविकाइयादिशरीरेणोवयोगो, कम्मणिदाणत्ति णियाणं हेतुः कारणमित्य- ॥२८०॥

वनस्पतिः

नर्थान्तरं, वातिकस्य हि व्याधेः वातलद्रव्याहार एव णिदाणं, एवं पित्तियसिंभियाणंपि पत्तियसिंभाणिदाणं, यथा नानिदानो व्याधिः उत्पद्यते एवं कर्म्मनिदानमन्तरेण न शरीरोत्पत्तिः भवतीत्यत उच्यते–कम्मणिदानेन, तथा च कम्म०, कतरं कम्मं ?, रुक्खणामागोतं तस्सोदएणं णाणाविहजोणियासु, पुढवीति तेसिंपि जो पुढवी 'सचित्तसंवृत्तमिश्राश्चैकशः' तथाप्रकारा योनिः, णाणाविधानां च अण्णेसिं पुढविकाइयादीणं छण्हं कायाणं जोणी विउट्टतित्ति, विविधयोगे, विशेष्य पृथिवीकायं वृक्षत्वमभिसंप्राप्य वर्त्तन्ते विउट्टंति। ते जीवा तेसिं सिणेहं ते जीवत्ति जे पुढविकाईएसु उववण्णा तासिंति जासु उवादाणभूतासु उववण्णा अविद्धत्थजोणियासु उववण्णा, सिणेहो णाम सरीरभारो तं आपिबंति, ण य एगंतेण चेव तं बन्धुं विद्धंसेंति, को दिट्ठंतो ?, जहा अंगत्थो जीवो मातुगातुम्हंपि आहारेति, ण य माऊए किंचिवि पीलं जनयति, स्त्रीपुंसो वा परस्परगात्रसंस्पर्शात् पुष्टिर्भवति, न च तयोः पीडा भवति, जहा अंबस्स य णिंबस्स य, णिंबावयवा अंबमणुपविसित्ताण दूसेंति, ण य णिंबस्स पीडा भवति, जेण वर्द्धते णिंबः, एसोऽवि वणस्सइकायिको रुक्खो तासिं पुढवीणं सिणेहमापिबेइ, ण य तेसिं पीडं जणयति, कदायि पीडं जणयति असमाणवण्णगंधरसस्पर्शात्, एवं उववज्जमाणाण आहारो भवति ता, परिवड्ढमाणा पुण परिवड्ढयंते जीवा आहारेंति पुढविशरीरं जाव शरीरसन्निकृष्टं आउक्कायंपि अतलिक्खं भोमं वा, भोमं भूमीतो उब्भिदिय जातो, पाणितं जं भुमं चेव भूमित्थं, वहंतमवहंतगं वा, तेउच्छरादिवाओ भूमिखलणाओ वा आगामाओ वा, वणस्सई परोप्परं मूला संगत्ता, जहा अंबस्स, तह काउगोकरिसमाणा पुरिसादि, नागार्जुनीयास्तु अवरं च णं असंबद्धं पुढविसरीरं जाव णाणाविधाणं तसथावराणं अचित्तं कुव्वंति जंतवो, पुव्वविउट्टं चेव जीवेणं जीवसहगतं आहारत्ताए गेण्हंति, तपि जया सरीरत्ताए परिणामेति तदा अचेतनीकरोति, कथं वा अण्णेण जीवेण

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥३८२॥

परिग्गहितं ताव अण्णसरीरत्ताए ण परिणमेति ?, जया पुण परिचत्तं भवति, जेणेव जीवेण सरीरगं णिव्वत्तितमासी तदा अण्णो जीवो आहारेति, परिविद्धत्थंति प्राक्तनेन जीवेन मुक्तं, पुव्वाहारियंति, तं सरीरगं जो वणस्सइकाइओ पुढविसरीरगं आहारेति तंपि तेहिं जीवेहिं 'आहारगा य पाणा' इतिकाऊण चेव णिव्वतितं, अत एतदुक्तं भवति–पुव्वग्गहारितमेवान्यैर्जीवैराहार्यते, तयाऽऽहारिंतित्ति जे एगिंदिया एते तयाए चेव आहारेंति फासिंदिएणेत्यर्थः, जेसिंपि जिब्भिंदियमत्थि तेसिंपि पुव्वं फासिंदिएण स्पृशित्वा पश्चात्, जिह्वेन्द्रियमप्यस्ति ?, उच्यते, यस्मात् जिह्वा स्पर्शं गृह्णाति, अग्निना अनास्वादनीयेन स्पृष्टा दह्यंते, एवमन्यदपि दन्तौष्ठतालवादि स्पर्शं वेत्ति, न च तत्र किंञ्चिदन्यदास्वादयति, विपरिणतंति पुढविकाइयत्तणं मोत्तूणं विविधैः प्रकारैः तमेव वृक्षत्वं परिणतं, सारूविकडंति समानरूविकडं वृक्षत्वेन परिणामितमित्यर्थः, सवप्पणत्ताए आहारेति, नागार्जुनीयास्तु एवं सम्प्रतिपन्ना–अवरेणंत णं, कतरं ?, संबंधमसंबंधं वा, जो पुढविकाइयसरीरेहिं तस्यापतितैर्भोगैः संश्लेष इत्यर्थः, तेसिं तं पुढवितप्पढमताए सिणेहमाहारयंति, असंबद्धं पुण जं पासत्तो पुढविसरीरं वा ते पुण पण्णत्तीआलावगावि भणंति, तेसिं पुराणगुणे गंधरसे० अवरेणवि य णं०, कतरे अवरे वा ?, णावरे, जं उववज्जंतेण गहितं अवशिष्टमूलादिभ्यः, जहा गब्भवक्कंतिएण जाव लब्भंति, तत्थवि दुल्लहबोधिं, पंच पिलगाओ इंदियाणि वा णिव्वत्तेंति ताव, अवशिष्टा एवमेव निपेकादयः, एवं तेवि रुक्खजीवा जाव मूलादीणि णिव्वत्तेंति ताव णो अवरं भवति, आदिशरीरमित्यर्थः, मूलकन्दादि जाव बीजं ताव अवराइं वुच्चंति, अन्यानीत्यर्थः, णाणावण्णत्ति, नानार्थान्तरत्वेन वण्णत्ति पंचविधा, तंजहा–किण्हा नीला खदिरसिंशपादि, णाणासरीरत्ति णाणाविधेभ्यः पुद्गलानाहारत्वेन गृहीत्वा आत्मशरीराणि विविधं कुर्वन्ति विकुर्वंति, अथवा णाणाविधसरीरा णाणाविधपुद्गला विकुर्वन्तित्ति, अल्पशरीराश्च

वनस्पतिः

॥३८२॥

तहा सुरूवा दुरूवा थिरसंघयणा दुब्बलसंघयणा इत्यर्थः, अप्रकाशवदप्रकाशत्वेन रसवीर्यविभागं ततश्च भेदांश्च बहवो विभावयितव्याः, विविधपुद्गलापि विकुर्विता ते जीवा इति, केषांचिद् न जीवाः वानस्पत्याः तत्प्रतिषेधार्थमुच्यते—ते जीवा कम्मा, कथं जीवा ?, कुञ्चनात्संरोहादंकुरात् आपदाहारकर्म्माच, कम्मो वणस्सति वणस्सतिणामस्स कम्मस्सोदएण, न त्वीश्वरसृष्टाः अदृष्टेन वा द्रव्याणि वेत्यादि, एस ताव पुढविजोणिओ रुक्खो वुत्तो, इदाणिं तंमि चेव पुढविजोणिए रुक्खे अण्णो रुक्खत्ताए वक्कमति—अथावरं पुरक्खायं० (सूत्रं ४६), अथेत्यनन्तरे अथावर पूर्वमाख्यातं, गणधरो सीसाणं अक्खाति, तित्थगरेण अक्खातंति, अथेत्यनन्तर्ये पुनर्विशेषणे, आङ् मर्यादाभिविध्योः ख्या प्रकथने, पुनः आख्यायते, घोषवत्स्वग्परतः ख्यादेशे कृते पुनराख्यातं भवति, तस्सेव रुक्खस्स किंचिदन्यदाख्यातं, इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया, कतरेति ?, पुढविजोणिएसु रुक्खेसु जो एते आदिजीवा पुढविजोणिएसु रुक्खेसु रुक्खत्ताए वक्कंता तेसु चेव अविभिन्नेसु मूलादिसहितत्वेन तमेव रुक्ख परिबृंहयमाणा रुक्खत्ताए विउद्दंति, सेसं तथैव जाव भवतित्ति मक्खातं, किं तं पुरा अक्खातं पुनर्वा आख्यातं ?, एस ताव रुक्खो अविसिट्ठो वुत्तो, पढमो पुढविजोणिओ रुक्खो, बितिओ पुढविजोणिओ रुक्खाओ तन्निश्रयोत्पद्यते, ततिओ रुक्खजोणिओ रुक्खो, यदुक्तं भवति—योऽसावाद्यनिश्रयोत्पन्नः तस्यैव निश्रया जातः, अत्र च अनवस्था न नोदनीया, तृतीय एव वृक्षः प्रकारे, स चैषामेव भावात्, एते तिन्नि सुत्तदंडगा, चतुर्थस्तु तृतीयवृक्षमूलादिनिवेशप्रतिपादकः, एवमव्याकुलेन चेतसा पर्यालोच्य सूत्रदण्डकाः अन्यत्रापि नेतव्याः, एवमनयैव भंग्या अज्झारुहेण चत्तारि दण्डकाः, साधारणानामेक एव दण्डकः, तेषु येऽन्ये उत्पद्यन्ते तेषां विभागाभावः, रुक्खेहिं रुक्खजोणिए, मूलेहिं जाव हरितेहिंवि तिण्णि, अत्र द्वितीयतृतीयावेकमेवेतिकृत्वा चतुर्थसूत्रदण्डकाभावः, अप्कायिकानां

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३८४॥

चतुर्थोऽत्र शेषेषु दंडकः, अग्निकायिकानां चतुर्थो, आवाकादिषु मूषकाः, इदाणिं सो चेव विसेसो मूलादिणा दसविधेण विसेसेण विसेसिज्जइ, शरीरवत्, यथा शरीरमविशिष्टं तदेव पाण्यादिभिर्विशेषैर्विशिष्यते, वनवद्वा ग्रामगृहवद्वा विषयवद्वा, एवं रुक्खेत्ति अविशिष्टो उवक्कमो वुत्तो, सो पुण विसेसिज्जइ मूलत्ताए, मूलं नाम मूलिया, जेहिं मूलिया पइट्ठियाओ, भूम्यन्तर्गत एव स कन्दः खन्धस्योवरि खन्धो तया छल्ली सव्वरुक्खसरीराणि सालेसुवि होइ खंधाओ, सालो अङ्कुरा इत्यर्थः, प्रवालेहिंतो पवाला पत्ता पत्तंतरेसु फलाणि फलेहिंतो बीजाणि०॥ अट्ठावरं पुक्खायं इहेगतिया० (सूत्रं ), रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु अब्भारुहत्ताए, रुहं जन्मनि, अहियं आरुहंतित्ति अज्झायारुहा, रुक्खस्स उवरिं, अत्र रुक्खो पगतो, लतावल्लिरुक्खगंति, सो पुण पिप्पलो वा अण्णो वा कोयि रुक्खो, अण्णस्स उवरिं जातो, एवं तणओसहिहरिएसु चत्तारि आलावगा भाणितव्वा, कुहणेसु इक्को चेव, सव्वेसिं कायाणं पुढविमूलाहारोत्तिकाऊणं तेण पुव्वि पुढविसंभवा वुच्चंति, एवं ताव एते वणस्सइकाईया, लोगोवि संपडिवज्जति जीवंति जेण सुहपण्णवणिज्जत्तिकाऊण पढमं भणिता, सेसा एगिंदिया पुढविकाईयादयो चत्तारि दुमदहणिज्जत्तिकाऊण पच्छा वुच्चंति, वणस्सइकाइयाणंतर तु तसकाओ, सो पुण णेरईओ तिरिक्खजोणिओ मणुओ देवेत्ति, तत्थ नेरइया एगंतेण अप्पचक्खत्तिकाऊण ण भण्णंति, ते पुनरनुमानग्राह्या, तेण ण भण्णंति, तेसिं आहारोवधिः आनुमानिक इतिकृत्वा नापदिश्यते, न तु एगंतासुभो ओजसा न प्रक्षेपाहारः, देवा अपि साम्प्रतं प्रायेणानुमानिका एव, तेसुवि एगंततो आहारो ओजसा, मणभक्खणेण य, सो पुण आभोगणिव्वत्तितो अणाभोगणिव्वत्तितो य, जहा पण्णत्तीए अणाभोगेण अणुसमतिगो, आभोगेणं जह० चउत्थं उक्कोस० तेत्तीसाए वाससहस्सेहिं अत्थतो चेव वुच्चति, इह सुत्ते वणमत्तिकाइयाणंतरं मणुस्सा, सतिरिक्खजोणिएत्ति सचित्तंतरत्तिकाउं पढमं वुच्चंति । अट्ठावरं पाणा-

वनस्पतिः

॥३८४॥

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥३८५॥

विधाणं मणुस्साणं (सूत्रं ५७) आरियाणं मिलक्खूण तेसिं अथ बीजं, मणुस्सबीजमेव हि मणुस्सस्स प्रादुर्भविष्यतः बीजं भवति, तं तु शुक्रं शोणितं च, तं पुण उभयमपि यदा अविद्धत्थं भवति, अथावकासेत्ति जोणि गहिता अविद्धत्था, एत्थ चउब्भंगो—बीजं निरुवहतं जोणी णिरुवहता बीजं णिरुवहतं जोणी उवहता०, एवं सत्तकोट्ठा इत्थित्तिकाऊणं अंतोदरस्स अथावकासो भवति, इत्थीए पुरिसस्स यः स्त्रीपुरुषसंयोगः उत्तराधरारणिसंयोगवत् संस्पर्शकर्म्म, आह हि—'चक्कं चक्केण संपीड्य, मर्त्यजघनांतराणी' कर्म्म करोति इति कर्म्मकरा, कर्ममसमर्था वा कम्मकडा, अविद्धत्था इत्यर्थः, विध्वंसते तु—पंचपंचाशिका नारी, सप्तसप्ततिकः पुमान्। एत्थ पुण मेहुणं मेहुणभावो मिथुनकर्म्म वा मैथुनं, मैथुनप्रत्ययिकः मेहुणवत्तीओ, अण्णोवि आलिंगणावतासणसंजोगो अणंगक्रीडा च अत्थि, नत्थमो गण्यते गर्भोत्पत्तौ, ते दुहतोवि सिणेहं, सिणेहो नाम अन्योऽन्यगात्रसंस्पर्शः, तद्यथा आहारस्स आहारितस्स, शोणितमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रान्तो भवति पुरुषे नार्या उपजातः, स यदा पुरुषस्नेहः शुक्रान्तो नार्योदरमनुप्रविश्य नार्योजसा सह संयुज्यते तदा सो सिणेहो क्षीरोदकवत् अण्णमण्णं संचिणति, गृह्णातीत्यर्थः, 'तत्थ जीवे'त्ति तस्मिन् तत्थमणुप्पविट्ठे सिणेहे स्वकर्मनिर्वर्तितस्वलिङ्गा इत्थित्ताए पुं० नपुं० विउट्टंति, माओउयं सोणियं पितुः शुक्रं, ततो पच्छा जं से माता णाणाविधाओ रसविहीओ (विगइओ) क्षीरनीरादिआउ णव विगईओ, जोवि ओदणादि अविगतो आहारो भवति सोपि प्राक्तनात् भावाद्यदा विगतो भवति सरीरत्वेन परिणामितो भवति तदा आहार्यते, उक्तं हि—'एगिंदियसरीरगाणि लोममाहारेंति, एगदेसोत्ति तस्स फलबेटसरिसा रसहरणीए यथोत्पलनालेन आपिबत्यापः, ततो कायातो अभिणिवट्टमाणाइं, २ इत्थिं चेव एगता जनयति आत्मा, नपुंसको वेत्यर्थः, स्वकर्मविहितमेव तेषां जन्मनि मणुस्सस्स णामस्स कम्मस्स उदएणं, न खेत्तबलं, तं तु दुगे मातापितरौ समनु-

मनुष्याः

॥३८५॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३८६॥

गृहीतः, विशेषतस्तु माता, अत एतदुक्तं भवति,'इत्थिं वेगया जणयंति' एकदा नाम कदाचित् स्त्रियं कदाचित्पुरुषं कदाचिद् गर्भगत एव मरति, तेन न जनितो भवति, ते जीवा डहरा खीरं सप्पिं, खीरं मातुःस्तन्यं, सप्पिं घतं वा णवणीतं वा, सेसं कंठयं, एवं ताव गब्भवक्कंतियमणुस्सा भणिता जहा जायंति आहारयंति। इदाणिं संमुच्छिममणुस्साणं अवसरो पत्तो, सो अ उवरिं दुरुतसंभवे वुच्चिस्सति, इदाणिं पंचिंदियतिरिक्खजोणिया भण्णन्ति, तत्थवि पढमं जलयरा–अथावरं णाणाविधाणं जलयराणं (सूत्रं ५८), मच्छा मत्ता सीतेणं, अथवा जेण इत्थीए य पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणीए एत्थ णं मेहुणं सिणेहं, ते जीवा डहरा समाणा आउं सिणेहं होति, आउकाओ चेव, अथवा जे तत्थ मात्रा ओजसा चेव, आउक्कायमाहारेंति, ण तु पक्खेवेणं, तेणेव ते पुस्संति परिवड्ढंती य जहा खीराहाराणं खीरेणेव, वुड्ढी णं अणुसमयिकी वुड्ढी मुहुत्तया दिवसदेवसिया, वणस्सइकाइयाणं सेवालहरियादि तसथावरे जति तते मच्छे चेव खायंति, आह हे–अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम, अस्ति मत्स्यस्तिमिंगिलः। तिमिंतिमिंगिलोऽप्यस्ति, तिमिंगिलगिलो राघव!॥१॥ ते जीवा पुढविकाईयं कद्दममट्टियं खायंति आउं निसिता य पिबंति, खुधिया मच्छं पाणिउल्लं गस्मति, अगणी उदगादि वातंपि लिहंति, वणस्सई वुत्तो, तसकायो जलचरो चेव, मगरो य चउप्पदाणुस्सयं उग्गडंति, णाणाविधतसपाण जाव पचइया। अहावरे चउप्पदाणं एगखुराणं एतेसिं अट्ठ, णवरि णत्थि आहारे णाणत्तं, जीवा डहराति, सा पक्खिणी ताणि अंडगाणि सएण पेच्छिऊणऽच्छति, एवं गातुम्हाए फुसंति, सरीरं च णिव्वत्तेति, तं पुण अंडजं कणं चेव भवति पच्छा सरीरं जायते विपुलमादी चम्मपक्खी पोतया, एतेसिं पुण मणुयाण पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण य सव्वेसिंपि दुविधो आहारो भाणितव्वो, तंजहा–आभोगणिव्वत्तितो य अणाभोगणिव्वत्तियो, वुत्तो पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण य सव्वेसिं पुणाहारो ॥ इदाणिं

जलचराः

॥३८६॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३८७॥

विगलिंदिया जे तेसिं तिरिक्खजोणियाहारो वुच्चति–अहावरं दुहेगतिया(सूत्रं ५९)कम्मणियाणेण जत्थउववज्जमा णाणाविहाणं तसथावराणं, तसा तिरिक्खजोणियमणूया ओरालियसरीरगता, तेऊ वाऊवि तमा चेव, थावरा पुढवि अणुसूयंता, अणुसूयंता णाम शरीरमनुसृत्य जायन्ते, तंजहा–सचित्तेसु तहा जूयाओ लिक्खाओ सेयवतो छप्पदा य मंकुणा पुण माणुयसरीरोवजीविणो मानुषशरीराश्रयादेव जायन्ते, शरीरोपभुज्यमानेषु पर्यङ्कादिषु, न त्वन्यत्र, गोरूपानामपि शरीरेषु यूकादयो भवंति गोकीडा य, अचित्तेसुवि एतेसु अव्वावण्णेसु जूवादयो संभवंति, अचित्तीभूतेसु तु कृमिकाः संभवंति, एवं पंचिंदिया वेइंदियाण चउरिंदियाणंपि सरीरेण अणुसित्ता जायंते जहा विच्छिगस्स उवरिं बहवो विंछिगा संभवंति, अचित्तीभूतेसु य किमिकादयो जायंते, उक्काए सचित्ता मूसगा संभवंति, जहिं अग्गिपाणादिवत्थाणि अग्गिसोज्झाण चेव कीरंति, जत्थ अग्गी तत्थ वातोवि अत्थि, जेवि वाउक्काए निस्साए आगासे संभवंति, वुत्ता तसथावरा। इदाणिं तत्थ पुढविमनुसृत्य वेइंदिया कल्लुगादयो सम्भवन्ति तेइंदिया कुंथुपिप्पीलिकादयो चतुरिंदिया पतंगा, वरिसारत्ते भूमिं पडिलेहंतो उद्देति सरुभादयः, आउक्काए पूतरगादयो वणस्सतिकाए पणगभमरादयो, अचित्तासुवि एतेसु जायंते, ते जीवा तेसिं णाणाविधाणं तसथावराणं पुरा णाणाविधाणं तसथावराणं सरीरेसु सचित्तेसु अ अचित्ते अ वेइंदियसत्ता दुरूवत्ताए विउदंति, दुरुवा णाम मुत्तपुरिसादी सरीरावयवा, तत्थ सचित्तेसु मणुस्साण ताव पोट्टेसु समिगा गंडोलगा कोट्ठाओ अ संभवंति संजायन्ते, बाहिंपि णिग्गतेसुवि उच्चारपासवणादिसु किम्मिया सम्मुच्छंति, अचित्तेसुवि गोरूवकडेवरेसु य, उदरान्तशः कृम्यादयः संमुच्छंति, तिरिक्खजोणियाणंपि सचित्ते उदरान्तरा० उज्झेसु किमिया संभवंति, उदरातो विणिग्गतेसु उज्झेसु छगणेसु य किमिगा संमुच्छंति, भणिता दुरूवसंभवा। इदाणिं खुरगा वुच्चंति–

विकलेन्द्रियाः

॥३८७॥

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥३८८॥

अप्कायाः

अहावरं इहेगतिया णाणाविधा जाव कम्मखुरुट्ठगाए वक्कमंति, खुरुट्ठगा णाम जीवंताण चेव गोमहिसादीणं चम्मस्स अंतो संमुच्छंति, पच्छा ते खायंतो २ चम्मं भोत्तण उट्ठंति, पच्छा ते तेणेव मुहेण लोहितं णीहरंति, अचित्तेसुवि एते गवादिसरीरेसु संमुच्छंति, अभिनवमडेसु थावराणवि रुक्खाण संमुच्छंति, अचित्ताण विज्जुघणा ते जीवा, तेसिं णाणाविधाणं, इदाणिं तिरिक्खजोणियाण अधिकारे चेव वट्टमाणा एगिंदिया चेव वुच्चंति, तत्थवि पुव्वं आउकाईआ—अहावरं इहेगतिया सत्ता० सूत्रं ६०), जाव उवक्कमा, णाणाविधेसु तसथावरेसु एगदेसो कीरति तं सरीरगं जं तं आउक्काईया, अहावरं इहेगतिया सरीरगं भविस्सति ताव संसिट्ठंति वाउजोणिओ आउक्काईओ, उक्तं हि–'उब्भे वाते०' तमालस्स वातेण गब्भा संमुच्छंति, वातसंगहिता संचिट्ठंति, संमुच्छिमा पुण सत्ता आउक्काइयत्ताए परिणमन्तीत्यर्थः, ऊर्ध्वभागा ये हि भूम्यन्तरे आउक्काओ संमुच्छति, वायरहरितणुगादी, से उड्ढं च तेहिं पुढविहिंतो उक्खित्तो जो आगासे संमुच्छितो, अधोभागेहिं पाडिज्जति, धाराहिं करगताए वा पुणो परिणतो पाडिति, तिरियभागेत्ति जदा तिरियं भवं तिरिच्छं णेति णो पाडेति, स तु संमुच्छितो गुरुत्वाद्यातं पुण जनयंति तद्विधानानि तु, तंजहा–ओसो हिमं जाव सुद्धोदए, सेसं तह चेव आलावगा। सव्वेहिं काएहिंतो दुरधिगमा पुढवित्तिकाऊण तेण पच्छा वुच्चिस्सइ, अहावरं इहेगतिया अगणिजोणिया णाणाविहाणं तसथावराणं (सूत्रं ६१), सचित्तेसु अचित्तेसु आमच्चेसु ताव हत्थीणं जुज्झंताणं दंतखडखडासु अगणी संमुच्छति, महिसाण य जुज्झंताणं सिंगेसु अग्गी संमुच्छति, अचेतणाणऽत्थि अट्ठिगाणवि, एवं वेइंदियाणवि, तहा णं अट्ठिएसु जहा संभवति भाणितव्वं, थावराणं अचेतणाणं पत्थराणं आगासे, आगासे आवडंताणं अग्गी समुच्छति, अचेतणाणं उत्तराधरारणिजोएण अग्गी संमुच्छति, तहविधाणाणि तु इंगाले जाले चत्तारि आला-

॥३८८॥

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ४ अप्रत्या० ॥३८९॥

वगा। अथावराणं णाणाविधा, तसथावराणं वाउजोणीणं, णाणाविधाणं तसथावराणं, ण विणा वाउक्काएण वाउ(अगणि)आए संमुच्छ-तिचि काऊण जत्थ चेव सचित्ते वा अगणिकाओ संमुच्छति, एवं चत्तारि भाणितव्वा ॥ इदाणिं पुढवि–णाणाविधाणं तसथाव-राणं सचित्तेसु य अचित्तेसु वा, सप्पाणं मत्थए मणी जायति, हत्थीणवि मुत्तिया, मत्थएसु सप्पाण य मच्छाण य उदरेसु, मणुस्सा-णवि मुत्तसक्कराओ, अचित्ताणं पुणरिणमो कलेवरे छगणगादीणि लोणत्ताए परिणमंति, थावराणं सचित्तेसु हंसपव्वगेसु मोत्तियाओ जायंति, अचित्ताणवि लवणागरादिसु कट्ठमादि लोणत्ताए परिणमति, अगणीविद्धत्थानिगालादीणि लोणीहोंति, एवं चत्तारि आलावगा ॥ इदाणिं सव्वसमासो–इहेगतिया सत्ता णाणाविधजोणिया णाणाविधा संभवा जे पुढविजोणिया जहा सण्हपुढवीए सक्करे पत्थरा समुच्छति प्रवालकायस्फान्तादयः, आउजोणिया सरीरमेघजोणि, पुढवी पुढवीए, एवं सेसाणवि, शरीराण्येवाहारयंति, कम्मुणा गईओ गच्छंति, णिरयादी, कम्मुणा ट्ठिती उक्कोसमज्झिमजहण्णिया, कम्मुणाऽऽरियादिविपज्जासो, जहा मणुस्सो णेरईओ होति, मणुस्सखेत्ता णेरइयखेत्तं गच्छंति, काले–णेरइयकालं गच्छंति, मणुस्सगतिभावा देवगतिभावं गच्छति, आयाणह अणुत्तस्मा-हारे नरकादिः विपर्यासो, तस्मात् गुप्तः गवेसणा गहणे० घासेसणासमिते णाणादि ३, सदा नित्यकालं यावदायुः, शेषं निर्वाणं वा गच्छति, गतो अणुगमो, इदाणिं णया–जाणणा 'णायंमि गिण्हितव्वे' 'सव्वेसिंपि णया०' इति आहारपरिण्णा सम्मत्ता ॥

एवमाहारगुप्तस्य सतः पापं कर्म्म न बध्यते, नाप्रत्याख्यानस्य इत्यर्थः, तेनाध्ययनं अपच्चक्खाणकिरिया नाम, अनुयोग-द्वारप्रक्रमः, णामणिप्फण्णे अपच्चक्खाणकिरियापदट्ठाणं–णामं ठवणा गाथा ॥१०९॥ दव्वपच्चक्खाणंति दव्वेणवि पच्चक्खाणं दव्वभूतो वा पच्चक्खति, तत्र द्रव्यस्य द्रव्ययोः द्रव्याणां वा पच्चक्खाणं जो जं सचित्तं अचित्तं वा दव्वं पच्चक्खति तं दव्वं, तं

पृथ्वीकायः

॥३८९॥

अथ द्वितिय्-श्रुतस्कन्धस्य चतुर्थं अध्ययनं आरभ्यते

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥३९०॥

साधू णवगेण य साधूण सचित्तादि सव्वदव्वाणि जावजीवाए पच्चक्खायाइं, सावगोवि य कोई जावजीवाए आउक्कायं जं सव्वं सचित्तं, कन्दमूलफलानि पच्चक्खाति, कोइ सचित्तं आउक्कायं वज्जेइ, अचित्तं मज्जमंसादि जावज्जीवाए पच्चक्खाइ, कोई विगतीओवि सव्वातो जावज्जीवाए पच्चक्खाति, यदि हि ण वा कोइ सव्वातो पच्चक्खति कोई महाविगतिवज्जाणं आगारं करेइ, सावगावि केवि जावजीवाए मज्जमंसादि वज्जंति, दव्वेण पच्चक्खाणं जहा रजोहरणेण हत्थगतेण पच्चक्खाति, दव्वहेतुं वा पच्चक्खाइ जहा धम्मिल्लस्स, दव्वभूतो वा जो अणुवयुत्तो, गतं दव्वपच्चक्खाणं, अतित्थ समण! अतित्थ बंभणत्ति पडिसेह एव, जहा कोइ केणइ जाइतो कंचि भणति–ण देमित्ति, भावपच्चक्खाणं दुविधं–मूलगुणउत्तरगुण ॥१८०॥ गाहा, मूले सव्वं देसं च विभासा, गतं पच्चक्खाणं, इदाणिं किरिया, सा जहा किरियाझाणे, भावपच्चक्खाणेणाधिकारो, भावकिरियाए पयोगकिरियाए समुदाणकिरियाए वा, तस्स रक्खणट्ठा भावप्रत्याख्यानं तदिह वर्ण्यते, कहं होज्जइ तप्पच्चइयं अप्रत्याख्यानित्वं ?, अपच्चक्खाणकिरियासु वट्टमाणस्स, अप्रत्याख्यानिनश्च क्रिया कर्मेत्यनर्थान्तरमितिकृत्वा अवश्यमेव कर्म्मबन्धो भवति, ततः संसारो दुःखानि च इत्यर्थः, अप्रत्याख्यानं वर्जयित्वा प्रत्याख्यानं प्रति यतितव्यं, णामणिप्फण्णो गतो सुत्तालावे सुत्तं उच्चारेयव्वं–सुतं मे आउसंतेणं भगवता० (सूत्रं ६४), इह खलु एतस्याध्ययनस्यायमर्थः–तत्र प्रत्याख्यानिनः आत्मनः पच्चक्खाणं भवति तदधिकृत्योच्यते, आता पच्चक्खाणी अपच्चक्खाणी यावि, भवति आत्मग्रहणं आत्मन एवाप्रत्याख्यानं भवति, न घटादीनां, कतरस्यात्मनः?, यस्याप्रत्याख्यानक्रिया, क्रियत इति वाक्यशेषः, जस्स ताव सव्वे सावज्जजोगा पच्चक्खाया तस्य सव्वसावज्जयोगप्रत्याख्यानं क्रिया क्रियते, यस्यापि देशप्रत्याख्यानं तस्यापि येन प्रत्याख्यानं, तस्यापि ये न प्रत्याख्याताः सावज्जयोगा तत्प्रत्य-

प्रत्याख्यानानिक्षेपः

॥३९०॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३९१॥

यिकः कर्म्माश्रवो भवति, प्रत्याख्यातेभ्यो न भवति, को पुण सो अपच्चक्खाणी ?, जो किरिया अकुशलो, धर्मार्थकामार्थमोक्षार्थं वा क्रियमाणं कर्म्म क्रिया भवति, तद्विपरीता तु अशोभना क्रिया अक्रिया भवति, अक्रियासु कुशला अक्रियाकुशलाः, आह हि–'अनर्थेषु च कौशल्यं०' अथवा न क्रियाकुशलः अक्रियाकुशलः, अजानक इत्यर्थः, घटात्मवानः, अकुशलशब्दस्य नान्यप्रतिषेधः, आता मिच्छासंठिते यावि भवति मिथ्याप्रतिपत्तिः—मिथ्याध्यवसायः मिच्छासंस्थितिरित्यर्थः, तत्तो अतत्ताभिनिवेशः, सो मिच्छासंठिती एवं धर्म्मसाधुमत्यपात्रादिष्वपि योज्या, एवं तावद्दर्शनं प्रति मिथ्यासंस्थितिरुक्ता, आचारं प्रति अनाचारो आचारत्तणं भावेति, मायी उज्जुत्तणं भावेति, जहा उदायिमारओ, असिन्नमूढओ वा, एगंतदंडेत्ति न कस्यचिदपि दण्डं न पातयति, पितुरपि, कतो तस्य मरिसेति, एगंतबालोत्ति णिच्चमेव इट्ठेसु विसएसु अणिट्ठेसु संपत्तेसु असंपत्तेसु दोहिवि आगलिज्जइ बालः, कार्याकार्यानभिज्ञात्वाद्वा मूढो बालः इत्यनर्थान्तर, एगंतसुत्तेति यथाऽऽद्यस्वापसुप्तः शब्दादीनां विषयाणां सन्निकृष्टानां मत्युपप्रदो न भवति एवं सो हिताहितकार्यानभिज्ञत्वात् हिंसादिसु कर्म्मसु प्रवर्त्तते, एकान्तग्रहणं न पण्डितबालपण्डितमित्यर्थः, आता सविचारः विचरति यस्य कायवाङ्मनांसि स भवति सविचारः, मणवयणकायवक्के, तत्र मनोविचारः इदं चित्यं इदं मनसा प्रकृत्यं, वाग्विचारस्तु इदं वाच्यमिदं न वाच्यं, कायविचारोऽपि इत्थं मया न कर्त्तव्यं इत्थं च कर्त्तव्यमिति, विचारमणवयणकायवक्कोसि तुमं, न किंचि कुशलमकुशलं वा मनसा चिन्तयति, वाचा न ब्रुवते, कायेन स्थाणुरिव न चेष्टंस्तिष्ठति, तस्यापि तावत्कर्म्म बध्यते, किमंग पुण सविचारमणवयणकायवक्कस्स ?, आह–पुनर्वाक्यग्रहणं पुनरुक्तं, उच्यते, एककालं कदाचिद्वा युगपत् योगित्वात् एवं सूक्तं भवति, उक्तं च–'काए बहुअज्झप्पं सरीरवाया०', आता अप्पडिहतपच्चक्खातपावकम्मे यावि

अप्रत्याख्यानपापं

॥३९१॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३९२॥

भवति, पडिहतं पच्चक्खातं पडिसेधितं निवारितमित्यर्थः, ण पडिहतपच्चक्खातपावकम्मो अपडिहतपच्चक्खातपावकम्मे य, आह पुनरुक्तं आगुत्तं, आता अपच्चक्खाणी यावि भवति, इदानीमवि अपच्चक्खाणगहणा पुनरुक्तं, उच्यते, तत्राप्रत्याख्यानी उक्तो, नतूक्तं किमस्याप्रत्याख्यानमिति ?, इह तु अप्रत्याख्यातस्यैतत्कार्यानि वा पडिहतादि, यच्चाप्रत्याख्यानी न प्रत्याख्यानि तदुच्यते, किंचिद् हिंसादि पापकर्म्म तदस्याप्रत्याख्यानं अपडिहतपच्चक्खातं, इह खलु एप इति यः उक्तः अपच्चक्खाणी ण तु देसमव्वपच्चक्खाणी वा, स एव च असंजतो अविरतो यको असंयतो अविरतो यत्तिकाउं असंजतो अविरतो या अप्पडिहतपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एकंतदंडो एवं जाव एगंतदंडो सुत्तो एस बालेत्ति बाले अविरारमणवयणकायवक्केत्ति, अधिकरणेसु अपडिहतपच्चक्खात० सुविणमवि ण पस्सतित्ति केसिं सममन्तिकं कर्म चयं न गच्छतीति, अम्हाकं तु सममन्तिकं कर्म्म अविरतप्रत्ययाद्बध्यते, सो अ पुण असंजते अविरते जाव अविचारवके अप्येकं सममपि न पश्यति यत्र प्राणवधादिकर्म्म कुर्यात् तहावि य से पावे कम्मे कज्जति बध्यते इत्यर्थः स्थापनापक्षः तत्थ चोदए पण्णवगं एवं वदंतं वयासी (सूत्रं ६५) कामं सद्भिः मनोवाक्काययोगैराश्रवहेतुभिः कर्म्म बध्यते इति युक्तमेतत्, यत्पुनरुच्यते-असंतएणं मणेणं पावएणं असंतएणं०, असंता अविद्यमाणेण अमनस्कत्वाद्विकलेन्द्रियाणां संज्ञिनां तु अप्रयुज्यमानेन मनसा एगिंदियाण वाया णत्थि जेसिंपि अत्थि तेसिंपि अप्रयुज्यमानया वाचा कायः सर्वेषामप्यस्ति त्रिभिरपि योगैरविचारजाववक्कस्सत्ति, सुविणमवि अपस्सतो हिंसादि पावकम्मे णो कुज्जति, दृष्टान्तः आकाशं, यथाऽऽकाशममनस्कत्वान्निश्चेष्टत्वाच्च कर्मणा न बध्यते एवं तस्यापि बन्धो न युक्तः, कस्स णं तं हेतुं ? कस्माद्धेतोरित्यर्थं, अथ कस्माद्धेतोः कर्म्म न बध्यते ?, उच्यते—अयोगित्वात्, इह हि अण्णतरेणं अण्णतरमनस्कस्य

अप्रत्याख्यानपापं

॥३९२॥

निरुद्धविचारमनःप्रयुक्तमनोवाक्कायकर्मिण इत्यर्थः, अप्येकं स्वप्नं पश्यतः एवंगुणजातीयस्य गुणाभिनिवेशः क्रियते, अथवा बंधं प्रति गुण एवासौ भवति येन बद्ध्यते कर्म्म, युक्तमेतत्, तत्थ इच्चेवमाहंसु एवमाख्यान्ति, असंतएणं एवं वईए काएणं तस्स अमणवयकस्स अविचारजाववकस्स सुविणमवि अ पावे कम्मे कज्जति, जे ते एवमाहंसु मिच्छं एवमाहंसु वा, चोदकः पक्षः, एवं वदंतं चोदगं पण्णवगे एवं वयासी—जं मया लघु वृत्तं स्यात्, किमुक्तं ?—असंतएण मणेण पावएणं जाव पावे कम्मे कज्जति तत्सम्यक् न मिथ्येत्यर्थः, कस्स णं तं हेतुं कस्माद्धेतोरित्यर्थः, तत्थ छज्जीवनिकाया हेतुं, न व्यापादयितव्याः, इतिहेतुरुपदेशप्रमाणे, तंजहा—पुढविकाइया जाव तसा, इच्चेहिं छहिं जीवनिकाएहिं कदाचिदपि न तस्य अवधकचित्तमुत्पद्यते, अनुत्पद्यमाने च अवधकचित्ते तस्याप्रत्याख्यानिनः तेसु आता अपडिहतअपच्चक्खातपावकम्मो, अपडिहतअपच्चक्खातपावकम्मत्वादेव चास्य णिच्चं पसढ जाव दंडे, णिच्चं सव्वकालं, भृशं शठं प्रशठं, सततं निरन्तरमित्यर्थः, विविधो अतिपातः, अतिपाते अतिशब्दस्य लोपं कृत्वा वियोपाते इति भवति, तेन वियोपाते चित्तदंडे, तंजहा—पाणातिवाते, वर्त्तमानस्येति वाक्यशेषः, तत्र प्राणा 'छक्काया पुढवादि' एवं मुसावादेऽवि, अपडिहतअपच्चक्खातपावकर्म्मत्वादेव णिच्चं पसढं अलियभासणे चित्तदंडे, अदिण्णाहाणेवि णिच्चं पसढं परस्वहरणचित्तदंडे, मेथुणे णिच्चं देवादिमेथुणसेवणे पसढचित्तदण्डे न किंचि दिव्यादि मैथुनं परिहरतीत्यर्थः, सर्वपरिग्रहगहणं पसढचित्तदण्डे न किंचिन्न परिगृह्णातीत्यर्थः, कोहेण ण कस्स न रुस्सइ अप्येव मातापित्रोः पुत्रस्य वा, एवं सेसेसु विभासा, मिच्छादंसणं प्रति, तम्हा ते चेव मिच्छत्ते पसढचित्तदंडे संसारमोचकवैदिकलोकायतिलोक० श्रुत्यादिभिः भावितान्तरात्मा, न शक्यते तस्मादसद्ग्रहान्मोचयितुं, स्यादेव बुद्धिः—अकुर्वतः प्राणातिपातं कथं तत्प्रत्ययिकं कर्म्म बध्यत इति प्रतिज्ञा, स एव च

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३९४॥

पूर्वोक्तापडिहतपच्चक्खातपापकर्म्मत्वादिभिर्हेतुभिर्निदर्शनं, तत्थ खलु वधएहिं दिट्ठंते, से जहाणामए वहए गाहावइस्स वा जाव रायपुरिसस्स वा कोई ताव पिति अविरोधेवि पुत्तं वा मारेति, कोइ पुत्त अविरोधे पितरं मारेति, कोइ दोवि ते मारेइ, अण्णं किंचि अक्कोसवहदंडावणादि दुक्खं उप्पातयति, एवं राजा रायपुरिसाणवि विभासा, स तु अपकृते वा वधखणं णिदाएत्ति—अप्पणो खणं मत्वा साम्प्रतमक्षणिकोऽहं कर्षणेन तावत्करोति पुत्रं विवाहं च रोगतिगिच्छं वेत्यादि पश्चाद्वधयिष्यामि खणं लद्धुंति यावत्तस्स छिद्रं लभे, तस्य खणो, एवं चत्तारि भंगा, नागार्जुनीया अप्पणो अक्खणत्ताए तस्स वा पुरिसस्स वा छिद्रं अलब्भमाणे णो वहेति, तं जदा मे खणो भविस्सति, तस्स वा पुरिसस्स छिद्रं लभिस्सामि तदा मे पुरिसे अवस्सं वधेतव्वे भविस्सति, एवं मणे पहारेमाणेत्ति एवं मनः प्रधारयन् सङ्कल्पयन्नित्यर्थः, सुत्ते वा जागरमाणे वा, सुत्ते कथं पश्यत इति चेत् ननु सुप्तोऽपि स्वप्नं किल पश्यन् तमेवामित्रं घातयति, तद्भयाद्वा अपैति, तं वाऽमित्रं न पश्यन् तं भयादनुधावति, किंचान्यत्—प्रत्याख्याने च आचाराद् अनाचारतश्च प्रत्याख्याता, उक्तः संक्षेपः, चत्तारो वणिजः दृष्टान्तः, मित्र एवामित्रभूतः अमित्रीभवतीत्यर्थः, मित्रस्सं तिष्ठंतस्स संठाणे यद्यपि किंचिदुत्थानासनप्रदानादिविनयं विश्रंभहेतुं पूर्वोपचाराद्वा कस्यचित्प्रयुंक्ते तथापि दुष्टत्वेन इत्वान्तर्दुष्टत्वादसौ असद्भावोपचार इति, असद्भावोपचारात् इतिकृत्वा मिथ्यासंधितो चेव भवति, णिच्चं पसढं जहा वीरणस्तम्बस्य अण्णोऽणेण गतमूलो दुक्खं उव्वेढेतुं एवं तस्सवि सो वधपरिणामो वैरा दुःक्खं उव्वेढेतुं, मारेऊणवि ण उवसमति, जहा रामो कत्तवीरियं पितिवधवेरियं मारेऊणवि अणुवसंतेणेण सत्त वारा णिक्खत्तियं पुढविं कासी, आह हि—'अपकारसमेन कर्मणा, न नरस्तुष्टिमुपैति शक्तिमान्। अधिकां कुरुतेऽरियतनां, द्विषतां मूलमशेषमुद्धरेत् ॥ १ ॥' एष दृष्टान्तः, अथो एवमेव बालेवि सव्वेसिं पाणाण जाव

वधक-दृष्टान्तः

॥३९४॥

सत्ताणं अविरतत्वात् अमित्तभूते मिच्छासंठिते णिच्चं विउवाते अप्रत्याख्यानत्वात् प्राणातिपातस्य तत्प्रतिकेन कर्म्मणा जस्स दिया वा रातो वा जाव जागरमाणो वा वध्यते. यथा तस्य राजादिघातकस्य अनुपशमिते वैरे घातकत्वं न निवर्त्तते एवमस्यापि अप्रत्याख्यानिनः सर्वप्राणिभ्यो वैरं न निवर्त्तते, अनिव्वत्ते च वैरे प्राणवधप्रत्ययिकेन कर्मणा असौ वध्यत एवेति, उक्तः उपसंहारः, निगमनस्यावसरः, 'प्रतिज्ञाहेत्वोः पुनर्वचने निगमन'मितिकृत्वोच्यते—तस्मादपडिहतपच्चक्खायपापकर्मत्वात् तस्य अकुर्वतोऽपि प्राणातिपातं तत्प्रत्ययिकं कर्म बध्यत इति, पंचावयवमुक्तं, एवं मुसावादादीसुवि योजयितव्यं जाव मिच्छादंसणसल्ले, इक्केके पंचावयवं, एस खलु भगवता अक्खाओ असंजते अविरतो अपडिहतजावपावकम्मे, एवं पण्णवतेण वहगदिट्ठंते उपसंहृते चोदक आह—जहा से वधके तस्स वा गाहावइस्स जाव पुरिसस्स पत्तेयं पत्तेयं वीप्सा, एकेकं प्रति प्रत्येकं, कोऽर्थश्च ?—यस्मिन् तस्यापकृतं तस्मिन्नेव तस्य वधकचित्तमुत्पद्यते नान्यत्र, अन्नं ह्यसौ वधकः प्राप्तमपि तत्संबंधिनं पुत्रमपि न मारयति, तस्मिन्नेव कृतागसि वैरिणि तद्वधकचित्तं मनसा समादाय गृहीत्वा इत्यर्थः, अमुक्तवैरः दिया वा रातो वा जाव जागरमाणे अमित्त० जाव चित्तदंडे एवामेव बाले, एवमवधारणे, एवमसौ बालः सव्वेसिं पाणाणं, किमिति वाक्यशेषः, पत्तेयचित्तं समादाय, कतरं चित्तं समादाय ?, वधकचित्तमित्यर्थः, दिया वा जागरमाणे वा राओ वा अमित्रभूते, मिच्छास० णिच्चं जाव दंडे भवति, सो चेव चोदओ एवं पच्छा भणति, णोत्ति, स्याद्बुद्धिः—कथं न भवति ?, पच्छा सो चेव चोदओ भणति—इह खलु इमेण समुस्सएण शरीरं चक्षुरादीणां इन्द्रियाणां मनसश्चाधिष्ठानं इमेनेति मदीयेन, पण्णवगं वा भणति—त्वदीयेन चक्षुषा, तदीयेन चक्षुषा न दिट्ठा पुव्वा सूक्ष्मत्वात्सन्निकृष्टा अपि, स्थूलमूर्त्तयस्तु विप्रकृष्टत्वान्न दृश्यंते, तस्मान्नो दृष्टा, श्रोत्रेण न श्रुता, मनसा न श्रुता, एभिरेव त्रिभिः

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३९६॥

चक्षुःश्रोत्रमनोभिर्यथाविषयं न श्रुतं, श्रुतैरपि विज्ञाता न भवन्ति, जम्हा य ते तेण ण दिट्ठा वा सुता वा विण्णाया वा अणवकारिणो अणुपयुज्यमानाश्च इत्यतः तस्स तेसु णो पत्तेयं दिया वा जाव जागरमाणे वा अमित्त जाव दंडे, कथं भविष्यति इति पडिसेहो अणुवत्तइ चेव, एवं चोदएण वुत्ते पण्णवतो भणति–जइवि तस्स अपच्चक्खाणियस्स अणवकारेसु अणुवजुज्जमाणेसु यतः सन्निकृष्टेषु विप्रकृष्टेषु वधचित्तं ण उप्पज्जति तहावि सो तेसु अविरतिप्रत्ययादमुक्तवैरो भवति ॥ तस्स भगवता दुविधा दिट्ठंता पण्णत्ता, तंजहा–संनिदिट्ठंते असंनिदिट्ठंते य (सूत्रं ६७), संज्ञा अस्यास्तीति संज्ञिकः, न संज्ञी असण्णी, असंज्ञी दृष्टान्तः क्रियते, संज्ञिदिट्ठंते २ इमे संणिपंचिंदिया पंचहिंवि पज्जत्तीहिं पज्जत्तगा एतेसिं छज्जीवनिकाए पडुच्च वुचति, कायग्गहणेहिं एते छज्जीवनिकाए आरभ्यंते, न या आरभ्यंते, यां प्रतीत्यापि वैरिणो, वैरिणो वैरं च सूयते अविरतस्य, से एगओत्ति चोदओ वुचति, तुमं वा अण्णं वा कोई इह पुढविकाएण, पुढवित्ति सर्वा एव पृथिवी अविशिष्टा, तद्विशेषास्तु लेलुसिलोपललवणादयः कृत्यन्ते, तेन तेसिं तस्माद् तद्वेति, तेनेति सिलं वा लेलुं वा खिवइ, लवणेण वंजणं लवणयति, तस्मिन्निति चंक्रमणादि करोति, तस्मादिति मृत्पिण्डात् घटादि करोति, तदिति तदेव मृद्द्रव्यं भक्षयति, एवं तावत्स्वयं करोति, अण्णेण वा कारवेति, तेहिं चेव हेउहिं पमारिहि तेन तस्मिँस्तस्माद्वेति, णो चेव णं तस्स एवं भवति–इमेण वत्ति, तंजहा–कण्हमट्टिआए वा ५ जाव से जा आवडिति, आसण्णे वा दूरे वा, कण्हा वा जाव पणगमत्तियातो, एतया किंचि ?, लिंपणअब्भुक्खणणसोयादी करोति, अण्णेण वा, जति यऽविय से एगवज्जाए कज्जं तहा तहा विसेसमावण्णः वर्णत्वे सति अण्णेण वा गुणान्तरे तुल्यगुणाए, णो एवं भवति अमुगाय वा २ स्थानादीनि करिष्यामि, जत्थ से समावडति, तद्यथा–चिट्ठणं णिसीयणं वा उच्चारादिवोसिरणं वा, स एवं तो पुढविका-

संज्ञि-दृष्टान्तः

॥३९६॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३९७॥

यातो मव्वाओ चेव अपडिहतपच्चक्खातपावकम्मे यावि भवति, से एगे आउ० पहाणपियणसेअणमंडोवगरणधुवणादी, जंइ विसेसो भवति स्वादूउदकादिषु तथापि समास्वादाविशेषो, तेउकाएणवि पयणविपाचणप्रकाशादि, स्यात् धातुवादिको, महिपच्छगणादिविशेषस्तथापि महिषीछगणेसु अविसेसो, एवं अग्गिकम्मियादीणं खदिरंगारादिषु विसेसेऽवि समाणासु खादिरंगालेसु अविसेसो, एवं वाउक्काएणवि विधूवणवीयणादिसु, धुवणनावागमणादिसु वणस्सतिकाएणं, कंदादिसमाणे विभासा, तसकाएणं वेइंदियादि समाणे विभासा, तदुपयोगस्तु पानवहनआज्ञापनमांसाद्युपयोगादि, से एगइओ छहिं जीवनिकाएहिं किच्चं करेति कारवेइ वा, छहिं जीवनिकाएहिंति संयोगेण तिगचउप्पंचछसंयोगा विभासितव्वा, तत्थ संयोगे दव्वग्गिणिदरिसणं, जहा कोइ वणदवं विज्झवेमाणो धूलिं तत्थ छुभति पाणियंपि अगणीवि पतिदवं देति वातंपि वाहविक्खोभणादीहिं वणस्सइं रुक्खमालिमादीहिं, तमा च तेसु चेव काएसु संसिता सुन्निगउवयोगादिणा गोधं वा पुच्छं घेत्तूण ताए ममेति, ण पुणाइं से एवं भवति इमेण वा इमेण वत्ति, दुगसंयोगेण वा जाव छक्कायसंयोगेण वा, णिच्चं करेंतिवि, ण कदाइ उवरमति, असंजते जाव कम्मे, तंजहा—पाणातिवाते, एवं मुसावातेऽवि, ण तस्स एवं भवति–इदं मया वक्तव्यमनृतं इदं नो वक्तव्यमिति, से य ततो मुसावाआतो तिविहेण असंजते, अदिण्णादाणे इदं मया घेत्तव्वं अमुगस्स ण, मेथुणं इमं सेवि इमं ण, परिग्गहे इमं घेत्तव्वं इमं ण, कोहे इमस्स रुसितव्वं इमस्स ण, एवं जाव परपरिवाए इमं वा विभासा, मिच्छादंसणे इमं तत्त्वमिति शेषमतत्त्वमिति, स्याद्विचारणा ण भवति, अभिग्गहे तु मिच्छादंसणे यत्तेनाभिगृहीतं तत्तस्य तत्त्वं प्रतिभासते, सेसेसु अणभिग्गहिएसु ण तस्स एतं भवति इमं तत्त्वमिमं अतत्त्वमिति, एस खलु अक्खाते असंज तेतस्याकुर्वतोऽपि हिंसादीणि पापानि अविरतत्वात्कर्माजस्रमाश्रवत्येवेति सिद्धान्तो, सेत्तं सण्णिदिट्ठंतो॥ से किं तं अस-

असंज्ञि-दृष्टान्तः

॥३९७॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥३९८॥

असंज्ञि-दृष्टान्तः

त्रिदिदृष्टं ?, असण्णिदिट्ठंते संज्ञीनामसंज्ञीनां मनःसद्द्रव्यतया तदभावाच्चावश्यं तीव्रतीव्राध्यवसायकृतो विशेषः प्रसुप्तमत्तमूर्च्छिते-तरवदिति विज्ञेयः, जे इमे असण्णिणो तंजहा–पुढविकाए वा जहा छद्धा वेगतिया तसा पाणा, ते तु बेइंदिया जाव संमुच्छिमपंचिं-दियतिरियक्खजोणिया, संमुच्छिममणुस्सा य, जेसिं णत्थि तक्काइ वा जाव वईति वा तेषां हि मनःसद्द्रव्यतायाऽभावात् प्रसु-प्तानामिव पटुंविज्ञानं न भवति, तदभावे चैषां तर्कादीनि न संभवंति, तर्को मीमांसा विमर्श इत्यनर्थान्तरं, यथा संज्ञिनः स्थातु-पुरुषविशेषाभिज्ञा मन्दप्रकाशे स्थाणुपुरुषोचिते देशे तर्कयंति किमयं स्थाणुः ? पुरुष ? इति, एवमसंज्ञिनां ऊर्ध्वमात्रालोचना तर्का न भवति स्थाणुः पुरुषो वेति, संज्ञानं संज्ञा पूर्वे दृष्टेऽर्थे उत्तरकालमालोचना, स एवायमर्थ इति प्रत्यभिज्ञानं प्रज्ञा, भृशं ज्ञा प्रज्ञा, अव्यभिचारिणीत्यर्थः, मननं मनः मतिरित्यर्थः, सा चावग्रहादिः, वयतीति वाक् जिह्वेन्द्रियगलबिलास्तित्वाद्यपि, वाग् विद्यते द्वीन्द्रियादीनां त्रसानां तथाप्येषां पापं हिंसादि करोमि कारयामि चेत्यध्यवसायपूर्विका न वाक् अवागेव मन्तव्या, सदसतो-रविशेषात्, यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तसुप्तमत्तप्रलापवत् घुणाक्षरवद्वा स्वयं पापकरणाय अण्णेहिं वा कारवेति य, यद्यपि न कारयन्ति न कुर्वन्ति स्वयं तहवि णं बाला, सव्वेसिंपि पाणाणं ४, अविरतत्वात् दिया वा रातो जाव अमित्तभूता मिच्छा णिच्चं पसढ जाव दंडाति पाणाइवातं, तं जहा मुसावादेऽवि, जधा धूओ अध्रुवः विधुवत्वाच्च कम्मणो, ण मुसावाता विरतो भवति, एतेऽवि अमामता अव्यक्ति चिकिचिकिशब्दं करेमाणा मुसावातातो न विरता भवंति, अण्णेवं संज्ञीनां वाच्यावाच्यविशेषोऽस्ति, तेषां तु तदभावात् सर्वमेव मिच्छा भवति, अदत्तमपि तेषामिदमस्मदीयं परकियमिति विचारणाऽसम्भवात् अदत्तादानं सर्वं स्तेयं भवति, यद्यपि किंचि काष्ठाहारकादि ममीकुर्वन्ती तथापि तत्तेषां केन दत्तमित्यदत्तादानं भवति, मैथुनमपि मक्षिकादीनि नपुंसकं वेदं वेदयंति, आहार्येषु

॥३९८॥

च द्रव्येषु परिग्रहः, क्रोधोऽप्येषां, न तु तीव्रः, जाव मायामोसोत्ति विभासा, मिच्छत्तं अणभिगहितं, इचेवं जाण णो चेव मणो णो चेव वई पापं कर्तुं कारयितुं वा सव्वेसिं पाणाणं ४, कतरेसिं सत्ताणं असण्णीणं दुक्खणत्ताएत्ति दुक्खावणाए, परितावणं मारणं वा दुक्खवणं वा, स्वजनधनविप्रयोगो शोकः, जीरणं जूरणं स्वजनविभवानामप्राप्तौ प्राप्तिविप्रयोगेन, त्रीण्यपि कायवाङ्मनोयोगान् तापयति तिप्पावणा सर्वतस्तापयति परितापयति, बहिरंतश्चेत्यर्थः, असण्णी सण्णिमादि, मन्छो मच्छं, मणूसो वा, स्वजमाणस्स जं दुक्खं ततो सो दुक्खावणातो अपडिविरते, विभावैः दुक्खतोवि दुक्खावेति, तच्चाधनानां सधनानां च तस्मिन्नष्टे मृते वा शोको भवतीत्यतो शोचावनादविरता, झूरेति जेसिं बंधुविप्रयोगं करोति जे वा तद्रक्षिते णो जीवंति ण मरेंति ते झूरंति, त्रिभिस्तापयंति तानेव भक्षमाणा परितापयंति च, तद्वान्धवाश्च, असंणिणोवि ते संणिणो इव ते दुक्खावेंति, जेसिं मणो नत्थि तेवि मणवज्जेहिं दोहिं, दोविति सोगेवि तेसिं मुच्छितो भवति, इचेवं तस्स सण्णी असण्णी वा दुक्खावणा जाव परितावणातो अपडिविरता, वधस्ताडणं मारणं वा सिंगखुरादीहिं विसंताण गवियाओ, एतेहिं चेव वहबंधणादीहिं परिकिलेसेन्ति केई, आख्यायन्ते बन्धमोक्षविद्वद्भिस्तीर्थकरैः णिच्चं मुसावादे उवजीवसि, दंसणसण्णे उवउत्तं, असण्णिदृष्टान्तद्वयं किमनेन साध्यते ?, सण्णिणो य अहणंता अमणंता य अविरतत्वाद् वध्यते, तथा चावभाषितं च जे मणेण णिव्वत्तणं निक्षेपाधिकरणं णिक्खिविणो संजोयणि णिसरणंति अधिकरणं णिव्वत्तितं अवसट्ठं च, स तेण परंपरभवगतोवि अणुवज्झति, तज्ज्ञापनार्थमिदं सूत्रं—'सव्वजोणियावि खलु सत्ता' कामं सर्वे योनिग्रहणादिदहणप्रयोगयोगा कायव्वा, इह खलुशब्दो विशेषणे, ग्रहणात्कायग्रहणं मंतव्यं, कायाधिकारश्चानुवर्त्तत एवेति, तत्थ पंच काया तसकायवज्जा, णियमा असण्णी, तसावि वेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया तिरियमणुस्सा य संमुच्छिमा असण्णी, जे संमु-

असंज्ञि-दृष्टान्तः

॥३९९॥

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥४००॥

च्छिमेहिंतो उववज्जंति णेरइयदेवेसु तेऽवि जाव अपज्जत्तगा ताव असण्णी चेव, सण्णी होज्जा असण्णी, सण्णी जहा भवति तो अभिविभागाय, निसर्गतः सिद्धाः, त एवं कश्चित् संज्ञी या जीवः निसर्गसिद्धः, तत्र भूयश्च ज्ञानावरणीयकर्मोदयादसंज्ञीत्वं, तत्तत्क्षयोपशमात्संज्ञित्वं, 'पूर्वं यच्चार्चितं द्वयो'रिति तेन संज्ञिनः पूर्वं, तत्प्रतिपक्षात्तु पुनः प्रतिषेधः क्रियते, न संज्ञी, तत्र संज्ञिनां व्याख्याने इतरेषु निवृत्ताः कथाः तेन संज्ञिनः आदावभिधीयंते, यत्रापि त्रसस्थावरा तत्रापि सुरासुरवद्व्यपदेशादेवं क्रमो भवति, जहा जागरमाणो पुरिमो सुवपिति निद्रोदयात् निद्राक्षयाच्च पुनः प्रतिबुध्यते प्रतिबुद्धश्च पुनः स्वपिति, एवं संज्ञित्वं जीवानां नैमित्तिकं न निसर्गिकमिति बोद्धव्यं, यस्माच्चैषां कायानां न नियमो संज्ञित्वमसंज्ञित्वं वा तस्मादन्योऽन्यसंक्रमत्वमविरुद्धं, अविरुद्धं च तस्मिन् गतिप्रत्यागतिलक्षणं युक्तं, यतोऽपदिश्यते होज्ज सण्णि अदुवा असण्णि, तत्थ से अवहिया 'विचिर् पृथग्भावे' अविविच्य ज्ञानावरणीयादि कर्म्म प्रथक्कृत्वेत्यर्थः, विविच्चेऽपि अविशोधितं भवति, यदुच्छिष्टं ऊढनोखावत्, जहा णेरइओ सावसेसेण चेव कम्मेण उव्वट्टिय पदणुवेदणेसु तिरिक्खजोणिएसु उववज्जति, देवावि प्रायेण सुहद्वाणेसु चेवुववज्जंति, उक्तं हि–"कवित्वमारोग्यमतीव मेधा०' अविधूणिय जहा धूणिय पोट्टलगं परिट्ठवेऊण वत्थं पुणो धोवेति, कंवली वा पीलेउं, पूणो पुप्फो डज्झति, एवं सव्वे विधुत्ते पुणो तत्शेषं विशोधयेत्, अमप्पुच्छियंति 'छिदिर् द्वैधीकरणे' अमप्पुच्छिन्नं रिणवत्, अहवा 'सृज् विसर्गे' अनुत्सृष्टं मित्रकलत्रवत्, अणणुतापी यो तेहिं हिंसादीहिं आसवदारेहिं तं पावं उवचितं ताइं काऊण णाणुतप्पति, हा! दुट्ठु कयंति, अहवा सव्वाणि एगट्ठियाणि, अक्खवेतुं पुहवित्रकाइयाण चित्तगाणि कम्माणि जे य तमा असण्णी सण्णी वा तन्निर्वर्त्तकानि च नामादीनि कर्माणि ताइंपि अविप्पजोग अणुतावियिय तैः स्वकर्मकृतैः कर्मभिः अनुविद्धाः सण्णिकायातो वा तन्नेरइयदेवगब्भवक्कंतियतिरियमणु-

असंज्ञि-दृष्टान्तः

॥४०१॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ।।४०१।।

सत्तविमत्तासु, सेसा असण्णी, तं सण्णिकायं संक्रमंति, भंगा जे संगी वा असंणी वा जहा एगे गामनगराइं वा अन्योऽन्यसंक्रान्त गत्यागतप्रत्यागतलक्षणानुवर्त्तिनः असंज्ञिनः संज्ञिनो वा दृष्टान्तद्वयेनोपसंहृताः तेषां सर्वेषां मर्षणं, अधुना सर्वे ते मिच्छाचारा अप्रत्याख्यानत्वात्, कथ ?, सर्वकटुकविपाकं सुचरितमपि पुद्गलस्य मिथ्यादृष्टेः, इदानिं चरितार्थस्यापि सूत्रस्य निगमनार्थं पुनरामञ्चणं क्रियते, अपच्चक्खाणित्वात् सव्वजीवेसु णिच्चं पसढदण्डे सर्वाश्रवद्वारेषु, तानि चैतानि तंजहा—पाणातिपाते जाव मिच्छादंसणसल्ले, एवं खलु भगवता अक्खातो, चोदगं पण्णवगो एव भणति यदुक्तवानिति, आदौ अहणंतस्स अणक्खस्स पावकम्मे णो कज्जति तदेतत् एवं खलु एवमधारणे यथेतदाऽऽदावुक्तं वधकदृष्टान्तेन सण्णिअसण्णिदिट्ठंतेहिं एवमसावप्यप्रत्याख्यानी असंजते अविरते जाव सुविणमवि ण पासति पावे य से कम्मे कज्जति, एवमुपपादिते अप्रत्याख्यानी अविरत इत्यर्थः, स चाविरती हिंसाद्यैः, तेण पाणाइवातेणं, जाव परिग्गहे, कोधो जाव लोभेत्ति कसाया गहिता, पेज्जा दोसेत्ति कषायापेक्षावेव रागद्वेषौ गृहीतौ, कलह जाव अविरतित्ति णोकसाया गहिता, ते य एतेसु चेव दोसेसु पाणवधादिसु समोतारेयव्वा, मिथ्यादरिसणाविरतिप्रमादकषाययोगाः पंच बन्धहेतवो एतेसु पदेसु विभासितव्वा, उक्तमप्रत्याख्यानेन अप्रत्याख्यानवतां क्रिया च भवति, कर्मबन्ध इत्यर्थः, तद्विपाकस्तु शारीरमानसा उज्जकाओ वेदणाओ तंजहा—उज्जलतिउज्जला जाव दुरधियासे, जे पुण संजतविरतपडिहतपच्चक्खातपावकम्मा भवंति तस्स किरिया ण भवति, कर्म्मबन्ध इत्यर्थः, तद्भावा नरकादिषु नोपपद्यते, एवं सो चोदओ पच्चक्खाणकिरियाफलविवागं सुणेत्ता भीतो तत्थ जाव संजते तओ पण्णवगं वंदित्ता एवं पुच्छति—से किं कुव्वं किं कारवं ? संजतविरतजावकम्मे भवति ( सूत्रं ६८ ), सेत्तं सोउं, किमिति परिप्रश्ने, किं कुव्वं, व्रतं तवो धर्म्मं नियमं शीलं संयमं

मिथ्या-चारादि

॥४०१॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता.....आगमसूत्र-[०२], अंग सूत्र-[०२] "सूत्रकृत" जिनदासगणि विहिता चूर्णि:

प्रत सूत्रांक [६४-६८] दीप अनुक्रम [७००-७०४]

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४०२॥ २ श्रु. ५ अ.

वा संयमविरयजावकम्मो भवति, जेण मुच्चेज्ज सव्वदुक्खाणं, किं कारवंति किमन्यं कारयन्ति, शिष्याचार्ययोः संबंधो दर्शितः, धर्म्मकथासम्बन्ध इत्यर्थः, आचार्यो ब्रवीति–तत्थ खलु भगवया काया हेऊ पण्णत्ता, जहा च पचक्खाणिस्स संसारस्स ते हेउं छज्जीवनिकाया ते चेव हेऊ मोक्खाय, तत्थ निवृत्तस्य पुनः आगंतुं सुहदुक्खतुल्लणं णातुं भिक्खू विरतो पाणाइवाततो जाव सल्लातो, तहेव प्राणातिपाताद्या मिथ्यादर्शनावसानाः संसारहेतवो, विपरीता मोक्षहेतवो भवंति, उक्तं हि–'यथाप्रकारा यावन्तः०' तेनोच्यते–एवं से भिक्खू विरते पाणाइवाताओ जाव सल्लातो, से भिक्खुः अकिरियाए जाव संवुडे, जं पुच्छिते सुहम्मा कथं संजतो भवति ?, तदेवमाख्यातं–एवं खलु भगवता आख्यायते संजते जाव संवुडे, एगंतपंडिते यावि भवतीति बेमि ॥ इति पचक्खाणकिरिया समत्ता ॥

एवं पडिहयपचक्खायपावकम्मस्स आयारो भवति, एतेन आयारसुत्तज्झयणं, पडिपक्खेणं अणायारसुत्तं, पदद्वयं, आचारो णिक्खिवियव्वो, इक्किके चउक्कणिक्खेवो–णामं ॥१८१॥ गाथा, आयारे णिक्खेवो चउक्कओ गाहा, आयारस्स जहा खुड्डियाचारए, सुत्तस्स जहा विणयसुते, आयारसुयं भणियं ॥ १८२ ॥ गाहा, आयारो यत्र वर्ण्यते श्रुते तदिदं आचारश्रुतं तस्य आचारश्रुतस्य, नकारणेन प्रतिषेधः क्रियते, न आचारश्रुतं अनाचारश्रुतं, अनाचार इह वर्ण्यते इत्यतो अनाचारश्रुतं, अनाचारांश्च वर्जयतः आचार एव भवति, मार्गविपथिकपथिकदृष्टान्तमामथ्यात्, यथा मार्गविपथिकः उन्मार्गं वर्जयेत्, नापथगामी भवति, न चोन्मार्गदोषैर्युज्यते, एवमनाचारं वर्जयन् आचारवान् भवति, न चानाचारदोषैर्युज्यते, ते तु अनाचारे अबहुस्सुतो ण जाणति तेण कारणेण आचारसुतं भणति, 'वज्जेयव्वा सदा अणायारा' 'अबहुस्सुत' गाथा एतस्स उ पडिसेहे ॥ ॥ कतरस्स ?, जो

आचोर-निक्षेपादि

॥४०२॥

अथ द्वितिय्-श्रुतस्कन्धस्य पंचमं अध्ययनं आरभ्यते

अज्झत्थचियस्सत्ति तेण अणायारसुत्तं णामेण होति अज्झयणं, सो पुण पाविओ इह अणाचारो वण्णिज्जति, गतो णामणिप्फण्णो। सूत्तालावगणिप्फण्णे–बंभचेरं आदाय (सूत्रं ६३६),(वृत्तौ शीलाङ्कीयायां आदाय बंभचेरं) गृहीत्वा आचारोत्ति वाऽऽचरणंति वा संवरोत्ति वा संजमोत्ति वा बंभचेरंति वा एगट्ठं, 'आसुपन्ने' आसु प्रज्ञा यस्य भवति स आसुप्रज्ञो, केवली तीर्थंकर एव तस्य वक्तव्यव्यापारः 'तीर्थप्रवर्त्तनफलं यत्प्रोक्तं०' अन्ये तु केवलिनो धर्मोपदेशं प्रति भजनीयाः 'इमं वइं' तं इमां वक्ष्यमाणां वाचं क उक्तवां कतरां वा ? यस्मिन् धर्मे 'अणाचारे' अणाचारेऊ, अस्मिंस तावके धर्मेऽनाचारः अकर्त्तव्यमित्यर्थः, अनाचारवतीं च न ब्रूयात् कदाचिदिति, अहनि रात्रौ च सर्वावस्थासु, ते तु यथा लौकिका 'न नर्म्मयुक्तं वचनं हिनस्ति' तन्न, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सम्यग्दर्शनाचार एवादावुच्यते **अनादीयं परिज्ञाय** ॥ ६३७ ॥ नास्य आदिर्विद्यत इत्यनादि अनवदग्गमित्यपर्यवसानं चास्ति, तदनित्यमिति परतंत्री ब्रूते, सदकारणवन्नित्यमिति, सांख्यानामप्यहेतु सन्नित्यं, तदेवमनाद्यविपर्यवसानं च शाश्वतं चैकेषां, शाक्याः पुनस्तद्विपरीतां ब्रूते —सर्वमदिमवदग्गं च घटवदशाश्वतमित्यर्थः, तदेवं परतन्त्रा केचित्शाश्वतवादिन इत्यर्थः, **'सासयमसासए वा इति दिट्ठिं न धारए'** इत्येवं दृष्टिं दर्शनं न धारयेत् हृदि मनसि, दोषः, कतालम्बेन चैतत्, **एतेहिं दोहिं ठाणेहिं** (सूत्रं ६३८), विविधो विशिष्टो वा अवहारो व्यवहारः अनुपदेशः अननुमार्गः, अनित्यादिव्यवहार इत्यनर्थान्तरं, कथं ?, एकान्तेन च शाश्वतवादिनो न व्यवहारिणः, ते तु हि सर्वे सर्वत्र सर्वथा सर्वकालं च नित्यमित्येके ब्रुवते, तेषां संसाराभावात् तदभावे प्रागेव मोक्षाभावः, अशाश्वतवादिनामपि सर्वेषां सर्वत्र सर्वकालं चानित्यमिति ब्रुवतां क्षणभङ्गित्वात्संसाराभावस्तदभावे च प्रागेव मोक्षाभावः, बन्धमोक्षार्थश्चायं प्रयासः, किंचान्यत्–सुहदुक्खसंपयोगो एगंतुच्छेतम्मि य, यस्य चैतौ

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४०४॥

शाश्वताशाश्वतग्राहावेकान्तेन न व्यवहारमवतरत इत्यतः 'एतेहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं विजाणएहि' सम्यग्दर्शनविराधनेत्यर्थः, तदभावे प्रागेव ज्ञानचारित्रयोरप्यभावः स्यात्, कथं प्रतिपत्तव्यं कथं वा व्यवहारो भवति ?, उच्यते—सदसत्कार्यत्वात् तत्प्रतिषेधः अंगुलीयकदृष्टान्तः, यथा सुवर्णं सुवर्णत्वेनावस्थितमेव कारणान्तरतः अंगुलीयकत्वेनोत्पद्यते, तद्विनाशे च सुवर्णस्यानिवृत्तिः, अस्त्येवं जीवो जीवत्वेनावस्थित एव नामकर्मप्रत्ययान्नारकादिभावेनोत्पद्यते नारकादिविगमाच्च मनुष्यत्वेनोत्पद्यते, जीवद्रव्यं तु नारककाले मनुष्यकाले चावस्थितं, घटपटादिष्वप्यायोज्यं, स्याद्—आकाशादिषूत्पादविगमौ न विद्येते, तत्राप्युत्तरं आकाशादीतिण्हं परपच्चयतो, अत्राह—ननु शाक्यदृष्टिरेव उच्यते, तेषां हि पुद्गलो नित्यानित्यत्वं प्रत्यप्रचनीयः, अस्माकं तु नित्यानित्याः सर्वभावा इति वाच्यमेतत्—उत्पाद्यविगमध्रौव्यपर्यायत्रयसंगहं। कृत्स्न श्रीवर्द्धमानस्य शासनं (शासनं भुवि) ॥१॥ एवं सर्वभावानां मन्यमानाः उच्यमाना व्यवहारमवतरति, व्यवहारादपेतं च मन्यमानमुच्यमानं वा न आचारं विज्ञा, अयमन्यो दर्शनाचारः, 'वोच्छिज्जिस्संति सत्थारो' यस्य किलापवर्गोऽस्ति न चास्ति नवमत्वोत्पादः, तस्यानन्तत्वात्कालस्य सत्थारोवि ताव वोच्छिज्जिस्संति तीर्थकरा इत्यर्थः, किमंग पुण जे अण्णस्म य परिवारो. मोक्खं गच्छंति, आह हि—"त्वदेशनामतीतः कालः किमहं त्वनन्ततद्विगुणं" ननूक्तं 'देविंदचक्कवट्टित्तणाइं०' गाथा, असदशा—अक्षीणक्लेशपृथग्जनेन गठिया भविस्संति, ग्रंथिं न सक्का भेत्तुं गठियसत्त्वा इति वाक्याव्यवहारः, स्याद्—ब्रवीति—भव्येषु सिद्धेषु अभव्याः स्थास्यन्ति, यतः संसार परिहास्यति. तथापि न मोक्षाभाव इति न दोषः, अवश्यं च संसारमोक्षाविति द्वन्द्वसिद्ध्या भवितव्यं, सुखदुःखवत् सीतोष्णवद्वेत्यादि, अथ मा भूत्संसार इति तेन अपवर्ग एव नास्तीति मन्तव्यं वक्तव्यं वा, तथाऽनादि सामयंति णो वदेज्जा, मा भूत्संसाराभाव इति दोषः, अथवा

स्याद्वादादि

॥४०४॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४०५॥

भणति सपक्खचोदओ सव्वे भवसिद्धि० एवं सासतित्ति, जइवि जीवा सिज्झिस्संति तहावि भवसिद्धियविरहिओ लोगो न भविस्सति, ण णामऽभवसिद्धिः, एवं सासतित्ति वा असासतित्ति वा णो वदे। एतेहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो ( सूत्रं ६४० ), इमाणि दोण्णि ठाणाणि–वोच्छिज्जिस्संति भविया अथवा णो वोच्छिज्जिस्संति, णो णामऽभविया, अथवा सेसा सव्वे गंठिया भविस्संति, तहावि एतेहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारादीत्यतश्च दर्शनं न भवति, एतेहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं विजाणए, कतरं अनाचारं ?, दर्शनानाचारं, स्यात् कथं मन्तव्यं, वक्तव्यं वा ? "जयन्तीति! से जहा णामए सव्वागाससेढी" एवं मन्तव्यं, परेण वा पुट्ठेण वक्तव्यं, उक्तो दर्शनाचारस्येति। इदानीं चारित्रं प्रति श्रद्धानमुच्यते–जे केइ खुड्डुया पाणा ॥ ६४१ ॥ वृत्तं, इन्द्रियाणि प्रति खुड्डगा सव्वे एगेंदिया बेइंदिया कमवृद्धि जाव पंचेन्द्रिया, अथ शरीरं प्रति कुंथुमादी खुड्डगा हत्थिमादी महालया, संति–विद्यन्ते सर्वे लोकप्रत्यक्षा, आलयः शरीर, महानालयो येषां ते महालयाः, तॉश्च जिघांसुर्यदि कश्चित्पृच्छेत् आजेववां दुर्विदग्धो वा–सरिसं वेरं कम्मं ते मारेमाणस्स, किं सरिसो कम्मबंधो भवतित्ति, तत्थ को ववहारो ?, उच्यते–एतेहिं दोहिं ठाणेहिं ॥६४२॥ वृत्तं, कथं न विद्यते ?, जइ भणति–सरिसो कम्मबंधो तो महालया परिचत्ता, इतरथा ते थूलत्ति कया, अथ न भीरू लोगरवभीरू य ते परिहरति खुड्डलए य कुंथुमादि एगिंदिए वहंतो, दोहिं ठाणेहिं ववहारो न, समं ब्रुवता महालया तथाऽनुज्ञा, विषमं ब्रुवता खुड्डलाघातानुज्ञा भवति, तेन धर्मसंकटमेतत्, न कश्चिज्ज्ञानानो धर्मसंकटमनुप्रविशेत्, अत्र दूषगणिक्षमाश्रमणशिष्या भट्टियाचार्या ब्रुवते–अत्र निस्तुपमेव वाक्यमतो अवचनीयवाद इति, स तु तैरेव पुनर्विशेषितः, यथा शाक्यानां नित्यानित्यावेवेत्यवचनीयः पुद्गलः अस्माकं तु विशिष्टं अवक्तव्यं, कथं न वक्तव्यं ?, तुल्योऽतुल्यो वा घाते बन्ध इति तृतीयमवक्तव्यं, अन्यमत्या आचारं

सर्वभव्यसिद्ध्यादि

॥४०५॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४०६॥

प्रति पृच्छा–आधाकम्मं(म्माणि) च ॥६४३॥ वृत्तं, आधायिकर्म्म साधुं मनस्याधाय प्रकरणमित्यर्थः, 'अन्योऽन्य' इति वीप्सा, अन्य इति असंयतः तस्मादन्यः संयतस्येत्यसंयतः तस्यान्यस्याधायकर्म्म कर्तुः कर्मलेपेन किं लिप्यते नोपलिप्यत इति प्रश्नः?, उच्यते–एएहिं दोहिं ठाणेहिं ॥६४४॥ वृत्तं, कथं अववहारोऽनाचारश्च ?, उच्यते, यदि ब्रवीति अत्थि कम्मोवलित्तोति एकान्तेन तेन द्रव्यक्षेत्रकालभावा व्यतिक्रान्ताः, साधवः परित्यक्ताः, स्यादत उवलित्तेत्ति, जइ देंतोवि बज्झति ननूक्तं 'तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताए कम्मं बंधंति' 'तेणं किं मम अप्पवयाए चेव आहाकम्मेण दिण्णेण ?' येन दाता बध्यते, अल्पायुष्कं च कर्मोपचीयते, किंच–अकृताभ्यागतदोषं चैवं कश्चिदपि पश्येत्, नैवं मन्येत, तेन उवलित्तेत्ति न वक्तव्यं, अह भणति—णवि अण्णो अंगारे कड्ढति एवं नान्यस्य कर्मणा अन्यो युज्यते तेन मृगदृष्टान्तेन दातव्यमेव च इति अत्र दोषः, जो देति सो पावं कम्मं काउं जीवोवघातं करेइ इति परिचत्तो, जेऽवि पाणे वधेति तेऽवि परिचत्ता, तदेव धर्म्मसंकडमिति कृत्वाऽन्योऽन्यस्य कर्म्मणा उवलित्तो अनुवलित्तो वेत्युच्यमान व्यवहारं नाचरति एगंतेणं, किंचान्यत्–ये यदानं पसंसंति० तद्वतोवि जे णिसेधेंति, अयमन्यो दर्शनं प्रति वागाचारः, नह्यथा–जमिदं ओरलमिति ॥६४५॥ वृत्तं, ये इति अनिर्दिष्टस्य निर्देशः, इदमिति सव्वलोके प्रत्यक्षं आहारकमपि केषांचित्प्रत्यक्षमेव, वैक्रियमपि प्रत्यक्षमेव, तैजसकार्मणे प्रत्यक्षज्ञानिनां प्रत्यक्षे, एकस्मिँश्चौदारिके साधिते शेषाण्यपि साधितानि भवंति, शिष्यः प्रच्छति एतदौदारिकं शरीरं कार्यं कार्मकशरीरा निष्पन्नं तत्किमनयोरेकत्वमुताहो अन्यत्वं ?, कुतः संशय इति चेत् उभयथा दृष्टत्वात्कार्यकारणयोरिह तंतुपटयोरयुगपत्सिद्धिर्दृष्टा, तंतव एव कारणान्तरतः अभिन्नदेशं पटं निर्वर्त्तयति, आदर्शे त्वादर्शदृश्यसंयोगा सदृशच्छाया उपलब्धे सति कार्यकारणयोः संबंधे भिन्नदेशता दृष्टा इत्यतो नः संशयः,

आधाकर्म-बन्धादि

॥४०६॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४०७॥

किं कार्मणशरीरमौदारिकं भिन्नदेशमारभते प्रतिबिंबवत् उताभिन्नदेशं तंतुपटवदिति तत उच्यते, एकाश्रयत्वान्न प्रतिबिम्बवद्भिन्नदेशं, तंतुसमूहैर्नो वा स्याद्, उक्तं हि–'जले तिष्ठति०' आहारातु तावत्तंतुपटवदभिन्नदेशः कार्यकारणसंबन्धः कार्मकौदारिककायौ, तत्किमेकत्वमनयोरुतान्यत्वं इति, उच्यते, सदसत्कार्यत्वात् घटवदेतत्स्यात्, उक्तं च–"णत्थि पुढवी विसट्ठो घडो"त्ति एवं न कार्मणशरीर प्रत्याख्यायौदारिकं भवतीति एकत्वं सिद्धमनयोः, सूक्ष्मस्थूलमूर्त्तिमत्त्वादचाक्षुषत्वान्निरुपभोगसोपभोगत्वाच्च स्पष्टं अन्यत्वमित्येवं सदसत्कार्मकौदारिकयोरेकत्वान्यत्वं प्रति भजनीयता, वैक्रियाहारकयोरपि, तैजसमपि कर्मकृतो णिष्फज्जति, तत्थवि भजना, इच्चेवं एकान्तेन तु एकत्वमन्यत्वं वा ब्रुवतो वागनाचारो भवति, तेण एतेहिं ठाणेहिं ॥ ६४६ ॥ वृत्तं, पच्छिमद्धसिलोएण वितिज्जिया पुच्छा, सव्वत्थ वीरियं अत्थि यथा कार्यकारणयोर्वक्तव्यावक्तव्यतोक्ता एवं कर्तृकर्तव्ययोरपि, किमेतत् सर्वं सर्वकार्ये किं कर्तुः सामर्थ्यमस्ति उत नास्तीति प्रच्छा, उच्यते, शिक्षार्थं पूर्वमशिक्षापूर्वकं च, केषु कर्तुः सामर्थ्यमस्ति केषु च नास्ति, तत्र शिक्षापूर्वकं घटादिष्वपि सामर्थ्यं अशिक्षापूर्वकं गमनादानभोजनाद्यासु क्रियासु चैवं सामर्थ्यनास्ति, उक्तं हि–"छहिं ठाणेहिं जीवस्स नत्थि उट्ठाणेइ वा० लोगं च अलोगं च' एवमवचनीयवादः प्रसक्त इतिकृत्वा साम्प्रतमपवादः क्रियते, न सर्वत्रावचनीयवादो भवति, तंजहा–णत्थि लोए अलोए वा ॥६४७॥ वृत्तं, प्रत्यक्ष एव दृश्यते स कथं नास्तीति संज्ञा हृदि निवेशः इति, व्यवहारो वक्तव्यो, यच्चास्ति लोक इति लोकविरुद्धं चैव, प्रतिषेधश्च कथं ?, प्रतिषेधकोऽस्ति ? अप्रतिषेधे लोको नास्ति ?, स हि लोकान्तर्गतो वा न वा ?, यदि लोकान्तर्गतो यथा भवानस्ति किमेवं लोको न भविष्यति ?, उत लोकबहिर्भूतो वा ननु लोकस्यास्तित्वं सिद्धं यस्य भवान् बहिर्वर्तते, वक्तृवचनवाच्यविशेषा न च कश्चित् प्रतिषेधयति, लोकास्तित्वे अलोक-

कारणकार्यान्यत्वादि

॥४०७॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४०८॥

स्यापि, सुक्खदुक्खशीतोष्णजीवितमरणछायातपवदिति द्वन्द्वसिद्धेस्तस्मान्नैवं संज्ञा मनसि निवेशयेत्। किन्तु 'अत्थि लोए अलोए वा०' अत्रापि भजनीयं अत्ति सद्भावे, आदिट्ठो लोकः अस्तिता असद्भावादिट्ठो णत्थि तहावि लोकविरुद्धमितिकृत्वा भजनावादो नोच्यते। अत्थि जीवो अजीवो वा ॥ ६४८ ॥ वृत्तं, जीवद्रव्यसिद्धौ तद्गुणावसरो यत उच्यते—णत्थि धम्मे ॥ ६४९ ॥ वृत्तं, तदेवं घृणानिस्त्रैण्ये, न वाभ्युपगमो भवति, धर्मतो हि अभ्युदयनिःश्रेयसयोः सिद्धिरिति, अन्यच्चाभ्युपगम्यते धार्मिकस्य, स चेन्नास्ति कस्तानुमर्षेत ?, तेन तीर्थोच्छेदः, अधार्मिकेषु कर्म्मसु प्रवर्त्तते नास्त्यधर्म्म इतिकृत्वाऽतो दोषसंकटं, न वक्तव्यं नास्ति धर्म्मः अधर्मो वा, वक्तव्यं तु 'अत्थि धम्मे अधम्मे वा।' धर्माधर्मानन्तरं बन्धमोक्षौ भवतः अधर्मश्च कारणं बन्धस्य, धर्मस्तु सरागधर्मो वीतरागधर्म्मश्च, तत्र सरागधर्म्मः स्वाराज्याय, धर्म्मः स्वर्गाय, वीतरागधर्म्मस्तु मोक्षाय, ते तु प्रायेण चित्रितलोका लोकायताद्या धर्माधर्मौ बन्धमोक्षौ नेच्छन्ति, एककर्तृताश्रामः (भावः) अभ्युपगमनिर्दयदोषाश्च वाच्याः, धर्माधर्मबन्धमोक्षास्तित्ववादास्तु त एव विपरीताः सुगुणा भवंति, उक्तो बन्धस्तद्विकल्पास्तु पुण्यं पापं च, अतो बन्धमोक्षानन्तरं णत्थि पुण्णे च पावे वा ॥ ६५१ ॥ वृत्तं, तत्थ पुण्णं णवविधं, पुण्णं सुहादि, अथवा पोग्गलकम्मं च सुभं गोत्रादि, अत्थं पावा णत्थि, पुण्णंतिकाउं पुण्णायतणाइं लोगो ण सेविस्सइ, तं पुण्णस्स तहा हेतुं, पुण्यपापयोरागमः हेतुः प्रभवः प्रसूतिराश्रवमित्यनर्थान्तरमितिकृत्वा, ते पुण्यपापानन्तरं आसवो संवरक्रिया वा, णत्थि किरियत्ति अकिरियावादिणो भणंति, केचित्तु ब्रुवते—सर्वमुत्पाद्यते घटवत्, यच्चोत्पद्यते तत्सर्वं क्रियावद् घटवदेवेत्यतः अकिरिया णत्थि, उत उभयमत एतदर्थं नत्थि किरिया अकिरिया वा, अत्थि किरिया अकिरिया वा, तत्र जीवपुद्गलावस्थितौ च क्रियावन्तौ, धर्माधर्माकाशानि, निष्क्रियानि, आगमिहित आश्रवः, नञ्छेदास्तु-णत्थि कोहे

लोकाधि-त्वादि

॥४०८॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४०९॥

व माणे वा ॥६५६॥ वृत्तं, दृश्यन्ते हि यथास्वं क्रोधादिकषायाभिभूता वधवैरप्रवृत्ताः तत्कथं कषाया न भविष्यंति, नत्थि पेज्जे ॥ ६५७ ॥ वृत्तं, प्रीतिः पेमं वा पेज्जं वा, तद्विपरीतं दोषः, एतेहिं चेव–कसाएहिं चेव, कसाएहिं पेज्जदोसेहिं वा संसारो वा चाउरंतो णिव्वत्तिज्जति, तेण णत्थि चाउरंतो संसारो ॥ ६५८ ॥ वृत्तं, चत्तारो अंता जस्स स भवति चाउरंतः, तत्थ तिरिक्खजोणियमणुस्सा पचक्खत्तिकाउं ण वट्टति णत्थि य मणुयो, रइयजुवलयं जहा सेसाणं, णेरइयपज्जंता अणुमाणगिज्झा० वुच्चंते, ण वुच्चंति–णत्थि देवो व देवी वा ॥६५९॥ अत्थि देवो व देवी वा। देवाणंतरं णत्थि सिद्धि असिद्धि वा ॥६६०॥ केचिद् ब्रुवते मोक्षोपायो णत्थि, तेण वुच्चंति, 'णत्थि देवो व देवी वा, णत्थि सिद्धि असिद्धि वा' जइ कोइ भणेज्जा सकपुव्वो उ, 'जले जीवा थले जीव'त्ति, कोइ जीवबहुत्ता अहिंसाभावा च णत्थि सिद्धी नियंठाणं ॥६६१॥ तत्प्रतिषेधार्थमुच्यते–अत्थि जीवबहुत्वेऽपि, कथमिति जीववत्, तदुच्यते 'जलमज्झि जहा णावा' णत्थि साधू असाधू वा, णिव्वाणसाधगा अहिंसादि हेतू साधयंतीति साधू, तत्केचिद् ब्रुवते-विणावि जीवबहुत्वे नैव शक्यते मोक्षः साधयितुं कस्मात् ?, यतश्चलं मनः, अविनयवंति चलानि चेन्द्रियाणि, ताणि न सुखं निग्रहीतुं, अनिग्रहीतेषु च कथं मोक्षः स्यात् ?, उक्तं हि 'चंचलं हि मनः पार्थ०' यस्मादेवं तस्मान्नास्ति साधुः, साध्वभावाच्च तत्प्रतिपक्षभूतस्य प्रागेवासाधोरभाव इति, तदुच्यते–अत्थि साधू असाधू, कथं साहू भवति ?, उच्यते, णाणी कम्मसक्खो, विसयाण अणणुवत्तणं, अथवा साधुरेव साधुः संयत इत्यर्थः, विवरीतो असाधुः, णत्थि कल्लाणेति ॥६६३॥(सूत्रं), यथेष्टार्थफलसंप्राप्तिः कल्याणं, शाक्या ब्रुवते–सर्वमनिमित्तमनात्मकवचनात् कल्याणमेव न विद्यते क्वचित्, पापं कथं णत्थि ?, सर्वमीश्वरविकार इतिकृत्वा, कुतः पापं नेच्छंति परलोकिके ?, शाक्यास्तु कल्याणमेवैकं नेच्छंति, तेषां त एवानाश्वासादयो दोषा

संसारस्वादि

॥४०९॥

प्रत सूत्रांक ||६३६-६६८|| दीप अनुक्रम [७०५-७३७]

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥४१०॥

अभिधेयाः, वयं तु अस्थि कल्लाणे पावे वा कथं कल्लाणं ?, कल्लाणफलविवागदर्शनात् , प्रत्यक्षतो हि कल्याणपापफलविपाका दृश्यन्ते, रोगितसुहितदुःखितादिषु सुहविवागदुहविवागाइं एत्थ दरिसणं, उक्तो दृष्टिं प्रत्यानाचार आचारश्च, अयमन्यो दृष्ट्वामनाचारः, पापकानि कर्माणि करोति वेदयति वेत्ति, अत्रैकंतेन एस कल्लाणे पावउ(ए) ॥६६४॥ (सूत्रं), पुरिसे भण्णमाणे ववहारो न विज्जति, तत्र वच् क्षरणे, कथं कल्लाणकारी ण भवत्येकान्तेन ?, उच्यते, सातं चेत्यादि कल्लाणं, एतेसिं सेसाणि य एतेण कारणेण णवं, जाव सुहुमसपराईयबंधओ सो आउमोहणिज्जवज्जाओ छ कम्मपयडीओ बंधमाणे णाणावरणिज्जअंतराईयाइं बंधति, ताओ जाओ प्रायेण सुहं बंधति, तहावि एकान्तेन कल्लाणकारी न भवति, अथ वेदनं प्रति अणुत्तरोववाइयावि किंचि असुभं णाणावरणिज्जं वेदेंति, जेण तेसिं ण सव्वं णाणावरणीज्जं खीणं, एवं दरिसणावरणिज्जंपि अंतराईयंपि, मणुस्सेसुवि तित्थगरोवि सीउण्हादीणि असाताणि वेदेति, जेण जति सो खीणकसायो ण णाणा० पावं बंधति, ताव वेदेति नामगोत्तं असातं च, तेण एगंतकल्लाणे ण वत्तव्वो, एगंतपावो मिच्छादिट्ठी परमकण्हलेस्सो उक्कोसं संकिलिट्ठाणि परिणामोच्यते, जइवि सो बंधं प्रति एगंतपावो तहावि कदाचित् सातावेदओ हुज्जा, उच्चागोतो सुभणामोदयो वा, णियमा पंचिंदिओ उत्तमसंघयणो य, एवं एगंतपावोत्ति सो न व्यवहारमवतरति, यस्माच्चैवं तस्मादेकान्ते निर्देशव्यवहारो ण विज्जति, ववहारायेदं च मण्णमाणमुच्यमानं वा वैरं प्रसूते, कर्मण एव च वैरसंज्ञा, उक्तं हि–'पावे वज्जे वेरे०' दृष्टं हि लोकविरुद्धमुच्यमानं वैराय, उक्तं हि–ज्ञाता यथा०, अतोऽन्यथाऽऽलापे च वैरं, तथा चोक्तं–जीहा जहा पमाणं जे मे' एवं तु सूक्ष्मं ज्ञेयं, कुदृष्टयः श्रमणा अपि तावन्न जानन्ते शाक्यादयः किमु गृहस्थाश्च बाला, मूढा एव अजानका इत्यर्थः, यद्यपि ते स्वशास्त्रपरशास्त्रविशारदाः लोकेन पण्डिता इत्यपदिश्यंते तथापि पण्डिता इति बाला एव प्रत्यवसेयाः, ॥४१०॥

एकान्त कल्याणादि

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४११॥

अयमन्यः अवाच्यसंग्रहः प्राक्तनेनैव श्लोकेनाभिधीयते **असेसं अक्खयं वावि** ॥६६५॥ (सूत्रं), अशेषं कृत्स्नं सम्पूर्णं सर्वमित्यनर्थान्तरं, न सर्वमुक्तमेव भवति, सर्वो ग्रामो आयात इति अवाच्यमेतत् एकान्तेन, कथं ?, जीवाजीवसमुदायो हि ग्रामः स कथं सर्वं आयास्यति, अशेषो वा ओदनो त्वया मया भुक्त इत्यव्यवहारः, तत्र हि शिक्थादयः, शिक्थैकदेशावयवा ओदनः, गन्धश्च विद्यत एव, यद्यपि अशेषा मिथ्या वा भुक्ता अण्णत्थ वा पक्खित्ता तहावि गंधोऽस्ति, न चाप्यद्रव्यो गन्धो भवति, एवं चेव जइ भणति–देहि देहि भुंज भुंज वा अज्जवि अक्खयो कूरो अच्छति, न हि कृतकानां द्रव्यानां अक्षतता विद्यते तेण ण सव्वमक्खयं वत्तव्वं, ननु संसारः कथं ?, उक्तो हि सो सव्वकालदुक्खो, उच्यते,'पण्णवणामग्गोऽयं' जेण वुच्चति तो सव्वकालदुक्खो, इहरहा सुहंपि अत्थि दुक्खंपि, ननूक्तं सादं च वेदणिज्जं, सातं च नवपदार्थः, तत्थ पण्णवणं पडुच्च तत्थिमो पदत्थो–सुहोदयं, किं पुण्णं पुव्वम्मिज्जति पावं पच्छा मिज्जति, एगमेगंतेणं सर्वदुःखमुच्यमानं ववहारं नावतरति, वज्झमाणाण वज्झंति सर्वलोके विरुद्धमेतत् वज्झं पाणाति मणसावि ण सम्मतं किमुत वक्तुं ?, कम्मुणा वा कर्तुं, अतो न वक्ति वध्याः प्राणिनः, अथ अवज्ञा, कथं न वाच्यं ?, नन्वेतदपि लोकविरुद्धमेव, कथं ?, अहिंसकः स्वयं न च वक्ष्यति अवध्याः प्राणा इति, उच्यते, सत्यमेतद् स्वयं क्रियते तदन्यस्याप्यपदिश्यते, किन्तु यदि कश्चित् सिंहमृगमार्जारादीक्षुद्रजन्तुजिघांसु ब्रूयात्–भो साधो ! किमेतान् क्षुद्रजंतून् घातयामि उत मुंचामीति, तत्र न वक्तव्यं मुंच मुंचेति, ते हि मुक्ता अनेकानां घाताय भविष्यन्ति, एवं चौरमच्छबद्धबंधादयो न वक्तव्या मुंच घातयेति वा, आह च–'ग्रसत्येको मु०' अव्यापार एष साधोः, तेन व्यवहारपक्षे नावतरति, यस्माच्च व्यवहारपक्षातिक्रान्ता एवंप्रकारा वाक् तस्मादिति वाचं ण णिसरे, एवं ताव लोगो जं भणति 'असेसं अक्खयंति वा' तं तहा ण वत्तव्वं, उच्यते किंचि-

अशेषात्वादि

॥४११॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४१२॥

दन्यथा, जहा किं?, दीसंति० ॥६६६॥ (सूत्रं), णिहुअप्पणो स्वशास्त्रोक्तेन विधानेन निभृतः आत्मा येषां ते भवंति निभृतात्मानः युगंतरपदिट्ठिणो परिपूतपाणियपायिणो मोइणो णगणिणो विविचिका, तेसिंपि णो ध्यायिन इत्येवमादि न निभृतं, भिक्खामेत्तविचिणो साधुजीविणोत्ति ण कस्सइ उवग्गथेण जीवंति, के?, ककुहागकुसयावज्जिणो, एवं वत्ते ते मिच्छा पडिवज्जंतित्ति, एवं दिट्ठिं न धारेज्ज, परेण पुट्ठेण एवं भणेज्जा–एते वरागा बालतपस्सिणो सव्वं मिच्छा करेंति, लोकविरुद्धं च, तं भणंतस्स ते लोए गाढरुट्ठीभूता पच्छा लोगो मा भणिहितित्ति एते मदीये सत्थिया गुणद्वेषिणः, अविदुः रुस्संति ण य उवसमंति, तेऽवि य जाव गेवेज्जा ताव उववज्जंति तो कहं एगतेणं एवं वुच्चति–सव्वमेतं णिरत्थगं किलिस्संति, नो णिच्चपुट्ठो वा भणिति–अणागाढमिच्छादिट्ठीसु, एतेवि किंचिदधेलोगफलिगं णिव्वत्तेन्ति, अयमण्णो अन्नउत्थियगिहत्थाणं दाणं प्रत्यव्यवहारः–दक्खिणाए पडिलंभो ॥६६७॥ (सूत्रं), दानं देंति देयते वा दक्षिणां, दक्षिणां प्रति लंभो, दक्षिणायाः प्रतिलंभः, अथवा दक्षिणाया लंभे प्रति दक्षिणालंभस्तया वा लंभितः स प्रतिलम्भः प्रतिमानवत् सम्मानितो वा भवति, एवं प्रतिकारप्रत्यपकाराप्रतिपूजादिष्वायोज्यं, स किं पात्रे वाऽपात्रे वा प्रतिलाभिते?, ततो पडिलाभो अत्थि णत्थि पुच्छिज्जति भणति–एकान्ते नास्ति तत्थ दोसा, जारिसं वा विनीयं तारिसेणेव फलेण होतव्वं, तेण अधम्मियस्स कस्सइ इट्ठदाणं दिण्णं तेणवि मा णाम इट्ठेण फलेण होतव्वं, पावे वा अंतं पंतं दिण्णं तेणावि णाम अंतफलेण होतव्वं, एवमनेकान्तः, पत्ते तु इट्ठमणिट्ठं वा सद्धाए अणुपरोधी दिज्जमाणं महप्फलं भवति, अपत्ते तु इट्ठमणिट्ठं वा दत्तं वधाय, तहावि ण वारिज्जति अंतराईयदोसोत्तिकाऊण, तथाऽणुज्ञायते न देहित्ति मज्जारपोसगादिट्ठंतेण मा अधिगरणं भविस्सति, तेण असंजतगिहत्थाणं अन्नउत्थियाण देहित्ति, किंच—इत्थ पुण पावं पुण्णं ण वियागरेज्जा, मेधावी जइ

एकान्त निरर्थकत्वादि

॥४१२॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४१३॥ २ श्रु. ६ अ.

पुण भणति–किं पत्तं जस्स मए दातव्वं ?, कथं ? वा किं वाऽस्य फलमिति तदाऽस्य कथ्यते, यो दातव्यं देयं, एवमेतान्यव्याकृतवक्तृनि यथा येषु स्थानेषु वक्तव्यानि तथोक्तानि अवक्तव्यान्यप्यन्येषु स्थानेषु यथा च वक्तव्यानि तथाप्युक्तं, एतेन लक्षणेनान्यान्यपि तथाऽवक्तव्यानि वक्तव्यानि च विज्ञेयानि, अतोऽतिप्रसक्तं लक्षणमितिकृत्वोच्यते,एवं सर्वत्रैव तद्विकल्पं करिष्यति तेनोद्धारः क्रियते– एकान्तेनैव ' **सन्तिमग्गं च बूहए** ' शमनं–शान्तिः मग्गे–मार्गः जेण कथितेण उवसमंति सत्ताणि शासनवृद्धिश्च भवति तथा कथयति, सो पुण संतिमग्गो धम्मं कहंतेहिं पावाउतेहिं संगिण्हंतेहिं उवगिण्हंतेहिं बृंहितो भवति, उक्तं च–'प्रावचनी धर्मकथी०' एत्थ णत्थि भयणा, एगंतेन चैवं तथा तथा कहेतव्वं जहा जहा संतिमग्गो बृहिज्जति इच्चेएहिं ट्ठाणेहिं ॥६६८॥ (सूत्रं), कतराइं ठाणाइं ?, जाणि अणादीयं **परिण्णादीयं** परिण्णादीणि अववहारं णावतरति, जो अत्थि लोए वा अलोए वा ववहारं अवतरति, तेसु सव्वेसु संजयति तिरियमाणेसु अप्पाणं, कथं अप्पाणं वारयति, अववायं भणंति, एवं धारितो अप्पा कियंतं कालं ?, **आमोक्खाए** जाव ण मुच्चइ सव्वदुक्खेसु असाद्दा, शरीरकरणे, परि समंता वएज्जासि मोक्खाय परिव्वएज्जासित्ति बेमि ॥ **अनाचारश्रुताख्यं पंचममध्ययनं समत्तं** ॥

अनाचारश्रुतमुक्तं, यथा केन वर्जिता अनाचाराः, अनाचारश्च सेवितो सो भावतो तावदुच्यते–जहा **अद्दएण**, एस अज्झयणसंबंधो, णामणिप्फण्ण अद्दइज्जं, अद्दं णिक्खितव्वं–**णामद्दं ठवणद्दं** ॥१८४॥ गाथा, आर्द्रकमिति नाम, वत्थाण खिवमद्देण, वण्णद्दं चित्तकंमादिसु आर्द्रकं लिखितं, आर्द्रानक्षत्रं लिखितं, **उदगद्दं सारद्दं** ॥ १८५ ॥ गाथा, उदकार्द्रं यथा उदकार्द्रं गात्रं, केवि हरितया सुक्कंतयाए य अब्भन्तरे अं पंडुरगं, संसारो पण्णाणे णियसे अज्जवि प्रीत्यार्द्रः, एवं उल्लोल्लो अत्थित्ति विन्ति, तया

आर्द्रकवृत्तं

॥४१३॥

अथ द्वितिय्-श्रुतस्कन्धस्य षष्ठं अध्ययनं आरभ्यते

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४१४॥

यथाऽयं पुरुषोऽस्थिषु निद्धो णज्जइ, से मक्खिताइं अंगाइं, आह हि–"त्वचि भोगाः सुखं मांसे", सिलेसद्धं जहा कोइरवंसो विततो समाणो पच्छा सिलेसेण मक्खिज्जति, पच्छा णिज्जति, गलितिचि, एवमादि, द्रव्यार्द्रं द्रव्यार्द्रः जहा उदगं सिलेसो य एते दोवि सयं चिय अद्दा अण्णंपि आर्द्रं कुर्वंति, सारद्दं, छवियद्दा पुण केवलं सयमेवाऽऽर्द्रा, भावद्दं रागद्दं लोगं भणति, आर्द्रसंतानो देवदत्तः स्नेहवानित्यर्थः, णेहतुप्पितगत्तस्स रेणु, उपरुचित्तं च तं कमद्दं, इह तु आर्द्रकनाम्ना पुरुषेणाधिकारः, तत्राप्यर्थाश्रयणमेवेतिकृत्वा तत्प्रयोजनमुक्तमेव भवति, द्रव्यभावार्द्रकविशेषास्तु पुनरुच्यन्ते, तत्थद्दओ तिविधो–एगभवियबद्धाउय ॥१८६॥ गाथा, अद्दाओ णामगोत्तं वेदेतो ततो समुट्ठिता गाथा, यद्यपि शृङ्गवेरादीनामार्द्रकसंज्ञा तथापि तेभ्यो नाध्ययनमिदं समुत्पन्नं तस्मात्तैर्नाधिकारः, जो चेव सो अद्दामिधाणो साधू तेणात्राधिकारः, तदेव अद्दकउप्पत्ती भणितव्वा,'तत्तो समुट्ठियमिणं' सा एया गाथा, जेण च तं, पतिट्ठिकं णाम गामो, तहिं सव्वे उ परिवसंति, संसारभयुव्विग्गा, धम्मघोसाण अंतिए पव्वइतो सह भारियाए, सो विहरति साधूहिं सह, इतरावि अज्जियाहिं सह, ताइं केताए नगरे समोसरिताइं, तेण सा भिक्खं हिंडमाणा दिट्ठा, सो तहिं अज्झोववण्णो, तेण संघाडिगो वुचति–एसा मम घरणी, पडिभज्जाविज्जउ, णेण चिंतितं–अकज्जएण ण उवेक्खितव्वं, तेण भण्णति–अज्जेव कतं वा मए, सो एवं भणिउं गतो पव्वइयापडिसयं, तेण महत्तरियाए सिट्ठो स उल्लावो, पच्छा महत्तरिताए सा भणिया–अज्जे! अण्णविसयं वच्चाहि, ताए भण्णति–अहं ओलिया कहिज्जामि, सो पुरिसो, सो उ दूर अण्णदेसंपि वज्जेज्जा, अहं भत्तं पच्चक्खामीति, एवंति भणति, इतरेण दित्तस्स आगंतूण कहिज्जति, जहा इमं समोसरणं दुक्कडं, तत्थ मिल्हिहामो, इतरधा ण सक्कति, सो इच्छंति, दिवसं गणेंतो, इतराएवि ते दिवसे आसण्णत्ति काऊणं वेहाणसं कतं, तेहिं आयरियाणं णिवेदितं, जहा पव्वइता कालगता, इतरस्स

आर्द्रकवृत्तं

॥४१४॥

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥४१५॥

सोचूण अद्धिती जाता, अकज्जं, महच्चएणं तवस्सिणी कालगया, तेणवि भत्तं पच्चक्खातं, तं सो कालं गयो, समणी देवलोएसु उववण्णा, ताओ देवलागाओ चुता संती मेच्छविसए अद्दगसे अद्दगस्स रण्णो धारणीए देवीए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए वक्कंता, तीसे णवण्हं मासाणं दारओ जातो, तस्स णामं कीरति अद्दओ, इतरोऽवि कालं काऊण देवलोएसु उववण्णो, तओ चुओ वसंतपुरे णगरे सिद्धिकुले दारिया जाया, इतरोऽवि जुव्वणत्थो जाओ, अण्णदा कयाई सो अद्दओ राया सेणियस्स रण्णो दूतं विसज्जति, तेण कुमारेण पुच्छिज्जति–कहिं वच्चसि ?, तेण वुच्चति–आयरियविसयं सेणियस्स रण्णो सगासं, सो तुज्झंपि पितियवयंसओ होति, तेण वुच्चइ–तस्स अत्थि कोइ पुत्तो णत्थि ?, तेणऽत्थित्ति वुत्ते अद्दकुमारो विचिंतेइ–तेण मित्तता होतु, सो तस्स पाहुडं विसज्जति, एयं अभयस्स उवणेतव्वं, सो दूतो तं गेण्हितुं रायगिहं नगरं आगतो, सेणियस्स रण्णो सव्वं अप्पाहणियं अक्खातियं, इतरदिवसे अभयस्स दुक्को, अभयकुमारसत्तं पाहुडं उवणेति, भणिओ य–जहा अद्दकुमारो अंजलिं करेइ, तेण पाहुडं पडिच्छिअं, दूतो य सक्कारिओ, अभओऽवि परिणामिताए बुद्धीए परिणामेऊण सो भवसिद्धीओ जो मए सद्धीं पीतिं करेइ, एवं संकप्पेऊण पडिमा कारिज्जइ, तं मंजूसाए छोढुं अच्छति, सो दूतो अण्णतावि आपुच्छइ, तेण तस्स मंजूसाए अप्पिता, भणिओ य एसो–जहा कुमारो भण्णइ–एतं मंजूसं रहस्से उग्घाडेज्जासि, मा महायणमज्झे, जहा ण कोइ पेच्छेइ, बहुपाहुडं पेसति, सो दूओ परं णगरं पडिगओ, अद्दस्स रण्णो सेणियपेसितं पाहुडं उवणेति अद्दस्स, सक्कारेतूण पडिविसज्जिओ, कुमारस्स मूलं गओ, अभयपेसवितं पाहुडं उवणेति अप्पाहणियं च अक्खाति, तेणवि सक्कारेऊण पडिविसज्जितो, इतरोऽवि तयं गहेऊण उवरिं भूमिं दूरूहित्ता जणविरहियं करेत्ता मंजूसं उग्घाडेति, सो पेच्छेति उसभसामिस्स संभं पडिमं, तस्स ईहापोहमग्गणगवेसणं करेंतस्स कहिं मए एयारिसं रूवं दिट्ठंति ?,

आर्द्रकवृत्तं

॥४१५॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४१६॥

चिन्तेमाणस्स जाइसरणं उप्पण्णं, अहो मम अभएण णाहकिच्चं कयं, रहस्सिगं तं च काऊण परिभोगं उचितं ण परिभुंजति, ताहे रण्णा कथितं–जहा कुमारस्स जप्पभितिं आयरियविसयातो पाहुडं आणीतं तप्पभिइं जहोचितं परिभोगं न परिभुंजति, रायाए चिंतितं–णट्ठो कुमारो भवति, वच्चंतस्स अण्णेहिं आइक्खिज्जति, तेण चिन्तितं–जइ किहइ नस्सामि तो नट्ठं कज्जं भवति, सव्वधावि जहोचितं भोगं भुंजामि, रण्णा सुतं परिभुंजति, तस्सगासे पंचण्हं कुमारामच्चसताणं पंच पुत्तसयाइं आणविदिण्णाइं, भणियाइओ– जइ कुमारो णस्सति तो सव्वे विणासेमि, ते तं कुमारं आदरेणं रक्खंति, कुमारेणोवायो चिंतितो, आमवाहणियाए णिग्गच्छामि, एवं विस्सासेण पलाओ आसं विसज्जेऊण, देवताए य भणियं–सउवमग्गं, इतरेऽवि पविसित्ता अडवीए चोरियं करिंता अच्छिति, इतरोऽवि णाओ एक्कारसमं सावगपडिमं पडिवज्जित्ता आगतो वसंतपुरं णगरं, आयावेंतस्स पाडिहेरं कतं देवताए, तत्थ आतविंतो अच्छति, ताए दारियाए भण्णति–अहो मम पती आहेसि, ताहे अद्धतेरमहिरण्णकोडिओ पाडियाओ, राया ओट्ठितो घेतुं, सप्पा उट्ठेति, देवताए भणितं–एतं तीसे दारियाए, पितुणा संगोवितं, सोऽवि पगतो, सा सेट्ठिधूता अण्णेहिं वरिज्जति, तीए मातापितुं भणइ–एक्कस्स दिण्णा, जस्सेतं धणं भुंजं, तुमं जाणसि कहिं सो ?, णत्थि, णवरं पाए जाणामि, ताहे सा ताहिं भिक्खा दवाविज्जति, जति जाणसि तो गेण्हेज्जासि, इतरो बारसण्हं वरिसाणं आगतो, सो तीए पाएहिं णातो, तस्स पच्छातो विसज्जिता, तो चिंतियं–उड्डाहो, पडिभग्गो, तस्स तहिं पुत्तो जातो, बारसण्हं वरिसाणं तहिं आपुच्छति, सा तहिं परुन्निया, सो दारओ भणति– किं कर्त्तसि ?, पिता ते पव्वइउकामो तो सुहं जीविस्सामि, सोऊण पुत्तेण वेढितुमारद्धो, तेणवि चिंतितं–जइएहिं तंतूहिं वेढिति तत्तिगाणि वरिसाणि अच्छामि, तेण बारसहिं वेढितो ताहे बारस वरिसाणि, पच्छंतो पुण्णेहिं पव्वइतो, ताए अडवीए गोलेति जीए

आर्द्रकवृत्तं

॥४१६॥

ताइं पंचसताइं, तेहिंतो पच्चमिण्णाए य पंचवि सयाइं पव्वइताइं, सो जाति तित्थगरमूलं, सो रायगिहं णगरं पविसंतओ, गोसालेण समं वातो, बुद्धेन सभं वादो, धिज्जातिएहिं परिव्वाएहिं तावसेहिं, सव्वे पडिहंतुं सामिपादमूलं जाति, तस्स वच्चंतस्स हत्थी वारिछूढओ, सो हत्थी अद्दगं पेच्छिऊण एवं चिंतेति–अद्दगस्स तेयपभावेण मुंचामि, तस्स य तेयपभावेण बंधणाणि छिण्णाणि, हत्थी णट्ठो, अद्दओ भणति–ण दुक्करं चारणपासमोयणं०, गतो णामणिप्फण्णो, सुत्तालावगणिप्फण्णे सुत्तमुच्चारेतव्वं–पुराकडं अद्द ! इमं ॥६६९॥ वृत्तं, ततस्तमार्द्रकं राजपुत्रं प्रत्येकबुद्धं भगवत्पादमूलं गच्छमाणं गोसाल आह–'पुरेकडं अद्द ! इमं सुणेहि' सर्वैरपि तीर्थकरैः कृतं पुरेकडं, आर्द्रक इति आर्द्रकस्यामन्त्रणं हे आर्द्रक राजपुत्र !, इमं यद्वक्ष्यामस्तच्छृणु 'एगंतयारी समणे पुरासी' सोऽयं वर्द्धमानः यत्सकाशं भवान् गच्छति पूर्वमेकान्तचारी आसीत्, तदेकान्तं द्रव्ये भावे च, द्रव्यैकान्तमारामोद्यानसुण्णघरादीणि एतेसु एगंतेसु चरति एगंतचारी पुरा आसित्ति, एस मए सद्धिं लाभालाभसुहदुक्खाइं अणुभवितवां, तत्थ भावणाठाणमोणासणादीहिं उग्गेहिं तवचरणेहिं णिब्भत्थितो समाणो दुक्करं एरिसा चारि जावज्जीवाए धारेयव्वत्तिकाउं मामवहाय बहवो भिक्खुणो मद्विधां प्राणादमात्राहार्यां मुंडेति, पिंडिते य मुंडेत्ता य २ तेहिं बहूहिं परंसतेभ्यः इण्हि–साम्प्रतं आइक्खइ पुव्वावरण्हं, अदो व णं भिक्खुचरियादिकायकिलेसे णियत्तचित्तो पृथक् पृथक् पौनःपुण्येन जो जहा उववसति तस्स तहा परिकहेंतो अपरितंतो गामणगराइं आहिंडति, वित्थरेणंति अनेकैः पर्यायैर्वसु किल एष, सर्व इति लोकोत्पत्तिः, यतो पत्तियंतु पवत्तयंतो, एवं पूआगारवपरियारहेउं कधेति हिंडति गामाणुगामं, इत्यसात्कारणात्—सा ऽऽजीविया पट्ठविया ॥ ६७० ॥ वृत्तं, इथरथा हि एगाणियं विहरंतं ण कोइ पूएइ, ण वा अभिगच्छति, अथिरधम्मा अथिरो, कधमस्थिर इति चेत् यदा सो एगंतचारी भूत्वा स-

भातिगृहस्थानआरामगतो वा वृक्षमूलाश्रितो गृहं सरणमित्यर्थः, त्यक्त्वा गृहं किं पुनः गृहप्रवेशनेन ?, गणः समूहः, गणमध्ये आख्याति, नैककस्य, भिक्षुमध्ये सदेवमणुआसुराए परिसाए परिवुडो, जनाय हितं जन्यं बहुजनाय बहुजन्यं तं चार्थं कथयति, न सूक्ष्मं 'ण संधायति 'त्ति न संधिति, अवरं णाम जेनिमं तं साम्प्रतीयं वृत्तं–रत्नशिलापटः सिंहासनं छत्रं चामरं, अथवा– 'अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥१॥' अनेन देवेन्द्रदुर्लभेनापि विभूतिवृत्तेन यत्पूर्वादृतं एगंतचारित्तं तदन्योऽन्यव्याघाताच्च संति । किंच–एगंतमेवं अदुवावि इण्हिं ॥६७१॥ यदि एकान्तचारित्वं शोभनमेतदेवात्यन्तं कर्त्तव्यमभविष्यत् . उत मन्यसे इदं महापरिवारवृत्तं साधु तदिदमादावेवाचरणीयमासीत्, तो किं बारसमधियाइं वरिसाइं किलेसितो ? यद्यस्मादिदं साम्प्रतीयं वृत्तं पोराणं च दोऽवि अण्णोऽण्णं ण समेन्ति न तुल्ये भवत इत्यर्थः, तस्मादतो पूर्वापरव्याहतवादी कारी च नाभिगमनीयोऽस्ति, एवं गोशालेनोक्ते भगवानार्द्रकः प्रत्येकबुद्धः तद्वाक्यमवज्ञयैव प्रहस्यैवं आह च–भो गोशाल! स हि भगवान् वर्द्धमानः 'पुव्विं वा पच्छा वा' पुव्विं छउमत्थकाले पच्छत्ति णाणे समुप्पन्ने अणागतं जावजीवाए तेसु तेसु तिकालेसु भगवान् 'एगंतमेवं पडिसंदधाती'ति वक्तव्ये ग्रन्थानुलोम्यात्सुखमोक्खोच्चारणाद्वृत्तबन्धानुवृत्तेश्च पसत्थं याति, स्यात्किमर्थं कथयति ?–'समिच्च लोगं ॥६७२॥ वृत्तं, सम्यक् ज्ञात्वेत्यर्थः, तसाणं थावराणं जीवाणं खेमं सयं करेति, अवधमित्यर्थः, अण्णेवि जीवे अण्णेसिं च जीवाणं खेमं काउकामो कथेति, समणेति वा माहणेति वा एगट्ठं, स एवं 'आइक्खमाणोऽवि' अपि पदार्थादिषु जनसहस्रयोः जनसहस्राणां वा मध्ये एकभावः एकत्वं, सर्चेर्द्वातोः सारि इत्येवं कृते सृजति कथिदित्येवं विगृह्य सारयतीति भवति एकत्वं गमयति, कथं नाम भव्याः एकत्वं भजेयुः, प्रव्रज्यामित्यर्थः, रागद्वेष-

विप्रमुक्तं हि एकं तस्स वल्लुलो(त्थुतो), आत्मानमपि च एगंतमेवं सारयतीति, रागद्वेषप्रहीणत्तं, जेण मज्झेवि वसंतो, तथा चोक्तं 'कामक्रोधावनिर्जित्य०', स्यात्–तदेतदेकत्वावस्थितस्य कृतार्थस्य च किं परोपदेशेन ?, तदुच्यते कर्म्मक्षयार्थं, आह हि 'येनैतच्छुभं तीर्थकरत्वनाम 'तीर्थकरत्वाभाव्यात् वेति, उक्तं–'तत्त्वाभाव्यादेव०' तं वद्धति, अर्चा नाम लेश्या, सा य शुक्कलेसो चेव, न राग-दोसाभिभूत इव संकिलिट्ठलेसाओ परिणमति, अथवा अर्चंति सरीरं, सीहासणे आविट्ठोवि धम्मं कहंतो तेण पुप्फवत्थगंधादीहिं अलंकारेहिं तहा अर्च एव निर्भूष इत्यर्थः, निर्दोषत्वाच्च, धम्मं कहेंतस्स उ णत्थि दोसो ॥६७३॥ वृत्तं, क्षान्तिग्रहणं यतिवि दुव्वियड्ढबुद्धि चोदेति न वा कथ्यमानं परियच्छति तत्थवि ण रुस्सति 'दंतो'ति कसायदंतो 'जिइंदिओ'त्ति इंदियदंतो, पृथगु-च्चारणा इंदियणोइंदियदंतविसेसो दरिसितो कक्कडगणिट्ठुर सावज्जा य भासादोसा, हितमितदेशकालादि भासागुणेहिं, आहहि–"दिट्ठं मितं असंदिद्धं०" स्यादसौ भाषादोषगुणज्ञो किं भगवान् समाख्याति ?, उच्यते–महव्वए पंच अणुव्वए य ॥ ६७४ ॥ वृत्तं, साधूणं महव्वए सावगाणं अणुव्वए य, महव्वए तव्विवरीता एव प्राणवधादयः पंचाश्रवा भवन्ति, 'संवर' इति इंदियाणं 'विरति'त्ति महाव्रतवत्ता, इंद्रियसंवृतस्य सतो विरतिर्भवति, अथवा असंजमाविरते 'इहे'ति इह प्रवचने लोके वा श्रमणभावं श्रामणीयं प्रज्ञानवान् प्रज्ञो, ण आख्यान्नपि वाक्यशेषः 'लवं' कर्म्म ततोऽवसक्कति लवावसर्की न, नो वाचिकेन कर्मणा मानसेण वा युज्यत इत्यर्थः, श्रमणो भगवानेव एवं ब्रवीमि स्वयमपि 'भगवं पंचमहव्वयगुत्तो इंदियसंवुडो य विरतो य। अण्णेसिंपि तमेव य धम्मं देसेति गाहेति ॥ १ ॥' यस्मात् ब्रवीपि वयमपि व्रतमन्तः इन्द्रियसंवृत्ता विरताश्च, यदि च मन्यसे शीतोदकपायित्वाद् बीयादिकन्दभोजनात् उद्दिष्टभोजनात् स्त्रीविषयोपसेवनाच्च किमस्माकं ?, असाधुत्वं, तत्रेदं कारणं शृणु–अस्माकमाजीविकानामयं

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४२०॥

कृतान्तः, क इति चेद् उच्यते—सीओदगं सेवउ ॥६७५॥ वृत्तं, सीतमसत्थोवहतं सीतमेव जलं, बीजं जस्स, को एस भवंति ? सव्वो चेव वणस्सती गहितो, आत्मन्यायाय कृतं आधाकर्म्म, इत्थियाओ य, अम्हे एताइं पडिसेवामोत्ति तेण असंतेति सणु कारणं—आतवघम्मपरिताविता सीतोदकेण अप्पाइज्जामो, कन्दमूलादीणि आधाकम्मं च शरीरसाधारणट्ठमेव पडिसेवामो, न चान्यकृतेन कर्मणाऽन्यो बध्यते, प्राणानुग्रहाच्च आधाकर्म्मानुज्ञा, एवं कृतादीन्यपि अस्मानाधाय क्रीतानि कल्पन्ते, इत्थियाओवि आसेविज्जंति मनसो येन समाधिमुत्पादयन्ति, सेव्यमानास्तु उच्चारप्रश्रवणनिसर्गदृष्टान्तसामर्थ्यात् मनःसमाधिमुत्पादयन्ति, ततो ध्यातव्याः शेषाः क्रियाविशेषाः स्वस्थचित्तैः सुखमासेव्यंते, परानुग्रहाच्च सेव्याः, आह हि—"सुखानि दत्त्वा सुखानि" जंपि य एतेहिं सीतोदगादिएहिं इत्थीपज्जवसाणेहिं कम्मं उवचिज्जतित्ति यदि मन्यसे, एगंतचारीसु एगंते उज्जाणादिसु चरंति एगंतचारी इहइं आजीवकम्मे जम्हाणं आतावणमोणत्थाणासणअनमनास्नानकादीहिं घोराणि एतेहिं चेव एगंतवत्तादीहिं गुणेहिं खविज्जंति, जतिय सीतोदगादिदोसोवचितं कम्मं ण सक्कामो खवितुं ततो अणेगभवसहस्ससमज्जितं कम्मं कथं खविस्सामो ?, तेण 'अप्पेण बहुमेसेज्ज' सीतोदगादिसेवा अणुस्सिता तदेवमादिदोसेसु अदोषदर्शित्वादेहि आगच्छ, एवं गोसालेनोक्ते आह—सीतोदगं वा तह बीअ० ॥ ६७६ ॥ वृत्तं, इह सीतोदगं बीजकायं आधायकम्मं इत्थियाओ य सेवमाणावि वयं समणा होमो यदुक्तं त्वया तेन समानवृत्तत्वात् अगारिणो समणा भवंति त्वन्मतेन, तेवि हि सीतोदगादीणि सेवंति, तेन प्रकारेण तहा तेवि तहप्पगारं वृत्तं कुर्वन्तीत्यन्यथा वा का प्रत्यासा ?, अथ मन्यसे समानवृत्ते वयमेव श्रमणा न गृहस्थाः पंचिकात्र न भोजयितव्या जे यावि सीतोदगमेव (बीओदगभोति) भिक्खू ॥६७८॥ वृत्तं, कोइ णम्मित्थीओ परिहरति लोकरवभीतो, बालो वृद्धो वा, न धर्मयोग्यो वा

आजीविकनिरासः

॥४२०॥

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥४२१॥

सीवर्जमपि सीतोदगभोजी नाममिक्खू भिक्षां च इह ताव केजीवतो ध्याननिमित्तं जीवितट्ठता एवंप्रकारा, णातीण संजोगो णाति संजोगो पूर्वापरसंबंधादि, अपि पदार्थादिषु, णातिसंयोगमिति दुष्पजहणिज्जं, मुमुक्षवोऽपि संतः कायोपका एव भवंति, अनंतं कुर्वन्तीत्यनन्तकराः कर्मणां संसारस्य भवस्य दुःखानामेवेत्यर्थः, एवमुक्तो आर्द्रकेन गोशालो जाहे अण्णं उत्तरं न तरति ताहे अण्णउत्थिए वितिज्जए गिण्हति, दुब्बलो वा कडुच्छडीए, एवं वाई तुमं (इमं वयं तु तुमं) ॥६७९॥ वृत्तं, एतां एतत्प्रकारां, प्रादुः प्रकाशने, प्रकाशं कुर्वन्तीत्यर्थः, कथं ?, भणति–सीतोदकायं आधाकम्माइं इत्थिया जीवो आउ य सेवमाणा अममणा भवंति कायोवगा, कायोवगत्वाच्च नांतकरा भवंति, तेन शाक्याः सर्वे शीतोदगभोजका ये आधाकम्माइं सेवंति अबंभमवि पेष्यगोपसुवर्गाणां, सांख्यास्तु 'प्राप्तानामुपभोग' इति वचनात्, एवं वाचः प्रादुः कुर्वन्ति, प्रवदनशीला प्रावादुकाः तान् गरहसि आत्मोत्सेकेन, न चोत्सेकः शिवाय, आर्द्रक आह–ननु पावादिनोऽपि पुढो, ते हि पावादिया पुढोत्ति आत्मीयं पक्षं कीर्त्तयन्तो–वर्णयन्तः स्वं स्वं दृष्टिं कुर्वंति–करेंति प्रादुः, प्रकाशयन्तीति–अण्णमण्णस्स तु ते (ते अण्णमण्णस्स उ) ॥६८०॥ इति प्रागुपदिष्टाः प्रावादुकाः अन्यश्चान्यश्च अण्णमण्णं अण्णमण्णस्स विविधं विशिष्टं वा गरहमाणाः कुदृष्टिमाचरंति, वाक्याध्याहारः आख्यान्ति परशास्त्रदोषांश्च आविः कुर्वते, श्रमणाश्च ब्राह्मणाश्च, किमाख्यान्ति, 'सतो य अत्थि असतो य' स्वमात्मीयवचनमित्यर्थः, तस्मात् सुतं श्रेयोऽस्ति निर्वाणमित्यर्थः, परस्मात्परतः, अन्यस्मात्प्रवचनादित्यर्थः, नास्तीति नास्ति, निःश्रेयसं वा निर्वाणमित्यर्थः, एवं ते सर्वे अहमिति व्यवस्थिताः स्वपक्षसिद्धिमिच्छन्ति परपक्षस्य चासिद्धिं, उक्तं च–"जहिं जस्स जं ववसितं" वयमपि स्वपक्षमेवावलंब्यापरां शाक्यां दृष्टिं गरिहामः तान्, ननु किंच गरहामो ?, न यथा त्वं पापदृष्टिः मिथ्यादृष्टिः मूढो मूर्खः अजानको वेति,

आजीवि-कनिराम:

॥४२१॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४२२॥

किंचिद्रूपेन रूपमिति यथा लोको लोकं कस्मिँश्चिदपराधे आक्रोशति काणः कुब्जः कोढी वेति, जात्या वेति चण्डालकर्म्म करोति, नैवं किंचिद्रूपेण त्रिदण्डिक दुष्ट परिव्राजक दुष्ट! इदं ते दुर्दृष्टं शासनं, तेन मूर्खकपिलेन किं दृष्टं येन कर्त्ता क्षेत्रज्ञः, घटं च करोमीत्य संधिं करोति, कुम्भकारोऽकुर्वन् कथ कुम्भकारः, कुर्वन् कुम्भकरो भवति, एवं न ब्रूमो, वीतरागोपदेशाद्येषामेषा दृष्टिरकर्त्तात्मा निर्लेपश्च तेषां घटं साधयामीति मृत्पिण्डदण्डाद्युपादानक्रियैव न युज्यते, निर्लेपस्य च शौचक्रिया वा किं क्रियते?, कथं चास्य केवलज्ञानं नोत्पद्यते शुद्धस्य?, यतः शाक्या अपि नो रूपताः प्रत्यक्षमित्यर्थः, हे कषायकठ शाक्याक शाक्यपुत्र कथमिदं ते दृष्टं सुखमस्ति चेन्न च सुखी तद्दा स्कन्धाः, न च किलिस्यतां, न किं चूस्यते, येषामेषा दृष्टिः सुखमस्ति चेन्न च सुखी, त एव दोषाः अभिमुखं अभिधारयामः, वाचं वेमीत्यर्थः, किन्तु स्वं दृष्टिं संदिदृक्षं करेमो कुर्म्मः प्रादुः प्रकाशमित्यर्थः, तद्यथा—जीवं प्रति सद्भूतोऽन्यो मूर्त्तोऽम्त्यात्मेति, यस्य पुनर्वादिनः नास्त्यात्मा तस्य जातिस्मरणादीनि न विद्यन्ते, दानदमाध्ययनक्रियाश्च न युक्ताः, न तु ब्रमः शाक्या अन्ये वा नास्तिकवादिनः हे मूर्खा!, यद्यात्मा नास्ति ततोऽसौ शुद्धोदनपुत्रो बुद्धो नास्ति, वक्तृवचनवाच्याविशेषा न किं केन कस्स वोपदिष्टमिति, ननु मत्तोन्मत्तप्रलापः, एवमन्यत्रापि प्रवादिष्वायोज्यं, इत्येवं दृष्टिं गरहामो, नतु किंचिद्वादिनां संमुखे ब्रूमो धिक्किमास्से, मूर्खदृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वेति एवं स्वदृष्टौ प्रादुःक्रियमाणाया तिण्णि तिसट्ठाइं दिट्ठिसताइं परूविज्जंति, मिच्छत्तंतिकाउं तेसु दिट्ठी न कायव्वा, स्यात् किं तत्प्रादुःक्रियते?, 'मग्गे इमे किट्ठिए आरिएहिं' सम्यग्दर्शनादिमार्गः कीर्त्तितः आख्यातः णाणारियादीहिं, नास्योत्तरोऽन्यो मार्गो विद्यते शोभनपुरुषसर्वज्ञत्वात्तथाकारित्वाच्च अजुक्क दुज्जओ न पूर्वापरव्याहतः शाक्यस्येव, यथा ज्ञानमुत्पन्नं, आर्द्रकं च राजपुत्रं मृतं न ज्ञातवान्, स्यादेकं किं निष्ठुरं स्पष्टं नाभिधीयते, त्वं मूर्खो वा कुदृष्टि-

आजीविकनिरासः

॥४२२॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४२३॥

वेति, तदुच्यते, मा भूत्तस्य दुःखं, स्यात्किं वा निष्ठुरमुच्यमानस्य मनो दुःखाच्छरीरमपि स्याद् हृदयरोगादि, तेण उड्ढं अहेयं ॥६८२॥ पण्णवगदिसाओ गहिताओ ते थावरा तसा पाणा भूयाभिसंकाए संकालये अण्णाणे च, इहं तु भवे वुसिय, वुसियं वुसिमं वुत्तो, ण किंचि गरहति णिंदति वा सव्वलोए, सव्वलोएत्ति त्रैलोक्ये पासंडलोके वा, एवं निर्लोठिते वादे आजीविकगुरुराह–यद्यसावेवं गुरुर्वीतरागोऽनुत्तरमार्गोपदेशकत्वात्सत्पुरुषः सर्वज्ञश्चाथ किं यथा वयं आगंतारादिसु ण वसति सत्तूजणे ?, आगंतारे आरामगारे ॥६८३॥ वृत्तं, आगत्य २ यस्मिन्नरास्तिष्ठन्ति तदिदं सभा प्रपेत्यादि, आरामे आगारं २, समणो सो चेव जो भंतित्ति तित्थगरो, भीतो ण अवेति वा स्यात्, कस्य भीतः ?, उच्यते–दक्खा, दक्खा नाम अनेकशास्त्रविशारदाः सांख्यादयः किंचिदूणेण केचिदतिरिक्ता जत्थ ऊणा अतिरिक्ता वा तत्थ समाधि अत्थि, जपलप व्यक्तायां वाचि लपालप इति वीप्सा भृशंलपा लपालपा वा, जहा दवदवादि, तुरितं वा गच्छ गच्छ वा, उक्तं हि–"देवदेवस्स", अथापियं एवं वडवडादि किमेवं लवलवेसि ?, त एव दक्षाः?, पुनरुच्यन्ते मेधाविणो ॥६८४॥ वृत्तं, ग्रहणधारणासमर्थाः, शिक्षिता अणेगाणि व्याकरणसांख्यविशेषिकबौद्धाजीवकन्यायादीणि शास्त्राणि, बुद्धिरुत्पत्तिकाद्या तत्र विनिश्चयज्ञा इति, निपद्यानि सूत्राणि जानन्ते पठन्ति वा गद्यन्यूतकानि, तानि च परोपपेतानि, अर्थं चानेकप्रकारं जानते भाषन्ते च विशारदाः, जानका एवैते चैवं जानका बहुजनसन्निपातेषु वसंतं पुच्छिसु, मा णे अणगारा शाक्यदीवकाद्याः पृष्टवन्तः, पुच्छिसुत्ति णूणं कत्थइ, सो बहुजणमझासे सभादिआवासे आवसितो संतो, तेहिं पुच्छितव्वो अन्नैर्वहन्तो तद्भयान्मा मं पुच्छिस्संति, अनिवहंतो य महाजणमज्झे लज्जावितो होमु परिभूतो अ अजाणओत्ति,'इति' एवं 'संकमाणे' वीहमाणे इत्यर्थः, 'ण उवेति तत्थ' सुण्णघरजिण्णुज्जाणगिहेसु पंडितजणेण सुरभिगंधेसु आसेवति, आह च–"पाएण खीणदव्वा"

आजीविकनिरासः-

॥४२३॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४२४॥

इत्यादि, समयत्वात् न वीतरागो न च सर्वज्ञ इति, किंचान्यत्—कत्थति दूरंपि गंतुं कथयति, काणि य गामणगराणि ण चेव गच्छति, काणि य वोलेउंपि कथेति, न च वीतरागस्य वैषम्यं युज्यते, स हि पर्जन्य इव सर्वत्र समकारी, आह च-"विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे०" उच्यते, णो कामकिच्चा ॥६८५॥ वृत्तं,'कमु इच्छायां' करणीयं कृत्यं अकामं कृत्यं करोति अकामकिच्चं तन्न तावदकामः कथयति बालवत् मन्यमानोऽपि परानुरोधात् न गौरवाद् वा, न बालकिच्चंति न बलात्कारात्, ह्रस्वदीर्घते विवक्षानुलोम्यात्, बलकिच्चेति वक्तव्ये चकारस्य दीर्घत्वे कृते णाम बालकिच्चा भवति, जहा बलं, णाणादिमति यो येण, कुतस्तदिदं भयं जितभयस्य ?, स्यात्कथं व्याकरोति ?, तदुच्यते-एभिरकामकृत्यादिदोषैर्विप्रमुक्तः विविधं विशिष्टमन्येभ्यो बालादिभ्यो वा करेति विविधं करेति, पुच्छं नितमिति प्रश्नः पुट्ठो अपुट्ठो वा, जेण अपुट्ठे करुणाइंपि अत्थि, जहा चिरसंसट्ठोऽसि मे गोतमा! आयातिठाणाणि य, अथ ब्रविषि किं वीतरागस्स धम्मदेसणाए ?, कथं वा गंतुं कथेति ?, तत्थवि अणियमो, कत्थयि गंतुं कथेति, मज्झिमं गंतुं तप्पढमताए गणधरा संबोधिता, तत्थ गंतुं कथेति, तं वंदणवत्तीयादीहिं आगताणं देवाणं पाएणंति चेव, तेनोच्यते-गंता च तत्थ ॥ ६८६ ॥ वृत्तं, पसिणं प्रश्नः प्रजावत् जत्थ जाणति धुवं पडिवज्जिस्संति तत्थ गंतुं कथेति, जेवि सोउं एंति तेसिंपि ट्ठाणट्ठितो चेव कथयति, ण जाणति जं जुत्तं जत्थ ण कोइ पडिवज्जति तत्थ ण वच्चति, अमूढलक्षत्वाच्च ठाणत्थोवि ण कथेति जत्थ ण कोइ पडिवज्जति, किं भणसि ?, जइ सो एवं 'वीतरागो सव्वण्णू कथयतो कीस अणारिए देसे गंतुं ण संबोधयति', तत उच्यते-अणारिया जे देसा सगजवणादी दृष्टिर्दर्शनं परित्ता इति परित्तदर्शना दीर्घदर्शना न दीर्घसंसारदर्शिनस्तदपायदर्शिनो वा, इहलोकमेवैकं पश्यन्ति, को जाणति परलोगो ?, शिश्नोदरपगायणाः, न एते धर्मं प्रति पश्यन्त इति शङ्कमान

आजीविकनिरासः

॥४२४॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४२५॥

इत्यर्थः, शंकाशब्दो ज्ञानार्थ एव तदुभये मन्तव्यः, आह हि–"शङ्के प्रहर्षतुला०" जेवि य आरियदेसेसु अणारियदेसेण अपरिचिता गामा णगरा य तत्थवि ण वच्चइ, ण वा तेसिं कथयति, तदेवं भगवंतो देसे तारिसएवि अणारियेतुल्ले ण इत्थं धम्मं कोइ पडिवज्जइत्ति; नतु भयाद्भवतां, सदेवासुराए परिसाए, देवा अच्छराइयाणं तिण्णि वा, तिदिवंपि चेव तेसिं चेव, भवद्विधाः परपासंडतित्थगरापि न शक्नुवन्त्युत्तरं दातुं, किं तर्हि तज्जिप्या आत्मवलिष्ठाः प्रमथमिद्धाः, तिष्ठन्तु ताव, एवमुक्त आर्द्रकेन गोशालः पुनराह–अस्तु तावत् जत्थ जत्थ पडिवज्जंति धम्मं तत्थ गमणं कथणं च–णवं जहा वणिए ॥ ६८७ ॥ वृत्तं, तुल्लो सो णासो, पण्णं जहा, पण्णंति तमिति पण्णगं गणिमधरीमादि, उदओ लाभओ, उदयस्स अट्ठाए आयस्स हेतुं, एतीत्यायो लाभ इत्यर्थः, 'पंज संगे' पंजनं सक्तिर्वा संगः, जत्थ लाभओ तत्थ वणिया भंडे घेत्तूण वच्चंति, एवं णाम तुज्झवि तित्थगरो जत्थ लाभओ तत्थ वच्चति कथेति वा इत्युक्तौ ब्रवीमि 'ततोवमे', इति एवं इच्चेवं होति मम तक्का, तर्का मति मीमांसा वा इत्युक्तो गोशालेन राजपुत्राह–अस्तीयं एगदेसोपमा जहा लाभगट्ठी वणिओ ववहरति एवं भगवं लाभट्ठी तवं च संजमं च करेइ, तस्स के गुणा भवंति ?, तदुच्यते–णवं ण कुज्जा ॥६८८॥ वृत्तं, जतो ताव कम्मखवणट्ठा उट्ठितस्स ण बज्झति तेण संजमं करेति, जेण विधुणिज्जइ पुराणगं पावं तेण तवं करेइ, चिच्चा छड्डेतुं असोभणमतिं अमतिं, अण्णहेतुं वा पूजापरियारहेतुं वा ण कथेति, तीर्णोवि परान् तारेतीति, स्याद् धर्मकथायां कः प्रस्तावः संजमस्य तपसो वा यद् ब्रविषि 'णवं ण कुज्जा विहुणे पुराणं ?', तदुच्यते–णाणं सिक्खति णाणं गुणेति णाणेण कुणइ किच्चाइं; णाणी णवं ण बंधेति०' किंच–सो य खलु णाणपरिणतो, तेण संवृतो, संवर एव संवरस्तथावि अन्नतरो धम्मकथावसाणो पंचविधो सज्झाओ, इच्चेवं धम्मकथाएवि संवरट्ठाणं उत्तरोऽस्ति तेनोच्यते–'णवं ण कुज्जा विहुए'

गोशालक-निरासः

॥४२५॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४२६॥

एतावतो बंभचेरं, एतदेव तद् ब्रह्मणः पदं, ब्रह्मपदं वा, ब्रह्मव्रतं वा, किमिति चेत् ब्रह्मेति चरितं दुविधं तवचरणं संजमजोगो तं उवेतः, उदइओ लाभओ संजमस्स तवस्स वा, उक्तं हि–उदइग पक्खेवे' उदएण वा जस्स अट्ठो भवति, समणो भगवानेव, एवं ब्रवीमि, नतु सर्वसाधर्म्यमस्ति भगवतो वणिजेहिं, कथं ?–**समारभंते हि वणिया** ॥६८९॥ वृत्तं, समारभंते क्रयविक्रयभंडसगडवाहणपयणपयावणादीहिं आरंभंता समारभंति छक्कायभूतग्रामं, परिग्रहो दुपदं चउप्पदं धणं धण्णहिरण्णसुवण्णादि त एव ममायमाणा रक्खंता णट्ठविणट्ठं च सोअंता उवणिजंता य सुबहुं पावकम्मं कलिकलुसं तु एवं वृत्ता, स एवं कम्मसमाचारो य णातिसंजोगो, तं अभिग्रहाय तेसिं अप्पणो य अट्ठाए, आयहेतुंति आयलाभओ लाभट्ठाए एए णाइसंजोगा तस्सट्ठाएत्ति वुत्तं होति, भृशं करेंति प्रकरेंति, सक्तिं संयं। किंचान्यत्–ते हि वणिजा–**वित्तेसिणो** ॥ ६९० ॥ वृत्तं, 'वित्तं' हिरण्णसुवण्णवित्तं तं एसंति गणो, मिथुनभावो मैथुनं, सं प्रगाढा २ समस्तं गाढाः, भुञ्जत इति भोजनं अशनादि व्रजंति, भोजनं अशनादि, व्रजन्ति दिशः संक्षेपार्थं ते वणिओ, वित्तं किमर्थमेषमाणा दिशो व्रजन्ति ?, उच्यते, मैथुनार्थं भोजनार्थं वेति, आह हि–"शिश्नोदरकृते पार्थ !" विरक्ताः स्त्रीकामेभ्यो जितजिह्वेन्द्रियाश्च, वयं तु तुर्विशेषणे विरक्ताः अन्यतीर्थेभ्यः, किं पुनर्गृहीभ्यः, त एवं इत्थिकामेसु वित्तादि भोयणे रसेसु अ अज्झोववण्णा वण्णिया, जहा रसेसु तहा सेसेसुवि विसएसु सद्दातिसु, अथवा रस इति सुखस्य आख्या, आह हि–'आस्वादे शीघ्रभावे च' तथा चाह–'विषया विनिवर्त्तन्ते, निराहारस्य देहिनः।' रसवर्जं, रसेसु गृद्धति सुखेसु गिद्धा इत्यर्थः, इतश्च सामान्यवृत्तं भवतां वणिजा, कथम् ?–**आरंभगं चेव परि०** ॥६९१॥ वृत्तं, आरम्भो, उक्षसकटभरादीणां पचनपाचनच्छेदनादीनां च हिंसाद्वाराणां, परिग्रहे ममीकारः धनधान्यादि, संरक्षणं च, परिग्रहार्थमेव चारंभः क्रियते तमारंभं च

गोशालक-निरासः

॥४२६॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४२७॥

परिग्रहं च अविउस्सिया णाम अवोसिरिउं, णिस्सिता तंमि आरंभे परिग्रहे वा, पुव्वापरसंबंधे च णिस्सिता, आत्मन इति जीवान् दण्डयति बन्धवधपरितापणोद्रवणादीहिं तद्दुःखोत्पादनाद्वा आत्मानं दण्डयंति संसारे। किंचान्यत् 'तेसिं च से उदए' तेसिं वणियाणं 'सो उदए'त्ति सो लाभओ चाउरंतमणंतसंसाराय भवति, ण तु इह धम्मकथारज्जलाभो पुण चाउरंतसंसारविप्पमोक्खाय किंचान्यत्, णेगंत णच्चंतिय (च) ॥६९२॥ वृत्तं, सव्वेसिं वणियाण एगंतिओ होइ किरियाइ छेदओ होति, कदाइ लाभओ, जइवि लाभओ तोवि अग्गिचोरादि सामण्णत्तणेण य जं खज्जइ दिज्जइ तेण आणच्चंतियं वदंतित्ति, जुज्जइ, एते दोऽवि पगारा अणेगंतिए, अथवा विपद अवार्या, दोऽवि पगारा अणुदए चेव, न लाभ इत्यर्थः, तद्विपरीतस्तु णिज्जरा उदयो, यत उच्यते से उदए से णिज्जरा लाभः, मोक्षगतस्य सादिअणंतत्वं अणंतप्राप्ते, अणंतपत्ते तं उदयं, लाभक इत्यर्थः, साहयति—आख्याति सिलाहति वा प्रसंसतीत्यर्थः, णातीति ज्ञातिः कुली, यः त्रायतीति त्राती, स चैकः एकान्तिकत्वाच्च परमलाभक इति, तदेवं वणिग्भ्यः भगवंतं सुमहद्भिर्विशेषैर्विशिष्टं संतं यत्नैः समाणीकरोषि तं पुनरयुक्तं, कतरैर्विशेषयन्ति णणु जे समारंभादिभिः पंचभिर्विशेषैराख्याताः, इमे चान्ये विशेषाः, तद्यथा—अहिंसकं(यं) ॥ ६९३ ॥ वृत्तं, अहिंसको भगवान्, ते हिंसका, सव्वमत्ताणुकंपी च भगवं ते णिरणुकंपा, दसविधे धम्मे ट्ठितो भगवं, ते तु वणिज्जा, किमत्थं धम्मे स्थित इति चेत्, कम्मविमोक्खणट्ठाए, पुनः कर्म्मविमोक्षार्थं अभ्युत्थिता, धनार्थं तूत्थिताः, तदेवं अणेगगुणसहस्सोपेतं, 'आयदंडे'ति आत्मानं दण्डयंति जीवोवघातित्वात्, समाचरति इंते सम आचरंता समाचरंता, तुल्यं कुर्वन्ता इत्यर्थः, समानयंतो वा समानं कुर्वन्त इत्यर्थः, एतद्धि तओअघोरमज्ञानं चेति, तमेवं प्रतिहत्य निर्वचनोऽयमितिकृत्वा चाजीवकपुरुषं गोशालं भगवंतमेव प्रति ययौ, तथार्द्रकेन गोशालमवधीरितं

गोशालक-निरासः

॥४२७॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४२८॥

मत्वा द्वाभ्यां कारणाभ्यां तुष्टाः शाक्यपुत्रीया भिक्षवः, कथमिति चेत् यदेषो अस्माकं प्रत्यक्षतोऽनेन निगृहीतः, यच्चास्माकमिदानीं श्लाघा बहुपरिवारो राजपुत्रोऽस्माकमायास्यतीति, अतः गुणशीलमुद्यानं भगवत्समीपं प्रत्यायातस्य संबहुला भूत्वा बुद्धसिद्धान्तं ग्राहयिष्यामेति पुरस्तात्स्थित्वा भो भो भव्य महाश्रव आर्द्रकराजपुत्र स्वागतं ते 'कुतः आगम्यते ?, क्व च यासीति' स भगवत्समीपं यामि, इत्युक्ते भिक्षुका इयमूचुः—इदमपि तावदस्म सिद्धान्तं शृणु, श्रुत्वा च संप्रतिपद्यस्व, पण्डितवेदनीयो ह्यस्मत्सिद्धान्तः सूक्ष्मश्च चित्तमूलत्वाद्धर्म्मस्य, तदेव च नियंतव्यं, किं कायेन काष्ठभूतेन वृथा तापितेन ?, आह हि—'मनपुव्वंगमा' तथा चोक्तं—'चित्ते तायितव्ये' इत्येवं चित्तमूलो धर्म्मः, अधर्मोऽपि चित्तमूल एव स्यात्, कथं स धर्मश्चित्तमूलः ?, उच्यते, पिण्णागपिंडी ॥६९४॥ वृत्तं, जइ कोइ आमन्नवेरो वेरिओ जो बालरूवाई सोयति सो तेवि मारिए(रेइ), मारेतुं चेडरूवाइंपि मारेमित्ति ववसितो, सुव्वंति य केइ वेरिया जे गब्भेवि विगिंतिंति महिलाणं, मा एते वद्धमाणा सत्तुणो होहिंति, तत्थ समावत्तीए खलपिंडी पल्लंकए पोत्तेण ओहाडिता मन्दप्रकाशे गृहैकदेसे वा सो तेण तिव्ववेरानुभूतेण एस दारओत्तिकाऊणं सत्ति कुंतो वा सत्ती वा तिसूलं वा, एवं विद्धुं चिंतेति—कदायि एस अमम्मविद्धो जीवो, ता तहेव सूलप्पोतं अग्गिम्मि पयति, एवमेव अलाउयं वावि कुमारओत्ति पयति सूले विद्धुं अवेद्धुं वा, स प्रदुष्टचित्तत्वात् लिप्पति प्राणिवधेण अहणंतोवि सतं 'अम्हं'ति अम्हं सिद्धंते, एवं तावदकुशलचित्तप्रामाण्यादिति, कुर्वन्नपि प्राणातिपातं प्राणघातफलेन न संयुज्यते अयमन्यः कुशलचित्तप्रामाण्यात्, अकुर्वन्नपि प्राणातिपातं तत्फलेन संयुज्यते, यत्रायं पाठः—अहवावि विद्धूण मिलक्खु सूले ॥ ६९५ ॥ वृत्तं, वा विभाषादिषु, मूलक्खूत्ति अणारिया अथवा आरिएवि जे मिलक्खुकम्माणि करेंति, स एवं मेच्छोपि भूत्वा क्षुधार्तः पिन्नागपिंडीयमिति कृत्वा पुरुषमपि

बौद्धनिरासः

॥४२८॥

शूलेण वेदुधुं अगणिकाए पएज्जा खाइत्तुकामो, कुमारगं वावि अलाउअबुद्धीए पउलेतुं खाइस्सामि तु पएज्जा, ण लिप्पति पाव-
बंधेण अम्हं, एवं तावदसाकं अपचेतनकृतप्राणातिपाते नास्ति, यद्यपि च भवानन्यो वा कश्चिन्मन्यते अनपाये अपायदेशी यथा
भवंतो मांसासिन इति तत्रापि अनभिसंधित्वादेरास्माकं त्रिकरणशुद्धं मांसं भक्षयतां नास्ति दोषः, कथं ?, इह हि–पुरिसं च
विदुधूण ॥६९६॥ वृत्तं, जइ कोइ अजाणंतो पुरिसं वेदुधुं कुंतेण वा सूलेण वा अप्पकाशावस्थितं कुमारकं वा बालमित्युक्तं, एतं
गिलाणभिक्खुस्स छिन्नभत्तस्स दुब्भिक्खादिसु जायतेए पइतुं पिंडीयमिति पओलितं सुगंधं सुहं खाइस्संति सती बुद्धिः तस्यां
कल्पति,'बुद्धाणं'ति नित्यमात्मनि गुरुषु च बहुयचनं, बुद्धस्पवि ताव कप्पति किमुत ये तच्छिष्याः?, अथ बुद्धिः पापापत्यानि बौद्धानि
तेसि णं कप्पति पारणए भोजनायेत्युक्तं भवति, सर्वावस्थासु अचित्तं कर्म्मयायं न गच्छति, अविज्ञातोपचितं ईर्यापथिकं स्मा-
न्तिकं चेत्यस्माकं कर्म्मचयं न गच्छति, एवं तावच्छीलमूलो धर्म्म उक्तः। अथेदानीं दानमूलः–सिणायगाणं ॥६९७॥ वृत्तं,
चतस्रो तासु त द्वादशसु भूतगुणेसु युक्ता, एतेसिं एवंगुणजातियाण अभिगत० यथा तस्यानन्दो दोण्णि सहस्से भिक्खुयाणं
भोजावेति समांसगुडदाडिमेनेटेन भत्तेन, तेण पुण्णखंध, संस्कारो नाम पंचधा, स त्रिविधः पुण्यः अपुण्यः सतिजा इति ते, तं
आरोधं, ते हि प्रक्षीणकल्मषप्राया: चतुःप्रकाराः आरोधा देवाः, ते भवन्त्याकाशोपकाः विज्ञानोपकाः अकिंचणीकाः णोसण्णिणो
दातारः, सर्वोत्तमां देवगतिं गच्छंतीत्यर्थः, महतां इति प्राधान्ये महाशब्दः, अथवाऽऽर्द्रकस्याऽऽमन्त्रणं क्रियते हे महासत्त्व ! इत्यर्थः,
तदेवमिह स भगवता बुद्धेन दानमूलो शीलमूलश्च धर्मः प्रणीतः तदेहि समागच्छ बौद्धसिद्धान्तं प्रतिपद्यस्व, इत्येवं बौद्धभिक्षुकैरुक्त
आर्द्रको आर्द्रकानादरयाऽभ्याकुलया दृष्ट्या तान् दृष्ट्वोक्तवान्–भो शाक्या यद्यू जो पिण्णागं पुरिसबुद्धीए सूले विंधति पचति ॥४२९॥

वा जानते य अलाउअं वा कुमारबुद्धीए किर लिप्पति पाणवधेण अकुशलचित्तो, अण्णो पुण पाणवधंपि करेंतो पयंतो पाणे कुशलेन चित्तेन मुचति पाणातिपातातो, तत्र ब्रूमः–अयोग्यरूपः ॥ ६९८ ॥ वृत्तं, इह न योग्यमयोग्यं, रूपमिति स्वभावेत्युच्यते, यथा कश्चित्केनचित् रोषतः प्रत्यपकारचिकीर्षुरन्तर्गतं भावमाविः कुर्वन् भ्रूकुटिं करोति रूक्षां खारां वा दृष्टिं निपातयति, उक्तं हि–'रुट्ठस्स खरा दिट्ठी' गाथा, एवं स्वभावे रूपशब्दं निवेश्य उच्यते अयोग्यरूपं क्रूरस्वभावमित्यर्थः, शिरस्तुण्डमुण्डनं कृत्वा प्रव्रजितोऽहमिति लिङ्गानुरूपां चेष्टां युञ्जते, आह हि–"वयं स्वकर्म्मणोऽर्थस्य" तेनोच्यते–अयोग्यमेतत् प्रव्रजितरूपस्य अहिंसार्थमुत्थितस्येहेति इहास्माकं प्रवचने, अहिंसार्थकं हस्तादिसंयता वा पावं तु, तुर्विशेषणे हिंसैव सर्व्वपापेभ्यः पापीयसी, प्राणाः पृथिव्यादयः, प्रसह्येति क्रौर्याद्बलादाक्रम्य, तुब्भेवि य प्रव्रजिताः शिरस्तुण्डमुण्डनं कृत्वा कषायवाससः स्त्रीवेषधारिणः संयता वयमिति सम्प्रतिपन्नाः, तेण तुब्भेवि अयोग्यरूपं हिंसादिबलाः जे तुब्भे संपडिवज्जह, मणुसादि प्रसह्य असमीक्ष्य कथं वयं प्राणिनो मारयामः मारापयामो वा तदुच्यते–नो मंता व अकुशलेण चित्तेण पिण्णागपिंडी खोडीं वा पुरिसोत्तिकाउं अलाउयं अण्णं वा तओ सालिफलं कुमारकोऽयमिति प्राणातिपातेन, आज्ञादोषो न युज्यते इति ब्रूमः, यत्तु पिण्णागबुद्धीए पुरिसंपि विद्धमाणो मारेमाणो वा कुमारगं वा अलाउअबुद्धीए ण लिप्पति पाणवहेण अम्हं सिद्धान्त इति वाक्यशेषः, 'अबोधिए दोण्हवि' अबोधिः–अज्ञानं तेण यदि अज्ञानात् मुच्यते प्राणवधात्तेनाज्ञानं श्रेयमितिकृत्वा, किं पुनरुच्यते–अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः, सर्वसम्यग्दृष्टिप्रसङ्गश्चैवं प्रसज्यते, विरताविरतिविशेषणश्चैवं सति, अन्यथा वा का प्रत्याशा ?, निर्दयं ततो विकृताः, कथं ?, इहरहावि ताव लोगो दुक्खेण अहिंसत्तं कार्यते, तुब्भे य भणह मारेन्तो कुशलचित्तेन अहिंमओ भवति, तदेवं प्रकारं वो वचः 'असाधु' अशोभनं,

बौद्धनिरासः

॥४३०॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४३१॥

'दोण्हवि'त्ति तुब्भे य जे य पडिसुणंति अज्झावणे, हंतुंपि अणुतप्पति, ते परिचत्ता, हंतुं वीसत्था होहिंति, आह च—"केचित् शून्यं नष्टाः" यदि च अज्ञानमदोषाय तेन वैदिकानामपि परमात्मके श्रेयबुद्ध्या छक्काए घातयतां न दोषोऽस्ति, संसारमोचकानां च, घातयामिति किं भणह ?, तुब्भेंपि एवं रोचयति जहा असंचिंतेंतो कम्मबन्धो णत्थि ?, इत्यत्र ब्रूमः—उक्तमहेयं ॥६९९॥ वृत्तं, चत्तारिति दिसाओ गहिताओ, पण्णवगं पडुच्च, विविधं विशिष्टं ज्ञात्वा विज्ञात्वा विज्ञाय, लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गं, त्रसंतीति त्रसा, तिष्ठन्तीति स्थावराः, तेसु तसथावरेसु, किंच लिंगमेषां ? उच्यते—उवयोगो लिंगं लक्षणमित्यर्थः, आह हि—'निमित्तं हेतुरपदेशः' यथा अग्नावौष्ण्यं सांसिद्धिकलिङ्गमेवमात्मनां त्रसानां स्थावराणां च सांसिद्धिकलिंगं, येन ज्ञायते आत्मनाऽऽत्मेति, स चोपयोगः स्पर्शादिष्विन्द्रियेषु सुखदुःखयोरुपलब्धिरित्यर्थः, तच्च सर्वप्राणभृतां समानं लिङ्गं, सुखं प्रियमप्रियं दुःखं, तदेवं अत्ताणुमाणेणं 'भूताभिसंकाए(ड)दुगुंछमाणे' कता भूताइं संकंति तसथावराइं दुक्खाओ,तं च दुक्खं त्रसा वा दुगुंछंति, तस्मादुद्विजत इत्यर्थः, एवं जाणामि, णो वदेज्ज मारेंतो मुच्चति, दोसो णत्थि, करेज्ज वा णिस्संको प्रमादं, अण्णाणेण दोसो णत्थि, कुत एतद् ब्रूमो माया च कुचकुचा वा प्रवचनेऽस्ति ?, किंच—पुरिसेत्ति विज्ञप्ति ॥७००॥ वृत्तं, जं वा भणिसि पुरिसोऽयमितिकृत्वा पिण्णागपिंडीं अलाउअं वा कुमारगंति अकुशलचित्तो विंधमाणो अदोसोवि विज्ञानो विण्णुत्ति, एवं जहा हिंसकत्वे चिन्तिज्जमाणं ण युज्जति, अणारिए वा से पुरिसो भण्णति, अलाउअं वा कुमारबुद्धिए विचुतु, अज्ञानेन अस्य द्रोहः संपद्यते, एवमज्ञानेन चैवं पुरिसं पिण्णागपिंडीबुद्धीए कुमारगं वा अलाउयबुद्धीए विवाइन्तो किं च ण बज्झिस्सति, किंच—को संभवो ? पिण्णागट्ठताए संभवणं, संभूतं वा संभवः, कः पुरुषे सचेतने पिण्णागबुद्धिमुत्पादयिष्यति ?, निसृष्टसुप्तस्य च नोद्वर्त्तनपरिवर्त्तनाद्याः क्रिया भवन्ति तेन

बौद्धनिरासः

॥४३१॥

संभवोऽस्ति पिण्णागपिंडपुरुषस्य, तंत उच्यते–नैतदेवं, यत एवं पिण्णागपिण्डे पुरुषस्य काष्ठे वा वस्त्राच्छादिते उपपत्तिरिति, अत एव किमसावेवमेतदुभयं जानमानो निस्संकं करेति, किमयं पुरुषः स्यात्पिण्डीकाष्ठं वेति स्यादिति, अथ सम्भवे विद्यमाने निशः ङ्कप्रहारी पठ्यते निर्मीमांस इत्यर्थः, एवं मे वायाप्यसौ कुशलचित्तेन पुरुषं पिण्णागपिंडीबुद्ध्या वातयति तस्याप्युभयं सम्भवत्वात् युक्तो विमर्शः–किमयं पुरुषः स्यात् उत पिण्णागपिंडी ?, एवं कुमारेऽपि अलाउकं स्यात्कुमारः स्यादिति, जम्हा न एवं संभवो दिट्ठो तम्हा य सहप्पगारा णत्थि, 'वाया वुइति'त्ति वुत्ता असत्या अशोभना, अथवा सत्य इति संयमः असत्य इति संयमवादी-त्यर्थः, निश्चयस्य निरनुकम्पा सद्रोहेत्यादि, किमंग पुण कम्मुणा ?, किंचान्यत्–वाग्व्यामियोगेन ॥ ७०१ ॥ उच्यते इति वाचा, वायाएवि अभियोगो अभिमुखो योगः अभियोगः अभिवाग्योगः, एवमुक्तं भवति–हवेज्जति हवति संयम ? इति वाक्यशेषः, कः पिण्डार्थः संवर्णीयः? वायाभियोगेण यदा हवति संयमं, जहा भणह मारेंतो अदोसोत्ति 'ण तासिं वायमुदाहरेज्जा' सद्रोहमित्यर्थः, अट्ठाणमेतं कुशला वदंति–यथा कण्टकाग्रं स्थाणं वा सलिलस्थास्थानं एवं तुब्भंपि इमं वयणं, अज्ञानदोषोऽस्तीति, अहिंसकादीनां गुणानामस्थानं अनवद्यभाजनमपि, निजे विस्थरेण दिक्खातो मोक्खत्थं मुद्धिं निसृत्य शिरस्तुण्डमुण्डनं कृत्वा ब्रूयात् 'सुराल'-मिति, सुरालमेतत्स्थूलं हिंसकत्वात् अदिक्खितस्सवि, किं पुण दिक्खितस्स ?, एवं असंचिन्तिते न कर्म्मबन्धो भवतीति अज्ञान-श्रेयसं सर्वसम्यग्दृष्टिप्रसङ्गश्चेति, वैदिकाः संसारमोचकाश्च निर्दोषाः एव भवन्मतेन. शाक्यं हेडयित्वाऽऽर्द्रको मुखीभूत्वा प्रपंचमाह लद्धे अट्ठे अहो एव तुब्भे ॥७०२॥ वृत्तं, लब्धः प्राप्तो यदज्ञानं श्रेयस्ततः किं ज्ञानाधिगमः क्रियते ?, कुतो एस तुब्भेहिं अट्ठो लद्धो जेण अजाणंता सव्वतो मुच्चति ?, बालमत्तोन्मत्तप्रमत्तादयः, अहो दैन्यविलयादिषु, दैन्यं तावत् जहा कोयि कंचि दिमूढं

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४३३॥

उप्पहेण अडंतं दट्ठुं भणति–अहो अयमेवं वराओ किलिट्ठो किलिस्सति, एवं तुब्भे उम्मग्गपडिनन्ना मोहं किलिस्सह, सामूयेति विस्सये, अयं शोभनो अहो सिद्धान्तो यत्राचिंतितं कर्म्मचयं न गच्छति, कार्यकारीसमता एवं अयं जीवाणुभागे सुविचिंतयंता ॥७०३॥ वृत्तं, कश्चैषां अनुभागस्तनुसुखप्रियताः दुःखोद्विग्नता, तत्किमुक्तं भवति ?, एवं जीवाणुभागो सुत्तिओ भवति, यदुत सर्वसत्त्वानामात्मोपमानेन न किंचि दुःखमुदपप्तदिति, अहोशब्दः सर्वत्रानुवर्त्तते अहो वचस्तेन गुरुणा करतल इवामलकं सर्वलोकोऽवलोकितः, ज्ञात इत्यर्थः, किमुक्तमुच्यत इत्यर्थः, इति चेत् येनाज्ञानं श्रेय इति, स्यादेष भवतां किं चिन्तितः कर्म्मबन्धो भवत्याहोस्विदचिंतितो मोक्षो वेति, अत उच्यते–'ओधारीया अन्नविधीए सोहिं' मोक्ष इत्यर्थः, स्यात्करोत्यन्यो विधिर्येनार्या शोधिमिच्छन्ति, तत उच्यते, जहा छणणं, नापि संचिंतितं कर्म्म बद्ध्यत इति सिद्धान्तः, किं तर्हि ?, अस्माकं प्रमत्तस्य कर्म्म बध्यते, अप्रमत्तस्य मुच्यते, अप्रमत्तः शुद्ध्यत इत्यर्थः, एवं शोधिराहुराचार्याः, ण वियागरे ण वाकरेंति, छद अपवारणे, छज्जते तस्स छन्नं छन्नमप्रकाशमदर्शनमनुपलब्धिरित्यनर्थान्तरं, पदं चेष्टितं, छन्नपदेन उनजीवनधर्म्मा छन्नपदोपजीवि, कथं ?, अजाणस्स बंधो णत्थि तहा ण विआगारे, छण्णपदोपजीवि, पठ्यते गूढविआगरे छणणपदोपजीवि, छण हिंसायां छणणमेव पदं छणणपदं ततो वागरेज्जा, जहा अजाणंतस्स कम्मबंधो णत्थि, ते एवं श्रोतॄणां निर्देयादयो दोषाः, स्यात्किं व्याकरितव्यं कथं न ?, उच्यते, जहा छणणं न होति जीवाणं, अज्ञानकृते तु बंधो णत्थि उच्यमानेन प्रमादं करिष्यति, तेण छणणं अनुज्ञातं भवति, तदेष पिण्डार्थः– जहा छणपदोपजीवि ण छणणपदोपजीविणो वाकरेंतीति वाक्यशेषः, तहा ण वियागरेज्ज, अयं इदानीं आपोऽर्थः, जीवाणुभागं अनुचिन्तयतो वियागरे अछणपदोपजीवि, एकारात्परस्य लोपे कृते छणपदोजीवि भवति, अचिंतिते कर्म्मबन्धो नास्ति ण च साधु

सांख्य-बौद्धनिरासः

॥४३३॥

वियागरे, अछणपदोपजीवि 'एसोऽणुधम्मो' अनु पश्चाद्भावेऽनुधर्म्मस्तीर्थकराचीर्णोऽयमुपचर्यते इति अनुधर्म्मस्तीर्थकरानुधर्म्मिणः साधव इहेति, इह प्रवचने संजयाणं एवं सीलं, न घटते भवतां, जोऽवि अ तुज्झं अशीलमंताणं देति सोऽवि अप्येवं बध्यते, ण मुच्यते, जं भणसि–**सिणातगाणं तु दुवे सहस्से** ॥ ७०४ ॥ वृत्तं, सिणातगा सुद्धा द्वादशधूतगुणचारिणो भिक्षवः, जेवि दोऽवि सहस्से भुंजावेति सोवि ताव मुच्चति, किं पुण जो एकं वा दो वा तिण्णी वा, एते णिच्चं दिणे दिणे असंजता लोहितार्द्र-पाणि सद्यघातीत्युक्तं भवति, गर्हा-निन्दा इत्यर्थः, ज्ञानाद्यार्याणां धर्मः अज्जः, जइ लोके भिक्षुकाणां च गरहितो धर्म्मः अजाण-माणाणं, इह हिंसानुज्ञानात् अपात्रदायकत्तिकाउं गरहितो, सावद्यं छक्कायवधेण, अजयाणं अपात्रेषु व दिज्जमाणं, कर्म्मबन्धाय भवति, इतश्च तुब्भे य अपात्राणि दक्षिणाया इत्यर्थः, जेण मंसं खायह तह णत्थि एत्थ दोसो, अहवा शीलं तुज्झं दूसितं दाणंपि ण जुज्जति, इतश्च शीलं नास्ति, जं भणह–**थूलं उरब्भं०** ॥७०५॥ वृत्तं, 'थूलो'ति महाकायो उपचितमांसश्चेह लोके शाक्यधर्म एव मारेह, यथा शाक्या उद्दिसितुं भिक्षुसंघं प्रकल्पयंतः, केण साधेंति ?, तं लोणतेलपिप्पल्यादीनि वेषणाणि गृहीतानि हिंगु-कुच्छंभरादीनि वाऽन्यानि, तमेवमादीहिं वेसणेहिं भिक्खूट्ठाए पकरेंति। **तं भुंजमाणा पिशितमिति** ॥ ७०६ ॥ वृत्तं, मांसं प्रभूतमाकृष्टाय बहुप्रकारं वा, अप्येवं दिणे दिणे णेव लिप्पामो वयं, कस्मात् ?, त्रिकरणशुद्धत्वात्, इच्चेवमसाकं, अहं खु बुद्धः तेन प्रमाणमित्यतस्तत्प्रामाण्याद्भपामः, तदुच्यते–'इच्चेवमाहंसु, अणज्जबुद्धो वा अण्णे वऽज्जे केइ एवमक्खातवन्तः साम्प्रतं आइ-क्खंति वा मांसदोषमिति, सर्वे ते अणारिया बाला मूढा रसेसु, रसशब्दो वा सुखे भवति, सुहेसु विसएसु, सुहे गिद्धा। **जे यावि भुंजंति** ॥७०७॥ वृत्तं, जे य बुद्धा वा अबुद्धा वा पुत्रमांसोपमं मांसं प्रदोषंतिकाउं भुंजंति, चशब्दादुपदिशन्ते मांसमदोषमिति,

सेवंति ते पावमजाणमाणा, हिंसादी उपार्जयन्तीत्यर्थः, अहवा ते मांसासिणां णिरणुकंपं जीवेसु वुद्धसंज्ञिकं पावं सेवंति, तद्दोषम- जानमानाः, अथवा जावंणं मंसखायणेण पावं बज्झति तं च तुमं पावं अजाणमाणो, जहा एत्थ वधाणुमाणागतं घणं चिक्कणं पाव बज्झति, तेण खणं ण, एवं कुशला वदंति तंमि मांसादे, सुद्धे, मांसभक्षणोपदेसएण एवं तच्छमाणे कुव्वंति भुक्तिमीत्यर्थः मंस- भक्षणे, वा अथवा 'मणं ण एतं सुद्धं, कुशला जाणका मनज्ञाना मणंपि न कुव्वंति ज्ञातपुत्रीया, वतीति एसा मंसमदोसंति वुइया असचा, किल कम्मणो कर्तुः, स्यादुद्दिष्टं भक्तं, उच्यते–सव्वेसि ॥७०८॥ वृत्तं, पाणा पृथिव्यादयः तेसिण्णिकायं णिक्खिप्प, दंडो मारणं, सहावज्जेण सावज्जं पचनपाचनानुमोदनानि, यो वाऽन्येन प्रकारेण दंभनवाहनमारणा, दण्डं सावज्जं दोसं परिवज्जयित्ता 'तस्संकिणो' वा, शंक ज्ञाने अज्ञाने भये च, ज्ञाने तावत्कथं जानमानः उद्दिश्य कृतदोषं तं गृह्णीयात्, अज्ञाने संकितो कंखो वितिगिच्छासमावण्णो संकमाणो, भए 'आहाकम्मण्णं भंते! भुंजमाणे किं पगरेंति?, उच्यते अट्ठकम्मपगडीओ सिढिलबंधण- बद्धाओ धणित०' एवंविधा संका जेसिं ते भवंति तस्संकिणो इसिणो णातपुत्ता णातस्स पुत्ता ते भूताभिसंकाए दुगुंछमाणा ॥७०९॥ वृत्तं, जम्हा भूतो भवति भविस्सति तम्हा 'भूते'ति, संका भये ज्ञाने अज्ञाने च पूर्वोक्ता, इह तु भए द्रष्टव्या, तच्च मरणभयमेव, मारेमाणेहिं इह परत्र च संकते विभ्यत इत्यर्थः, इह तावत्प्रतिवैरस्य संकते बंधवधरोहदंभणाणां च, परलोए णर- गादिभयस्स, उक्तं च–"जो खलु जीवं उद्वेति एस खलु परभवे तेहिं वा अण्णेहिं वा जीवेहिं उद्विज्जति" इह लोके तु भयेण 'सव्वेसु पाणेसु'त्ति पाणा एगिंदियादिया आयुः प्राणादि, घाइणो घातयति निक्षिप्यते, एवं समणुण्णाते,'तम्हा ण भुंजंति' तस्मा- द्धाऽनुमत्याः कारणात् इहपरलोकापायदर्शनाच्च न भुंजंति 'तहप्पगारं' अन्यदपि जं साधुं उद्दिश्य तं कृतं 'एसोऽणुधम्मो, जहा लोए

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४३६॥

अणुराइणो धम्मो, उक्तं च–"यद्यदाचरते श्रेष्ठः" तथा "देशे २ दारुणो वा सिवो वा" एवमिहापि, अनु पश्चाद्भावेतिकृत्वा तीर्थकरगणधरैर्हि वर्जितमुद्देशितं, तदनु तच्छिष्याः अपि परिहरंति, अथवा अणुः सूक्ष्म इत्यर्थः, सूक्ष्मो धर्मो भगवता प्रणीतः श्लोकेनाप्यतिचारेण बाध्यते शिरीषपुष्पमिव तदनुतापेन, संयताः साधवो, णिग्गंथधम्माण (धम्मंमि) ॥ ७१० ॥ वृत्तं, णिग्गंथस्स धम्म एव येषां धर्मः तेण भवंति णिग्गंथधम्माणो, अथवा णिग्गंथो भगवानेव, गंथा अतीता अत्ता, चेअणभूतेण णिग्गंथेण तुल्लो जेसिं ते भवंति णिग्गंथधम्माणः, तत्सदृधर्माणः इत्यर्थः, इमो इति प्रत्यक्षीकारणे, समाअधिः समाधिः मनः-समाधानमित्यर्थः, अथवा मणस्स हि इहेव समाधी भवति, द्वन्द्वाभावात्, परमसमाधी य मोक्षो, ये पुनः पचनपाचनरता आरम्भ-प्रवृत्ताश्च तेषामनेकाग्रीभावः, कुतः समाधिः ?, उक्तं हि–"स्नानाद्या देहसंस्काराः" समणे भगवं महावीरे इति खलु से भगवं महावीरे समन्तात् श्लाघते, मोक्षमित्यर्थः, इहार्चनं श्लोकं च श्लाघते, श्लाघा कथने, श्लोको नाम श्लाघा, कथं श्लाघ्यते ?, इहैव तावत् उराला कित्तिवण्णसद्दसिलोगा परिवुअंति इति खलु समणे ३, परत्तंमि सिद्धे बुद्धे, तहा वा "णवि अत्थि माणु-साणं" परत्र च श्लोकं श्लाघते, श्लाघामित्यर्थः, यस्तु अबुद्धोऽशीलगुणोपपेतः पचनपाचनाद्यारम्भप्रवृत्तः सातबहुलस्नानादि-शरीरसंस्कारग्रामादिपरिग्रहे व्याप्रियमाणोऽसमाधियुक्तः इहेति निन्द्यो भवति यथा "ग्रामक्षेत्रगृहादीनां" तथाऽऽहुः–"यथाऽपरे संकथिका" भावबुधास्तु तच्छिष्या श्लाघ्या भवन्ति "नैवास्ति राजराजस्य तत्सु०" स एवं तान् शाक्यान् सप्रपंचं निहत्य भग-वतामेव प्रतिपत्तिमान् ऊर्द्धज्वलद्भिर्धिग्जातिभिः परिवार्यापदिश्यते–भो आर्द्रक राजपुत्र ! मा तावद्गच्छ, तावदस्माकं वेदसिद्धान्तं शृणु तद्यथा–आदिसर्गे किल विष्णोर्नाभ्यां समुत्पन्नं पद्मं नैककेसराकुलं, तस्मिन् ब्रह्मा समुत्पन्नस्तेन सृष्टमिदं जगत्, स मुखतो

सांख्य-बौद्धनिरासः

॥४३६॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४३७॥

ब्रह्मणोऽसृजत्, ततः शूद्रांस्त्रिवर्गपरिचारकान्, क्षत्रियान् सु०, एकमेव वर्णं परिचरन्ति, तत एव च श्रेयोऽवाप्नुवन्ति, यस्मा-, चैवं तस्माद् ब्रह्मोत्तरं जगत्, तदेवं त्रयाणामपि वर्णानां ब्राह्मणा एव पूज्यतमाः, आह च-"ब्राह्मण एव जायते०" ते च द्रव्य-क्षेत्रकालभावोपधानशुद्धेन दानेन पूजनीयाः, तत्तेनोपधानशुद्धेन गोहिरण्यसुवर्णधणादीनि देयानि, क्षेत्रशुद्धमपि स्वगृहेऽभ्यागत-स्नानाविस्कृतक्रियस्य सुखासनासीनस्य, अथवा क्षेत्रशुद्धं पुष्करादिषु क्षेत्रेषु दीयते क्षेत्रमिदं विरूपातं, कालशुद्धमपि दर्शपूर्णि-माऽमावास्यासु, तथा अन्येषु च सर्वेषु पर्वस्विति, तथा चाह-'अतुष्याण्यत्रिरात्राणि, तीर्थान्यनभिगम्य च । अदत्वा काञ्चनं गाश्च, दरिद्रस्तेन जायते ॥ १॥' भावोपधानशुद्धमपि लोकप्रत्युपकारादित्यतः अदिन्नए यदीयते तद्भावोपधानशुद्धं, अभावो, भावस्तु पात्रमित्यर्थः, पात्रशुद्धमेव हि शुद्धिमुत्पादयति, अहन्यहनि दातव्यं, तत्र पात्रशुद्धिमधिकृत्योच्यते-**सिणायगाणं तु दुवे सहस्से** ॥७११॥ वृत्तं, स्नातकाः शुद्धात्मानः, यज्ञादिषु षट्कर्माभिरताः, अथवा स्नातकादि इति वेदपारकाः प्रवक्तारः, आह च-"समं न ब्राह्मणे दानं" ते यदात्मानं पात्रीकृत्य केवलं परानुग्रहार्थमेव परिगृह्णन्ति तदा दातारमात्मानं च तारयति, तत्परिमाणं दुवे सहस्से, तेसु च एगदिणेण बहुएहिं वा दिणेहिं दोण्णि सहस्सेहिं पूरेंति जो भोजयतीति, बद्धानुलोम्या भोजये-ज्जेति, येचि दिणे दिणे, णेकतियं वा णितियं एगे अणेगे वा भोजावेति सदक्षिणे वा जपेय पौंडरीकादी वा यज्ञं यजते, तत्फल-प्रसिद्ध्ये त्वपदिश्यते, ' ते पुण्णखंधे सुमहऽज्जणित्ता ' ते इति ते प्रागुपदिष्टाः द्रव्योपधानशुद्धैर्दानैः स्नातकब्राह्मणपूजयितारः, पुनातीति पुण्यं, स्कन्धग्रहणात् सुमहत्पुण्योपचयं सम्यगुपार्जयित्वा, परत्र ब्रह्मेन्द्रप्रजापतिविष्णुलक्षादिषु देवा भवन्तीति प्रद-र्शनार्थः, यथा तावत्परसमये क्रियावद् गुणवद् समवायि कारणमिति द्रव्यलक्षणं, समयेऽपि इच्चेएहि छहिं जीवनिकाएहिं,वेदानां

जातिवाद-निरासः-

॥४३७॥

वादो वेदवादो, वेद एव हि परं प्रमाणं, आह हि–"वेदाः प्रमाणं" एवं त्रयी वर्त्तमानमाश्रित्य, राज्यं गत्वा राज्याभिषेकं प्राप्य इष्टेभ्य स्नातकेभ्यः ब्राह्मणेभ्यः गोहिरण्यादीनि दानानि त्यजस्व प्रयच्छस्व, आह च–"यान् यान् कामान् ब्राह्मणेभ्यो ददाति तान् कामान् प्रजनोपभुक्ते" यज्ञांश्च भूहिरण्यदक्षिणां यजस्व, आह च–"जइत्ता विउले जण्णे" तदेवं श्रेयसीमवाप्स्यति,तत्कथं ?, यदा ह्येतानि यथोद्दिष्टानि धर्मसाधनानि अभ्युदयिकं धर्म्ममुद्दिश्य करोति तदा नापवर्गमवाप्नोति, यदा त्वपवर्गमुपदिश्य धर्मसाधनेषु वर्त्तते तदा अपवर्गमवाप्नोति, तदेवं स्वर्गापवर्गफलं वेदानां धर्म्मं प्रतिपद्यस्व, किं तैर्जिनैः संयमपुरस्सरैस्तपोभिः अपार्थकैराचीर्णैः ?, तानेवं जात्यादिमदोद्धतां संसारमोचकतुच्छधर्मा भगवानार्द्रक उवाच–यद् ब्रूत जातिशुद्धा षट्कर्मनिरताश्च शीलमन्तरेणापि स्नातका ब्राह्मणा भवन्ति, कथं ?, व्याधकोपाख्यानात्, आह हि–"सप्त व्याधा दशार्णेषु" तथा च "सद्यः पतति मांसेन" किंचान्यत्–"वर्णप्रमाणके", अथवा पञ्चभिरिमैः कारणैः ब्राह्मणत्वं न घटते, तद्यथावत्–"जीवो जातिस्तथा देहः" एवं च श्लोकः, किंचान्यत् "विद्याचरणसंपन्ने" तथा चाहुः "न जातिर्दुष्यते राजन्" यस्त्वमिप्रेतं 'यजनादिप्रवृत्ता ब्राह्मणा भवन्ती'ति (तन्न) कस्माद्विसकत्वात् यज्ञस्य,आह हि–"पड् शतानि नियुज्यंते" न च हिंस्रान् भोजयमानस्य स्वर्गोऽपवर्गो वा भवति,तन्नोदाहरणं लोकमिव। **सिणायगाणं तु दुवे सहस्से** ।७१२॥ वृत्तं, स्नातका ग्रामारण्या वा विडालमूषकादिमांसाशिनः किलाहारकाः स्युः, ते स्नातकत्वे सति क्षुदार्त्ताः परिमाणंता च द्वे सहस्रे णितिए णिच्चे–दिणे दिणे वा दो सहस्साणि अधिगाणि वा कुत्सितं रौतिर्लीयते वा मार्जारा 'से गच्छति लोलुवसंपगाढे' एवं हि सपापो लोलुपः स्वाभाविकैः शीतोष्णाभिः परस्परोदीरितैः संक्लिष्टासुरोदीरितैश्च दुःखैर्भूमिगता अभिगता लोलुप्यन्ते लोलविज्जंते वा भृशं गाढं तीव्रं, एवं शीताद्याः स्वाभाविकाः परकृता वा तीव्रा-

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ।४३९॥

नुभावा येषु अनु पश्चाद्भावे जेहिं अण्णे सत्ता दुःखेहिं ताविता ते पच्छा दुःखमनुभवंतीत्यनुभावः णरकः उक्तः, पठ्यते च–तीव्राभितावी, तिव्वं अभितावेति जे चिति ततोऽधीको अभितावो जेसु णरएसु ते तिव्वाभितावा णरका तीव्रमित्येकोऽर्थः, सेवितो, जहा सो कुललभोजी णरगं गच्छति जण्णिका ते वराते मारेमाणा, ये चान्ये पापके तृणकाष्ठगोमयाश्रिता संस्वेदसिताः महीसिता चेव कृष्णादिषु च कर्म्मसु वर्त्तमाना बहून् जीवान् घातयन्ति ते च विषयोपभोगदृष्टान्तसामर्थ्याद्धिंसामेव प्रज्ञापयंति ब्रुवन्ति च, "आततायिनमायातं, अपि वेदान्तगं रणे। अहत्वा बह्वहतो वा, हत्वा पापात्प्रमुच्यते ॥१॥ तथा च शूद्रं हत्वा प्राणायामं जपेत्, विहस्सतिकम्मं वा कुर्यात्, यत्किंचिद्वा दद्यात्, तथा 'अनस्थीकानां शकटभारं मारयित्वा ब्राह्मणं भोजयेत्', एवं ते हिंसकं धर्म्मं देशंतो जहा कुलाला कुलपोसगा य णरए पचयंति एवं तेवि द्विजा हिंसकत्वात् कुलाला एव नरकं वचंति, जेवि तेसिं देंति तेवि कुलपोसगा, इह सह तेहिं णरगं वचंति। तएवं दयावरं धम्मं ॥७१३॥ वृत्तं, दूसेमाणो दया परा जस्स दयाप्परः, दमो वा दया वा वरा जस्स स भवति दयावरः, यः किल आततायिनमायातं न घातयति सो णरगं गच्छति, बहावहं धम्मं वधा पराः वधादिति पंचमी, वधाद्धि परो धर्म्मः, कथं?, आह हि–"हत्वा स्वर्गे महीयति" तथा चाह–"अपि तस्य कुले जायासद्दो" ण उ तमेवं वधावधं पसंसमाणा एगंपि जे भोजयती कुशीलं, प्रगाहस्य ग्रहणं कृतं भवति, यत्रायं पाठः–'दयावरं धम्म दुगुंछमाणो' वधावधं पसंसमाणा एगंपि' अथवा दया परिगृह्यते, दयावरं धम्मं दुगुंछमाणा, वधावधं धम्मं पसंसमाणा, एवं प्रकारा दया एगंपि भोजयति कुसीलं, किं बहुए?, कुत्सितं शीलं कुशीलः हिंसाद्याश्रवद्वारप्रवृत्तको हिंसकधर्मोपदेशको, अणिधो णिधं णाम अवः उत्सितं अधिकारं, दुरुत्तरं नरकमिति वाक्यशेषः, अन्तकाल इति मरणकालः। तानेवं बह्वतिनः प्रतिहत्य भगवानार्द्रको भगवन्तमेव प्रति

जातिवाद-निरासः-

॥४३९॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४४०॥

सांख्य-निरासः

ग्रातिष्ठत्, अथैनं विदं त्रिदण्डकुण्डीय जाव पवित्तगिहत्थगता परिव्राजकाः परिवार्य उभयपक्षाविरुद्धाभिराशीभिर्दण्डमाणा एवमूचुः–भो भो आर्द्रक राजपुत्र ! इदं तावदस्माकं सिद्धान्तं शृणु तद्यथा–'तमः खल्विदमग्गे आसीत्' अव्यक्तमित्यर्थः, तस्माद्व्यक्तवान्मात्रेन्द्रियभूतानां प्रादुर्भावः, आह हि–"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्यः पंच भूतानि ॥१॥ इत्येतच्चतुर्विंशकं क्षेत्रं,पञ्चविंशतितमः पुरुषः, तत्र न किञ्चिदुत्पद्यते विनश्यति वा, किन्तु केवलमभिव्यज्यते तमसि प्रदीपेन घटः यथा, भूमिदेशद्विगोदाद्वा मूलोदगादीन्यभिव्यज्यन्ते, एवं प्रभवः, संहारकाले च यद्यस्मादुत्पन्नं तत्तत्रैव लीयते इत्यतः सत्कार्यं, भवतामपि च द्रव्यार्थतया नित्याः सर्वभावाः, इत्यतः सत्कार्यपरिग्रहः एव यथाऽस्माकं, स्वरूपं चैतन्यं पुरुषस्य नैःश्रेयसिके मोक्षे इत्यर्थः, न त्वभ्युदयिके इष्टविषयप्रीतिप्रादुर्भावात्मके, अनैकान्तिको वाऽसौ य नियमलक्षणो धर्म्मः, तत्र पञ्च यमाः अहिंसादयो भवतामपि पंच महाव्रतानि पञ्चयमो धर्मो, नियमोऽपि पञ्चप्रकार एवेन्द्रियनियमः,'अस्सिं सुट्ठिच्च'त्ति, यथा भवंतोऽस्मिन् स्वधर्मे यमनियमलक्षणे एवं स्ववस्थिताः एवं वयमपि स्वे धर्म्मे यमनियमलक्षणे स्थिताः, न फल्गुकल्ककुहकाजीवनार्थं लोकप्रत्ययार्थं वा 'एसकालं'ति यावज्जीवा, ण एवं तावदावयोरविशेषः, किंच–आचारशीलं २ तत्राचारः यथा भवतां युगमात्रान्तरदृष्टित्वं एवमस्माकमपि, यथा रजोहरणं प्रमार्जनार्थं एवमस्माकमपि केसरिका, यथा वचो वाक्यमिति एवमस्माकमपि मौनानां नात्युच्चैर्भाषणं वा, अथवा शीलं भद्र मृदुस्वभावता आक्रोशमत्सरो वा, वुइत्तं वुत्तं, ज्ञानमुपदेश आचारः शीलं यस्य ज्ञानस्य तदिदमाचारशीलं, अथवा ज्ञानमिति भवतामपि चैतन्यात् अनन्य आत्मा, तदेवं सर्वमविशिष्टं 'ण संपराए विसेसमत्थि' चशब्दः समुच्चयार्थः, किं समुच्चिनोति ?, पूर्वोक्तकारणानि 'दुहतोवि धम्ममि समुट्ठियामो' यथा एतेष्वपि अविशेषः एवं ॥४४०॥

संपराइतोवि, संपरीत्यसिञ्निति सम्परायः स च संसारः भवतामपि संसरत्यात्मा अस्माकमपि कारणात्मा संसरति, आह हि— संसरति० वेदयन् मुञ्चन् सर्वथैवाविशेषः,कस्मात्?,परमात्मनोः संसारित्वात्,उक्तं हि–अव्वत्तरूवं पुरिसं महंतं ॥७१५॥ वृत्तं, अव्यक्तं रूपं यस्य स भवत्यव्यक्तरूपः, पंच तन्मात्राणि बुद्धिर्मनोऽहङ्कार इति पुरं, अथवा से शरीरं पुरं तस्मिन् पुरे शयत इति पुरुषः, 'महन्त' इति सर्वगतः, सर्वथा वा प्रकृत्या गतः,सनातनः पुरातन इत्यर्थः,आह हि–"अजो–नित्यः शाश्वतो यो न क्षीयते घटवत्" इत्यतः कृतो–'नैनं छिंदन्ति शास्त्राणि' अव गतिप्रजनकान्त्यशनखादनेषु, अक्षयोऽपि कश्चिद्यायति परमाणुवत्, परमाणुर्व्ययति गच्छतीत्यर्थः, आह हि–'अच्छेद्योऽयमभेद्योऽयं' से सव्वपाणेसु स सव्वगतोऽसौ सर्वप्राणाः करणात्मानः, अथवा आयुरिन्द्रियशरीरबुद्धिपाणा, 'से' इति तस्यात्मनो निर्देशः, सर्वत इति सर्वासु दिक्षु, सर्वकालं च नित्यमित्यर्थः,आह हि–"सर्वं सर्वत्र सर्वकालं च" नित्य इत्येको विशिष्यते, सर्वकारणात्मनामन्यः, यथा चन्द्रमाः सर्वग्रहनक्षत्रताराभ्यो वर्णप्रमाणसंस्थानलक्ष्मलक्ष्मीप्रभाकान्तिसौम्यतादिभिर्विशिष्यते एवमसावपि परमात्मा कारणात्मभ्यो विशिष्यते, सांख्यप्रक्रियाचारः, अथवा वैदिकानामयं सिद्धान्तः 'अव्वत्तरूवं पुरिसं महंतं' तेषामेक एव परमात्मा, शेषास्तु तत्प्रभवाः, आह हि–"यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित्" स एव च सनातनोऽक्षयो अव्ययश्च पूर्ववत्, 'सव्वेसु पाणेसु' कथमिति?, ते उच्यते–यथा हिमहम(पट)लविप्रमुक्तत्वात् भूरितेजसाऽऽदित्यविम्बाद्रश्मयः सर्वतो निस्सरंते, निःसृत्य च तमेव पुनः प्रविशन्ति,न च तस्याबाधां कुर्वन्ति,एवं सर्वात्मनस्त्रिकालावस्थिताः कूटस्थान्निस्सरंति निसृत्य च तानि स्वकर्मविहितानि शरीरानि निवर्तयित्वा सुखदुःखादि चानुभूय पुनः पुनस्तमेव परमात्मानं प्रविशन्ति, एतच्च सूत्रं साङ्ख्यवैदिकयोस्तुल्यं व्याख्यायते, नैके परमात्मानो, वेदिकानां तु एकः, सांख्यवैदिकयोः प्रक्रि-

हस्तिताप-सनिरासः

॥४४१॥

यावादः, तदुत्तरं तु यदि सर्वगत आत्मा सांख्यानां एवं न म्रियन्ति न संसरंति ॥७१६॥ वृत्तं, 'मृङ् प्राणत्यागे' असर्वगतस्य हि प्राणत्यागो युज्यते, यथा–देवदत्तः स्वगृहं त्यक्त्वा अन्यत्र गच्छति, न चैवं सर्वगतस्य शरीरादिप्राणत्यागो युज्यते, असर्वगतस्यैव संसारो घटते देवदत्तवदेव,न सर्वगतस्यैव,सर्वगतस्य न तु किञ्चिदप्राप्तं यत्र गच्छतीत्यतः संसारो न घटते,किंच–'ण बंभणे खत्तिय वेस पेसा' तत्र ब्रह्मणोऽपत्यानि वृहन्मनस्त्वाद्वा ब्राह्मणाः, क्षतात्त्रायन्तीति क्षत्रियाः, कलादिभिर्विशन्ति लोकमिति वैश्याः, प्रदेशास्पृष्टा श्रावन्तोऽन्येषात्मात्मनां प्रदेशास्पृष्टः, तत्र कथमवसीयते यथा तुल्ये चात्मानि शरीरं तनुः शेषाणामित्यपसिद्धान्तः मल्लदासीवत्, यथा मल्लदासी सर्वेषां मल्लानां सामान्या एवं ब्राह्मणशरीरमपि सर्वेषां क्षत्रियविट्शूद्राणां सामान्यमिति, यथा ब्राह्मणं शरीर तथा क्षत्रियविट्शूद्रशरीराण्यपि सर्वात्मनां समानीत्यतश्चातुर्वर्ण न घटते, किंच—'कीडा (य) पक्खी (य) सरीसिवा (य)' सर्वगतत्वे सति अयं कीडोऽयं न कीड इति न घटते, तदेवं ब्राह्मणशरीरवत्समानः सर्वैः, एवं पक्खी वा, सर्पन्तीति सर्पाः नरः, अथवा देवलोकेषु भवा देवलौकिका अमरा इत्यर्थः एतदेव चोत्तरं एकात्मकवादिवैदिकानां, किंच–एकात्मकत्वे च सति पितृपुत्रादिरिति वार्ता न घटते, तत्सर्वज्ञप्रामाण्यात्सांख्यज्ञानप्रामाण्यात्, ब्रह्मापि च किल सर्वज्ञः, तेन चोक्तं–"यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित्" तत्कथं केवलज्ञानदृष्टमनृत भविष्यति इति ?, उच्यते–नैव ते केवलिनो भवन्ति, कथं ?, अनन्तत्वादर्शित्वात्, सूत्रं त्वदृष्टमिति ?, उच्यते, ननूक्तमेवं 'न मिज्जति ण संसरति', वैदिकानामपि एकात्मकत्वे च ये केवलज्ञानेन लोकमज्ञात्वा जहा वूहादीभिस्तीर्थं प्रवर्त्तयन्ति तेषां कथं वाक्यं प्रमाणं स्यादिति, अथ सूत्रम्–लोयं अयाणित्तिह केवलेणं ॥७१७॥ वृत्तं, लोको नाम द्रव्यक्षेत्रकालभावानां यथावस्थितिः तं लोकमज्ञात्वा तेन येन धर्म्मं कथयन्ति अजाणमाणा णासंति

अप्पाण परं च णट्ठा जहा अन्धो देशकोऽध्वानं अप्पाणं परं च णासेति एवं तेवि, जे पुण लोकं विजाणाति च केवलेणं–केवल-ज्ञानेन 'पुण्णे'ति पुण्णेण 'नाणेण' ज्ञानेन 'धम्मं समत्तं च कहंति जे उ' समस्तो नाम सर्वैर्वचनीयदोषैर्विमुक्तः, जहा देसिओ जाणओ अदिसामूढो णरो पेमं अकुडिमं मग्गं अवतारेऊण जहिच्छं देसं सम्मं वा णयति, एवं तेवि केवलणाणेण भगवन्तो तित्थ-गरा अप्पाणं परं च संसारसमुद्दमहाकान्तारातो तारेंति, सर्वगतत्वे सत्यात्मनि जे गरहियं ठाणमिहावसंति ॥७१९॥ वृत्तं, गरहितं-निन्द्यं जातितः कुलतश्च, तत्र जातितश्चाण्डालाः कर्मतश्चाण्डालत्वेऽपि सति ये सौकारिकाश्च, स्थानं वृत्तं कर्मेत्यनर्थान्तरं आवसन्ति उवजीवन्ति, चरणं वृत्तं मर्यादेत्यनर्थान्तरं, चरणेणं उववेंनि, तदपि जो जातितो वृत्ततश्च, जातितो मिथ्यादृष्टिः लोकः, समता ब्राह्मणः परिव्राज् व्रजितः, एतदुभयमपि भवन्मते नैव, उदाहरति हि उदाहरणं भवति, अथार्थापत्तिः एतदापद्यते सर्व-गतत्वे सति सर्वात्मनां समतेति, समता समं तुल्यमित्यर्थः तुल्याहृतद्रव्यवत्, सतिएत्ति बुद्धीए, एवंप्रकाराए सर्वगत आत्मेति, सत्तीएत्ति वा एगट्ठ, 'अथाउसे विप्परियासमेव' अथ इत्यानन्तर्ये, सर्वगतत्वे सति सर्वात्मा निकृष्टोत्कृष्टयोः समता इत्यर्थः, 'आउसे'त्ति हे आयुष्मन्तः! विद्धी योगो विपरीतो असौ विपर्यासः, विपरीत इत्यर्थः, कथं?, सर्वगतत्वेन चेदानीं निकृष्टो-त्कृष्टानां साम्यं भविष्यति, अथवा संविदधिगमो ज्ञानं भाव इत्यनर्थान्तरमितिकृत्वा विपरीतभावमेव सर्वगतग्राह इत्यर्थः, अथवा विवज्जास इति मत्तोन्मत्तप्रलापवदित्युक्तं भवति, तावन्न चैतत्स्यात् सर्वगतत्वे सति सर्वात्मनां, निकृष्टोत्कृष्टानां तुल्यत्वे च सर्व-गतमित्यन्यथा वा का प्रत्याशा?, एतदेवोत्तरमेकात्मवादिनामिति, एवं सांख्यान्निर्लोठ्य भगवंतमेव प्रति तिष्ठंतमार्द्रकं केचि-दतिदीर्घश्मश्रुनखरोमाणो जटामुकुटदीप्तशिरसो धनुष्पाणयो हस्तितापसाख्याः परिव्राजोऽभ्येयुः, भो भो! क्षत्रियकुमारः आर्द्रक!

तिष्ठ तावदीषत्तरं इमामस्माकं सिद्धान्तोदितां पुष्करचर्यां शृणु, श्रुत्वा रोचयिष्यसि यास्यसि वा, तत ईषद् व्यवस्थिते राजपुत्रे पञ्चशतपुरुषपरिवारो हस्तितापसानां वृद्धतमस्तमुवाच, वयं द्वादशाद्यात् अभ्युदयार्थिनः मुमुक्षवो हस्तितापसा वा इति वाच्या महाजनेन, ते च वयं परमकारुणिकाः सत्त्वेषु, वने हि वसतां मूलस्कन्धोपघात आहारार्थः सुमहादोष इति मत्वा तेण **संवच्छरेणावि य एगमेगं** ॥७२०॥ वृत्तं, संवसन्ति तस्मिन्निति संवत्सरः, एकैकमिति वीप्सा एकेके, मासे एकेके 'बाणेण' सरेण विसलित्तेण वा मंमं घंतुत्ति मारेउं, महागजंति गर्जति गर्जते वा गजः महाकायं महागजं मत्तं मज्जमाणं मंधा, सेसाणं जीवाणं सेयत्थि विज्जा, वणस्सतिकाइयमूलपत्रपुष्पफलप्रवालाङ्कुराद्या वानस्पत्या स्थावरा जङ्गमाश्च मृगाद्या,दयानिमित्तं,मांसमास्वाद्य स्वां वृत्तिं परिकल्पयामः। खंडोखंडिं काउं समे भागेसु कवल्लूरं पऊलेऊणं खायामो, एवमेगेण जीवघातेण सुबहु जीवे रक्खामो, जे पुण वणतावसा बहूणि कन्दफलाणि घातेंति ते दिणेण गामघातं करेंति, न चाशरीरो धर्म्मो भवतीत्यतः अल्पेन व्ययेन बहु रक्षामः वणिजवत्, जंपि तदर्थं किंचित्पापं भवति तदपि आतावणोवसमजापब्रह्मचर्यैः क्षपयामः, विश्वामित्रेणाप्युक्तं–"शक्यं कर्तुं जीवता कर्म्म पापं" णणु च तुम्हेवं पडिक्कमणादिकाउस्सग्गेण सोधधा, अयं चास्माकं स्मृतिविहित एव हस्तितापसधर्मस्तमेनं प्रतिपद्यस्व आगच्छ, तानेवं ब्रुवाणान् आर्द्रक आह–**संवच्छरेणावि य** ॥७२१॥ वृत्तं, एकतरं प्राणिनं हस्तिनं, सा हिंसा, ततो अणियत्ता अणिपत्तिदोसा जिब्भिंदियदोसाओ य, किंचान्यत्–जा सा जिघांसा सा रौद्रता, कथं हस्तिनि परं मग्गमाणा मंसलोलुपा अत एव हेतुउ हिंसा एक्का चेव णरगपञ्जन्ता, किंवा सेसाण जीवाणं ?, जं च भणह–'सेसाण जीवाण दयट्ठताए'त्ति तं ण भवति, सो हत्थी विद्धो उप्फडितो वणस्सतिकाए हरते गुच्छगुंमादीए पेल्ले तणाति महंते व रुक्खे भंजति, कुंथुपिप्पीलिकादिए य जाव पंचिंदिए

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४४५॥

पेल्लेति, जे य मंसं पयंता सुंठीए चुल्लीसु वा अग्गिमंथेण वधए, उक्तं च-"तणकट्ठगोमयमाहणस्सिया संसेदसिदा मट्टिस्सिता चेव" एवं सेसाण जीवाण लग्गह पाणातिवाते, सिया यथैव, स्यादेतत् सर्वमपि तं सह हत्थिवधेण जे य अण्णे य पडंतो मारेति एगे य डज्झंति, सर्वमेतं थोवमुच्यते, गिहिणोवि ते य बहुजीवे जेण मारेंति, कथं ?, तेलोगं सर्वं जीवेहिं ओतप्रोतं, सो य गिही तिरियलोए वसति, उड्ढलोए अधोलोए य ण मारेंति, एवं जाव जंबुदीवे भरहे मगधाए सणगरे, ते छव्विसे खेत्ते वा, एवं सोऽपि नाम धार्मिकः। किंच-संवत्सरे ॥७२२॥ वृत्तं, प्राणं हस्तिनं, श्रमणव्रतानि अहिंसादीनि तानि किलास्य हस्तितापसस्य श्रमणव्रतानि सन्तीति श्रमणवती, तुविशेषणे, किंच मारयति च कस्येदं हास्यं न स्यात् ?, 'आताहिते' आत्मनः अहितो य, एवं परूवंते आयरियं च, सो नट्ठो अण्णंपि णासेति, जहा सो दिसामूढो अण्णे य देसिए णासेति, अणारिओ दंसणाओ चरित्ताओवि प्रागेव ज्ञानतः, ण तारिसं धम्मं हिंमकं केवलिणो भणंति करेंति वा, किं ब्रूते ?, बह्वा केवली, तेन तदुपदिष्टं हस्तितापसव्रतं, तदुच्यते-ण तारिसे केवलिणो भवंति करेंति वा, जे हिंसगं धम्मं पण्णवेंति तिलोति, सा जेण णो तिण्णा अण्णतेसु च, सो नट्ठो अण्णंपि णासेति जहा हाणिकताणि, एवं बह्ववद्भिः संसारमोचकवैदिकादीनां पक्षसिद्धिः प्रसाधिता भवतीत्यन्यथा वा का प्रत्याशा ?, इत्येवं तॉस्तापसान् प्रतिहत्य भगवत्समवसरणमेव प्रति प्रतिष्ठते, तत्थ य आरण्णो हस्ती णवग्रहो आलाणखंभे बद्धो सण्णी, तं जणसद्दं सुणेति, जहा एसो अद्दओ रायरिसिपुत्तो णियआलाणाणि भंजिऊण तित्थगरसमीवं पइट्ठो, परतित्थिए पडिहणिऊण, लोएण अभिथुव्वमाणो पुप्फंजलिहत्थएण अच्चिज्जमाणो वंदिज्जमाणो णिरवेक्खो हतपच्चत्थिपक्खो वच्चति, अहो धण्णो य, तं जइ अहंपि एतस्स पभावेणं इमाउ बंधणाओ मुच्चेज्ज तो णं वंदिज्ज, वंदित्ता णमंसित्ता णियगवणं पाविऊण संजूहे णागस्स बहूहिं लोट्ठएहि य

हस्ति-मुक्त्यादि

॥४४५॥

बहूहिं कलभेहिं हत्थीहि य २ बहूहिं उज्झारएहि जाव सच्छंदसुहं विहरेजा, एवं चिंतितमेत्त एव तडतडस्स बंधणाइं छिण्णाइं, छिण्णबंधणो ऊसितहत्थो भगवंतमार्द्रकरिपितेण संपत्थितो, पच्छा लोएण भीतेण कलकलो कओ, हो हो अहो! आर्द्रकराजपुत्रो इमिणा दुट्ठहत्थिणा मारिज्जतित्तिकाऊण, इचेवं भाणिऊण भयसंभंतो सव्वओ समंता विप्पलाइतो, तते णं सो वणहत्थी भत्तिसंभमोणवग्गहत्थो णिच्चलकण्णकंओलो विणयणउत्तिमंगो धरणितलणिम्मितगजदंतो आर्द्रकराजपुत्रस्य पादेसु णिवडितो, मनसा चेव इणमवचीत्–'भद्रं ते भो आर्द्रकरायरिसि यथाऽभिलषितान् मनोरथान् प्राप्नुहि, बंधनाद्विप्रमुक्त' इत्येवं मनसा उक्त्वा यथेष्टं वनं प्राप्तवान्, तत्सुमहान्तं प्रभावं दृष्ट्वा लोकस्यातीव तपस्सु सविस्मया भक्तिर्बभूव, एताए एव वेलाए सेणिओ राया भट्टारकपादसमीवं वंदिउं पत्थितो किमेयंति पुच्छति, गहियत्थेहि य से महामतेहि य भिच्चेहि य पउरेहि य कथितं, जहा सो सव्वलक्खणसंपण्णो आरण्णो हत्थी चारिं पाणियं च अणभिलसमाणो आर्द्रकस्य रायरिसिस्स तवप्पभावेण बंधणाइं छिंदिऊण अदूरं रायरिसिं वंदिऊण पलाओ, पच्छा सो सो णियराया तं सोऊण जणकलकलं अविम्हयं अद्दायपुत्तं वंदिऊण णमंसित्ता एवं वदासी–अहो भगवं दुक्कराणि तपांसि महानुभावानि च, कथं?, तपसा तप्यते पापं, तप्तं च प्रविलीयते। देवलोकोपमानानि, भुंजंत्यप्सरसः स्त्रियः ॥ १ ॥ विन्यस्तानि हि पुण्यानि, येषां तपः फलं ततः ॥' सेणिओ ब्रवीति, णणु भगवत एव दुष्कराणां तपसां प्रभावादसौ वनहस्ती आयसानि शृङ्खलबन्धनानि शस्त्रैरपि तीक्ष्णैर्दुच्छेद्यानि छित्त्वा यथेष्टं वनं प्रयातः, इत्यहो दुक्करं, आर्द्रक उवाच–"ण दुक्करं वा णरपासमोयणं, गयस्स मत्तस्स वणम्मि रायं। जहा उ चत्तारिलिएण तंतुणा, सुदुक्करं मे पडिहाइ मोयणं ॥ १ ॥" इत्येवमुक्त्वा भगवत्समीपं प्राप्यार्द्रकः ताणि पंच सिस्ससताणि भगवतः शिष्यतया प्रददौ, भगवानपि च तान् प्रव्राज्य

हस्तिमुक्त्यादि

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ।।४४७।।

तस्यैव तान् शिष्याननुज्ञातवान्। बुद्धस्स आणाएँ इमं समाधिं ॥७२३॥ वृत्तं, कतो स बुद्धो ?, ननु भगवानेव वर्द्धमानः, आह–अजवि सो ताव भट्टारगं ण पेच्छति तो कहं तस्स आणाए बुद्धो वट्टति ?, उच्यते–ननूपदिष्टानि महाध्ययनानि, अनागतं चेव तेण भट्टारकेण णातं जहा आर्द्रको नाम तत्समीपं एंतो अण्णउत्थिए हंतुं विहरिस्सति, वुत्तो य समाणो एताणि एरिसाणि उत्तराणि दाहितित्ति तेण भगवता भासितं, गणधरेहिं तु सुत्तीकतं, उक्तं च–"अगागतो भासियाणि" कायेत्ति अतिकंतं एवमिणं, अथवा प्रत्येकबुद्धो सो तेण पुव्वं एते अत्था आगमिता, तेण तेसिं अण्णउत्थियाणं तमुत्तरं देइ, इचेवमेसा भगवतो पुव्वतित्थगराणं च समाधी वुत्तो, एत्तो तिविधो दंसणादि, तत्थ विसेसेण दंसणसमाधिणा अधिगारो वुच्चति, जेण मिच्छदिट्ठीसु पडिहतेसु संमत्तं थिरीहोति, सति य संमत्ते णाणचरित्ताइंपि होंति, अस्सिं समाधौ त्रिविधेऽपि सुट्ठु स्थित्वा वा, तिविधेणंपि मणसा वयसा कायसा, मणसा तावत् ण मिच्छदिट्ठीए समणुण्णाति तिण्णि तिसट्ठाणि पावादियमताणि, जेसिं एतेसिं पंचण्हं गहणेण सव्वेसिंपि गहणं कतं भवति, ते सव्वे असब्भावत्थिते मण्णति, वायाएवि पडिहणति, कायेणवि तेसिं अब्भुट्ठाणाति वा अहो सन्मार्गावस्थिताः यूयमिति हस्तपरिवर्त्तनादिभिः क्षेपैस्ताञ्छिरासत्करोति, एवं अण्णाइंपि साङ्ख्यवैशेषिकबौद्धादीनि तिविधेण करणेण गच्छति गरहति, इचेतानि तिण्णि तिसट्ठाणि कुप्पावयणाणि य सताणि मिच्छादंसणसमुद्दं तरित्ता, मिच्छादंसणसमुद्दओहमिति जलं, मिच्छादंसणे हि तस्मिन् मिथ्यादर्शनसमुद्भवो भवतीति कारणे कार्यवदुपचारो, महाभावो महॉश्चासौ भावो, यश्च महाभवौघः महंतो वा भवौघो यथा मिथ्यादर्शनोघन्तरित्ता संमत्ते ट्ठाति एवं अन्नाणौघं भवकारणंतिकाऊण तं तरति, अचरित्तोघं संवरणावारूढो तरिअ आदाणवत्ति, आदीयत इत्यादानं, एतान्येव ज्ञानदर्शनचारित्राणि आदानं, मुमुक्षोः कम्मं उदीरेऊा कथयेत्यादि, उक्तं–"अट्ठिते

बुद्धाज्ञावर्त्ता ।।४४७।।

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४४८॥ २ श्रु० ६ आर्द्र०

ण ठवेति परं" तथा चोक्तं–'गुणसुट्ठितस्स वयणं०' इति ब्रवीमीत्ति अज्जसुधम्मो जंबुसामीं भणति, इति उदाहरेज्जासित्ति सुधर्मो, परोपदेशाच्चैवं ब्रवीमि ॥ इति आर्द्रकीयाख्यं षष्ठमध्ययनं समाप्तम् ॥

साम्प्रतं णालंदइज्जं, तस्स संबंधो, अहे आयारसुत्तं वुत्तं, इमं सावगसुत्तं, यत्राक्षेपपरिहारैः श्रावका वर्ण्यन्ते, अथवा प्रायेण आयारे सुयगडे य हेट्ठा साधुसुत्ताइं वुत्ताइं, इह तु सावगधम्मअधिगारो, कथं ?, सावयस्स साधुमूले थूले पाणातिवाते पच्चक्खायंमि सुहुमा णाणुजाणति, अथवा छट्ठे अण्णउत्थियएहिं सह वातो, इह तु सतित्थिएहिं, सूत्रस्यापि सूत्रेण 'आदाणवं धम्म उदाहरेज्जा', सो य धम्मो दुविधो–साधुधम्मो अ गिहीधम्मो अ, साधुधम्मो पंचमछट्ठेसु वुत्तो, इह तु सावगधम्मो इत्युक्तः सम्बन्धः, णामणिप्फण्णे णालंदइज्जं, णालंदा, नगारश्चेति, आह च–"गतं न गम्यते किंचित्, अगतं नैव गम्यते। गतागतविनिर्मुक्तं, गम्यते" तमेवार्थं, अकारो वर्त्तमानमेवार्थं प्रतिषेधयति, यथाऽघटः, माकारः क्रियानिषेधकः यथा मा गच्छ, मा कुर्व्वीत, आह च–"मा कार्षुः कम्माणुचिन्ने परो" मा गीत तिष्ठंतं,अन्योर्ध्वजातिधर्म्मात् स्वात्मानं वधत,शान्तं वा,नोकारस्तु प्रदेशं प्रतिषेधयति,स च त्रिष्वपि कालेषु, यथा नो अहमेवं कृतवान् नो करोमि नो करिष्यामि,तदुपयोगस्तु नो सदाऽऽसीत् , इदानीं नकारस्त्रिकालविषयी, नाहमेवं कृतवान् न करोमि न करिष्यामि, आह हि–"नाशिस्तृप्यति काष्ठानां०" उक्तो नकारः, इदानीं अलंशब्दस्य व्याख्या, अत्र गाथा–णामअलं ठवणअलं ॥२०१॥ पर्यालंभूषणवारणेषु, अत्र गाथा–पज्जत्तीभावे खलु पढमो बीओ भवे अलंकारे ॥२०२॥ पर्याप्तौ तावत् अलं देवदत्तो यज्ञदत्ताय, अलं केवलज्ञानं सर्वभावोपलब्धौ, अलं च श्रुतज्ञानं उपलब्धौ, भावे त्वेवं, उक्तं च–"द्रव्यास्तिकन(ह)यारूढः, पर्यायोद्यतकार्मुकः। युक्तिसन्नाहवान् वादी, अ(ग्र)वादिभ्यो भवत्यलं ॥१॥' विभूषणेऽपि, अलंकारैः अलंकृता स्त्री, वर्त्तमानेन

नालशब्द-योविचारः

॥४४८॥

अथ द्वितिय्-श्रुतस्कन्धस्य सप्तमं अध्ययनं आरभ्यते

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४४९॥

अलंकृतं नभश्चन्द्रमसा, उक्तं च–'भवतस्त्वलमेव संस्तवेन', वारणेऽपि अलं, अलं तवैतेहिं, अलं प्राणातिपातेन यतः इहामुत्रापायाः,उक्तं च–"अलं कृतीर्थैरिह पर्युपासितैरलं वितर्काकुलकाहलैर्मतैः। अलं च मे कामगुणैर्निषेवितैर्भयंकरा ये हि परत्र चेह च ॥१॥" अत्र प्रतिषेधेऽलंशब्देनाधिकारः, अत्र गाथा–**पडिसेहणगारस्सा इत्थिसद्देण चेव अलसद्दो०** ॥२०३॥ स्त्रीलिङ्गमेतत्, रायगिहे णगरंमि णालंदा णिवासिणां देति विभवं सुखाद्यॉश्च इत्यतो णालंदा, बहिर्नगरस्य बाहिरिका, णालंदायां भवं णालंदइज्जं, अत्र गाथा–**णालंदाए समीवे** ॥२०४॥ 'पासावच्चिज्जे' पश्यतीति पार्श्वः तीर्थकरः पासस्य अवच्चं पासावच्चं, नासौ पार्श्वस्वामिना प्रव्राजितः, किन्तु पारम्पर्येण पार्श्वापत्यस्यापत्यं पासावच्चिज्जं, स भगवं गौतमं पासावच्चिज्जो पुच्छिताइओ अज्जगौतमं उदओ, जहा तुब्भं सावगाणं विरुद्धं पच्चक्खाणं, पुच्छा गतो उत्तमं, चोरग्गहणविमोक्खणता, तथा च–इह खलु गाहावतिपुत्ता वा धम्मसवणवत्तियाए एज्ज वा, से तां जाव सचेव से जीवे जस्स पुव्विं दण्डे अणिक्खित्ते इदाणिं णिक्खित्ते, एवं परियागावि, तह दीहाउअ अप्पाउअ समाउअत्ति, एवमाइयाइं, उवम्माइं सोतुं उवसंतो। सुत्ताणुगमे सुत्तमुच्चारेतव्वं—**तेणं कालेणं तेणं समएणं** (सूत्रं ६९) अतीतानागतवर्त्तमानस्त्रिविधः कालः, तेनेति च तृतीया करणकारके,तेन यदतीतेन कालेण राजगृहस्य सम्प्रयोगोऽभूत्, समयग्रहणं तु कालैकदेशे,यस्मिन् समये गौतमो पुच्छितो स व्यावहारिकः नैश्चयिकोऽपि तदन्तर्गत एव, जहा कज्जमाणो कडे, एवं पुच्छेज्जमाणे विवुद्धो, अत्र समयो गृहीतः, सेसा तु णो पुच्छासमया, एत्थ णयमग्गणा कायव्वा, राज्ञो गृहं राजगृहं, पासादीयं०, तस्य राजगृहस्य बाहिरिया णालंदा अद्धतेरस कुलकोडीओ०। **तत्थ लेवे नामं गाहावई** (सूत्रं ७०) लेवे णाम संज्ञा,गृहस्य पतिः गृहपतिः, होसुं होत्था, आदिः आदित्यो वा आढ्यः दीप्तचित्तो नाम तुष्टः, पर्याप्तधन-

निक्षेपाः

॥४४९॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४५०॥

वान् 'विच्छिण्णविपुलभवनसयणासण(जाण) वाहणाइण्णे' विस्तीर्णानि आयामतो विस्तरतश्च, कानि तानि ?, भवनशयनासनानि, विउलानि बहूनि, 'पुल महत्वे' विशेषेण पुलानि विपुलानि,कानि तानि ?, यानानि वाहनानि 'यथासंख्यमनुदेशः समाना' मिति-कृत्वा तैर्विस्तीर्णैः भवनशयनासनैर्विपुलैश्च यानवाहनैराकीर्ण उपभोग्यतः संप्राप्ता इत्यर्थः,धनं कृतं, अथवा धनग्रहणेन वैडूर्यादीनि रत्नानि परिगृह्यन्ते, धनधान्य इति च कृता, शाल्यादीनि धान्यानि बहुजातरूपरयतं कंठ्यमेतत्, आयप्पओत इति आयोगो वृद्धिकाप्रयोगः (व्यापारः) इत्यर्थः, अथवा आयोगस्यैव प्रयोगः, द्वन्द्वो वा समाससंज्ञा,ताभ्यां संयुक्तं, विविधं विशिष्टं वा छड्डितं विच्छड्डितं दीयमानं भुज्यमानं वा भुक्तशेषं च, बहुदासीदासं कण्ठ्यमेतत्, ' बहुजन ' इति उत्तमाधममध्यमो जनस्तस्य जाति-कुलैश्वर्यवृत्तैरपरिभूतो मान्यः पूज्य इत्यर्थः, **से णं लेवे समणोवासए होत्था, जाव विहरति। तस्स णं लेवस्स गाहावइस्स णालंदाए बाहिरियाए बहिता उत्तरपुरच्छिमे दिसिभागे एत्थ णं (सूत्रं ७१)** लेवस्स गाहावइस्स हत्थि-जामे णामं वणसंडे होत्था, किण्हे किण्हछाओ, प्रायेण हि वृक्षाणां मध्यमे वयसि पत्ताणि किण्हाणि भवन्ति, तेसिं किण्हाणं छाया किण्हछाया, फलितत्तणेण आदित्यरश्मिवारणात् कृष्णो भवति, बाल्यावस्थानि क्रान्तानि पर्णानि शीतलानि भवन्ति, यौवने तान्येव किसलयमतिक्रान्तानि रक्तभावा ईषद्धरितालाभानि पाण्डूनि हरितानीत्यपदिश्यंते, हरितानां छाया हरितच्छाया, एत एव कृष्णनीलहरिता वर्णा यथास्वं स्वे स्वे वर्णे अत्यर्थं युक्ततमा भवन्ति, स्निग्धाश्च तेण णिद्धो घणकडितडिच्छायत्ति अन्योऽन्य-शाखाप्रशाखानुप्रवेशा घणकडितडिछाए, रम्मे महामेघ इति जलभारणामे प्रावृड्मेघः, समूहः संघात इत्यनर्थान्तरं, मूलान्येषां बहूनि दूरावगाढानि च संतीति मूलवन्तः, एवं शेषाण्यपि, णिट्ठुरं यद्यपि पाण्डुरजीर्णत्वादवाङ् शुष्यंते तथाप्यच्छेद्यात् तन्निरुप-

लेपश्रावकः

॥४५०॥

भोगत्वाच्च वृक्षाणां कालेनैवापाण्डुरा भवन्तीति मूलवन्तः, एवं शेषाण्यपि, प्रसंसा, एवं ताव पासादीया, **तस्स णं बहुदेसम-**
**ज्झभाए लेवस्स गाहावतीस्स सेसदविया णाम तस्स णवगं घरं**, तथा जं सेसं गृहोपयोज्यं काष्ठेष्टकालोहादि, तेण कृता,
केचिद् ब्रुवते–गृहोपयोज्यात् द्रव्यात् यच्छेषं तेन कृता, उदयशाला उदकप्रवाहो सुहं होत्था। **तस्सिं च णं गिहपदेसम्मि**
(सूत्रं ७२), तत्थोवरगउवट्ठाणियगपाणियघराणि पदेसा,तत्थण्णतरे पदेसे भगवं गोतमे विहरति,कथं? ट्ठितो, कथं विहरति?,
उच्यते, ण चंक्रमणादिलक्षणो विहारो गृहीतः, किन्तु उद्धंजाणुअधोसिरज्झाणकोट्ठोवगते, विसेसेण वा कम्मरजो हरतीति विहरति,
कथं सावओ? कथं प्रपा?, उच्यते, प्राग् श्रावकत्वात् प्राक्श्रावकता, साम्प्रतं निरुपभोगित्वादल्पसागारिका, अत एव भगवान्
गौतमः अत्रावस्थितः, भगवं च णं अहे आरामंसि आगत्य रमंते यस्मिन् इत्यारामः, अहे वा आरामस्य, गृहं अधो अधः, तत्थ
भगवान् वर्द्धमानसामी ट्ठितो सेसा य साधवो, तत्थ तत्थ देउलेसु सभासु ट्ठितो, अह **उदए पेढालपुत्ते पासावच्चिज्जे** ॥२०५॥
निग्गन्थे निर्ग्रंथो, किलायं भगवं वर्द्धमानस्वामी भवति न भवतीति?, दुक्खं हि भगवान् अयं ज्ञास्यत इति गौतमस्वामीं आगत्य
भगवं गौतमं एवमाह–**अत्थि खलु मे आउसे!** (सूत्रं ७३), प्रदिश्यते इति प्रदेशः, प्रवचनस्य प्रश्न इत्यर्थः,तथाऽहमपि,
व्याकराहि, एवं पुट्ठे उदएणं पेढालपुत्तेणं सवायं शोभनवाक् सवायः, शोभना तु 'अलियमुवघातजणणं' इत्यादि, अथवा निर्व-
हणसामर्थ्यात् शोभनवाक्, सोच्चा जाणिस्सति, किंचि सुचतेवि ण संमते, वितियचउत्था भंगा सुण्णा, तदेवं ब्रूहि–यदि श्रुत्वा
ज्ञास्यामः ततो वक्ष्यामः, न चेत् ज्ञास्यामो भगवंतं प्रक्ष्याम इत्यर्थः, भगवता गौतमेनोक्ते–**सवायं उदए पेढालपुत्ते य एवं**
**वयासी** सवायंति न मिथ्याहिमानात् पूयाविमत्या, केवलं तच्चोपलंभात्, **अत्थि खलु गौतम! कम्माउत्तिया णाम कम्मं करो-**

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४५२॥

तीति कर्म्मकारः संज्ञैषा शिल्पी वा कर्म्मकारस्य पुत्राः कर्म्मकारपुत्राः, कर्म्मकारपुत्राणामपत्यानि कर्म्मकारीयपुत्रा, समणे उवासन्तीति समणोवासगा, तुब्भआगंति युष्माकं प्रवचनं, सच्चादितौ वा वचनं प्रवचनं, गाहावति समणोवासए 'एवं पच्चक्खावेंति' स्यात्कथं मया श्रुतं तावत्, क ?, साधुसमीपं गतेन वा, वसता तवामं समीपा गतागते तुस्सइत्ति, कथं ते प्रत्याख्यानमित्युक्तं एव माह–'णण्णत्थ अभिओएणं' अन्यत्रेति परिवर्जनार्थः, अभियुज्यत इत्यभियोगः, तंजहा—रायाभिओगेणं गणाभि० बलाभि० रायाभि० जहा वरुणो णागमच्चु(णत्तु)ओ रायाभियोगात् संग्रामं कृतवान्, अण्णो वा कोयि रायविच्चो वा जीवो संग्रामे पराहन्यते, एवं गणाभियोगेवि, मल्लगणादी, जहा रायभियोगो तथा हिंस्रव्याघ्रमादिजीवितान्तकरान्निवारयेत्, नाशरीरस्य धर्मो भवतीत्यतः ते, अत्रापि रायाभियोगवद्द्रष्टव्यं, आकार एव च एतावान् भवति, जे पच्चक्खाओ चेव रायाभियोगादि आगारं करोति, जहा स हिमादिअभिभूतो पलायंतो तसे पेच्छेति, स्यात्, कथं तसपाणेसु णिक्खित्तदंडस्स आयरियस्स एगिंदियवधाणुण्णा ण भवति ?, उच्यते–'चोरग्गहण(वि)मोक्खणयाए'त्ति उदाहरणं—एगंमि णगरे रण्णा तुट्ठेण अंतेपुरस्स रत्तिं सच्छंदपयारो दिण्णो णागरेहिवि रायाणुवत्तीए, वरिसे वरिसे तद्दिवसं महिलाचारोऽणुण्णातो य, पत्ते च दिणे रण्णा घोसावितं–जो पुरिसो अतीति तस्स दंडो सारीरो, ते च णिंति, चिट्ठेसु वारेसु ताओ रायाणिओ णगरमहिलाओ य सच्छंदं सुहं रत्तिं अभिरमंति, तत्थ कदायि एगस्स वाणियस्स पुत्ता मावणे ववहारमाणा अतीव कयविक्कये वट्टमाणा अत्थलोभी जहिच्छितं पणियं विक्केमाणा ते वड्ढिता जाव सूरो अत्थंतो, महिलाओ य आहिंडिऊण पव्वत्ताओ, ते य भीता तंमि चेव सावणे णिलुक्का, वत्ते महिलाचारे सूचकेहिं रण्णो कहिता, वज्झा आणत्ता, पिता य तेसिं सव्वपगतीहिं समं विण्णवेति, दण्डं देमि, अप्पथ मम पुत्ते, राया अतीव वड्डिज्जमाणो

गौतमोद्-कपेढालो

॥४५२॥

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥४५३॥

भणति–एकं ते जेट्ठपुत्तं मुआमि, सो भणति–सव्वे मुअह, इतरो भणति–जेट्ठपुत्तं ते मुआमि, इतरे ण मुआमित्तिकट्टु, तं मोत्तुं सेसा विरसमाणस्स घातेति, एवं साधूवि सावगं भणति—छसु जीवणिकाएसु णिक्खिप्प दंडं, सो णेच्छति, इत्यतः चोरग्रहण-मोक्खणट्ठताए साधुणा सेसा काया अणुण्णाता ण भवंति, स्यात् कथं चोरास्ते स्वगृहे तिष्ठन्तः ?, उच्यते, राज्ञा न तेषां अनु-ज्ञातस्तस्यां रात्रौ नगरे वास इत्यतः, अथवा सेत्ति पुत्ता रण्णा कम्हि य आयोए णिउत्ता, तेहिं किंचं किंचि तत्थ अविहतं, तत्रापि तदेव जाइज्जमाणो राया चिराणुगतोत्तिकाऊण एक्कं विमज्जेति, उदए आह—तसेहिं वेइंदियादीहिं 'णिधय'त्ति धकारस्य ह्रस्वत्वे कृते निधय भवति, निक्षिप्येत्यर्थः, एवं तेसिं साधूणं पच्चक्खंताणं सव्वगतिग्राहित्वात् त्रसानां दुपच्चक्खातं भवति, तथा च–न जातित्रसः कश्चिज्जीवोऽस्ति, त्रसानां सर्वकालत्वात्, तथा प्रत्याचक्षाणानां श्रावकाणामप्यसर्वकालत्वादेव त्रसाणां दुपच्च-क्खातं भवति, एवं ते परमं पच्चक्खावेति–माणंति, पर इति, साधूनां तावत्परः श्रावकः, अतिचरंति सयं पतिण्णं, अतीत्य चरंति अतीत्य वर्त्तन्त इत्यर्थः, कतरं ?, पतिण्णं च यथा वयं तसेभ्यो विरता इत्यर्थः, यदि हि अन्यन्तत्रमाः स्युः त्रसकाये मोत्तुं अण्णत्थ, अण्णत्थ ण उववज्जेज्ज इत्यर्थः, श्रावकानामतिचारेयुः स्वां प्रतिज्ञां, जम्हा य ते साधुणो जाणंति णत्थि कोयि अचंत-तसाति, सो हि य पच्चक्खावेन्ता घिज्जादिता भवंति श्रावकाः, मृषावादवादित्वाच्चातिचरन्ति, स्वां मृषावादवेरमणप्रतिज्ञां, श्रावक-स्यापि साधू पच्चक्खंतिओ परो तेण परेण अप्पणो पच्चक्खावेमाणा असर्वकालत्वात् त्रसानां अतिचरंति स्वां प्रतिज्ञां, य था वयं त्रसेभ्यो विरता इति, अप्पाणं साधुं च पच्चक्खायंतयं विसंवादयन्ति 'कस्स णं तं हेतुं'ति कस्माद्धेतोरित्युक्तं भवति, संसारित्वात्स-र्वजीवानामिति हेतुः खल्विति विशेषणे, किं विशिनष्टि ?, न कश्चित्संसारी जीवोऽस्ति हि तासु तासु गतिसु न संसरति, थावरावि त्रिप्र-

त्रसभूत-विचारः

॥४५३॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४५४॥

कारा: त्रिप्रकारेष्वेव त्रसेषूपपद्यन्ते, त्रसा अपि त्रिप्रकारा: त्रिप्रकारेष्वेव स्थावरेषूपपद्यन्ते, थावरा पाणा विप्पमुच्चमाणा केयि थावरा, थावरत्ता य कालं किच्चा तसकायंसि उववज्जंते ततो सावगस्स तसस्स ट्ठाणं पट्ठण्णं भवति, जओ सावगेणं स्थावराणं ण पच्चक्खायंति, तसावि केइ तसत्ताओ कालं किच्चा थावरकायंसि उववज्जेज्जा, ततो सावगस्स तं थावरट्ठाणं अघत्तं भवति, जतो सावगेण तसाणं पच्चक्खातंति, घातनीयं घात्यं वा घत्तं, दोच्चेव एताइं संसारिजीवट्ठाणाइं, तसट्ठाणं थावरट्ठाणं च, तं च तसट्ठाणं सावगस्स स्थूलत्वात् प्राणातिपातस्य तीव्राध्यवसायोत्पादकत्वाल्लोकगरहितत्वाच्च अघत्तं, स्थावरट्ठाणं पुनस्तैरेव कारणैः सह तेजोवायुभ्यां घत्तं, दृष्टान्तो नागरकवधनिवृत्तिवत्, यथा कश्चिद् ब्रूयात् मया नागरको न हन्तव्य इति, स च यदा तं नागरकं ग्रामगतं हन्यात् तदा तत्किं प्रत्याख्यानं न भग्नं भवति ?, स्यात्कथं सुप्रत्याख्यापितं भवति साधोः कथं च सुप्रत्याख्यातं भवति श्रावकस्य ?, उदओ आह–तत उच्यते, तेसिं साधूणं पच्चक्खायंताणं एवं पच्चक्खायमाणाणं सुपच्चक्खातं होज्जा सावगाण तेहिं साधूहिं पच्चक्खावेंताणं एवं सोपच्चक्खातं होज्जा, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा, परशब्दो हि उभयग्राहि, पच्चाइक्खंतस्स हि पच्चक्खावेमाणे परो, पच्चक्खावेंतस्सवि पच्चक्खाइओ परो, इत्युवाच, यथापि परशब्दः नातिचरन्ति स्वां स्वां प्रतिज्ञां, णण्णत्थ अभिजोएणंति, सो हि गाहावतिचि यावन्न व्रतानि तावद् गृहपतीत्युच्यते गृहीतानुव्रतस्तु श्रावकः उपासको वा,'तसभूतेहिं पाणेहिं'ति ऋजुसूत्रादारभ्य सर्व एव उपरिमा णया नैयायिका ते तु वर्त्तमानमेवार्थं प्रतिपद्यन्ते न त्वतीतानागते इत्यतो नैश्चयिकनयमधिकृत्योच्यते त्रसत्वं भूतं येषां तत्र भूता, वर्त्तमानमित्यर्थः, न त्वनागतं घृतघटदृष्टान्तसामर्थ्याच्च ते भवन्ति त्रसभूताः, ते हि त्रसभूतेहिं पच्चक्खंतस्स साधुस्स अलियवयणवेरमणं ण भग्गं भवति, पच्चक्खावेंतस्स य सावगस्स स्थूलगपाणातिपातवेरमणं ण भग्गं भवति,

त्रसभूत-विचारः

॥४५४॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४५५॥

को दृष्टान्तः?, क्षीरविगतिप्रत्याख्याने दधिपानवत्, यथा क्षीरविगतिप्रत्याख्यायिनः सस्वरमपि दधि पिबतः प्रत्याख्यानं न भञ्जते एवं त्रसभूता मया सत्त्वा न हन्तव्या इति स्थावरानपि हिंसतोऽपि न प्रत्याख्यानातिचारो भवति, एवं तसभूते पच्चक्खाउं सावगस्स, थावरेसु त्रसत्वं नास्तीतिकृत्वा स्थावरान् हिंसतोऽपि न त्रसप्राणातिपातातिचारो भवति, एवं सति भासापरिकम्मे— विज्जमाणे भासापरिकम्मे णाम वाग्विषयविशेषः, स्यात् को विशेषः? ननु भासाभिधानभूतशब्देन सङ्गृहीतं नित्यं यो विशेषो विज्जमाणो, को हि णाम अविसेसीतं पच्चक्खाइ?, कोधेण, माणोऽपि कोधाणुगतो चेव धूमाग्निवत्, लोभेण सावगा जाता संता अम्हं असणादी दाहिन्ति, देशो नाम उपदेशः दृष्टिर्वा उपदेशः, अपिः पदार्थादिषु, उम्मग्गदेसणा य भवति, यतु पच्चक्खाणं सुज्झति, मोक्खं णयणशीलो णेयाउओ, अवियाइं जाव रोयइ। **गौतमो भगवानाह—णो खलु आउसो!** (सूत्रं ७५), पेढालस्य तत्कथं न रोचति?, उन्मार्गवर्जनवत्, को णाम सचेतणो जाणमाणो उज्जुयं खेमं आसण्णगमणं च पंथं मोत्तूण तच्चिवरीतेण पंथेण वच्चेज्जा?, को वा जाणंतो णिव्विसं भोअणं मोत्तूण सविसं भुंजेज्जा?, समणा चेव माहणा तत्पुरुषः समासः, अथवा माहणा श्रावकः, एवं आइक्खंति जाव पण्णवेंति—णो खलु समाणे समाणा समणेहिं तुल्या समाणा असच्छ्रमणैस्तुल्या इत्येवमाख्यान्ति, अणुगामियं खलु जाए अणुगच्छन्ति संसारं सा अणुगामिया भवति, अभूतोऽभावनं अभ्याख्यानं भवति, निह्नवो वा, संयतवत्, सो असंयतं संयतं ब्रवीति सो अभ्याख्यातो भवति, संयतं वा असंजतं भणति सोवि अभिक्खातो भवति, उक्तं हि—"जे णं भंते! परं असंतेणं० अप्पमंपि अब्भाइक्खा०" विधिं अजाणंति, अम्हे पच्चक्खाणविधिजाणगा, ते समणेत्ति ते आयरिया सिस्साणं समणाणं उवदिसंति जहा सावगाण एवं पच्चक्खावेज्जाह, जेहिवि अण्णेहिं पाणेहिं जाव सत्तेहि संजमंति तेवि

त्रसभूत-विचारः ॥४५५॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४५६॥

स्यात्कयरे स्यादन्ये प्राणा एगिंदिए० पंचिंदिए, तत्थ वणस्सतिकाएण दरिसणेइ, वणस्सतिकायसमारंभस्स पच्चक्खाणं तं आर्द्रच्छेदस्येत्यर्थः, तत्थ णाम तेण वणस्सतिभूतस्स पच्चक्खातं, किं कारणं ?, सोवि संसारी कदायि पुढविकाएसु उववज्जति तेण तं पुढविकाइयं वधंतेण तुब्भंचएणं पच्चक्खाणं भग्गं भवति, अथ भूतशब्दमंतरेणंपि वणस्सइत्ति समारंभपच्चक्खाणं सुज्झति, कस्स त्रसेष्वपरितोषः, अथवा जेहिवि अण्णेहिवि पच्चाइक्खंति तेवि ते अब्भाइक्खंति, कथं तर्हि ?, अत्र हि प्रत्याख्येया गृह्यन्ते, नतु पच्चक्खंतओ पच्चक्खावेंतओ वा कथं अब्भाइक्खिअत्ता भवंति ?, जेण तेसु भूतशब्दः प्रयुज्यते, भूतशब्दो हि यातोऽगगतिं गत्वा औपम्ये वा तदर्थे वा, औपम्ये तावत् सो देवलोकभूतेऽन्तेपुरे गतो, तदर्थेन सीतीभूतो परिणिव्वुतो, औपम्ये तावन्न घटते, किं कारणं ?, णत्थि अण्णो कोयि तसकायो, जहा देवलोके देवड्ढी, तत्र शब्दादिगुणोपेतत्वाद्देवलोकभूतं अंतेपुरं वरं, एवं ताव णत्थि कोइ अतसओ जेण तसा तसभूता वुच्चेज्जा, तदर्थोऽपि न घटते, कथं ?, जात्यभेदात् यथा उदकं अग्निनायामुदकजातौ अशीतं सीतीभवति, शीतं वा अशीतीभवति, किमेवं त्रसस्त्रसत्वेनाविगत एव सन् त्रसीभवति, त्रसीभूतश्च पुनस्त्रसीभवति ? यस्माच्चैवं तस्माद्भूतशब्दो होढ एव, होढश्चाभ्याख्यानमित्यतो येऽपि प्रत्याख्येया तेऽपि अब्भाइक्खंति, कथं ?, जो हि साधुं साधुभूतं भणेज्जा तेण सो अब्भक्खातो, कथं णाम सो साधु साधुभूतो पुण असाधु साधूभूतं भणंतो तं साधुमब्भाइक्खंति, कस्स णं तं हेतुं ?, कस्माद्धेतोः अब्भक्खा होति, जेण तसथावराणं पाणाणं अण्णोण्णं संकमणं अविरुद्धं, सत्यप्यविरोधे तसेसु उववण्णा थावराणं तसट्ठाणं अघत्तं अघातनीयमित्यर्थः, अर्थतः प्राप्तं तसाणं थावरेसूववण्णाणं ठाणमेतं घत्तं, तदपि अणट्ठाए अघत्तं, अट्ठाए घत्तं, शेषं कंठ्यं णागरओ मए ण घातेतिब्बोत्ति तं गामंपि गतं यो घातेति तेण पच्चक्खाणं भग्गं भवति, एवं तसा मए ण घातयि-

त्रसभूत-विचारः

॥४५६॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४५७॥

तव्वा, सो य थावरेपि तत्ताए गते घातेंतो तमथावरेण पुट्ठो, जइ पुण तसभूतो भणेज्ज तो मुंचेज्जा, तदयुक्तं, कथं ?, णिच्छयणए पडुच्च णागरट्ठितो णागरओ तीर्थकाकवत्, एवं सो मए तसो ण घातेयव्वोत्ति तस्सामेव जातौ वर्त्तमानोऽधात्यः, थावरगतो पुण ण चेव तसो भवतीत्यतो तसट्ठाणं अघत्तं, उदओ **सवायं उदए** (सूत्रं ७६), ण रोसेण पडिणिवेसेण वा, ओभावणट्ठता वा न केवलं, किं तु कुसलं गवेषित्वा, कतरे तुब्भे वदह तसपाणा कंठो, सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—जे तुब्भे वयह तसभूता पाणा ते वयं वदामो तसा पाणा भूता, एते तसा विजंति, तसा य तसभूता, यद्यप्येकः भूतशब्दोऽधिकः, तस्याप्यर्थः भवतो न भवतीत्यतो तुल्या, एकाश्रयत्वात् एगट्ठा, सुखं सुखोचारणात्, सूपनीततराप्येवं उपनीयतरा, तसा पाणा, अर्थमुपनयतीत्युपनीतं भवति, किं सुखतरं तसभूताभिधाने अत्थो वण्णिज्जति ?, मन्यत इत्यर्थः, तसाभिधानेन सुखतरं उवणिज्जति, भूतसद्दो पुण औपम्ये तदर्थे च वर्त्तते, तदर्थे तावत् जम्हा भूतो भवति भविस्सति तम्हा भूते, अथवा सीतीभूते परिणिव्वुडे य, तम्हा उसिणे उसिणभूते जाते आविहोत्था, औपम्येऽपि स देवलोकभूते, स एवं द्विधा भूतशब्दो वर्त्तते, अप्येवं संमोहं जनयति नतु निण्णयं, कथं ?, न हि कश्चित्रसतुल्योऽन्यः कायोऽस्ति जेण वच्चेज्ज, परिशेषात् तदर्थ एव घटते; तदर्थोऽपि च भूतशब्दमन्तरेणापि स एवार्थः सेत्स्यति, परि समन्तात् कुश आक्रोश, नेनिंदध आक्रोशत इत्यर्थः, नयनशीलो नेयाइओ मोक्षं नयतीत्यर्थः, अभिमुखं नंदध प्रशंसत इत्यर्थः, अयंपि निदेशे, दर्शनं दृष्टिर्वा देशः उपदेशो मार्गः, स्वसिद्धान्तख्यापनार्थमित्यर्थः, किंचान्यत्—जं तुब्भे भणह तसभूएहिं पाणेहिं णिक्खित्तदंडंति तं समयविरुद्धं, कहं ?, भगवं च उदाहु संतेगइया पुरिसा भवन्ति, गब्भवक्कंतिया संखेज्जवासाउया आयरिया वुत्तपुव्वत्ति अतीतकालो गहितो, एगग्गहणेण वट्टमाणोवि गहितो अणागतोवि,

त्रसभूत-विचारः

॥४५७॥

अतीतग्गहणं तु अनादिसिद्धमार्गस्थापनार्थं, 'गुपू रक्षणे' तस्या गोत्रं भवति, उक्तं हि–"ण णिव्वहे मन्तपदेण गोत्तं" संयममित्यर्थः, 'अणुपुव्वेणं'ति अनुव्रतानुक्रमः, अथवा थोवथोवं संजममाणो जाव एगारस समणोवासगपडिमा, एवं अणुपुव्वीए 'माणुस्सखेत्त-जाति०' अथवा 'अट्ठण्हं पगडीणं' अथवा 'सवणे णाणे य विण्णाणा' संखं ठावेंति, किं?, कोयि एक्कं अणुव्वतं कोयि दोण्णि जाव पंच एवं उत्तरगुणेसु विभासा, **नागार्जुनीयास्तु** एवं अप्पाणं संकसावेंति,'कष गतौ' तस्मिन्नेव गृहीधर्मे सम्यक् आत्मानं कसा-वेंति संकसावेंति, न प्रव्रजतीत्यर्थः, ताणि पुण वताणि एवं गेण्हंति णण्णत्थ अभिजोएणं जाव अहाकुसलमेव, जहा साधू सव्वतो विरतो एवं तेसिंपि, जहा इत्युपमाने, थकारस्य व्यञ्जनलोपे कृते आकारे अवशिष्टे भवति, किं ज्ञापकं?, ततो पच्छा तसा अधा लहूए स णाम पट्ठवेतव्वे सिया, जेसु पुण सो पच्चक्खाणं करेति तसथावरा वा स्यात्, कथं?, तसो थावरो वा भवति?, उच्यते–**तसावि वुच्चंति** (सूत्रं ७७), तहा लहूए स णाम एस्सा तसत्ति संज्ञा सा दुविधा, गोणी पारिभाषिकी च विभाषि-तव्या, इयं तु न पारिभाषिकी इन्द्रगोपकवत्, गोणि भास्करवत्, तत्कथं संभारकडेण तसा णाम, णामसमारंभो णाम, त्रसत्वात् त्रसेषूपपद्यते, किमुक्तं भवति?, जइवि तेहिं थावराणामकम्मं बद्धं तं च लहुं थावरेवि, थावरेसु ण उववज्जंति, उक्तंहि–यद्गुरुसं-पचासन्नं, त्रसंतीति त्रसा गोणीसंज्ञा, जति पुण तसा वच्चेज्जा तेण तसभूतणामं णामकर्म्म वुच्चेज्ज, तत्रोधतो तेण तसा चेव अभ्यु-वगतंति, लोगुत्तरे च तसा चेव अभ्युपगम्यन्ते, न तु तमभूता, उदग आह–केचिरं तसा वुच्चंति?, जाव तसाऊ अपलिक्खीणं, उक्कोसेणं जाव तेत्तीसं सागरोवमाणि, **नागार्जुनीयास्तु** आउअं च णं पलिक्खीणं भवति तसकायट्ठितीए वा न ततो आउअं विप्पजहित्ता तिण्हं थावराणं अण्णतरेसूववज्जंति, थावरावि वुच्चंति संभारकडेण, उदिज्जमाने उदीर्णे इत्यर्थः, णामं च णं तहेव

अपलिक्खीणे दो आदेसा, ते ततो आउयं विप्पजहित्ता, लोगोत्ति, ते तसा ते पाणावि, अपि पदार्थादिषु, पाणावि भूता जाव सत्तावि, एवं ताणं चत्तारि णामाणि अविशिष्टानि तसेसु वट्टंति, इदं तु विशिष्टं तसा वुच्चंति, महाकायिति, प्रधानेनाहिगतं तीर्थकरवैक्रियाऽऽहारकशरीराणि प्रतीत्य बहुत्वं वैक्रियं प्रतीत्य, योजनशतसहस्सं, चिरट्ठितीयं तेत्तीसं सागरोवमाइं ॥ **सवायं उदए भगवं गोतमं** (सूत्रं ७८), आउसंतो! गोतमा! छिण्णं सो कोयि जाव सव्वपाणेहिं स दंडो णिक्खित्तो स्यात्, को हेतुः?, उच्यते–'संसारिया खलु' खलु विशेषणे, संसारिया एव संसरंति, ण तु सिद्धा इत्यर्थः, अविरुद्धः संक्रम इतिकृत्वा, सव्वेवि तसा थावरकाए उववण्णा, तेसिं च सव्वेसिं पाणाणं स्थावरेसूववण्णाणं ठाणमेयं घत्तं, जं तसपाणा एव सव्वे तसथावरा होज्जा, थावरा वा तसा होज्जत्ति, ततो सावओ कतरे ते तसा जेसु संजतो होज्जा?, सवायं भगवं गोतमे उदयं पेढालपुत्तं–अस्माकं वक्तव्यं, किं उत्तरमत्र? निमित्ताभावे नैमित्तिकाभाव इतिकृत्वा प्रदीपप्रकाशवत्, तावकं प्रवादं अनुसृत्य वादोऽनुप्रवादः, अनुसृत्य योऽन्यः प्रवादः, जहा 'पुढवीआउजलेण य अग्गिंधणेणं तणेण य भूइट्ठं। कज्जं जणो करेति अत्थत्थी धम्मकामे य ॥१॥ एवं उववत्तीए णज्जति, जइ सव्वे थावरा तसेसु उववज्जेज्जा जेसु य सावएण णिक्खित्तो दंडो, पच्छा सावगस्स तेसु थावरेसु तसीभूतेसु ठाणमेतं अघत्तं, कतरेसु थावरेसु?, जेसु सावओ दंडं णिक्खिवति, ज्ञापकं म्रियमाणावि हु उदयं रुचेंति, उदगं अप्काएवि पुण्णाए, अथवा अपगंतव्वयं संसारिणो पाणा तसा थावरेसु उववज्जंति, थावरावि तसेसु, एवं अम्हं वत्तव्वे तुम्हेवि अणुवदह, जइ एवं सम्मं मुणह से एगतिया, ण सव्वेसिं, थावराणं तसेसूववण्णाणं ठाणमेयं अघत्तं, ते पाणावि वुच्चंति ते अप्पतरा ते बहुतरा जाव णो णेआउए ॥ **इह खलु संतेगतिया मणुस्सा** ( सूत्रं ७९ ), संखेज्जवासाउया कम्मभूमगा आयरिया असावगा, दंसण-

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४६०॥

तानगा वुत्ता, पुव्वं तिविधो कालो गहितो, जे इमे मुंडा एतेसु इमो आइ मर्यादायां जावज्जीवाए उक्कं भवति, तेसिं च अगारीणं केइ पच्चइता, पच्छा मो, तेः जइवि पुव्विं अघकारिणो तथावि ण उद्दवेंति, कदाइ ते पव्वइज्जा पच्छा पच्चक्खाणी, जइवि उद्दवेति वेरेण अण्णेण वा केणइ कारणेण तहावि तस्स तस्स तं पच्चक्खाणं ण भज्जति, उक्तो दृष्टान्तः अयमर्थोपनयः—एवमेव समणोवासगस्सवि थावरेसु पाणेसु दंडो णिक्खित्तो, ते य थावरा कालं काऊण तसेसु उववज्जंति पच्छा सो तमेव ण मारेति जहा सो पच्चक्खाणी पव्वइतं संतं ण मारेति उप्पव्वइतं मारेति एवं सावओऽवि तसं तसीभूतं न मारेइ, पुणरवि थावरीभूतं मारेमाणोवि ण अपच्चक्खाणीति, से एवमाजाणहत्ति उवसंहारो गहितो, एवं च ज्ञायमाने वा सम्मं णाणं पडिवण्णं भवति, एवं ताव नेसु पच्चक्खाणं करेति तेषु कर्म्मभूतेषु विधिरुक्तः, इदानीं प्रत्याख्यानिनो गृह्यन्ते, ते च पूर्वमप्रत्याख्यानीभूतं पश्चात्प्रत्याख्यान्ति, पच्छा पुणरवि अपच्चक्खाणं भवति, तंजहा—भगवं च णं उदाहु णियंठा खलु गाहावतिं तहप्पगारेहिं कुलेहिं आरिएहिं भोज्जियट्ठियपव्वावणारिया, शेषं कंठ्यं, शुभोऽव्याधिः, कुष्ठादिस्तु विशेषतः, मनसा ज्ञायते मनोज्ञः मनसा नामः, दुक्खिणो सुहो जइवि अहं तेण रोगान्तकेण अभिभुतो बंधवे भणेज्ज, हंत संप्रेषणे, मयात्रायंतीति त्रातारो इमं दुक्खं परिएत ममं अर्जनरक्षणादिसमुत्थं भवति, निमित्तमेव दुक्खमुत्थितं मा वधते, तद्भवं तदेणं प्रत्यापयन्तु, स्याद् अचेतनत्वात्, कामभोगानामामन्त्रणं, उक्तो आगारः, दृष्टान्त उच्यते, पृथक् सूत्रीकरणं ?, उच्यते, णिक्खेवो वुत्तो बितिए दंडे, णिक्खित्तेसु भुंजतिकामो दरिसितो, अथवा समणोवासगा अधिकृता, तेसिं च णो कप्पति अण्णउत्थिया वा अन्नउत्थियदेवताणि वा, साधुणा ते दूरतो वज्जेयव्वत्तिकाऊणं ते उट्ठितेवि ण पच्चक्खावेस्सति इत्यतः पृथक् सूत्रीकरणं, णियंठा पुच्छितव्वत्ति, ते चेव पासावच्चिज्जा णियंठा पुच्छिज्जंति तुब्भंति,

त्रसभूत-विचारः

॥४६०॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४६१॥

किं पुरा संमतं उदाहु णावि, अथवा पुच्छिज्जंति तुब्भंपि किं दार्ष्टान्तिकोऽर्थो दृष्टान्तेन साध्यते ?, न तु प्रतिज्ञामात्रेण, देवसिद्धिः आज्ञामात्रादिति चेत् सर्वस्य सर्वसिद्धिरिति परिशेषात् दृष्टान्तसिद्धिरिति, तत्र दृष्टान्तः, इह खलु परियागा चरगादयः परियाइयाओ तेसिं चेव यथास्वं प्रव्रजिताः स्त्रियः, यथा चरिकाभिक्षुणीत्यादि, अण्णउत्थियाई तित्थायतणाइं, ते चेव पासंडिया चरिगादयः, ते पुण केइ चरगेसु चेव वच्चंति, केइ अण्णे चरगतव्वणियादि वुत्ता जेसु पच्चक्खाति सावओ, जे य पच्चक्खायंता सावगा आगारिणो परियाइगा य, इदाणिं जं वुत्तं णत्थि ण से केइ परियाए जेण समणोवासगस्स एगपाणाएवि दंडे णिक्खित्ते सव्वपाणे हिंसादंडे अणिक्खित्ते, तत्थ वुत्ते ते दुविधा सावगा साभिग्गहा य निरभिग्गहा य साभिग्गहे पडुच्च वुच्चति भगवं च णं (सूत्रं ८०), भगवं तित्थगरो चशब्देन शिष्या ये चान्ये तीर्थकराः, संतेगइया समणोवासगा जेसिं च णं णो खलु वयं पच्चइत्तए, वय णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ० पडिपुण्णंति चतुर्विधं, थूलगं पाणाइपातं पच्चक्खाइस्सामो जाव थूलगं परिग्गहं, सो चतुर्विधं पोसहिनो णियमा सामाइयकडो चेव होति-सामाइयकडो य भणति–मा खलु समट्ठाए किंचि रधणपयणण्हाणुम्मद्दणविलेवणादि करेह, महेलियं अण्णं भणति–कारवेह, होति इस्सरो महेलियं दोसीणमहाणसियाण वा संदेसं देति, तत्थ विपस्सामोत्ति, एवं अगारिसंदेसए दायव्वे, अथवा यदन्यत् सामाइयकडेण कर्तव्यं तथावि पच्चक्खाणं करिस्सामो ते, अभोज्जत्ति अपेयत्ति आहारपोसहो गहितो, असिणाइंतित्ति सरीरसक्कारपोसहो, आसंदपलियं० दब्भसंथारगतो पोसहो चेव, सातासोक्खाणुबन्धो य सुसिरं च, जे पुण ते तहा पोसहिया चेव दंडणिक्खेवो, एवं सव्वपोसहेवि, जेण वातादिएण वग्घादीण वा कुड्डपडणेण वा ते केवि वत्तव्वा संमं कालगता, न बालमरणेनेत्यर्थः, नागार्जुनीयास्तु सामाइयकडेऽहिकाउं सर्वपाणातिवातं पच्चक्खाइक्खिस्सामो तद्दिवसं, उक्तं

उदकबोधः

॥४६१॥

श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४६२॥

हि—" सामाइयंमि तु कते० " यतश्चैवं तेण जं भणितं णत्थि णं से केयि परियाए जेण समणोवासगस्स एगपाणाएवि दण्डे णिक्खित्ते, णणु पोसहकरणेण चेव दंडणिक्खेवो एवं सव्वपोसहे देसपोसहेवि देसदंडणिक्खेवो, उक्तं च–'जत्तो जत्तो णियत्ति०' एवं ताव सामिग्गहा वुच्चंति। भगवं च णं उदाहु संतेगइया समणोवासगा भवंति तेसिं च णं एवं खलु मुंडा भवित्ता णो खलु वयं अणुव्वताइं मूलगुणे अणुपालेत्तए, णो खलु उत्तरगुणे, चाउद्दसट्ठमीसु पोसहं, अणुव्वयं सम्मद्दंसणसारा, अपच्छिममारणंतिमणवकंखमाणोत्ति, मा य हु चिंतेज्जासि जीवामि, वरं सव्वं पाणातिवायं पच्चक्खाइस्सामि, वुत्ता चउहिं आलावएहिं पच्चक्खाइणो, इदाणिं जेसु पच्चक्खाति ते पुणो वुच्चंति–भगवं च णं संतेगतिया मणुस्सा महारंभा महापरिग्गहा अधम्मिया सव्वातो पाणाइवातातो अपडिविरता जाव परिग्गहातो, आदाणसोत्ति कम्माणामादाणं जाव कर्मादानानां प्रकारा हिंसाद्या तेसु 'सगमादाए'त्ति स्वकर्म्म आदाय दुर्गतिगामिणोति णिरयदुर्गतिं गच्छंति, ते पाणावि वुच्चंति तसावि वुच्चंति जाव णेयाउए। जइ सव्वे तसे मरिउं बायरे उववज्जेज्जा तोवि तुब्भचयं वयणं ण गेज्झं होज्जा, जेण केइ तमा तसेसु चेव उववज्जंति तेण अणेगंतिया वा प्रमाणं। भगवं च णं संतेगतिया मणुस्सा अपरिग्गहा अधम्मिया जाव सगमादाए सोग्गइमायाए सोग्गइगामिणो देवेपूत्पद्यन्ते देवगतिं गच्छंतीत्यर्थः, ते पाणाइ०, भगवं च णं संतेगतिया मणुस्सा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा जाव एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरता एगच्चाओ अपडिविरता चेव सावगा, जेहिं समणोवासगस्स आदाणसो दंडे णिक्खित्तो ततो आउसं सगमादाए सोग्गइगामिणो देवेपूपपद्यन्ते, उक्कोसं जाव अच्चुओ कप्पे, ते पाणावि वुच्चंति, भगवं च णं संतेगइआ पच्चायान्ति ते पाणा यित्थ य परत्थ य संते० णो विप्पजहंतीतिकट्टु, तेसु सावगस्स सुपच्चक्खातं भवति, जम्हा य ण सव्वे तसा थावरेसु उववज्जंति, तम्हा अणेगंतो, अणेगं-

उदकबोधः

॥४६२॥

तिकश्च हेतुः ? भगवं च० संतेगतिया पाणा दीहाउया, कयरे पाणा ?, तसा, तत्थवि नारकदेवा अवज्झा तहवि सावओ तेसु पच्च-
क्खइ, सेसतिरिक्खजोणिया बेइंदिया जाव पंचिंदियतिरिक्खा मणुस्सा, एतेसु दव्वपाणातिवादो भवति, भावपाणाइवादो तु
चउसुवि गतिसु, मणुस्सतिरिया पुण दीहाउया णिरुवक्कमाओ उत्तरकुरुगादीणं अवि दव्वपाणाइवातो णत्थि, धम्मचरणं पडुच्च
दीहाउया वा अप्पाऊ वा, सेसेसुवि सुसमकालेसु उसण्णं णिरुवक्कम्माऊया, दोसु दुस्समकालेसु चउट्ठाणपडिता, इह तु चरणकाले
चेव सावगो भवति, तेहिं दीहाउएहिं सावओ पुव्वामेव कालं करेति, ते य दीहाऊया तसत्तणं विप्पजहंति, तेसु सावगस्स सुप-
च्चक्खातं भवति, समओ विसए सुपच्चक्खातं भवति, कथं ?, भो तेहिं समाउआ इच्चेवं कालं करेंति, ते य तसेसु वा अण्णत्थ वा
उववज्जंति जावज्जीवं पच्चक्खाणंति तसेसु विरता चेव होंति, तेण अप्पाउआ तसा ते पुव्वामेव समणोवासगाओ कालं करेंति, तत्थ
जइ तसेसु उववज्जंति तेसु पच्चक्खातं चेव, अथ थावरेसु आसी ततो सोऽविरतो चेव, दृष्टान्तः स एव क्षीरप्रत्याख्यायी, तदेव
क्षीरं दधिभूतंपि, सुप्रत्याख्यातं भवति, इदाणिं दिसिवतं देसावगासियं च पडुच्च वुच्चइ, भगवं च उदाहु एवं वुत्तं भवति—णो
खलु वयं संचाएमो मुंडे भवित्ता० णो खलु चाउद्द० णो खलु अपच्छिम० वयं पव्वदिवसेसु वा दिया वा रातो वा अभयं तं
चंकमणादि कुर्वते न भवति, खेमं करोतीति खेमंकरः, सामाइयदेसावगा० पुरओ काउं पुरस्कृता पाइणं खेमं पयच्छामो अभयं,
तं चंकमादि कुर्वतो न भवति खेमं करोतीति खेमंकरः ॥ तत्थ आरेणं (सूत्रं ८१), परेणं जावतिए णिक्खित्ते दिसिवतं देसा-
वगासियं वा कतं, णव भंगा नवसूत्रदण्डकाः, श्रावकेन पञ्च योजनानि किल देसावगासिकं गृहीतं तत्र चेयं भावना—पंचभ्यो
योजनेभ्यो आरतो ये त्रसाः प्राणिनस्तेषां प्रत्याख्यानं करोति, तत्र ते पंचयोजनाभ्यंतरे केऽपि त्रसाः ते स्थानत्रये उत्पद्यंते,

श्रीसूत्रकृ-ताङ्गचूर्णिः ॥४६४॥

तत्र प्रथमं तावत्पञ्चयोजनीभ्यः अंतरवर्त्तिषु त्रसेष्वाश्रयः प्रथमसूत्रदण्डकः, तथाऽसावेव त्रसः पंचयोजनीभ्य उत्तरवर्त्तिषु स्थावरेषूत्पद्यते द्वितीयः, तथाऽसावेव पंचयोजनवर्त्ती स्थावरः पञ्चभ्यो ये परेण वर्त्तन्ते त्रसस्थावरास्तेषूत्पद्यते तृतीये, दानीं ते पंचभ्यो योजनेभ्यः परेण वर्त्तन्ते त्रसस्थावरास्ते पंचयोजनाभ्यन्तरवर्त्तिषु त्रसेषूत्पद्यन्ते ते प्रथमः तथा त एव पंचयोजनबहिर्वर्त्तिनो त्रसस्थावराः पंचयोजनाभ्यन्तरवर्त्तिषूत्पद्यन्ते द्वितीयस्तु, त एव पञ्चयोजनबहिर्वर्त्तिष्वेव उत्पद्यन्ते तृतीयः, एते च सर्वे मिलिता नव भवंति, अयं भावार्थः–पञ्चयोजनीअभ्यन्तरवर्त्तिषु त्रसेषु सूत्रदण्डत्रयं, एवं पंचयोजनाभ्यन्तरवर्त्तिषु स्थावरेषु सूत्रदण्डकत्रयं, तथा च पंचयोजनबहिर्वर्त्तिनो ये त्रसाः स्थावरास्तेषु सूत्रदण्डकत्रयं, अत्र च ये ते पंचबहिर्वर्त्तिनो त्रसाः स्थावरास्ते परिहारमङ्गीकृत्यैकाकारा एव, जंपि दिसिवतं ण संखेवितं भवति तंपि दिणे दिणे देसावगासिएणं संखेवेति, जण्णं दिवसं खित्तं तरति संखिवंति, अट्ठा णाम कृष्यादिकर्म्मसु जे तसे विराधेति, अथवा आयट्ठाए परट्ठाए उभयट्ठाए वा, अणट्ठा णाम भमंतो खुद्दंतो वा विराधेति, जं च वुत्तं जहा सव्वे तमा थावरा होंति तेण तं ठाणं घत्तंतिकाउं कथं सावओ विरतिं करिस्सति ?, णेतं भूतं वा भव्वं वा जण्णं सव्वथावरा तसीहोहिन्ति, ये ते ण घाएत्ति सावओ तेणं अविरते भविष्यतीत्यत्र दूमो–भगवं च णं ण एतं भूतं वा भव्वं वा, एवं सो उदेओ अणगारो जाहे भगवओ गोतमेण बहूहिं हेऊहिं णिरुत्तरो कतो ताहे अंतो हिअएणं एवमेतंति पडिवज्जमाणो बाहिरं चेट्ठं ण पयुंजति, जहा एवमेतं तुब्भे, वीरत्तेण दोण्ह वोच्छहति, ततो णं भगवं गोतमे णं उदगं एवं वदासी–आउसो ! उदग जेणं समणं वा माहणं वा सम्मं पण्णवेमाणं वा स परिभासेइमित्ति–परिभवति मन्यति एवं बुद्ध्या गृह्णाति मिथ्याध्यवसायेन, अथवा परि समन्ता मामेस परिभाषते, कथं नाम एस एतं अट्ठं गेण्हेज्जा एवं मत्या, सेसं च तस्स आयहिताय णाण

उदकबोधः

॥४६४॥

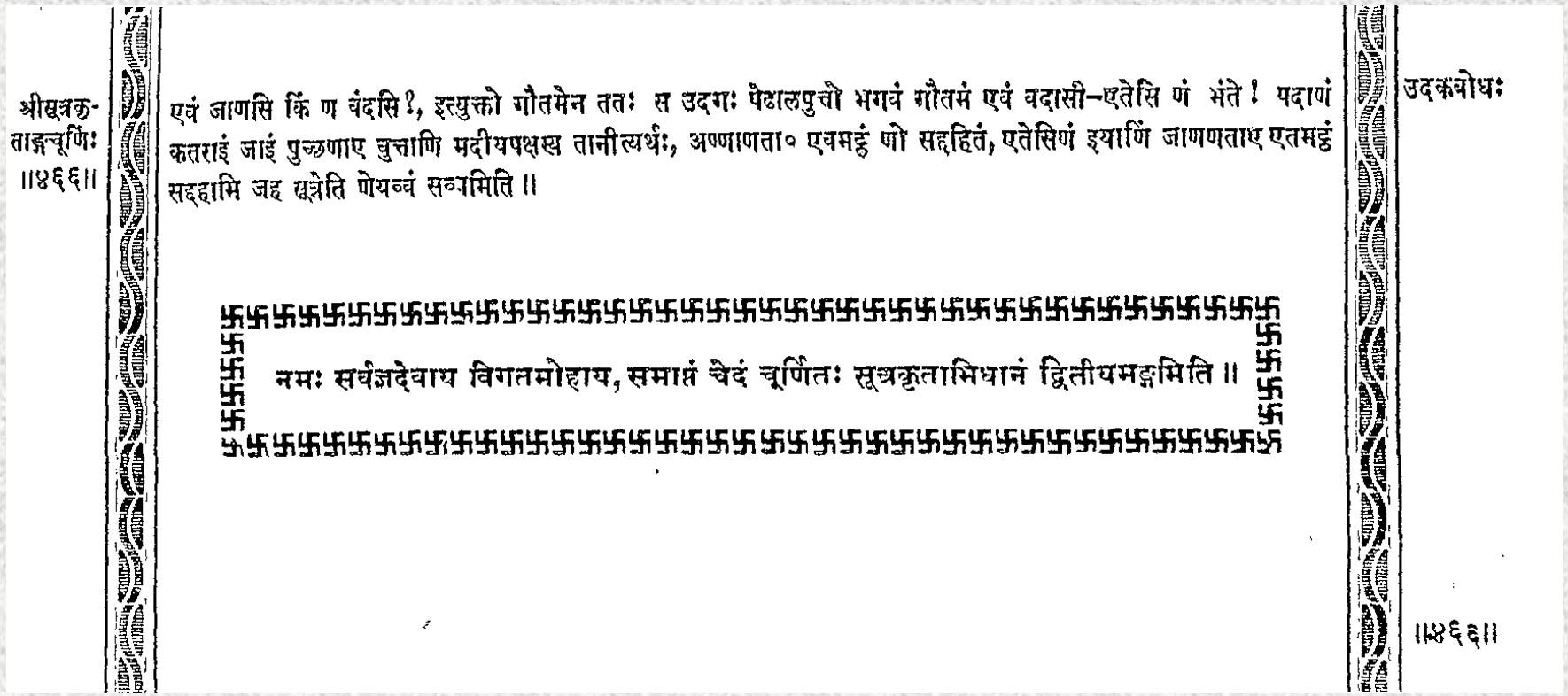
श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४६५॥

दंसणचरित्तजुत्तं मग्गं परिभावते सेव तं परिव्वज्जा, भासिज्जमाणं आगमित्ता ज्ञात्वेत्यर्थः, णाणं सुतणाणं प्राप्य वा आगमित्ता, दंसणं सम्यग्दर्शनं प्राप्य, आगमेणं चरित्तं लब्ध्वा प्राप्य इत्यर्थः, पावाणि हिंसादीनि, अथवा अट्ठ कम्मपगडी गहिताओ, खलु एवंकर्म्मा परलोअं दव्वभावे पलिपंथो, विग्घा वक्खोडा, मोक्खं ण गच्छति, नागार्जुनीयास्तु जो खलु समणं वा हीलमाणो परिपासति, ही–लज्जायां, हेज्यमाणः परिभासति मनसावि, तत्र वयसा तस्मिन् स ब्रूते, अट्ठे भासिज्जमाणे यदि सत्यमेव तन्मनसा गृह्णाति तथावि बाहिरकरणेणं वायाए ण पसंसति यथा साधु साध्विति, कायेन नांगुलिस्फोटनादिभिः प्रशंसति, मनसा नास्य नेत्रवक्त्रप्रसादो भवति, अथवा वायाए हेलयति छिन्धतीति तदा काएण विक्षिपति मनसा नेत्रवक्त्रप्रसादो न भवति आगमित्ताणं २ भावाणं जाणणत्ताए आगमित्ता दंसणं भावाणं दंसणत्ताए आगमेत्ता चरित्तं णायाणं पावाणं अकरणता, से खलु परलोहा अपडिमंथत्ताए चिट्ठति, प्रशस्तमिदानीं सो खलु समणो वा माहणो वा परिभासति सच्चिमिति मण्णति त्रिभिरपि कायवाङ्मनोभिर्निन्दति साधु सुष्ठु वा अंगुलिस्फोटनादिभिः प्रशंसति मनसा नेत्रवक्त्रप्रसादेन परलोगविसुद्धित्ति मोक्खं आगमेसिभद्दो देवेसु उववज्जति ?, एवं पृष्टो भगवता गोतमेणं, तते णं से उदए जमेवं स्यात्, किं कारणं अणाढायमाणो प्रस्थितो, जतो ण जाणामि किं भगवं गोतमेणं भण्णिहिति ?, तते णं भगवं गोतमे उदगं एवं वयासी–आउसो उदगा जो खलु तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि० सोच्चा अप्पणो चेव सुहुमा अप्पणो चेव आत्मनिगता सूक्ष्मः अन्तगता, नान्ये, ज्ञायते अनन्यतुल्यं अनुत्तरं, योगानां क्षेमं निरुपायं लभित्ता प्रापिता अथवा सूक्ष्मं पडिलेहति किं एसो जाणति छिण्णसंशयः सोवि ताव तं वंदति जाव पज्जुवासति अर्थतोऽपदिश्यते, इत्युक्तो भगवं उदगाह–वंदियव्वे जाव पज्जुवासियव्वे, गौतमाह–जइ

उदकबोधः

॥४६५॥

## द्वितीय-श्रुतस्कन्धः समाप्तः



श्रीसूत्रकृताङ्गचूर्णिः ॥४६६॥

एवं जाणसि किं ण वंदसि ?, इत्युक्तो गौतमेन ततः स उदगः पेढालपुत्तो भगवं गौतमं एवं वदासी–एतेसि णं भंते ! पदाणं कतराइं जाइं पुच्छणाए वुत्ताणि मदीयपक्षस्य तानीत्यर्थः, अण्णाणता० एवमहं णो सद्दहितं, एतेसिणं इयाणिं जाणणताए एतमट्ठं सद्दहामि जह सुत्तेति णेयव्वं सव्वमिति ॥

नमः सर्वज्ञदेवाय विगतमोहाय, समाप्तं चेदं चूर्णितः सूत्रकृताभिधानं द्वितीयमङ्गमिति ॥

उदकबोधः

॥४६६॥

**सूत्रकृताङ्गसूत्रस्य जिनदासगणि विहिता चूर्णि: परिसमाप्ता:**

मूल संशोधकः सम्पादकश्च पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

**किंचित् वैशिष्ट्य समर्पितेन सह पुन: संकलनकर्ता मुनि दीपरत्नसागरजी** [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नम

# भाग-2

पूज्य आगमोध्धारक आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरेण संशोधित: संपादितश्च

**"सूत्रकृतांगसूत्र"** [भद्रबाहूस्वामी रचिता निर्युक्ति: एवं जिनदासगणि विहिता चूर्णि:]

(किंचित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

## मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित:

"सूत्रकृत" चूर्णि:" नामेण

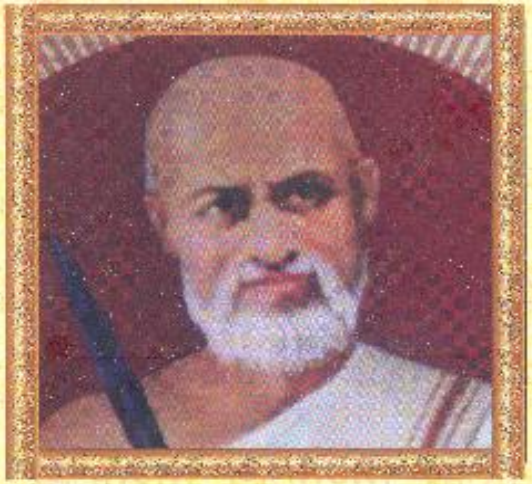
## परिसमाप्ता


आगम
वाचना शताब्दी वर्ष

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

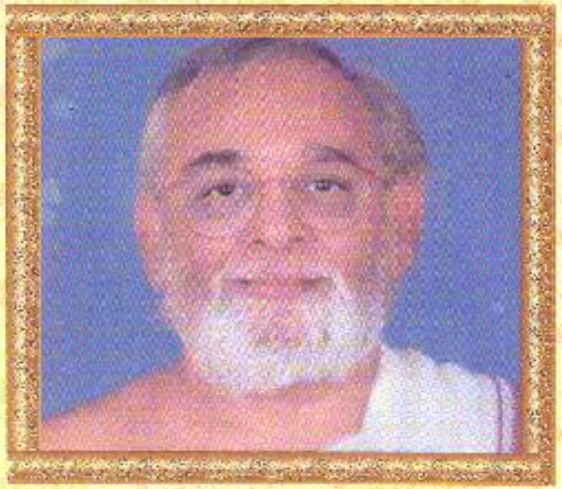
# सचूर्णिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक



पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता



आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275

# ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता

सच्चारित्र चूडामणि स्वर्गस्थ पूज्यपाद
गच्छाधिपति आचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागर
सूरीश्वरजी महाराज साहेब

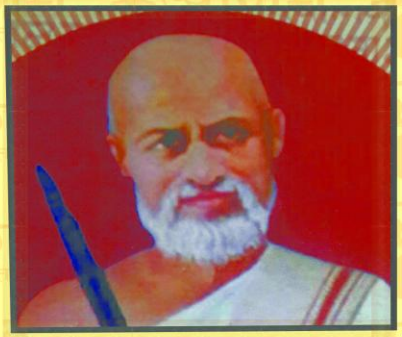


## श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ

वीतराग सोसायटी, प्रभूदास ठक्कर कोलेज रोड, पालडी, अमदावाद

करीब पचास साल पहेले परम पूज्य स्व र्गस्थ गच्छाधिपति आचार्य देव श्रीमद् देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब द्वारा संस्थापित इस संघमें श्री शीतलनाथ भगवंत का जिनालय भी है, जिन के प्रतिष्ठाचार्य भी पूज्य देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी म० ही है |

इस संघमें पूज्य साधू -भगवंत एवं साध्वी -महाराज के लिए उपाश्रय भी है , जहां हर-साल चातुर्मास करवा के श्रावक-श्राविकाओ को धर्म-आराधन से लाभान्वित करवाया जाता है | इस संघमें आयंबिलभवन, उबाला हुआ पानी, ज्ञान-भण्डार एवं पाठशाला की भी बहोत अच्छी सुविधा प्रदान हो रही है | ऐसे सम्यग्-मार्गी संघ की सद्भावना और प्रभावक आचार्य पूज्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से इस शास्त्र के लिए अनुदान प्राप्त हुआ है |



मूल संशोधक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य

**श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब**

# आगम - ०२

# 'सूत्रकृत्' मूलं एवं चूर्णि:

अभिनव-संकलनकर्ता

आगम दिवाकर **मुनिश्री दीपरत्नसागरजी**

[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

